॥ श्रीः ॥

# मनुस्मृतिः ।



## श्रीमत्कुल्लूकभट्टविरचितया मन्वर्थमुक्तावल्याख्यया व्याख्यया समेता ।

गोरे इत्युपनामकेन नारायणात्मजविट्ठलशर्मणा संशोधिता ।



इयं च

द्वितीयावृत्तिः

मुम्बय्याख्यराजधान्यां

गुर्जरोपाह्वयमहादेवात्मजजनार्दनशर्मा । भगीरथात्मजहरिप्रसादः । निर्णयसागरयन्त्रालयाधिपतिश्च

इत्येतैः

निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता ।

शकाब्दाः १८०९. सनाब्दाः १८८७.

॥ श्रीः ॥

# उपोद्घातः ।



**परमानन्द ईशोऽपि स्मानन्दप्रदो नृणाम् ।**
**मानं ददन्मनुद्वाराऽऽनन्ददं धर्ममुक्तवान् ॥ १ ॥**

इह खलु मीमांसा-श्रुति-पुराण-व्याकरण-तर्क-योग-सांख्य-वेदान्तादीनि निदर्शनानि नृणामिहामुत्र सुखप्रदकर्मबोधकानि सन्ति तन्मध्ये स्वायम्भुवेन मनुना प्रोक्तं मनुस्मृतिनामकं धर्मशास्त्रमेव धर्माधर्मनिर्णयविधावग्रेसरत्वेन वरीवर्ति । यत आधुनिकाङ्ग्लभौमनृपतिसभायामपि न्यायान्यायविवेचनविधौ प्राड्विवाकादयः परमप्रमाणत्वेनैतदङ्गीकृत्य तदनुसारेण धर्माधर्मनिर्णयं कुर्वन्ति । तस्य मनोरुत्पत्तिं वंशप्रवर्तकत्वं धार्मिकत्वं धर्मोपदेष्टृत्वं च किञ्चिदुच्यते ॥

अस्मिन्वाराहे कल्प एकदा सृष्टिवृद्धिविषयं विचारं कुर्वतो ब्रह्मण इच्छया तच्छरीरं स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा विभिन्नम् । तत्र यः पुमान्स स्वायम्भुवो मनुरभूत् । या स्त्री सैवास्य मनोः स्त्री शतरूपानाम्नी बभूव । ततस्ताभ्यां व्यवायधर्मेण प्रजावृद्धिर्जाता । सा चैवं । मनोः शतरूपायां स्त्रियां प्रियव्रतोत्तानपादाभिधानौ द्वौ पुत्रावाकूतिदेवहूतिप्रसूतिसंज्ञकास्तिस्रः कन्यकाश्चैवं पञ्चापत्यान्यभूवन् । तत्र १ प्रियव्रतो महाभागवतः परमविरक्तोऽपि भगवतो ब्रह्मण आज्ञया धर्मतो जगतीमेकादशार्बुदान्यब्दानामशासत्तदन्वये ऋषभभरतादयोऽप्रतिमवीर्यशौर्यात्मसाक्षात्कारादिगुणसंपन्ना जीवन्मुक्ता अप्याश्रितानां कैवल्यमार्गोपदेष्टारोऽभूवन् । २ उत्तानपादादपि ध्रुवाङ्गपृथुप्राचीनबर्हिप्रभृतयो भूभृतः संपादितस्वार्थसर्वस्वाः परानुग्रहतत्परा धरणिमण्डना आसन् । ३ आकूत्यां रुचिर्यज्ञावतारं विष्णुं पुत्रं, दक्षिणाख्यां लक्ष्मीं पुत्रीं चाजीजनत्ताभ्यां तुषिताख्यदेवानामन्वयवृद्धिर्जाता । ४ देवहूत्यां कर्दमप्रजापतेः प्रजारूपेण कपिलाख्यो भगवान्संजज्ञे । येनेह प्रवर्तिता सांख्यशास्त्रमयी दृढा तरणिः संतारयितुमखिलमपि जगज्जागर्ति । इतरा अपि देवहूतिदुहितरो मरीच्यत्रिभृगुवसिष्ठाङ्गिरःप्रभृतीनामृषिपतीनां संतानवितानव्रततयो भूत्वा कृतकृत्यतामवापुः । ५ प्रसूत्यामपि दक्षस्त्रिलोक्यामतिविस्तारवतीं संततिं जनयामास ॥

एवं जगद्व्यापकवंशमूलभूतो मनुः सरस्वतीतीरे ब्रह्मावर्तक्षेत्रे बर्हिष्मत्यां नगर्यां मन्वन्तरावसानपर्यन्तं निवसन्सप्तद्वीपवतीं वसुमतीं रक्षन्भूरिदक्षिणैरध्वरैर्यज्ञपुरुषं यजन् योगसिद्धिषु निष्णातोऽप्युपात्तविषयवैतृष्ण्य एकान्ते रमाकान्तपदचिन्तनैकतानः पृच्छकेभ्यो भृग्वादिभ्यो ऋषिभ्यो धर्मतत्त्वप्रतिपादकमेतन्मनुस्मृतिरूपं रहस्यं धर्मशास्त्रमकथयत् । उक्तं च । यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् । नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदेति ॥ तदेवैतत्संहिताख्यं बुभुत्सुभ्यः परमर्षिभ्यो भृगुरवर्णयत् ॥

अस्मिन्नादित आरभ्य ब्रह्मादिदेवानां पञ्चमहाभूतादीनां चोत्पत्तिर्वर्णाश्रमवतामनुलोमजप्रतिलोमजादीनां चापदनापद्विषयत्वेन सामान्यो विशेषश्चावश्यको वेदप्रणीतो धर्मो देशकालाद्यनुसारतः प्रतिपादितः । राजधर्मेषु तु न्यायासनारूढेन नृपतिना सूक्ष्मविचारेणानुष्ठातव्यो नीतिधर्मो विस्तरतः प्रपञ्चितः । पातकिनां तत्तत्पापकर्मानुरूपा कर्मविपाकगतिः प्रायश्चित्तानुष्ठातॄणां तत्तदशुभनिवृत्तिद्वारा स्वर्गापवर्गावाप्तिश्चोक्तेति ॥

अस्मिन्ग्रन्थेऽङ्कनावसरे पदच्छेदपरसवर्णादिनिदर्शनपूर्वकं स्थूलाक्षरैर्लिखितस्य प्रतिश्लोकस्याधः पदच्छेदादियुता तद्व्याख्या लिखितास्ति तत्र च वाक्यानां पृथक्पृथक्संबन्धपरिज्ञानायैकैका रेषा निक्षिप्तास्ति । एतेन पूर्वापरसंबन्धमविदुषामपि वाचकानां तत्तद्वाक्यपरिज्ञानं भ्रान्तिरहितं जायत इति ॥

आशास्महे यदस्मिन्विचारपूर्वकं संशोधितेऽपि ग्रन्थे क्वचिदज्ञानाद्दृष्टिदोषाद्वा विषमं स्थितमस्त्यशुद्धादि तत्सारासारविवेकनिपुणैर्विद्वद्भिर्दयादृष्ट्या समीक्ष्य संशोधनीयमिति ॥

॥ गोरे इत्युपनामकनारायणतनयविष्ठलः शास्त्री ॥

# मनुसंहितायाः सूचीपत्रम् ।

## प्रथमोऽध्यायः ।


| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| मनुं मुनयो धर्म पप्रच्छुः | १ | १ |
| तान् मनुरुवाच ... | ३ | ४ |
| जगदुत्पत्तिकथनम् ... | ४ | ५ |
| प्रथमं जलसृष्टिः ... | ७ | ८ |
| ब्रह्मोत्पत्तिः ... | ७ | ९ |
| नारायणार्थकथनम् ... | ८ | १० |
| ब्रह्मस्वरूपकथनम् ... | ८ | ११ |
| स्वर्गभूम्यादिसृष्टिः ... | ८ | १३ |
| महदादिक्रमेण जगदुत्पत्तिः | ९ | १४ |
| देवगणादिसृष्टिः ... | १३ | २२ |
| वेदत्रयसृष्टिः ... | १३ | २३ |
| कालादिसृष्टिः ... | १३ | २४ |
| कामक्रोधादिसृष्टिः ... | १३ | २५ |
| धर्माधर्मविवेकः ... | १४ | २६ |
| सूक्ष्मस्थूलाद्युत्पत्तिः ... | १४ | २७ |
| कर्मसापेक्षा सृष्टिः ... | १४ | २८ |
| ब्राह्मणादिसृष्टिः ... | १५ | ३१ |
| स्त्रीपुरुषसृष्टिः ... | १५ | ३२ |
| मनोरुत्पत्तिः ... | १६ | ३३ |
| मरीच्याद्युत्पत्तिः ... | १६ | ३४ |
| यक्षगन्धर्वाद्युत्पत्तिः ... | १६ | ३७ |
| मेघादिसृष्टिः ... | १७ | ३८ |
| पशुपक्ष्यादिसृष्टिः ... | १७ | ३९ |
| कृमिकीटाद्युत्पत्तिः ... | १७ | ४० |
| अथ जरायुजाः ... | १८ | ४३ |
| अथाण्डजाः ... | १८ | ४४ |
| अथ स्वेदजाः ... | १८ | ४५ |
| अथोद्भिज्जाः ... | १९ | ४६ |
| वनस्पतिवृक्षौ ... | १९ | ४७ |
| गुच्छगुल्मादयः ... | १९ | ४८ |
| एवं सृष्ट्वा ब्रह्मान्तर्हितः... | २० | ५१ |
| महाप्रलयमाह ... | २१ | ५४ |
| जीवस्योत्क्रमणमाह ... | २१ | ५५ |
| कदा देहान्तरं गृह्णाती० | २१ | ५६ |
| जाग्रत्स्वप्नाभ्यां ब्रह्मा सर्वं सृजति ... | २२ | ५७ |
| एतच्छास्त्रप्रचारमाह ... | २२ | ५८ |
| भृगुरेतच्छास्त्रं युष्माकं कथयिष्यति ... | २२ | ५९ |
| भृगुस्तान्मुनीनुवाच ... | २२ | ६० |
| मन्वन्तरकथनम् ... | २३ | ६१ |
| अहोरात्रमानादिकथनम् | २३ | ६४ |
| पित्र्याहोरात्रकथनम् ... | २४ | ६६ |
| दैवाहोरात्रकथनम् ... | २४ | ६७ |
| चतुर्युगप्रमाणम् ... | २४ | ६९ |
| दैवयुगप्रमाणम् ... | २५ | ७१ |
| ब्राह्माहोरात्रप्रमाणम् ... | २५ | ७२ |
| स प्रतिबुद्धः सृष्ट्यर्थं मनो नियुङ्क्ते ... | २६ | ७३ |
| मनस आकाशप्रादुर्भावः | २६ | ७५ |
| आकाशाद्वायुप्रादुर्भावः... | २७ | ७६ |
| वायोस्तेजःप्रादुर्भावः ... | २७ | ७७ |
| तेजसो जलं जलात्पृथ्वी | २७ | ७८ |
| मन्वन्तरप्रमाणम् ... | २७ | ७९ |
| सत्ये चतुष्पाद्धर्मः ... | २८ | ८१ |
| अन्ययुगे धर्मस्य पादपाद-हानिः ... | २८ | ८२ |
| युगेयुगे आयुःप्रमाणम् ... | २८ | ८३ |
| युगेयुगे धर्मवैलक्षण्यम् ... | २९ | ८५ |
| ब्राह्मणस्य कर्माह ... | २९ | ८८ |
| क्षत्रियकर्माह ... | ३० | ८९ |
| वैश्यकर्माह ... | ३० | ९० |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| शूद्रकर्माह ... | ३० | ९१ |
| ब्राह्मणस्य श्रेष्ठत्वम् ... | ३० | ९२ |
| ब्राह्मणेषु ब्रह्मवेदिनः श्रेष्ठाः | ३१ | ९७ |
| एतच्छास्त्रं ब्राह्मणेनाध्येतव्यम् ... | ३२ | १०३ |
| एतच्छास्त्राध्ययनफलम् | ३३ | १०४ |
| आचारो धर्मप्रधानः ... | ३४ | १०८ |
| ग्रन्थार्थानुक्रमणिका ... | ३४ | १११ |
| **॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥** | | |
| धर्मसामान्यलक्षणम् ... | ३७ | १ |
| कामात्मतानिषेधः ... | ३८ | २ |
| व्रतादयः संकल्पजाः ... | ३८ | ३ |
| अकामस्य न कापि क्रिया | ३९ | ४ |
| धर्मप्रमाणान्याह ... | ३९ | ६ |
| धर्मस्य वेदमूलतामाह ... | ४० | ७ |
| श्रुतिस्मृत्युदितधर्मोऽनुष्ठेयः | ४० | ९ |
| श्रुतिस्मृत्योः परिचयः ... | ४० | १० |
| नास्तिकनिन्दा ... | ४१ | ११ |
| चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह ... | ४१ | १२ |
| श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिर्बलवती ... | ४१ | १३ |
| श्रुतिद्वैधे उभयं प्रमाणम् | ४२ | १४ |
| श्रुतिद्वैधे दृष्टान्तमाह ... | ४२ | १५ |
| दशकर्मोपेतस्यात्राधिकारः | ४२ | १६ |
| धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह | ४३ | १७ |
| ब्रह्मावर्तदेशीयः सदा० ... | ४३ | १८ |
| कुरुक्षेत्रादिब्रह्मर्षिदेशानाह | ४३ | १९ |
| तद्देशीयब्राह्मणादाचारं शिक्षेत् ... | ४३ | २० |
| मध्यदेशमाह ... | ४३ | २१ |
| आर्यावर्तमाह ... | ४३ | २२ |
| यज्ञियदेशमाह ... | ४४ | २३ |
| वर्णधर्मादिकमाह ... | ४४ | २५ |
| द्विजानां वैदिकमन्त्रैर्गर्भाधानादिकं कार्यम् ... | ४५ | २६ |
| गर्भाधानादेः पापक्षयहेतुत्वमाह ... | ४५ | २७ |
| स्वाध्यायादेर्मोक्षहेतुत्वमाह | ४५ | २८ |
| जातकर्माह ... | ४५ | २९ |
| नामकरणमाह ... | ४६ | ३० |
| स्त्रीणां नामकरणमाह ... | ४६ | ३३ |
| निष्क्रमणान्नप्राशने ... | ४७ | ३४ |
| अथ चूडाकरणम् ... | ४७ | ३५ |
| अथोपनयनम् ... | ४७ | ३६ |
| अथोपनयनकालवि० ... | ४८ | ३८ |
| अथ व्रात्याः ... | ४८ | ३९ |
| कृष्णाजिनादिधारणम् ... | ४८ | ४१ |
| मौञ्ज्यादिधारणम् ... | ४९ | ४२ |
| मौञ्ज्यालाभे कुशादिमेखला कार्या ... | ४९ | ४३ |
| उपवीतमाह ... | ४९ | ४४ |
| अथ दण्डाः ... | ५० | ४५ |
| अथ भिक्षा ... | ५० | ४९ |
| प्राङ्मुखादिकाम्यभोजनफलम्. | ५१ | ५२ |
| भोजनादावन्ते चाचमनम्. | ५१ | ५३ |
| श्रद्धयान्नं भुञ्जीत ... | ५२ | ५४ |
| अश्रद्धया भोजनं नि० ... | ५२ | ५५ |
| भोजने नियमाः ... | ५२ | ५६ |
| अतिभोजननिषेधः ... | ५३ | ५७ |
| ब्राह्मादितीर्थेनाचमनं न पित्र्यतीर्थेन ... | ५३ | ५८ |
| ब्राह्मादितीर्थान्याह ... | ५३ | ५९ |
| आचमनविधिः ... | ५३ | ६० |
| सव्यापसव्यमाह ... | ५४ | ६३ |
| विनष्टे पूर्वदण्डादौ द्वितीयं ग्राह्यम् ... | ५५ | ६४ |
| केशान्ताख्यसंस्कारः ... | ५५ | ६५ |
| स्त्रीणां संस्कारममन्त्रकम् | ५५ | ६६ |
| स्त्रीणां वैवाहिकविधिर्वैदिकमन्त्रैः ... | ५५ | ६७ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| उपनीतस्य कर्माह ... | ५६ | ६९ |
| वेदाध्ययनविधिमाह ... | ५६ | ७० |
| गुरुवन्दनविधिः ... | ५६ | ७२ |
| गुरोराज्ञयाऽध्ययनविरामौ | ५७ | ७३ |
| अध्ययनादावन्ते च प्रणवः | ५७ | ७४ |
| अथ प्राणायामः ... | ५७ | ७५ |
| प्रणवाद्युत्पत्तिः ... | ५७ | ७६ |
| सावित्र्युत्पत्तिः ... | ५८ | ७७ |
| सावित्रीजपफलम् ... | ५८ | ७८ |
| सावित्रीजपाकरणे पा० ... | ५८ | ८० |
| प्रणवव्याहृतिसावित्री-प्रशंसा ... | ५९ | ८१ |
| प्रणवप्रशंसा ... | ५९ | ८४ |
| मानसजपस्याधिक्यम् ... | ६० | ८५ |
| इन्द्रियसंयमः ... | ६१ | ८८ |
| अथैकादशेन्द्रियाणि ... | ६१ | ८९ |
| इन्द्रियसंयमेन सिद्धिर्न तु भोगैः ... | ६२ | ९३ |
| विषयोपेक्षकः श्रेष्ठः ... | ६२ | ९४ |
| इन्द्रियसंयमोपायमाह ... | ६२ | ९६ |
| कामासक्तस्य यागादयो न फलदाः ... | ६३ | ९७ |
| जितेन्द्रियस्वरूपमाह ... | ६३ | ९८ |
| एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यः ... | ६३ | ९९ |
| इन्द्रियसंयमस्य पुरुषार्थहेतुत्वम् ... | ६३ | १०० |
| अथ संध्यात्रयवन्दनम् ... | ६४ | १०१ |
| संध्याहीनः शूद्रवत् ... | ६४ | १०३ |
| वेदपाठाशक्तौ सावित्रीमात्रजपः ... | ६५ | १०४ |
| नित्यकर्मादौ नानध्यायः | ६५ | १०५ |
| जपयज्ञफलम् ... | ६५ | १०७ |
| समावर्तनान्तं होमादि कर्तव्यम् ... | ६६ | १०८ |
| कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह ... | ६६ | १०९ |
| अपृष्टो वेदं न ब्रूयात् ... | ६६ | ११० |
| निषेधातिक्रमे दोषः ... | ६६ | १११ |
| असच्छिष्याय विद्या न वक्तव्या ... | ६६ | ११२ |
| सच्छिष्याय वक्तव्या ... | ६७ | ११५ |
| अध्ययनं विना वेदग्रहणनिषेधः ... | ६७ | ११६ |
| अध्यापकानां मान्यत्वमाह | ६७ | ११७ |
| अविहिताचरणनिन्दा ... | ६८ | ११८ |
| गुरोरभिवादनादौ ... | ६८ | ११९ |
| वृद्धाभिवादने ... | ६८ | १२० |
| अभिवादनफलम् ... | ६८ | १२१ |
| अभिवादनविधिः ... | ६९ | १२२ |
| प्रत्यभिवादने ... | ७० | १२५ |
| प्रत्यभिवादनाज्ञाने दोषः | ७० | १२६ |
| कुशलप्रश्नादौ ... | ७० | १२७ |
| दीक्षितादेर्नामग्रहणनिषेधः | ७१ | १२८ |
| परख्यादेर्नामग्रहणनिषेधः | ७१ | १२९ |
| कनिष्ठमातुलादिवन्दननिषेधः | ७१ | १३० |
| मातृष्वस्रादयो गुरुस्त्रीवत्पूज्याः ... | ७२ | १३१ |
| भ्रातृभार्याद्यभिवादने ... | ७२ | १३२ |
| ज्येष्ठभगिन्याद्यभिवादने | ७२ | १३३ |
| पौरसख्यादौ ... | ७२ | १३४ |
| दशवर्षोऽपि ब्राह्मणः क्षत्रियादिभिः पितेव वन्द्यः | ७३ | १३५ |
| वित्तादीनि मान्यत्वकारकानि ... | ७३ | १३६ |
| रथारूढादेः पन्था देयः ... | ७३ | १३८ |
| स्नातकस्य पन्थाराज्ञापि देयः | ७४ | १३९ |
| अथाचार्यः ... | ७४ | १४० |
| अथोपाध्यायः ... | ७४ | १४१ |
| अथ गुरुः ... | ७४ | १४२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| अथ ऋत्विक् ... | ७५ | १४३ |
| अध्यापकप्रशंसा ... | ७५ | १४४ |
| मात्रादीनामुत्कर्षः ... | ७५ | १४५ |
| आचार्यस्य श्रेष्ठत्वम् ... | ७५ | १४६ |
| बालोऽप्याचार्यः पितेव० | ७६ | १५० |
| अत्र दृष्टान्तमाह ... | ७६ | १५१ |
| वर्णक्रमेण ज्ञानादिना ज्यैष्ठ्यम् ... | ७७ | १५५ |
| मूर्खनिन्दा ... | ७७ | १५७ |
| शिष्याय मधुरा वाणी प्रयोक्तव्या ... | ७८ | १५९ |
| नरस्य वाङ्मनःसंयममाह | ७८ | १६० |
| परद्रोहादिनिषेधः ... | ७८ | १६१ |
| परेणावमाने कृतेऽपि क्षमा कार्या ... | ७९ | १६२ |
| अवमन्तुर्दोषः ... | ७९ | १६३ |
| अनेन विधिना वेदोऽध्येतव्यः ... | ७९ | १६४ |
| वेदाभ्यासस्य श्रेष्ठत्वम् ... | ८० | १६६ |
| वेदाभ्यासस्तुतिः ... | ८० | १६७ |
| वेदमनधीत्य वेदाङ्गान्यविद्याध्ययननिषेधः ... | ८० | १६८ |
| द्विजत्वनिरूपणार्थमाह ... | ८० | १६९ |
| अनुपनीतस्यानधिकारः... | ८१ | १७१ |
| कृतोपनयनस्य वेदाध्ययनम् | ८१ | १७३ |
| गोदानादौ नव्यदण्डादयः | ८२ | १७४ |
| एते नियमा अनुष्ठेयाः ... | ८२ | १७५ |
| नित्यस्नानतर्पणहोमा० ... | ८२ | १७६ |
| ब्रह्मचारिणो नियमाः ... | ८२ | १७७ |
| कामाद्रेतःपातनिषेधः ... | ८३ | १८० |
| स्वप्ने रेतःपाते ... | ८३ | १८१ |
| आचार्यार्थं जलकुशाद्याहरणम् ... | ८३ | १८२ |
| वेदयज्ञोपेतगृहाद्भिक्षा कर्तव्या ... | ८३ | १८३ |
| गुरुकुलादिभिक्षायाम् ... | ८४ | १८४ |
| अभिशस्तभिक्षानिषेधः... | ८४ | १८५ |
| सायंप्रातर्होमसमिधः ... | ८४ | १८६ |
| होमाद्यकरणे ... | ८४ | १८७ |
| एकगृहभिक्षानिषेधः ... | ८४ | १८८ |
| निमन्त्रितस्यैकान्नभो० ... | ८५ | १८९ |
| क्षत्रियवैश्ययोर्नैकान्नभोजनम् ... | ८५ | १९० |
| अध्ययने गुरुहिते च यत्नं कुर्यात् ... | ८५ | १९१ |
| गुर्वाज्ञाकारित्वमाह ... | ८५ | १९२ |
| गुरौ सुप्ते शयनादि ... | ८६ | १९४ |
| गुर्वाज्ञाकरणप्रकारः ... | ८६ | १९५ |
| गुरुसमीपे चाञ्चल्यनि०... | ८७ | १९८ |
| गुरोर्नामग्रहणादिकं न कार्यम् | ८७ | १९९ |
| गुरुनिन्दाश्रवणनिषेधः ... | ८७ | २०० |
| गुरुपरिवादकरणफलम् ... | ८७ | २०१ |
| समीपं गत्वा गुरुं पूजयेत् | ८७ | २०२ |
| गुर्वादिपरोक्षे न किञ्चित्कथयेत् ... | ८८ | २०३ |
| यानादौ गुरुणा सहोपवेशने ... | ८८ | २०४ |
| परमगुरौ गुरुवद्वृत्तिः ... | ८८ | २०५ |
| विद्यागुरुविषये ... | ८८ | २०६ |
| गुरुपुत्रविषये ... | ८९ | २०७ |
| गुरुस्त्रीविषये ... | ८९ | २१० |
| स्त्रीस्वभावकथनम् ... | ९० | २१३ |
| मात्रादिभिरेकान्तवासनिषेधः ... | ९० | २१५ |
| युवतीगुरुस्त्रीवन्दने ... | ९० | २१६ |
| गुरुशुश्रूषाफलम् ... | ९१ | २१८ |
| ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह | ९१ | २१९ |
| सूर्योदयास्तकालस्वापे ... | ९१ | २२० |
| संध्योपासनमवश्यं कार्यम् | ९२ | २२२ |
| स्त्र्यादेः श्रेयःकरणे ... | ९२ | २२३ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| त्रिवर्गमाह ... | ९२ | २२४ |
| पित्राचार्यादयो नावमन्तव्याः | ९२ | २२५ |
| तेषां शुश्रूषाकरणादौ ... | ९३ | २२८ |
| तेषामनादरनिन्दा ... | ९४ | २३४ |
| मात्रादिशुश्रूषायाः प्राधान्यम् | ९५ | २३५ |
| नीचादेरपि विद्यादिग्र० | ९६ | २३८ |
| आपदि क्षत्रियादेरप्यध्येतव्यं तेषां पादप्रक्षालनादि न कार्यम् ... | ९६ | २४१ |
| क्षत्रियादिगुरावतिवासनिषेधः ... | ९६ | २४२ |
| यावज्जीवं गुरुशुश्रूषणे० | ९७ | २४३ |
| गुरुदक्षिणादौ ... | ९७ | २४५ |
| आचार्ये मृते तत्पुत्रादिसेवनम् ... | ९८ | २४७ |
| यावज्जीवं गुरुकुलसेवाफलम् ... | ९८ | २४९ |


## ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥


| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| अथ ब्रह्मचर्यावधिः ... | ९८ | १ |
| गृहस्थाश्रमवासमाह ... | ९९ | २ |
| गृहीतवेदस्य पित्रादिभिः पूजनम् ... | ९९ | ३ |
| कृतसमावर्तनो विवाहं कुर्यात् ... | १०० | ४ |
| असपिण्डाद्या विवाह्या... | १०० | ५ |
| विवाहे निन्दितकुलानि | १०१ | ६ |
| अथ कन्यादोषाः ... | १०१ | ८ |
| कन्यालक्षणम् ... | १०२ | १० |
| पुत्रिकाविवाहनिन्दा ... | १०२ | ११ |
| सवर्णा स्त्री प्रशस्ता ... | १०३ | १२ |
| चातुर्वर्ण्यस्य भार्यापरिग० | १०३ | १३ |
| ब्राह्मणक्षत्रयोः शूद्रास्त्रीनिषेधः ... | १०३ | १४ |
| हीनजातिविवाहनि० ... | १०३ | १५ |
| शूद्राविवाहविषये ... | १०४ | १६ |
| अष्टौ विवाहप्रकाराः ... | १०५ | २० |
| वर्णानां धर्म्यविवाहानाह | १०५ | २२ |
| पैशाचासुरविवाहनिन्दा | १०६ | २५ |
| अथ ब्राह्मविवाहलक्षणम् | १०७ | २७ |
| दैवविवाहलक्षणम् ... | १०७ | २८ |
| आर्षविवाहलक्षणम् ... | १०७ | २९ |
| प्राजापत्यविवाहलक्षणम् | १०७ | ३० |
| आसुरविवाहलक्षणम् ... | १०७ | ३१ |
| गान्धर्वविवाहलक्षणम् ... | १०८ | ३२ |
| राक्षसविवाहलक्षणम् ... | १०८ | ३३ |
| पैशाचविवाहलक्षणम् ... | १०८ | ३४ |
| उदकदानाद्ब्राह्मणस्य विवाहः ... ... | १०८ | ३५ |
| ब्राह्मादिविवाहफलम् ... | १०९ | ३७ |
| ब्राह्मादिविवाहे सुप्रजोत्पत्तिः | १०९ | ३९ |
| निन्दितविवाहे निन्दितप्रजोत्पत्तिः ... ... | ११० | ४१ |
| सवर्णाविवाहविधिः ... | ११० | ४३ |
| असवर्णाविवाहविधिः ... | ११० | ४४ |
| दारोपगमने ... ... | १११ | ४५ |
| ऋतुकालावधिः ... | ११२ | ४६ |
| दारोपगमे निन्दितकालाः | ११२ | ४७ |
| युग्मातिथौ पुत्रोत्पत्तिः ... | ११२ | ४८ |
| स्त्रीपुन्नपुंसकोत्पत्तौ हेतुमाह | ११२ | ४९ |
| वानप्रस्थस्यापि ऋतुगमनमाह | ११२ | ५० |
| कन्याविक्रये दोषः ... | ११३ | ५१ |
| स्त्रीधनग्रहणे दोषः ... | ११३ | ५२ |
| वरादल्पमपि न गृहीतव्यम् | ११३ | ५३ |
| कन्यायै धनदानमाह ... | ११४ | ५४ |
| वस्त्रालङ्कारादिना कन्या भूषयितव्या ... | ११४ | ५५ |
| कन्यादिपूजनापूजनफ० | ११५ | ५६ |
| उत्सवेषु विशेषतः पूज्याः | ११५ | ५९ |
| दम्पत्योः संतोषफलम् ... | ११५ | ६० |
| स्त्रियोऽलङ्करणादिदानादाने | ११६ | ६१ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| कुलापकर्षकर्माणि ... | ११६ | ६३ |
| कुलोत्कर्षकर्माह ... | ११७ | ६६ |
| पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमाह ... | ११७ | ६७ |
| पञ्चसूना ... ... | ११७ | ६८ |
| पञ्चयज्ञानुष्ठानं नित्यं कर्तव्यम् ... ... | ११७ | ६९ |
| पञ्चयज्ञानाह ... ... | ११८ | ७० |
| पञ्चयज्ञाकरणनिन्दा ... | ११८ | ७२ |
| पञ्चयज्ञानां नामान्तराण्याह | ११८ | ७३ |
| अशक्तौ ब्रह्मयज्ञहोमौ कर्तव्यौ ... ... | ११९ | ७५ |
| होमाद्दृष्ट्याद्युत्पत्तिः ... | ११९ | ७६ |
| गृहस्थाश्रमप्रशंसा ... | ११९ | ७७ |
| ऋष्याद्यर्चनमवश्यं क० | १२० | ८० |
| नित्यश्राद्धमाह ... | १२० | ८२ |
| पित्र्यर्थब्राह्मणभोजने ... | १२१ | ८३ |
| बलिविश्वेदेवकर्माह ... | १२१ | ८४ |
| बलिविश्वेदेवफलमाह ... | १२३ | ९३ |
| भिक्षादानम् ... ... | १२३ | ९४ |
| भिक्षादानफलम् ... | १२३ | ९५ |
| सत्कृत्य भिक्षादिदानम्... | १२४ | ९६ |
| अपात्रदानमफलम् ... | १२४ | ९७ |
| सत्पात्रे दानफलम् ... | १२४ | ९८ |
| अतिथिसत्कारे ... ... | १२४ | ९९ |
| अतिथ्यनर्चननिन्दा ... | १२४ | १०० |
| प्रियवचनजलासनदानादौ | १२५ | १०१ |
| अतिथिलक्षणमाह ... | १२५ | १०२ |
| परपाकरुचित्वनिषेधः ... | १२५ | १०४ |
| नातिथिः प्रत्याख्यात०... | १२५ | १०५ |
| अतिथिमभोजयित्वा स्वयं न भोक्तव्यम् ... | १२६ | १०६ |
| बहुष्वतिथिषु यथायोग्यं परिचर्या ... ... | १२६ | १०७ |
| अतिथ्यर्थं पुनः पाके न बलिकर्म ... ... | १२६ | १०८ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| भोजनार्थं कुलगोत्रकथननिषेधः ... ... | १२६ | १०९ |
| ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयो नातिथयः ... ... | १२७ | ११० |
| पश्चात् क्षत्रियादीन् भोजयेत् ... ... | १२७ | १११ |
| सख्यादीनपि सत्कृत्य भोजयेत् ... ... | १२७ | ११३ |
| प्रथमं गर्भिण्यादयो भोजनीयाः ... ... | १२८ | ११४ |
| गृहस्थस्य प्रथमं भोजननिषेधः ... ... | १२८ | ११५ |
| दम्पत्योः सर्वशेषे भोजनम् | १२८ | ११६ |
| आत्मार्थपाकनिषेधः ... | १२८ | ११८ |
| गृहागतराजादिपूजामाह | १२९ | ११९ |
| राजस्नातकयोः पूजासंकोचमाह ... ... | १२९ | १२० |
| स्त्रियाऽमन्त्रकं बलिहरणं कार्यम् ... ... | १२९ | १२१ |
| अथामावास्यायां पार्वणम् | १३० | १२२ |
| मांसेन श्राद्धं कर्तव्यम्... | १३० | १२३ |
| पार्वणादौ भोजनीयब्राह्मणसंख्या ... ... | १३० | १२५ |
| ब्राह्मणविस्तारं न कुर्यात् | १३१ | १२६ |
| पार्वणस्यावश्यकर्माणि ... | १३२ | १२७ |
| देवपित्र्यानि श्रोत्रियाय देयानि ... ... | १३२ | १२८ |
| श्रोत्रियप्रशंसा ... ... | १३२ | १२९ |
| अमन्त्रब्राह्मणनिषेधः ... | १३३ | १३३ |
| ज्ञाननिष्ठादिषु कव्यादिदानम् ... ... | १३४ | १३५ |
| श्रोत्रियस्य पुत्रस्य प्रा०... | १३४ | १३६ |
| श्राद्धे मित्रादिभोजननिषेधः | १३५ | १३८ |
| अविदुषे श्राद्धदानमफ० | १३५ | १४२ |
| विदुषे दक्षिणादानं फलदम् | १३६ | १४३ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| विद्वद्ब्राह्मणाभावे मित्रं भोजयेन्नशत्रुम्... ... | १३६ | १४४ |
| वेदपारगादि यत्नेन भोजयेत् ... ... | १३६ | १४५ |
| मातामहादीनपि श्राद्धे भोजयेत् ... ... | १३७ | १४८ |
| ब्राह्मणपरीक्षणे ... ... | १३७ | १४९ |
| स्तेनपतितादयो निषि०... | १३७ | १५० |
| अथ श्राद्धे निषिद्धब्रा०... | १३८ | १५१ |
| अध्ययनशून्यब्राह्मणनिन्दा | १४२ | १६८ |
| अपाङ्क्तये दाने निषिद्धफलम् | १४२ | १६९ |
| परिवेत्रादिलक्षणमाह ... | १४२ | १७१ |
| परिवेदनसंबन्धिनां फलमाह ... ... | १४३ | १७२ |
| दिधिषूपतिलक्षणमाह ... | १४३ | १७३ |
| कुण्डगोलकावाह ... | १४३ | १७४ |
| तयोर्दाननिषेधः ... | १४३ | १७५ |
| स्तेनादिर्यथा न पश्यति तथा ब्राह्मणभोजनं कार्यं | १४३ | १७६ |
| अन्धाद्यसंनिहिते ब्राह्मणभोजनम् ... ... | १४४ | १७७ |
| शूद्रयाजकनिषेधः ... | १४४ | १७८ |
| शूद्रयाजकप्रतिग्रहनिषेधः | १४४ | १७९ |
| सोमविक्रयादिभोजनदानेऽनिष्टफलम्... ... | १४४ | १८० |
| पङ्क्तिपावनानाह... ... | १४५ | १८३ |
| ब्राह्मणनिमन्त्रणे ... | १४६ | १८७ |
| निमन्त्रितस्य नियमाः ... | १४६ | १८८ |
| निमन्त्रणं स्वीकृत्याभोजने दोषः ... ... | १४७ | १९० |
| निमन्त्रितस्य स्त्रीगमने ... | १४७ | १९१ |
| क्रोधादिकं भोक्ताकर्त्रा च न कार्यम् ... | १४७ | १९२ |
| पितृगणोत्पत्तिः ... | १४८ | १९३ |
| पितॄणां राजतं पात्रं प्र० | १४९ | २०२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| दैवकार्यात्पित्र्यकार्यं विशिष्टम् ... ... | १४९ | २०३ |
| दैवकार्यस्य पित्र्यकार्याङ्गत्वम् | १५० | २०४ |
| दैवाद्यन्तं पित्र्यकार्यम् ... | १५० | २०५ |
| अथ श्राद्धदेशाः ... | १५० | २०६ |
| निमन्त्रितानामासनादिदानम् ... ... | १५० | २०८ |
| गन्धपुष्पादिना तेषामर्च० | १५१ | २०९ |
| तैरनुज्ञातो होमं कुर्यात्... | १५१ | २१० |
| अग्न्यभावे विप्रस्य पाणौ होमः ... ... | १५१ | २१२ |
| अपसव्येन अग्नौकरणादि | १५२ | २१४ |
| पिण्डदानादिविधिः ... | १५२ | २१५ |
| कुशमूले करावघर्षणम्... | १५२ | २१६ |
| ऋतुनमस्कारादि ... | १५२ | २१७ |
| प्रत्यवनेजनादि ... | १५३ | २१८ |
| पित्रादिब्राह्मणादीन्भोजयेत् | १५३ | २१९ |
| जीवति पितरि पितामहादिपार्वणम् ... ... | १५३ | २२० |
| मृते पितरि जीवति पितामहे पार्वणम् ... | १५३ | २२१ |
| पित्रादिब्राह्मणभोजनविधिः | १५४ | २२३ |
| परिवेषणविधिः ... | १५४ | २२४ |
| व्यञ्जनादिदाने ... ... | १५४ | २२६ |
| रोदनक्रोधादिकं न कार्यम् | १५५ | २२९ |
| विप्रेप्सितव्यञ्जनादिदानम् | १५५ | २३१ |
| वेदादीन्ब्राह्मणाय श्रावयेत् | १५६ | २३२ |
| ब्राह्मणान्परितोषयेत् ... | १५६ | २३३ |
| दौहित्रं श्राद्धे यत्नतो भोजयेत् ... ... | १५६ | २३४ |
| दौहित्रतिलकुतपादयः प्रशस्ताः ... ... | १५६ | २३५ |
| उष्णान्नभोजनं हविर्गुणाद्यकथनम् ... ... | १५६ | २३६ |
| भोजने उष्णीषादिनिषेधः | १५७ | २३८ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| भोजनकाले ब्राह्मणान् चाण्डालादयो न पश्येयुः | १५७ | २३९ |
| श्वदृष्ट्यादिनिषेधः ... | १५७ | २४१ |
| तद्देशात् खञ्जादयोऽपनेयाः | १५८ | २४२ |
| भिक्षुकादिभोजने ... | १५८ | २४३ |
| अग्निदग्धान्नदाने ... | १५८ | २४४ |
| उच्छेषणं भूमिगतं दासस्यांशः ... ... | १५९ | २४६ |
| सपिण्डनपर्यन्तं विश्वेदेवादिरहितं श्राद्धम् ... | १५९ | २४७ |
| सपिण्डीकरणादूर्ध्वं पार्वणविधिना श्राद्धम् ... | १५९ | २४८ |
| श्राद्धे उच्छिष्टं शूद्राय न देयम् ... ... | १५९ | २४९ |
| श्राद्धभोजिनः स्त्रीगमननिषेधः ... ... | १५९ | २५० |
| कृतभोजनान् द्विजानाचामयेत् ... ... | १६० | २५१ |
| स्वधास्त्विति ते ब्रूयुः ... | १६० | २५२ |
| शेषान्नं तदनुज्ञातो विनियुञ्जीत ... ... | १६० | २५३ |
| एकोद्दिष्टादिविधिमाह ... | १६० | २५४ |
| अपराह्णादयः ... ... | १६१ | २५५ |
| श्राद्धविहितान्नादयः ... | १६१ | २५७ |
| ब्राह्मणान्विसृज्य वरप्रार्थनम् ... ... | १६१ | २५८ |
| पिण्डान् गवादिभ्यो दद्यात् | १६२ | २६० |
| सुतार्थिन्या स्त्रिया पितामहपिण्डो भक्षणीयः ... | १६२ | २६२ |
| ततो ज्ञात्यादीन् भोज० | १६३ | २६४ |
| अवशिष्टान्नेन गृहबलिकार्यम् ... ... | १६३ | २६५ |
| तिलादयः पितृणां मासं तृप्तिदाः ... ... | १६३ | २६७ |
| मांसादिविशेषेण तृप्तिकालाः | १६३ | २६८ |
| मधुदाने मघादिश्राद्धे ... | १६५ | २७३ |
| गजच्छायादौ ... | १६५ | २७४ |
| श्रद्धया दानम् ... | १६५ | २७५ |
| पितृपक्षे प्रशस्ततिथयः ... | १६५ | २७६ |
| युग्मतिथिनक्षत्रादिप्रशस्तम् ... ... | १६६ | २७७ |
| कृष्णपक्षापराह्णप्राश० ... | १६६ | २७८ |
| अपसव्यकुशादयः ... | १६६ | २७९ |
| रात्रिश्राद्धनिषेधः ... | १६६ | २८० |
| प्रतिमासं श्राद्धकरणाशक्तौ | १६७ | २८१ |
| साग्नेरग्नौकरणे ... ... | १६७ | २८२ |
| तर्पणफलम् ... ... | १६७ | २८३ |
| पितृणां प्रशंसा ... ... | १६८ | २८४ |
| विघसामृतभोजने ... | १६८ | २८५ |


## ॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥


| | | |
|---|---|---|
| ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यकालमाह | १६९ | १ |
| शिलोञ्छादिना जीवेत्... | १६९ | २ |
| उचितार्थसंग्रहं कुर्यात् ... | १७० | ३ |
| अनापदि जीवनकर्माह... | १७० | ४ |
| ऋताद्यर्थकथनम् ... | १७० | ५ |
| कियद्धनमर्जयेत्तत्राह ... | १७१ | ७ |
| अश्वस्तनिकप्रशंसा ... | १७१ | ८ |
| याजनाध्यापनादिजी०... | १७२ | ९ |
| शिलोञ्छाभ्यां जीवने ... | १७२ | १० |
| असज्जीविकां न कुर्यात् | १७२ | ११ |
| संतोषस्य प्रशंसा ... | १७३ | १२ |
| व्रतकरणे ... ... | १७३ | १३ |
| वेदोदितं कर्म कर्तव्यम्... | १७३ | १४ |
| गीतादिना धनार्जननि० | १७४ | १५ |
| इंद्रियार्थासक्तिनिषेधः ... | १७४ | १६ |
| वेदार्थाविरोधिकर्मत्यागः... | १७४ | १७ |
| वय.कुलानुरूपेणाचरेत् ... | १७४ | १८ |
| नित्यं शास्त्राद्यवेक्षणम् ... | १७५ | १९ |
| पञ्चयज्ञान् यथाशक्ति न त्यजेत् ... ... | १७५ | २१ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| केचिदिन्द्रियसंयमं कुर्वन्ति | १७५ | २२ |
| केचित् वाचा यजन्ति ... | १७६ | २३ |
| केचिन् ज्ञानेन यजन्ति... | १७६ | २४ |
| संध्याद्वयहोमदर्शपौर्णमासाः | १७६ | २५ |
| सोमयागादयः ... ... | १७७ | २६ |
| नवान्नश्राद्धाकरणे ... | १७७ | २७ |
| शक्तितोऽतिथिं पूजयेत्... | १७७ | २८ |
| पाषण्ड्याद्यर्चननिषेधः ... | १७८ | ३० |
| श्रोत्रियादीन्पूजयेत् ... | १७८ | ३१ |
| ब्रह्मचार्यादिभ्योऽन्नदानम् | १७८ | ३२ |
| क्षत्रियादेर्धनग्रहणे ... | १७८ | ३३ |
| सति विभवे क्षुधा न सीदेत् | १७९ | ३४ |
| शुचिः स्वाध्यायादियुक्तः स्यात् ... ... | १७९ | ३५ |
| दण्डकमण्डल्वादिधारणम् | १७९ | ३६ |
| सूर्यदर्शननिषेधः ... | १८० | ३७ |
| वत्सरज्जुलङ्घने जले प्रतिबिम्बनिरीक्षणे दोषः | १८० | ३८ |
| मार्गे गवादीन् दक्षिणतः कुर्यात् ... ... | १८० | ३९ |
| रजस्वलागमनादिनि० ... | १८० | ४० |
| भार्यया सह भोजनादिनि० | १८१ | ४३ |
| कालविशेषे स्त्रीदर्शननि० | १८१ | ४४ |
| नग्नस्नानादिनिषेधः ... | १८१ | ४५ |
| मार्गादौ विण्मूत्रादिनि० | १८१ | ४६ |
| मूत्रादौ सूर्यादिदर्शननि० | १८२ | ४८ |
| विण्मूत्रोत्सर्गविधिः ... | १८२ | ४९ |
| दिवादावुदङ्मुखादि ... | १८२ | ५० |
| अन्धकारादौ स्वेच्छामु० | १८२ | ५१ |
| मत्रादौ अन्यादिसंमुखनिषेधः ... ... | १८२ | ५२ |
| अग्नौ पादप्रतापनादिनि० | १८३ | ५३ |
| अग्नेर्लङ्घनादिनिषेधः ... | १८३ | ५४ |
| संध्याभोजनभूमिलिखनादौ | १८३ | ५५ |
| जले मूत्रादिप्रक्षेपनि० ... | १८३ | ५६ |
| शून्यगृहस्वापसुप्तोत्थापनादौ | १८३ | ५७ |
| भोजनादौ दक्षिणहस्तः... | १८४ | ५८ |
| जलार्थिनी गां न वार० | १८४ | ५९ |
| इन्द्रधनुर्न दर्शयेत् ... | १८४ | ५९ |
| अधार्मिकग्रामवास एकाकीगमने ... | १८४ | ६० |
| शूद्रराज्यवासादिनिषेधः | १८४ | ६१ |
| अतिभोजनादिनिषेधः ... | १८५ | ६२ |
| अञ्जलिना जलपानादिनिषेधः ... | १८५ | ६३ |
| नृत्यादिनिषेधः ... | १८५ | ६४ |
| कांस्ये पादप्रक्षालनभिन्नादिभाण्डे भोजननिषेधः | १८५ | ६५ |
| यज्ञोपवीतादि परधृतं न धारयेत् ... | १८५ | ६६ |
| अविनीतया न वृषादिनिषेधः ... ... | १८६ | ६७ |
| धूर्यलक्षणमाह ... ... | १८६ | ६८ |
| प्रेतधूमनखादिच्छेदननिषेधः | १८६ | ६९ |
| तृणच्छेदनादिनिषेधः ... | १८६ | ७० |
| लोष्टमर्दनादेर्मन्दफलम् ... | १८६ | ७१ |
| मालाधारणगोयानादौ ... | १८७ | ७२ |
| अद्वारेण गृहगमनादौ ... | १८७ | ७३ |
| अक्षशयनस्थादिभोजननि० | १९७ | ७४ |
| रात्रौ तिलभोजने नग्नशयने | १८७ | ७५ |
| दुर्गगमनमलदर्शननदीतरणे | १८७ | ७६ |
| आर्द्रपाद एव भुञ्जीत ... | १८८ | ७७ |
| केशभस्मादौ न तिष्ठेत् ... | १८८ | ७८ |
| पतितादिभिर्न संवसेत् ... | १८८ | ७९ |
| शूद्राय व्रतकथनादिनि० | १८८ | ८० |
| शिरःकण्डूयनस्नानादौ ... | १८९ | ८२ |
| कोपेन शिरःप्रहारकेशग्रहणे ... ... ... | १८९ | ८३ |
| तैलेन स्नातस्य पुनस्तैलस्पर्शने... ... ... | १८९ | ८३ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| अक्षत्रियराजादिप्रतिग्रहे | १८९ | ८४ |
| तैलिकादिप्रतिग्रहे ... | १९० | ८५ |
| शास्त्रोल्लङ्घकराजप्रतिग्रहे | १९० | ८७ |
| तामिस्राद्येकविंशतिनरकानाह... ... ... | १९० | ८८ |
| ब्राह्ममुहूर्ते उत्तिष्ठेत् ... | १९१ | ९२ |
| प्रातःकृत्यादि ... ... | १९१ | ९३ |
| अस्यायुःकीर्त्यादि वर्धकत्वम् ... ... | १९२ | ९४ |
| श्रावण्यामुपाकर्म कार्यम् | १९२ | ९५ |
| पुष्ये उत्सर्जनाख्यं कर्म... | १९२ | ९६ |
| कृते उत्सर्जने पक्षिणीं नाध्येतव्यम् ... ... | १९२ | ९७ |
| ततो वेदं शुक्लेऽङ्गानि कृष्णे पठेत् ... ... | १९३ | ९८ |
| अस्पष्टपादनिशान्ते स्वापनिषेधः ... ... | १९३ | ९९ |
| नित्यं गायत्र्यादि पठेत्... | १९३ | १०० |
| अथानध्यायानाह ... | १९३ | १०१ |
| वर्षाकालिकानध्यायमाह | १९३ | १०२ |
| अकालिकानध्यायमाह ... | १९४ | १०३ |
| सार्वकालिकानध्यायमाह | १९४ | १०५ |
| संध्यागर्जनादौ ... ... | १९४ | १०६ |
| नगरादौ नित्यानध्यायः... | १९४ | १०७ |
| श्राद्धभोजनग्रहणादौ त्रिरात्रम् ... ... | १९५ | ११० |
| गन्धलेपयुक्तो नाधीयीत | १९५ | १११ |
| शयनादौ नाधीयीत ... | १९६ | ११२ |
| अमावास्यादयोऽध्ययने निषिद्धाः ... ... | १९६ | ११४ |
| सामध्वनौ सति वेदान्तरं नाधीयीत ... ... | १९८ | १२३ |
| वेदत्रयदेवताकथनम् ... | १९८ | १२४ |
| गायत्रीजपानंतरं वेदपाठः | १९८ | १२५ |
| गवाद्यन्तरागमने ... | १९८ | १२६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| शुचिदेशे शुचिनाध्येयम् | १९९ | १२७ |
| ऋतावप्यमावास्यादौ न स्त्रीगमनम् ... ... | १९९ | १२८ |
| रोगग्लानाशक्तग्लाननिषेधः | १९९ | १२९ |
| गुर्वादिच्छायालङ्घननिषेधः | १९९ | १३० |
| श्राद्धभोजिनः चतुःपथगमने ... ... | २०० | १३१ |
| रक्तश्लेष्मादौ न तिष्ठेत्... | २०० | १३२ |
| शत्रुचोरपरस्त्रीसेवानिषेधः | २०० | १३३ |
| परदारनिन्दा ... ... | २०० | १३४ |
| क्षत्रियसर्पविप्रा नावमन्तव्याः ... ... | २०० | १३५ |
| आत्मावमाननिषेधः ... | २०१ | १३६ |
| प्रियसत्यकथनम् ... | २०१ | १३८ |
| वृथा वादं न कुर्यात् ... | २०१ | १३९ |
| उपःकालादावज्ञातेन सह न गन्तव्यम् ... ... | २०१ | १४० |
| हीनाङ्गाद्याक्षेपनि० ... | २०२ | १४१ |
| उच्छिष्टस्पर्शसूर्यादिदर्शने | २०२ | १४२ |
| स्वकीयेन्द्रियस्पर्शादौ ... | २०२ | १४४ |
| मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् ... | २०२ | १४५ |
| वेदाध्ययनस्य प्राधान्यम् | २०३ | १४६ |
| अष्टकाश्राद्धाद्यवश्यं कार्यम्... ... ... | २०३ | १५० |
| अग्निगृहदूरतो मूत्राद्युत्सर्गः | २०४ | १५१ |
| पूर्वाह्णे स्नानपूजादि ... | २०४ | १५२ |
| पर्वसु देवादिदर्शनम् ... | २०४ | १५३ |
| आगतवृद्धादिसत्कारे ... | २०४ | १५४ |
| श्रुतिस्मृत्युदिताचारः कार्यः | २०४ | १५५ |
| आचारफलम् ... ... | २०५ | १५६ |
| दुराचारनिन्दा ... ... | २०५ | १५७ |
| आचारप्रशंसा ... ... | २०५ | १५८ |
| परवशकर्मत्यागादौ ... | २०५ | १५९ |
| चित्तपारितोषिकं कर्म का० | २०५ | १६० |
| आचार्यादिहिंसानि० ... | २०६ | १६१ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| नास्तिक्यादिनिषेधः ... | २०६ | १६२ |
| परताडनादिनिषेधः ... | २०६ | १६३ |
| ब्राह्मणताडनोद्योगे ... | २०६ | १६४ |
| ब्राह्मणताडने ... ... | २०६ | १६५ |
| ब्राह्मणस्य शोणितोत्पादे... | २०७ | १६६ |
| अधार्मिकादीनां न सुखम् | २०७ | १७० |
| अधर्मे मनो न निदध्यात् | २०७ | १७१ |
| शनैरधर्मफलोत्पत्तिः ... | २०८ | १७२ |
| शिष्यादिशासने ... | २०९ | १७५ |
| अर्थकामत्यागे ... ... | २०९ | १७६ |
| पाणिपादचापल्यनि० ... | २०९ | १७७ |
| कुलमार्गगमनम्... ... | २०९ | १७८ |
| ऋत्विगादिभिर्वादं न कुर्यात् | २०९ | १७९ |
| एतैर्विवादोपेक्षायां फलमाह | २१० | १८१ |
| प्रतिग्रहनिन्दा ... ... | २१० | १८६ |
| विधिमज्ञात्वा प्रतिग्रहो न कार्यः ... ... | २११ | १८७ |
| मूर्खस्य स्वर्णादिप्रतिग्रहे... | २११ | १८८ |
| बैडालव्रतिकादौ दाननिषेधः ... ... | २१२ | १९२ |
| बैडालव्रतिकलक्षणम् ... | २१३ | १९५ |
| बकव्रतिकलक्षणम् ... | २१३ | १९६ |
| तयोर्निन्दा ... ... | २१३ | १९७ |
| प्रायश्चित्ते वञ्चना न कार्या | २१३ | १९८ |
| छलेन व्रताचरणे ... | २१४ | १९९ |
| छलेन कमण्डल्वादिधारणे | २१४ | २०० |
| परकृतपुष्करिण्यादिस्नाने | २१४ | २०१ |
| अदत्तयानादिभोगनिषेधः | २१४ | २०२ |
| नद्यादिषु स्नानं कर्तव्यम् | २१४ | २०३ |
| यमनियमौ ... ... | २१५ | २०४ |
| अश्रोत्रिययज्ञादिभोजननिषेधः ... ... | २१५ | २०५ |
| श्राद्धान्नं केशादिसंसृष्टं न भुञ्जीत ... ... | २१६ | २०७ |
| रजस्वलास्पृष्टान्ननिषेधः | २१६ | २०८ |
| गवाघ्रातगणिकान्नं च निषिद्धम् ... ... | २१६ | २०९ |
| अभोज्यानि स्तेनान्न० ... | २१६ | २१० |
| राजान्नभोजने मन्दफलम्... ... ... | २१८ | २१८ |
| तेषामन्नभोजने प्रायश्चित्तम् | २१९ | २२२ |
| शूद्रपक्कान्ननिषेधः ... | २२० | २२३ |
| कदर्यश्रोत्रियवार्धुषिकान्ने | २२० | २२४ |
| श्रद्धादत्तवदान्यवार्धुषिकान्ने | २२० | २२५ |
| श्रद्धया यागादिकं कुर्यात् | २२० | २२६ |
| श्रद्धादानफलम् ... | २२० | २२७ |
| जलभूमिदानादिफलम् ... | २२१ | २२८ |
| वेददानप्रशंसा ... ... | २२२ | २३३ |
| काम्यदाने ... ... | २२२ | २३४ |
| विधिवद्दानग्रहणयोः ... | २२२ | २३५ |
| द्विजनिन्दादानकीर्तनादिनिषेधः ... ... | २२२ | २३६ |
| अनृतादिफलम् ... ... | २२२ | २३७ |
| शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् ... | २२३ | २३८ |
| धर्मप्रशंसा ... ... | २२३ | २३९ |
| उत्कृष्टैः संबन्धः कार्यः न हीनैः ... ... | २२४ | २४४ |
| फलमूलादिग्रहणे ... | २२४ | २४७ |
| दुष्कृतकर्मणो भिक्षाग्रहणम् ... ... | २२५ | २४८ |
| भिक्षाया अग्रहणे ... | २२५ | २४९ |
| अयाचितभिक्षायाम् ... | २२५ | २५० |
| कुटुम्बार्था भिक्षा ... | २२५ | २५१ |
| स्वार्थं साधुभिक्षा ... | २२५ | २५२ |
| भोज्यान्नशूद्राः ... ... | २२६ | २५३ |
| शूद्रैरात्मनिवेदनं कार्यम् | २२६ | २५४ |
| असत्यकथने निन्दा ... | २२६ | २५५ |
| योग्यपुत्राय कुटुम्बभारदानम्... ... ... | २२६ | २५७ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| ब्रह्मचिन्ता ... ... | २२७ | २५८ |
| उक्तस्य फलकथनम् ... | २२७ | २६० |
| **॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥** | | |
| मनुष्याणां कथं मृत्युरिति प्रश्नः ... ... | २२८ | २ |
| मृत्युप्रापकानाह... ... | २२८ | ३ |
| लशुनाद्यभक्ष्याण्याह ... | २२९ | ५ |
| वृथामांसादिनिषेधः ... | २२९ | ७ |
| अभक्ष्यक्षीराणि... ... | २३० | ८ |
| शुक्तेषु दध्यादयो भ० ... | २३० | १० |
| अथाभक्ष्यपक्षिणः ... | २३० | ११ |
| सौनशुष्कमांसादयः ... | २३१ | १३ |
| ग्राम्यसूकरमत्स्यादयः ... | २३१ | १४ |
| मत्स्यभक्षणनिन्दा ... | २३२ | १५ |
| भक्ष्यमत्स्यानाह... ... | २३२ | १६ |
| सर्पवानरादिनिषेधः ... | २३२ | १७ |
| भक्ष्यपञ्चनखानाह ... | २३३ | १८ |
| लशुनादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् | २३३ | १९ |
| यागार्थपशुहिंसाविधिः ... | २३४ | २२ |
| पर्युषितान्यपि भक्ष्याणि... | २३४ | २४ |
| मांसभक्षणे ... ... | २३५ | २७ |
| प्रोक्षितमांसभक्षणनियमः. | २३६ | ३१ |
| वृथामांसभक्षणनिषेधः ... | २३७ | ३३ |
| श्राद्धे मांसभोजने निन्दा | २३७ | ३५ |
| अप्रोक्षितमांसं न भक्ष० | २३७ | ३६ |
| यज्ञार्थवधप्रशंसा ... | २३८ | ३९ |
| पशुहननकालनियमः ... | २३८ | ४१ |
| वेदाविहितहिंसानिषेधः ... | २३९ | ४३ |
| आत्मसुखेच्छया हनने ... | २३९ | ४५ |
| वधबन्धनं न कर्तव्यम्... | २३९ | ४६ |
| मांसवर्जने ... ... | २४० | ४८ |
| अथ घातकाः ... ... | २४० | ५१ |
| मांसवर्जनफलम् ... | २४१ | ५३ |
| सपिण्डानां दशाहाद्यशौचम्... ... ... | २४२ | ५८ |
| अथ सपिण्डता ... ... | २४३ | ६० |
| जनेन मातुरस्पृश्यत्वम्... | २४३ | ६२ |
| शुक्रपाते परपूर्वापत्यमरणे | २४४ | ६३ |
| शवस्पर्शे समानोदकमरणे | २४४ | ६४ |
| गुरोर्मरणाशौचम् ... | २४४ | ६५ |
| गर्भस्रावे रजस्वलाशुद्धौ | २४५ | ६६ |
| बालाद्यशौचम् ... ... | २४५ | ६७ |
| ऊनद्विवार्षिकस्य भूमिखननम्... ... ... | २४५ | ६८ |
| नास्याग्निसंस्कारादि ... | २४६ | ६९ |
| बालस्योदकदाने... ... | २४६ | ७० |
| सहाध्यायिमरणे... ... | २४६ | ७१ |
| वाग्दत्तस्यशौचम् ... | २४६ | ७२ |
| हविष्यभक्षणादि ... | २४७ | ७३ |
| अथ विदेशस्याशौचम् ... | २४७ | ७५ |
| आचार्यतत्पुत्रादिमरणे ... | २४८ | ८० |
| श्रोत्रियमातुलादिम० ... | २४९ | ८१ |
| राजाध्यापकादिम० ... | २४९ | ८२ |
| संपूर्णाशौचमाह... ... | २४९ | ८३ |
| अग्निहोत्रार्थं स्नानाच्छुद्धिः | २४९ | ८४ |
| स्पर्शनिमित्ताशौचम् ... | २५० | ८५ |
| अशौचदर्शने ... ... | २५० | ८६ |
| मनुष्यास्थिस्पर्शे ... | २५१ | ८७ |
| ब्रह्मचार्यात्रतसमापनात्प्रेतोदकदानादि न कुर्यात् | २५१ | ८८ |
| न पतितादीनामुदकदाना० | २५१ | ८९ |
| व्यभिचारिण्यादीनां नोदकदानम् ... ... | २५१ | ९० |
| ब्रह्मचारिणः पित्रादिनिर्हरणे ... ... ... | २५२ | ९१ |
| शूद्रादीन्दक्षिणादितो निर्हरेत् ... ... ... | २५२ | ९२ |
| राजादीनामशौचाभावे ... | २५२ | ९३ |
| राज्ञः सद्यः शौचम् ... | २५२ | ९४ |
| वज्रादिहतानां सद्यः शौचम् | २५३ | ९५ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| राज्ञोऽशौचाभावस्तुतिः... | २५३ | ९६ |
| क्षात्रधर्महतस्य सद्यः शौचम्... ... ... | २५४ | ९८ |
| अशौचान्तकृत्यम् ... | २५४ | ९९ |
| असपिण्डाशौचमाह ... | २५४ | १०० |
| असपिण्डनिर्हरणे ... | २५४ | १०१ |
| अशौच्यन्नभक्षणे ... | २५४ | १०२ |
| निर्हारकानुगमने ... | २५५ | १०३ |
| ब्राह्मणं शूद्रैर्न निर्हारयेत् | २५५ | १०४ |
| ज्ञानादीनि शुद्धिसाधनानि | २५५ | १०५ |
| अर्थशौचप्रशंसा ... ... | २५६ | १०६ |
| क्षमादानजपतपांसि शोधकानि ... ... | २५६ | १०७ |
| समलनदीस्त्रीद्विजशुद्धौ ... | २५६ | १०८ |
| गात्रमनसात्मबुद्धिशुद्धौ... | २५६ | १०९ |
| द्रव्यशुद्धिमाह ... ... | २५७ | ११० |
| सुवर्णादिमणिशुद्धौ ... | २५७ | १११ |
| घृतादिशय्यादिकाष्ठशुद्धौ | २५७ | ११५ |
| यज्ञपात्रशुद्धौ ... ... | २५८ | ११६ |
| धान्यवस्त्रशुद्धौ ... ... | २५८ | ११८ |
| चर्मवंशपात्रशाकफलमूलशुद्धौ ... ... | २५८ | ११९ |
| कम्बलपटवस्त्रादिशुद्धौ ... | २५९ | १२१ |
| तृणकाष्ठगृहमृद्भाण्ड० ... | २५९ | १२२ |
| शोणिताद्युपहतमृद्भाण्डत्या० | २५९ | १२३ |
| भूमिशुद्धौ ... ... | २५९ | १२४ |
| पक्षिजग्धगवाघ्रातादौ ... | २६० | १२५ |
| गन्धलेपयुक्तद्रव्यशुद्धौ ... | २६० | १२६ |
| पवित्राण्याह ... ... | २६० | १२७ |
| जलशुद्धौ ... ... | २६० | १२८ |
| नित्यशुद्धानाह ... ... | २६१ | १२९ |
| स्पर्शे नित्यशुद्धानि ... | २६१ | १३२ |
| मूत्राद्युत्सर्गशुद्धौ ... | २६२ | १३४ |
| अथ द्वादश मलाः ... | २६२ | १३५ |
| मृद्वारिग्रहणे नियमः ... | २६२ | १३६ |
| ब्रह्मचार्यादीनां द्विगुणाद्याचमनानन्तरमिन्द्रियादिस्पर्शः ... ... | २६३ | १३७ |
| आचमनविधिः... ... | २६३ | १३९ |
| शूद्राणां मासि वपनं द्विजोच्छिष्टभो० ... ... | २६३ | १४० |
| विप्रुषश्मश्वादिकं नोच्छिष्टम्... ... ... | २६४ | १४१ |
| पादे गण्डूपजविन्दवः शुद्धाः | २६४ | १४२ |
| द्रव्यहस्तस्योच्छिष्टस्पर्शे... | २६४ | १४३ |
| वमनविरेकमैथुनशुद्धौ ... | २६४ | १४४ |
| निद्राक्षुद्भोजनादिशु० ... | २६५ | १४५ |
| अथ स्त्रीधर्मानाह ... | २६५ | १४६ |
| स्त्रिया स्वातन्त्र्यं न कार्यम् | २६५ | १४७ |
| कस्य वशे तिष्ठेदित्यत्राह | २६५ | १४८ |
| प्रसन्ना गृहकर्म कुर्यात्... | २६६ | १५० |
| स्वामिशुश्रूषा ... ... | २६६ | १५१ |
| स्वाम्यहेतुमाह ... ... | २६६ | १५२ |
| स्वामिप्रशंसा ... ... | २६६ | १५३ |
| स्त्रीणां पृथक्यज्ञनि० ... | २६७ | १५५ |
| स्वामिनोऽप्रियं नाचरेत्... | २६७ | १५६ |
| मृतपतिकाधर्मः... ... | २६७ | १५७ |
| परपुरुषगमननिन्दा ... | २६८ | १६१ |
| पातिव्रत्यफलम् ... ... | २६९ | १६५ |
| भार्यायां मृतायां श्रौताग्निना दाहः ... ... | २६९ | १६७ |
| पुनर्दारग्रहणे ... ... | २६९ | १६८ |
| गृहस्थस्य कालावधिः ... | २७० | १६९ |
| **॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥** | | |
| वानप्रस्थाश्रममाह ... | २७० | १ |
| सभार्याग्निहोत्रो वने वसेत् | २७० | ३ |
| फलमूलेन पञ्चयज्ञकरणम् | २७१ | ५ |
| चर्मचीरजटादिधारणम्... | २७१ | ६ |
| अतिथिचर्या ... ... | २७१ | ७ |
| वानप्रस्थनियमाः ... | २७१ | ८ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| मधुमांसादिवर्जनम् ... | २७३ | १४ |
| आश्विने संचितनीवारादि-त्यागः ... ... | २७३ | १५ |
| फालकृष्टाद्यन्ननिषेधः ... | २७३ | १६ |
| अश्मकुट्टादयः ... ... | २७३ | १७ |
| नीवारादिसंचयने ... | २७४ | १८ |
| भोजनकालादयः ... | २७४ | १९ |
| भूमिपरिवर्तनादि ... | २७४ | २२ |
| ग्रीष्मादिऋतुकृत्यम् ... | २७५ | २३ |
| स्वदेहं शोषयेत् ... ... | २७५ | २४ |
| अग्निहोत्रसमापनादयः ... | २७५ | २५ |
| वृक्षमूलभूशय्यादयः ... | २७५ | २६ |
| भिक्षाचरणे ... ... | २७६ | २७ |
| वेदादिपाठः ... ... | २७६ | २९ |
| महाप्रस्थानम् ... ... | २७६ | ३१ |
| परिव्राजककालमाह ... | २७७ | ३३ |
| ब्रह्मचर्यादिक्रमेण परिव्र-जेत् ... ... ... | २७७ | ३४ |
| ऋणमशोध्य न परिव्र०... | २७७ | ३५ |
| पुत्रमनुत्पाद्य न परिव्रजेत् | २७८ | ३६ |
| प्राजापत्येष्टिं कृत्वा परिव्र-जेत् ... ... ... | २७८ | ३८ |
| अभयदानफलम् ... | २७९ | ३९ |
| निस्पृहः परिव्रजेत् ... | २७९ | ४१ |
| एकाकी मोक्षार्थं चरेत् ... | २७९ | ४२ |
| परिव्राजकनियमाः ... | २७९ | ४३ |
| मुक्तलक्षणम् ... ... | २८० | ४४ |
| जीवनादिकामनाराहित्यम् | २८० | ४५ |
| परिव्राजकाचारः ... | २८० | ४६ |
| भिक्षाग्रहणे ... ... | २८१ | ५० |
| दण्डकमण्डल्वादयः ... | २८२ | ५२ |
| भिक्षापात्राणि ... ... | २८२ | ५३ |
| एककाले भिक्षाचरणम्... | २८२ | ५५ |
| भिक्षाकालः ... ... | २८२ | ५६ |
| लाभालाभे हर्षविषादौ न कार्यौ ... ... | २८३ | ५७ |
| पूजापूर्वकभिक्षानिषेधः ... | २८३ | ५८ |
| इन्द्रियनिग्रहः ... ... | २८३ | ५९ |
| संसारगतिकथनम् ... | २८३ | ६१ |
| सुखदुःखयोर्धर्माधर्मौ हेतू | २८४ | ६४ |
| न लिङ्गमात्रं धर्मकारणम् | २८४ | ६६ |
| भूमिं निरीक्ष्य पर्यटेत् ... | २८५ | ६८ |
| क्षुद्रजन्तुहिंसाप्रायश्चित्तम् | २८५ | ६९ |
| प्राणायामप्रशंसा ... | २८५ | ७० |
| ध्यानयोगेनात्मानं पश्येत् | २८६ | ७३ |
| ब्रह्मसाक्षात्कारपु मुक्तिः | २८६ | ७४ |
| मोक्षसाधककर्माणि ... | २८७ | ७५ |
| देहस्वरूपमाह ... ... | २८७ | ७६ |
| देहत्यागे दृष्टान्तमाह ... | २८७ | ७८ |
| प्रियाप्रियेषु पुण्यपापत्यागः | २८८ | ७९ |
| विषयानभिलाषः ... | २८८ | ८० |
| आत्मनो ध्यानम् ... | २८९ | ८२ |
| परिव्रज्याफलम् ... | २९० | ८५ |
| वेदसन्यासिकर्माह ... | २९० | ८६ |
| चत्वार आश्रमाः ... | २९० | ८७ |
| सर्वाश्रमफलम् ... ... | २९१ | ८८ |
| गृहस्थस्य श्रेष्ठत्वम् ... | २९१ | ८९ |
| दशविधधर्मः सेवितव्यः... | २९१ | ९१ |
| दशविधधर्मानाह ... | २९१ | ९२ |
| दशविधधर्माचरणफलम् | २९२ | ९३ |
| वेदमेवाभ्यसेत् ... ... | २९२ | ९५ |
| वेदसन्यासफलम् ... | २९२ | ९६ |
| **॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥** | | |
| राजधर्मानाह ... ... | २९३ | १ |
| कृतसंस्कारस्य प्रजारक्षणम् | २९३ | २ |
| रक्षार्थमिन्द्रावंशाद्राजो-त्पत्तिः ... ... | २९४ | ३ |
| राजप्रशंसा ... ... | २९४ | ६ |
| राजद्वेषनिन्दा ... ... | २९६ | १२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| राजस्थापितधर्मं न चालयेत् | २९६ | १३ |
| दण्डोत्पत्तिः ... ... | २९६ | १४ |
| दण्डप्रणयनम् ... ... | २९७ | १६ |
| दण्डप्रशंसा ... ... | २९७ | १७ |
| अयथादण्डनिषेधः ... | २९७ | १९ |
| दण्ड्येषु दण्डाकरणे निन्दा | २९८ | २० |
| पुनर्दण्डप्रशंसा ... ... | २९८ | २२ |
| दण्डप्रणेता कीदृश इत्यत्राह | २९९ | २६ |
| अधर्मदण्डे राजादीनां दोषः | २९९ | २८ |
| मूर्खादीनां न दण्डप्रणयनम् ... ... ... | ३०० | ३० |
| सत्यसंधादिना दण्डप्रणयनम् ... ... ... | ३०० | ३१ |
| शत्रुमित्रविप्रादिषु दण्डविधिः ... ... | ३०० | ३२ |
| न्यायवर्तिनो राज्ञः प्रशंसा | ३०० | ३३ |
| दुर्वृत्तराज्ञो निन्दा ... | ३०० | ३४ |
| राजकृत्ये वृद्धसेवा ... | ३०१ | ३७ |
| विनयग्रहणम् ... ... | ३०१ | ३९ |
| अविनयनिन्दा ... ... | ३०२ | ४० |
| अत्र दृष्टान्तमाह ... | ३०२ | ४१ |
| विनयाद्राज्यादिप्राप्तिदृष्टान्तः ... ... | ३०२ | ४२ |
| विद्याग्रहणम् ... ... | ३०२ | ४३ |
| इन्द्रियजयः ... ... | ३०२ | ४४ |
| कामक्रोधजव्यसनत्यागः | ३०३ | ४५ |
| कामजदशव्यसनान्याह... | ३०३ | ४७ |
| क्रोधजाष्टव्यसनान्याह ... | ३०३ | ४८ |
| सर्वमूललोभत्यागः ... | ३०४ | ४९ |
| अतिदुःखदव्यसनानि ... | ३०४ | ५० |
| व्यसननिन्दा ... ... | ३०५ | ५३ |
| अथ सचिवाः ... ... | ३०५ | ५४ |
| संधिविग्रहादिचिन्ता ... | ३०५ | ५६ |
| मन्त्रिभिर्विचार्य हितं कार्यम्... ... ... | ३०६ | ५७ |
| ब्राह्मणमन्त्रिणः... ... | ३०६ | ५८ |
| अन्यानप्यमात्यान् कुर्यात् | ३०६ | ६० |
| आक्रान्तः पुराध्यक्षाः... | ३०७ | ६२ |
| दूतलक्षणम् ... ... | ३०७ | ६३ |
| सेनापत्यादि कार्यम् ... | ३०८ | ६५ |
| दूतप्रशंसा ... ... | ३०८ | ६६ |
| प्रतिराजेप्सितं दूतेन जानीयात् ... ... | ३०८ | ६७ |
| जाङ्गलदेशाश्रयणे ... | ३०८ | ६९ |
| अथ दुर्गप्रकाराः ... | ३०९ | ७० |
| अस्त्रान्नादिपूरितं दुर्गं कुर्यात् ... ... | ३१० | ७५ |
| सुन्दरीं भार्यामुद्वहेत् ... | ३१० | ७७ |
| पुरोहितादयः ... ... | ३१० | ७८ |
| यज्ञादिकरणम् ... ... | ३११ | ७९ |
| करग्रहणे ... ... | ३११ | ८० |
| अथाध्यक्षाः ... ... | ३११ | ८१ |
| ब्राह्मणानां वृत्तिदानम् ... | ३११ | ८२ |
| ब्राह्मणानां वृत्तिदानप्रशंसा | ३११ | ८३ |
| पात्रदानफलमाह ... | ३१२ | ८५ |
| संग्रामे आहूतो न निवर्तेत ... ... ... | ३१२ | ८७ |
| संमुखमरणे स्वर्गः ... | ३१३ | ८९ |
| कूटास्त्रादिनिषेधः ... | ३१३ | ९० |
| संग्रामेऽवध्यानाह ... | ३१३ | ९१ |
| भीतादिहनने दोषः ... | ३१४ | ९४ |
| संग्रामे पराङ्मुखहतस्य दोषः | ३१४ | ९५ |
| येन यज्जितं तद्धनं तस्यैव | ३१४ | ९६ |
| राज्ञः श्रेष्ठवस्तुदानम् ... | ३१४ | ९७ |
| हस्त्यश्वादिवर्धनम् ... | ३१५ | ९९ |
| अलब्धं लब्धुमिच्छेत् ... | ३१५ | १०१ |
| नित्यमश्वपदात्यादिशिक्षा | ३१५ | १०२ |
| नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् ... | ३१६ | १०३ |
| अमात्यादिषु माया न कार्या | ३१६ | १०४ |
| प्रकृतिभेदादिगोपनीयम् | ३१६ | १०५ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| अर्थादिचिन्ता ... ... | ३१६ | १०६ |
| विजयविरोधिनो वशीकरणम् ... ... ... | ३१७ | १०७ |
| सामदण्डप्रशंसा ... ... | ३१७ | १०९ |
| राजरक्षा ... ... | ३१७ | ११० |
| प्रजापीडने दोषः ... | ३१७ | १११ |
| प्रजारक्षणे सुखम् ... | ३१८ | ११३ |
| ग्रामतप्याधिपत्यादयः ... | ३१८ | ११४ |
| ग्रामदोषनिवेदनम् ... | ३१८ | ११६ |
| ग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह | ३१९ | ११८ |
| ग्राम्यकार्याण्यन्येन कर्तव्यानि ... ... | ३१९ | १२० |
| अर्थचिन्तकः ... ... | ३१९ | १२१ |
| तच्चरितं स्वयं जानीयात् | ३१९ | १२२ |
| उत्कोचादिग्राहकशासनम् | ३२० | १२३ |
| प्रेष्यादिवृत्तिकल्पनम् ... | ३२० | १२५ |
| वणिक्करग्रहणे ... | ३२१ | १२७ |
| अल्पाल्पकरग्रहणे ... | ३२१ | १२९ |
| धान्यादीनां करग्रहणे ... | ३२१ | १३० |
| श्रोत्रियात्करं न गृह्णीयात् | ३२२ | १३३ |
| श्रोत्रियवृत्तिकल्पने ... | ३२२ | १३४ |
| शाकादिव्यवहारिणः स्वल्पकरः ... ... | ३२२ | १३७ |
| शिल्प्यादिकं कर्म कारयेत् | ३२३ | १३८ |
| स्वल्पातिप्रचुरकरग्रहणनिषेधः ... ... | ३२३ | १३९ |
| तीक्ष्णमृदुताचरणम् ... | ३२३ | १४० |
| अमात्येन सह कार्यचिन्तनम्... ... ... | ३२३ | १४१ |
| दस्युनिग्रहणम् ... ... | ३२४ | १४३ |
| प्रजापालनस्य श्रेष्ठत्वम्... | ३२४ | १४४ |
| सभाकालः ... ... | ३२४ | १४५ |
| एकान्ते गोप्यमन्त्रणम् ... | ३२४ | १४७ |
| मन्त्रणकाले व्यायपसारणम्... ... ... | ३२५ | १४९ |
| धर्मकामादिचिन्तनम् ... | ३२५ | १५१ |
| दूतसंप्रेषणादयः ... ... | ३२५ | १५३ |
| अथ प्रकृतिप्रकाराः ... | ३२७ | १५६ |
| अरिप्रकृतयः ... ... | ३२८ | १५८ |
| अथ षड्गुणाः ... ... | ३२८ | १६० |
| संध्यादिप्रकारः ... ... | ३२९ | १६२ |
| संधिविग्रहादिकालाः ... | ३३० | १६९ |
| बलिनृपसंश्रयणे ... | ३३२ | १७५ |
| आत्मानं अधिकं कुर्यात् | ३३२ | १७७ |
| आगामिगुणदोषचिन्ता ... | ३३२ | १७८ |
| राजरक्षा ... ... | ३३३ | १८० |
| अरिराज्ययानविधिः ... | ३३३ | १८१ |
| शत्रुसेविमित्रादौ सावधानम् ... ... ... | ३३४ | १८६ |
| व्यूहकरणे ... ... | ३३४ | १८७ |
| जलादौ युद्धप्रकारः ... | ३३५ | १९२ |
| अग्रानीकयोग्यानाह ... | ३३६ | १९३ |
| सैन्यपरीक्षणम् ... ... | ३३६ | १९४ |
| परराष्ट्रपीडने ... ... | ३३६ | १९५ |
| परप्रकृतिभेदादि ... | ३३६ | १९७ |
| उपायाभावे युद्धेत् ... | ३३७ | २०० |
| जित्वा ब्राह्मणादिपूजनं प्रजानामभयदानं च ... | ३३७ | २०१ |
| तद्वंश्याय तद्राज्यदाने ... | ३३८ | २०२ |
| करग्रहणादि ... ... | ३३८ | २०६ |
| मित्रप्रशंसा ... ... | ३३९ | २०७ |
| शत्रुगुणाः ... ... | ३३९ | २१० |
| उदासीनगुणाः ... ... | ३३९ | २११ |
| आत्मार्थ भूम्यादित्यागः | ३४० | २१२ |
| आपदि उपायचिन्तनम् | ३४० | २१४ |
| अथ राज्ञो भोजने ... | ३४० | २१६ |
| अन्नादिपरीक्षा ... ... | ३४१ | २१७ |
| विहारादौ ... ... | ३४१ | २२१ |
| आयुधादिदर्शनम् ... | ३४२ | २२२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| संध्यामुपास्य प्रणिधिचेष्टितादि ... ... | ३४२ | २२३ |
| ततो रात्रिभोजनादयः | ३४२ | २२४ |
| अस्वस्थः श्रेष्ठामात्येषु निःक्षिपेत् ... ... | ३४२ | २२६ |
| **॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥** | | |
| व्यवहारान् दिदृक्षुः सभां प्रविशेत् ... ... | ३४३ | १ |
| कुलशास्त्रादिभिः कार्यं पश्येत् ... ... | ३४३ | ३ |
| अष्टादश विवादानाह ... | ३४३ | ४ |
| धर्ममाश्रित्य निर्णयं कुर्यात् | ३४४ | ८ |
| स्वयमशक्तौ विद्वांसं नियुञ्ज्यात् ... ... | ३४५ | ९ |
| स त्रिभिर्ब्राह्मणैः सह कार्यं पश्येत् ... ... | ३४५ | १० |
| तत्सभाप्रसंशा ... ... | ३४५ | ११ |
| अधर्मे सभासदां दोषः ... | ३४५ | १२ |
| सदसि सत्यमेव वक्तव्यम् | ३४५ | १३ |
| अधर्मवादिशासनम् ... | ३४६ | १४ |
| धर्मातिक्रमणेदोषः ... | ३४६ | १५ |
| दुर्व्यवहारे राजादीनामधर्मः | ३४६ | १८ |
| अर्थिप्रत्यर्थिपापे ... ... | ३४७ | १९ |
| कार्यदर्शने शूद्रनिषेधः ... | ३४७ | २० |
| राष्ट्रनास्तिकदुर्भिक्षादिनिषेधः ... ... | ३४७ | २१ |
| लोकपालान्प्रणम्य कार्यदर्शनम् ... ... | ३४८ | २३ |
| ब्राह्मणादिक्रमेण कार्यं पश्येत् ... ... | ३४८ | २४ |
| स्वरवर्णादिना अर्थ्यादि परीक्षेत् ... ... | ३४८ | २५ |
| बालधनं राज्ञा रक्षणीयम् | ३४८ | २७ |
| प्रोषितपतिकादिधनरक्षणम् | ३४९ | २८ |
| अपुत्राधनहारकशासनम् | ३४९ | २९ |
| अस्वामिकधनरक्षणे कालः | ३४९ | ३० |
| द्रव्यरूपसंख्यादिकथनम् | ३४९ | ३१ |
| अकथने दण्डः ... ... | ३५० | ३२ |
| प्रणष्टद्रव्यात् षड्भागग्रह० | ३५० | ३३ |
| चौरघातनम् ... ... | ३५० | ३४ |
| निध्यादौ षड्भागग्रहणम् | ३५० | ३५ |
| परनिधौ अनृतकथने ... | ३५० | ३६ |
| ब्राह्मणनिधिविषये ... | ३५१ | ३७ |
| राज्ञा निधिं प्राप्यार्धं विप्राय देयम् ... ... | ३५१ | ३८ |
| चौरहृतधनं राज्ञा दातव्यम् | ३५१ | ४० |
| जातिदेशधर्माविरोधेन करणीयम् ... ... | ३५२ | ४१ |
| राज्ञा विवादोत्थापनादि न कार्यम् ... ... | ३५२ | ४३ |
| अनुमानेन तत्वं निश्चिनुयात् ... ... | ३५२ | ४४ |
| सत्यादिना व्यवहारं पश्येत् | ३५२ | ४५ |
| सदाचार आचरणीयः ... | ३५३ | ४६ |
| ऋणादाने ... ... | ३५३ | ४७ |
| अथ हीनाः ... ... | ३५४ | ५३ |
| अभियोक्तुर्दण्डादिः ... | ३५५ | ५८ |
| धनपरिमाणमिथ्याकथने | ३५६ | ५९ |
| साक्षिविभावनम् ... | ३५६ | ६० |
| अथ साक्षिणः ... ... | ३५६ | ६१ |
| साक्ष्ये निषिद्धाः ... | ३५७ | ६४ |
| स्त्र्यादीनां स्त्र्यादयः साक्षिणः | ३५८ | ६८ |
| वादिसाक्षिणः ... ... | ३५८ | ६९ |
| बालादिसाक्ष्यादौ ... | ३५८ | ७० |
| साहसादौ न साक्षिपरीक्षा | ३५९ | ७२ |
| साक्षिद्वैधे ... ... | ३५९ | ७३ |
| साक्षिणः सत्यकथनम् ... | ३५९ | ७४ |
| मिथ्यासाक्ष्ये दोषः ... | ३५९ | ७५ |
| श्रुतसाक्षिणः ... ... | ३६० | ७६ |
| एकोऽपि धर्मवित्साक्षी... | ३६० | ७७ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| स्वभाववचनं साक्षिणो गृह्णीयुः ... ... | ३६० | ७८ |
| साक्षिप्रश्ने ... ... | ३६० | ७९ |
| साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् | ३६१ | ८१ |
| रहःकृतं कर्म आत्मादिर्जानाति ... ... | ३६१ | ८४ |
| ब्राह्मणादिसाक्षिप्रश्ने ... | ३६२ | ८७ |
| असत्यकथने दोषः ... | ३६२ | ८९ |
| सत्यप्रशंसा ... ... | ३६३ | ९२ |
| असत्यकथनफलम् ... | ३६३ | ९३ |
| पुनः सत्यकथनप्रशंसा ... | ३६४ | ९६ |
| विषयभेदेन सत्यफलम् ... | ३६४ | ९७ |
| निन्दितब्राह्मणान् शूद्रवत्पृच्छेत् ... ... | ३६५ | १०२ |
| विषयभेदेऽसत्यकथने दोषः | ३६५ | १०३ |
| अनृतकथने प्रायश्चित्तम् | ३६६ | १०५ |
| त्रिपक्षं साक्ष्यकथने परा-जयः ... ... | ३६७ | १०७ |
| साक्षिभङ्गे ... ... | ३६७ | १०८ |
| असाक्षिविवादे शपथः ... | ३६७ | १०९ |
| वृथाशपथे दोषः ... | ३६७ | १११ |
| वृथाशपथप्रतिप्रसवमाह... | ३६७ | ११२ |
| विप्रादेः सत्योच्चारादिशपथम् ... ... | ३६८ | ११३ |
| शूद्रशपथे ... ... | ३६८ | ११४ |
| शपथे शुचिमाह... ... | ३६८ | ११५ |
| अथ पुनर्वादः ... ... | ३६९ | ११७ |
| लोभादिना साक्ष्ये दण्डविशेषः ... ... | ३६९ | ११८ |
| दण्ड्यस्य हस्तादिदशस्थानानि | ३७० | १२४ |
| अपराधमपेक्ष्य दण्डकरणम् ... ... ... | ३७० | १२६ |
| अधर्मदण्डनिन्दा ... | ३७१ | १२७ |
| दण्ड्यपरित्यागे ... ... | ३७१ | १२८ |
| वाग्दण्डधिक्कृदण्डादि ... | ३७१ | १२९ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| त्रसरेण्वादिपरिमाणानाह | ३७१ | १३१ |
| प्रथममध्यमोत्तमसाहसाः | ३७३ | १३८ |
| ऋणादाने दण्डनियमः ... | ३७३ | १३९ |
| अथ वृद्धिः ... ... | ३७३ | १४० |
| आधिस्थले ... ... | ३७४ | २४३ |
| बलादाधिभोगनिषे० ... | ३७४ | १४४ |
| आधिनिक्षेपादौ ... | ३७४ | १४५ |
| धेन्वादौ भोगेऽपि न स्वत्वहानिः ... ... | ३७४ | १४६ |
| आधिसीमादौ न भोगे स्वत्वहानिः ... ... | ३७५ | १४७ |
| बलादाधिभोगेऽधर्ववृद्धिः | ३७५ | १४९ |
| द्वैगुण्यादधिकवृद्धिर्न भवति | ३७६ | १५१ |
| वृद्धिप्रकराः ... ... | ३७६ | १५२ |
| पुनर्लेख्यकरणे ... ... | ३७७ | १५४ |
| देशकालवृद्धौ ... ... | ३७७ | १५६ |
| दर्शनप्रतिभूस्थले ... | ३७८ | १५८ |
| प्रातिभाव्यादि ऋणं पुत्रैर्न देयम् ... ... | ३७८ | १५९ |
| दानप्रतिभूस्थले... ... | ३७८ | १६० |
| निरादिष्टधने प्रतिभुवि ... | ३७९ | १६२ |
| कृतनिवृत्तौ ... ... | ३७९ | १६३ |
| कुटुम्बार्थकृतर्णं देयम् ... | ३७९ | १६६ |
| बलकृतं निवर्त्यम् ... | ३८० | १६८ |
| प्रातिभाव्यादिनिषेधः ... | ३८० | १६९ |
| अग्राह्यमर्थं न गृह्णीयात्... | ३८० | १७० |
| ग्राह्यत्यागे दोषः ... | ३८० | १७१ |
| अबलरक्षणादौ ... ... | ३८१ | १७२ |
| अधर्मकार्यकरणे दोषः ... | ३८१ | १७४ |
| धर्मेण कार्यकरणम् ... | ३८१ | १७५ |
| धनिकेन धनसाधने ... | ३८१ | १७६ |
| धनाभावे कर्मणा ऋणशोधनम् ... ... ... | ३८२ | १७७ |
| अथ निक्षेपे ... ... | ३८२ | १७९ |
| साक्ष्यभावे निक्षेपनिर्णयः | ३८३ | १८२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| निक्षेपदाने ... ... | ३८३ | १८५ |
| स्वयं निक्षेपार्पणे... ... | ३८४ | १८६ |
| समुद्रनिक्षेपे ... ... | ३८४ | १८८ |
| चौरादिहृते निक्षेपे ... | ३८४ | १८९ |
| निक्षेपापहारे शपथम् ... | ३८५ | १९० |
| निक्षेपापहारादौ दण्डः ... | ३८५ | १९१ |
| छलेन परधनहरणे ... | ३८५ | १९३ |
| निक्षेपे मिथ्याकथने दण्डः | ३८५ | १९४ |
| निक्षेपदानग्रहणयोः ... | ३८६ | १९५ |
| अस्वामिविक्रये ... ... | ३८६ | १९६ |
| सागमभोगप्रमाणम् ... | ३८७ | २०० |
| प्रकाशक्रये मूल्यधनलाभे | ३८७ | २०१ |
| संसृष्टवस्तुविक्रये ... | ३८७ | २०२ |
| अन्यां कन्यां दर्शयित्वा-न्याविवाहे ... ... | ३८८ | २०४ |
| उन्मत्तादिकन्याविवाहे... | ३८८ | २०५ |
| पुरोहितदक्षिणादाने ... | ३८८ | २०६ |
| अध्वर्य्वादिदक्षिणा ... | ३८९ | २०९ |
| संभूय समुत्थाने... ... | ३८९ | २११ |
| दत्तानपक्रिया ... ... | ३८९ | २१२ |
| भृतिस्थले ... ... | ३९० | २१५ |
| संविद्व्यतिक्रमे ... ... | ३९१ | २१८ |
| क्रीतानुशयः ... ... | ३९१ | २२२ |
| अनाख्याय दोषवतीकन्या-दाने ... ... | ३९२ | २२४ |
| मिथ्याकन्यादूषणकथने... | ३९२ | २२५ |
| दूषितकन्यानिन्दा ... | ३९२ | २२६ |
| अथ सप्तपदी ... ... | ३९३ | २२७ |
| अथ स्वामिपालविवादः | ३९३ | २२९ |
| क्षीरभृतिस्थले ... ... | ३९३ | २३१ |
| पालदोषेण नष्टस्थले ... | ३९४ | २३२ |
| चोरहृते ... ... | ३९४ | २३३ |
| शृङ्गादिदर्शनम् ... ... | ३९४ | २३४ |
| वृकादिहतस्थले... ... | ३९४ | २३५ |
| ससघातकदण्डे ... ... | ३९४ | २३७ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| सीमाविवादस्थले ... | ३९६ | २४५ |
| सीमावृक्षादयः ... ... | ३९६ | २४६ |
| उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि | ३९७ | २४९ |
| भोगेन सीमां नयेत् ... | ३९७ | २५२ |
| सीमासाक्षिणः ... ... | ३९८ | २५३ |
| साक्ष्युक्तां सीमां बध्नी० | ३९८ | २५५ |
| साक्ष्यदानविधिः ... | ३९८ | २५६ |
| अन्यथा कथने दण्डः ... | ३९८ | २५७ |
| साक्ष्यभावे ग्रामसामन्तादयः | ३९९ | २५८ |
| सामान्तानां मृषाकथने दण्डः | ४०० | २६३ |
| गृहादिहरणे दण्डः ... | ४०० | २६४ |
| राजा स्वयं सीमानिर्णयं कुर्यात् ... ... | ४०० | २६५ |
| अथ वाक्पारुष्यदण्डः ... | ४०० | २६६ |
| ब्राह्मणाद्याक्रोशे... ... | ४०० | २६७ |
| समवर्णाक्रोशे ... ... | ४०१ | २६९ |
| शूद्रस्य द्विजाक्रोशे ... | ४०१ | २७० |
| धर्मोपदेशकर्तुः शूद्रस्य दण्डः ... ... | ४०१ | २७२ |
| श्रुतदेशजात्याक्षेपे ... | ४०१ | २७३ |
| काणाद्याक्रोशे ... ... | ४०२ | २७४ |
| मात्राद्याक्रोशे ... ... | ४०२ | २७५ |
| परस्परपतनीयाक्रोशे ... | ४०२ | २७६ |
| अथ दण्डपारुष्यम् ... | ४०३ | २७८ |
| शूद्रस्य ब्राह्मणादिताडने... | ४०३ | २७९ |
| पादादिप्रहारे ... ... | ४०३ | २८० |
| महता सहोपवेशने ... | ४०३ | २८१ |
| निष्ठीवनादौ ... ... | ४०३ | २८२ |
| केशग्रहणादौ ... ... | ४०३ | २८३ |
| त्वगस्थिभेदादौ ... ... | ४०४ | २८४ |
| वनस्पतिच्छेदने... ... | ४०४ | २८५ |
| मनुष्याणां दुःखानुसारेण दण्डः ... ... | ४०४ | २८६ |
| समुत्थानव्ययदाने ... | ४०४ | २८७ |
| द्रव्यहिंसायाम् ... ... | ४०५ | २८८ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| चार्मिकभाण्डादौ ... | ४०५ | २८९ |
| यानादेर्दशातिवर्तनानि ... | ४०५ | २९० |
| रथस्वाम्यादिदण्डने ... | ४०६ | २९३ |
| भार्यादिताडने ... ... | ४०७ | २९९ |
| अन्यथा ताडने दण्डः ... | ४०७ | ३०० |
| अथ स्तेननिग्रहणे ... | ४०७ | ३०१ |
| चोरादितोऽभयदानफलम् | ४०७ | ३०३ |
| राजाधर्माधर्मषष्ठांशभागी | ४०८ | ३०४ |
| अरक्षया करग्रहणनिन्दा | ४०८ | ३०७ |
| पापनिग्रहसाधुसंग्रहणे ... | ४०९ | ३१० |
| बालवृद्धादिषु क्षमा ... | ४०९ | ३१२ |
| ब्राह्मणसुवर्णस्तेने ... | ४१० | ३१४ |
| अशासने राज्ञो दोषः ... | ४१० | ३१६ |
| परपापसंश्लेषणे ... ... | ४१० | ३१७ |
| राजदण्डेन पापनाशे ... | ४११ | ३१८ |
| कूपघटादिहरणप्रपाभेदने | ४११ | ३१९ |
| धान्यादिहरणे ... ... | ४११ | ३२० |
| सुवर्णादिहरणे ... ... | ४११ | ३२१ |
| स्त्रीपुरुषादिहरणे ... | ४१२ | ३२३ |
| महापश्वादिहरणादौ ... | ४१२ | ३२४ |
| सूत्रकार्पासादिहरणे ... | ४१२ | ३२६ |
| हरितधान्यादौ ... ... | ४१३ | ३३० |
| निरन्वयसान्वयधान्यादौ | ४१३ | ३३१ |
| स्तेयसाहसलक्षणम् ... | ४१३ | ३३२ |
| त्रैताभिस्तेये ... ... | ४१३ | ३३३ |
| चौरहस्तच्छेदादि ... | ४१४ | ३३४ |
| पित्रादिदण्डे ... ... | ४१४ | ३३५ |
| राज्ञो दण्डे ... ... | ४१४ | ३३६ |
| विज्ञशूद्रादेरष्टगुणादिदण्डः | ४१४ | ३३७ |
| अस्तेयान्याह ... ... | ४१५ | ३३९ |
| चौरयाजनादौ ... ... | ४१५ | ३४० |
| पथि स्थितेक्षुद्वयग्रहणे ... | ४१५ | ३४१ |
| दासाश्वादिहरणादौ ... | ४१५ | ३४२ |
| अथ साहसमाह... ... | ४१५ | ३४४ |
| साहसक्षमा निन्दा ... | ४१६ | ३४६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| द्विजातेः शस्त्रग्रहणकालः | ४१६ | ३४८ |
| आततायिहनने ... ... | ४१७ | ३५० |
| परदाराभिमर्षणे दण्डः... | ४१७ | ३५२ |
| परस्त्रिया रहःसंभाषणे ... | ४१८ | ३५४ |
| स्त्रीसंग्रहणे ... ... | ४१८ | ३५८ |
| भिक्षुकादीनां परस्त्रीसंभाषणे ... ... ... | ४१९ | ३६० |
| परस्त्रिया निषिद्धसंभाषणे | ४१९ | ३६१ |
| नटादिस्त्रीषु संभाषणे न दोषः ... ... | ४१९ | ३६२ |
| कन्यादूषणे ... ... | ४२० | ३६४ |
| अङ्गुलिप्रक्षेपादौ ... | ४२० | ३६७ |
| व्यभिचरितस्त्रीजारयोर्दण्डे | ४२१ | ३७१ |
| संवत्सराभिशस्तादौ ... | ४२१ | ३७३ |
| शूद्रादेररक्षितोत्कृष्टादिगमने | ४२२ | ३७४ |
| ब्राह्मणस्य गुप्ताविप्रागमने | ४२३ | ३७८ |
| ब्राह्मणस्य न वधदण्डः ... | ४२३ | ३८० |
| गुप्तावैश्यक्षत्रिययोर्गमने | ४२३ | ३८२ |
| अगुप्ताक्षत्रियादिगमने ... | ४२४ | ३८४ |
| साहसिकादिशून्यराज्यप्रशंसा ... ... | ४२४ | ३८६ |
| कुलपुरोहितादित्यागे ... | ४२४ | ३८८ |
| मात्रादित्यागे ... ... | ४२५ | ३८९ |
| विप्रयोर्वादे राज्ञा न धर्मकथनम् ... ... | ४२५ | ३९० |
| सामाजिकावभोजने ... | ४२५ | ३९१ |
| अथ आकराः ... ... | ४२६ | ३९४ |
| रजकस्य वस्त्रप्रक्षालने ... | ४२६ | ३९५ |
| तन्तुवायस्य सूत्रहरणे ... | ४२६ | ३९७ |
| पण्यमूल्यकरणे ... ... | ४२७ | ३९८ |
| राज्ञा प्रतिषिद्धानां निर्हरणे | ४२७ | ३९९ |
| अकालविक्रयादौ ... | ४२७ | ४०० |
| विदेशविक्रये ... ... | ४२७ | ४०१ |
| अर्घस्थापने ... ... | ४२७ | ४०२ |
| तुलादिपरीक्षा ... ... | ४२८ | ४०३ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| अथ तरिशुल्कम् ... | ४२८ | ४०४ |
| गर्भिण्यादीनां न तरिशुल्कम् | ४२८ | ४०७ |
| नाविकदोषेण वस्तुनाशे | ४२९ | ४०८ |
| वैश्यादेर्वाणिज्याकरणे ... | ४२९ | ४१० |
| क्षत्रियवैश्यौ न दासकर्मार्हौ | ४२९ | ४११ |
| शूद्रं दासकर्म कारयेत् ... | ४३० | ४१३ |
| शूद्रो दास्यान्न मुच्यते ... | ४३० | ४१४ |
| अथ सप्तदशदासप्रकाराः | ४३० | ४१५ |
| भार्यादासादयोऽधनाः ... | ४३० | ४१६ |
| वैश्यशूद्रौ स्वकर्मकारयितव्यौ ... ... | ४३१ | ४१८ |
| दिनेदिने आयव्ययनिरीक्षणम्... ... ... | ४३१ | ४१९ |
| सम्यग्व्यवहारदर्शनफलम् | ४३१ | ४२० |

## ॥ अथ नवमोऽध्यायः ॥

| | | |
|---|---|---|
| अथ स्त्रीपुंधर्माः... ... | ४३२ | १ |
| अथ स्त्रीरक्षा ... ... | ४३२ | २ |
| जायाशब्दार्थकथनम् ... | ४३३ | ८ |
| स्त्रीरक्षणोपायाः... ... | ४३४ | ११ |
| स्त्रीस्वभावः ... ... | ४३४ | १४ |
| स्त्रीणां मन्त्रैर्न क्रिया ... | ४३५ | १८ |
| व्यभिचारप्रायश्चित्ते ... | ४३५ | १९ |
| स्त्री स्वामिगुणा भवति... | ४३६ | २२ |
| स्त्रीप्रशंसा ... ... | ४३७ | २६ |
| अव्यभिचारफलम् ... | ४३८ | २९ |
| व्यभिचारफलम् ... | ४३८ | ३० |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले ... | ४३८ | ३२ |
| परस्त्रीषु बीजवपननिषेधः | ४४० | ४१ |
| स्त्रीपुंसयोरेकत्वम् ... | ४४१ | ४५ |
| सकृदंशभागादयः ... | ४४१ | ४७ |
| क्षेत्रप्राधान्यम् ... ... | ४४२ | ४८ |
| अथ स्त्रीधर्मः ... ... | ४४३ | ५६ |
| भ्रातुः स्त्रीगमने पातित्यम् | ४४४ | ५७ |
| अथ नियोगः ... ... | ४४४ | ५९ |
| न नियोगे द्वितीयपुत्रोत्पादनं | ४४४ | ६० |
| कामतो गमननिषेधः ... | ४४५ | ६३ |
| नियोगनिन्दा ... ... | ४४५ | ६४ |
| वर्णसंकरकालः ... ... | ४४५ | ६६ |
| वाग्दत्ताविषये ... ... | ४४६ | ६९ |
| कन्यायाः पुनर्दाननि० ... | ४४६ | ७१ |
| सप्तपदीपूर्वे स्त्रीत्यागे ... | ४४७ | ७२ |
| दोषवतीकन्यादाने ... | ४४७ | ७३ |
| स्त्रीवृत्तिं प्रकल्प्य प्रवसेत् | ४४७ | ७४ |
| प्रोषितभर्तृकानियमाः ... | ४४७ | ७५ |
| संवत्सरं स्त्रियं प्रतीक्षेत्... | ४४८ | ७७ |
| रोगार्तस्वाम्यतिक्रमे ... | ४४८ | ७८ |
| क्लीवादेर्न स्त्रीत्यागः ... | ४४८ | ७९ |
| अधिवेदने ... ... | ४४८ | ८० |
| स्त्रिया मद्यपाने ... ... | ४४९ | ८४ |
| सजात्यास्त्रिया धर्मकार्यं नान्यया ... ... | ४४९ | ८६ |
| गुणिने कन्यादानं न निर्गुणाय ... ... | ४५० | ८८ |
| स्वयंवरकालः ... ... | ४५० | ९० |
| स्वयंवरे पितृदत्तालङ्कारत्यागः ... ... | ४५० | ९२ |
| ऋतुमतीविवाहे न शुल्कदानम् ... ... | ४५१ | ९३ |
| कन्यावरयोर्वयोनियमः ... | ४५१ | ९४ |
| विवाहस्यावश्यकत्वम् ... | ४५१ | ९५ |
| दत्तशुल्कायां वरमरणे ... | ४५१ | ९७ |
| शुल्कग्रहणनिषेधः ... | ४५२ | ९८ |
| वाचा कन्यां दत्वान्यस्मै न दानम् ... ... | ४५२ | ९९ |
| स्त्रीपुंसयोरव्यभिचारः ... | ४५२ | १०१ |
| अथ दायभागः ... | ४५३ | १०३ |
| विभागकालः ... ... | ४५३ | १०४ |
| सहावस्थाने ज्येष्ठस्य प्राधान्यम् ... ... | ४५३ | १०५ |
| ज्येष्ठप्रशंसा ... ... | ४५३ | १०६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकः |
|---|---|---|
| अज्येष्ठवृत्तौ ज्येष्ठे ... | ४५४ | ११० |
| विभागे हेतुमाह... ... | ४५५ | १११ |
| ज्येष्ठादेर्विशोद्धारे ... | ४५५ | ११२ |
| एकमपि श्रेष्ठं ज्येष्ठस्य ... | ४५५ | ११४ |
| दशवस्तुषु समानां नोद्धारः | ४५६ | ११५ |
| समभागविषमभागौ ... | ४५६ | ११६ |
| स्वस्वांशेभ्यो भगिन्यै देयम् | ४५६ | ११८ |
| विषममजाविकं ज्येष्ठस्यैव | ४५७ | ११९ |
| क्षेत्रजेन विभागे ... | ४५७ | १२० |
| अनेकमातृकेषु ज्यैष्ठ्ये ... | ४५७ | १२२ |
| जन्मतो ज्यैष्ठ्यम् ... | ४५८ | १२५ |
| पुत्रिकाकरणे ... ... | ४५९ | १२७ |
| पुत्रिकाया धनग्राहित्वम् | ४५९ | १३० |
| मातुः स्त्रीधनं दुहितुः ... | ४६० | १३१ |
| पुत्रिकापुत्रस्य धनग्राहित्वम् | ४६० | १३२ |
| पुत्रिकौरसयोर्विभागे ... | ४६० | १३४ |
| अपुत्रपुत्रिकाधने ... | ४६० | १३५ |
| पुत्रिकाया द्वैविध्यम् ... | ४६१ | १३६ |
| पौत्रप्रपौत्रयोर्धनभा० ... | ४६१ | १३७ |
| पुत्रशब्दार्थः ... ... | ४६१ | १३८ |
| पुत्रिकापुत्रकर्तृकश्राद्धे ... | ४६२ | १४० |
| दत्तकस्य धनग्राहकत्वे ... | ४६२ | १४१ |
| कामजादेर्न धनग्राहकत्वम् | ४६२ | १४३ |
| क्षेत्रजस्य धनग्राहकत्वे ... | ४६३ | १४५ |
| अनेकमातृकविभागः ... | ४६४ | १४९ |
| अनूढशूद्रापुत्रस्य भागनिषेधः ... ... | ४६५ | १५५ |
| सजातीयानेकमातृकविभागे | ४६५ | १५६ |
| शूद्रस्य सम एव भागः... | ४६५ | १५७ |
| दायादादायादबान्धवत्वम् | ४६६ | १५८ |
| कुपुत्रनिन्दा ... ... | ४६६ | १६१ |
| औरसक्षेत्रजविभागे ... | ४६७ | १६२ |
| क्षेत्रजानन्तरमौरसोत्पत्तौ | ४६७ | १६३ |
| दत्तकादयो गोत्ररिक्थभागिनः ... ... | ४६७ | १६५ |
| औरसादिद्वादशपुत्रलक्षणम् | ४६८ | १६६ |
| दासीपुत्रस्य समभागि० | ४७० | १७९ |
| क्षेत्रजादयः पुत्रप्रतिनिधयः | ४७० | १८० |
| सत्यौरसे दत्तकादयो न कर्तव्याः ... ... | ४७० | १८१ |
| अथ पुत्रित्वातिदेशः ... | ४७१ | १८२ |
| द्वादशपुत्राणां पूर्वपूर्वः श्रेष्ठः | ४७१ | १८४ |
| क्षेत्रजादयो रिक्थहराः... | ४७२ | १८५ |
| क्षेत्रजादीनां पितामहधने | ४७२ | १८६ |
| सपिण्डादयो धनहराः ... | ४७२ | १८७ |
| ब्राह्मणाधिकारः ... | ४७३ | १८८ |
| राजाधिकारः ... ... | ४७४ | १८९ |
| मृतपतिकानियुक्ता पुत्राधिकारः ... ... | ४७४ | १९० |
| औरसपौनर्भवविभागे ... | ४७४ | १९१ |
| मातृधनविभागे... ... | ४७४ | १९२ |
| स्त्रीधनान्याह ... ... | ४७५ | १९४ |
| सप्रजस्त्रीधनाधिकारिणः | ४७५ | १९५ |
| अप्रजस्त्रीधनाधिकारिणः | ४७५ | १९६ |
| साधारणात्स्त्रीधनं न कुर्यात् ... ... | ४७६ | १९९ |
| स्त्रीणामलङ्करणमविभाज्यम् | ४७६ | २०० |
| अथ अनंशाः ... ... | ४७६ | २०१ |
| क्लीबादिक्षेत्रजा अंशभागिनः | ४७६ | २०३ |
| अविभक्तार्जितधने ... | ४७७ | २०४ |
| विद्यादिधने ... ... | ४७७ | २०६ |
| शक्तस्यांशोपेक्षणे ... | ४७७ | २०७ |
| अविभाज्यधने ... ... | ४७८ | २०८ |
| नष्टोद्धारे ... ... | ४७८ | २०९ |
| संसृष्टधनविभागे ... | ४७८ | २१० |
| विदेशादिगतस्य नभागलोपः | ४७८ | २११ |
| ज्येष्ठगुणशून्यः समभागः | ४७८ | २१३ |
| विकर्मस्था धनं नार्हन्ति | ४७९ | २१४ |
| ज्येष्ठस्यासाधारणकरणे ... | ४७९ | २१४ |
| जीवत्पितृकविभागे ... | ४७९ | २१५ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| विभागानन्तरोत्पन्नस्थले | ४७९ | २१६ |
| अनपत्यधने मातुरधिकारः | ४७९ | २१७ |
| ऋणधनयोः समं विभागः | ४७९ | २१८ |
| अविभाज्यमाह... ... | ४८० | २१९ |
| अथ द्यूतसमाह्वयः ... | ४८० | २२० |
| द्यूतसमायह्वयनिषेधः ... | ४८० | २२१ |
| द्यूतसमायह्वयार्थः ... | ४८१ | २२३ |
| द्यूतादिकारिणां दण्डः ... | ४८१ | २२४ |
| पाषण्डादीन्देशान्निर्वासयेत् | ४८१ | २२५ |
| दण्डदानाशक्तौ ... ... | ४८२ | २२९ |
| स्त्रीबालादिदण्डे ... ... | ४८२ | २३० |
| नियुक्तस्य कार्यहनने ... | ४८२ | २३१ |
| कूटशासनबालवधादिकरणे | ४८२ | २३२ |
| धर्मकृतं व्यवहारं न निवर्तयेत् ... ... | ४८२ | २३३ |
| अधर्मकृतं निवर्त्यम् ... | ४८३ | २३४ |
| प्रायश्चित्ताकरणे महापातकिदण्डः ... ... | ४८३ | २३५ |
| प्रायश्चित्तकरणे नाङ्क्याः | ४८४ | २४० |
| महापातके ब्राह्मणस्य दण्डः | ४८४ | २४१ |
| क्षत्रियादेर्दण्डः ... ... | ४८४ | २४२ |
| महापातकिधनग्रहणे ... | ४८५ | २४३ |
| ब्राह्मणपीडने दण्डः ... | ४८६ | २४८ |
| वध्यमोक्षणे दोषः ... | ४८६ | २४९ |
| राजा कण्टकोद्धरणे यत्नं कुर्यात् ... ... | ४८६ | २५२ |
| आर्यरक्षाफलम्... ... | ४८६ | २५३ |
| तस्कराद्यशासने दोषः ... | ४८७ | २५४ |
| निर्भयराज्यवर्धनम् ... | ४८७ | २५५ |
| प्रकाशाप्रकाशतस्करज्ञानम् | ४८७ | २५६ |
| प्रकाशाप्रकाशतस्करानाह | ४८७ | २५७ |
| तेषां शासनम् ... ... | ४८८ | २६२ |
| चौराणां निग्राहको दण्ड एव ... ... ... | ४८८ | २६३ |
| तस्करान्वेषणम् ... | ४८९ | २६४ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| लोप्त्रादर्शने ... ... | ४९० | २७० |
| चौराश्रयदायकदण्डः ... | ४९० | २७१ |
| स्वधर्मच्युतदण्डने ... | ४९० | २७३ |
| चौराद्युपद्रवे अधावतो दण्डः | ४९१ | २७४ |
| राज्ञः कोशहारकादयो दण्ड्याः ... ... | ४९१ | २७५ |
| संधिच्छेदे ... ... | ४९१ | २७६ |
| ग्रन्थिभेदने ... ... | ४९१ | २७७ |
| चौरलोप्त्रधारणादौ ... | ४९१ | २७८ |
| तडागागारभेदने ... | ४९२ | २७९ |
| राजमार्गे मलादित्यागे ... | ४९२ | २८२ |
| मिथ्याचिकित्सने दण्डः | ४९३ | २८४ |
| प्रतिमादिभेदने ... ... | ४९३ | २८५ |
| मणीनामपवेधादौ ... | ४९३ | २८६ |
| विषमव्यवहारे ... ... | ४९३ | २८७ |
| बन्धनस्थानं राजमार्गं ... | ४९३ | २८८ |
| प्रकारभेदादौ ... ... | ४९३ | २८९ |
| अभिचारकर्मणि ... | ४९४ | २९० |
| अबीजविक्रयादौ ... | ४९४ | २९१ |
| स्वर्णकारदण्डने ... ... | ४९४ | २९२ |
| हलोपकरणहरणे ... | ४९४ | २९३ |
| अथ सप्तप्रकृतयः ... | ४९५ | २९४ |
| स्वपरशक्तिवीक्षणम् ... | ४९६ | २९८ |
| कर्मारम्भे ... ... | ४९६ | २९९ |
| राज्ञो युगत्वकथनम् ... | ४९६ | ३०१ |
| इन्द्रादीनां तेजो नृपो बिभर्ति ... ... | ४९७ | ३०३ |
| एतैरुपायैस्तेननिग्रहणम् | ४९९ | ३१२ |
| ब्राह्मणं न कोपयेत् ... | ४९९ | ३१३ |
| ब्राह्मणप्रशंसा ... ... | ४९९ | ३१४ |
| श्मशानाग्निर्न दुष्ट एवं ब्राह्मणः ... ... | ५०० | ३१८ |
| ब्रह्मक्षत्रयोः परस्परसाहित्यम्... ... ... | ५०१ | ३२२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| पुत्रे राज्यं दत्वा रणे प्राणत्यागः ... ... | ५०१ | ३२३ |
| वैश्यधर्मानाह ... ... | ५०१ | ३२६ |
| शूद्रधर्मानाह ... ... | ५०३ | ३३४ |
| **॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥** | | |
| अध्यापनं ब्राह्मणस्यैव ... | ५०४ | १ |
| वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ... | ५०४ | ३ |
| अथ द्विजवर्णकथनम् ... | ५०५ | ४ |
| अथ सजातीयाः ... | ५०५ | ५ |
| पितृजातिसदृशाः ... | ५०५ | ६ |
| अथ वर्णसंकराः ... | ५०६ | ८ |
| अथ व्रात्याः ... ... | ५०८ | २० |
| व्रात्योत्पन्नादिसंकीर्णाः ... | ५०९ | २१ |
| अथोपनेयाः ... ... | ५१४ | ४१ |
| ते सुकर्मणा उत्कर्षं गच्छन्ति ... ... ... | ५१५ | ४२ |
| क्रियालोपात् वृषलत्वं गच्छन्ति ... ... | ५१५ | ४३ |
| दस्यवः ... ... ... | ५१५ | ४५ |
| वर्णसंकराणां कर्माण्याह | ५१६ | ४७ |
| चण्डालकर्माह ... ... | ५१६ | ५१ |
| कर्मणा पुरुषज्ञानम् ... | ५१७ | ५७ |
| वर्णसंकरनिन्दा ... ... | ५१८ | ५९ |
| एषां विप्रार्थे प्राणत्यागः श्रेष्ठः ... ... | ५१८ | ६२ |
| साधारणधर्माः ... ... | ५१८ | ६३ |
| सप्तमे जन्मनि ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च ... ... | ५१९ | ६४ |
| वर्णसंकरे श्रैष्ठ्यम् ... | ५२० | ६७ |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले ... | ५२० | ७० |
| षट्कर्माण्याह ... ... | ५२२ | ७५ |
| ब्राह्मणजीविका... ... | ५२२ | ७६ |
| क्षत्रियवैश्यकर्माह ... | ५२२ | ७७ |
| द्विजानां श्रेष्ठकर्माह ... | ५२३ | ८० |
| आपद्धर्ममाह ... ... | ५२३ | ८१ |
| विक्रये वर्ज्यानि ... | ५२४ | ८६ |
| क्षीरादिविक्रयफलम् ... | ५२५ | ९२ |
| ज्यायसीवृत्तिनिषेधः ... | ५२६ | ९५ |
| परधर्मजीवननिन्दा ... | ५२६ | ९७ |
| वैश्यशूद्रयोरापद्धर्मः ... | ५२६ | ९८ |
| आपदि विप्रस्य हीनयाचनादि ... ... | ५२७ | १०२ |
| प्रतिग्रहनिन्दा ... ... | ५२८ | १०९ |
| याजनाध्यापने द्विजानाम् | ५२८ | ११० |
| प्रतिग्रहादिपापनाशे ... | ५२९ | १११ |
| शिलोञ्छजीवने ... | ५२९ | ११२ |
| धनयाचने ... ... | ५२९ | ११३ |
| सप्तवित्तागमाः ... ... | ५३० | ११५ |
| दश जीवनहेतवः ... | ५३० | ११६ |
| वृद्धिजीवननिषेधः ... | ५३० | ११७ |
| राज्ञामापद्धर्ममाह ... | ५३० | ११८ |
| शूद्रस्य आपद्धर्मः ... | ५३१ | १२१ |
| शूद्रस्य ब्राह्मणाराधनं श्रेष्ठम् ... ... ... | ५३१ | १२२ |
| शूद्रवृत्तिकल्पनम् ... | ५३२ | १२४ |
| शूद्रस्य न संस्कारादि ... | ५३२ | १२६ |
| शूद्रस्यामन्त्रकं धर्मकार्यम् | ५३३ | १२७ |
| शूद्रस्य धनसंचयनिषेधः | ५३३ | १२९ |
| **॥ अथैकादशोऽध्यायः ॥** | | |
| स्नातकस्य प्रकाराः ... | ५३४ | १ |
| नवस्नातकेभ्योऽन्नदाने ... | ५३४ | ३ |
| वेदविद्भ्यो दानम् ... | ५३५ | ४ |
| भिक्षया द्वितीयविवाहनिषेधः ... ... | ५३५ | ५ |
| कुटुम्बिब्राह्मणाय दानम् | ५३५ | ६ |
| सोमयागाधिकारिणः ... | ५३५ | ७ |
| कुटुम्बाभरणे दोषः ... | ५३६ | ९ |
| यज्ञशेषार्थं वेश्यादेर्धनग्रहणम् ... ... ... | ५३६ | ११ |
| षडुपवासे आहारग्रहणे ... | ५३७ | १६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| ब्रह्मस्वादिहरणनिषेधः ... | ५३७ | १८ |
| असाधुधनं हृत्वा साधुभ्यो दाने ... ... | ५३८ | १९ |
| यज्ञशीलादिधनप्रशंसा ... | ५३८ | २० |
| यज्ञार्थं विप्रस्य स्तेनादौ न दण्डः ... ... | ५३८ | २१ |
| क्षुधावसन्नस्य वृत्तिकल्पने | ५३८ | २२ |
| यज्ञार्थं शूद्रभिक्षानि० ... | ५३९ | २४ |
| यज्ञार्थं धनं भिक्षित्वा न रक्षणीयम् ... ... | ५३९ | २५ |
| देवब्रह्मस्वहरणे ... ... | ५३९ | २६ |
| सोमयागाशक्तौ वैश्वानरयागः | ५३९ | २७ |
| समर्थस्यानुकल्पानि० ... | ५३९ | २८ |
| द्विजस्य स्वशक्त्या वैरिजयः | ५४० | ३१ |
| क्षत्रियादेर्बाहुवीर्येणारिजयः | ५४१ | ३४ |
| ब्राह्मणस्यानिष्टं न ब्रूयात् | ५४१ | ३५ |
| अल्पविद्याख्यादेर्होतृत्वनिषेधः... ... ... | ५४१ | ३६ |
| अश्वदक्षिणादाने ... | ५४१ | ३८ |
| अल्पदक्षिणयज्ञनिन्दा ... | ५४१ | ३९ |
| अग्निहोत्रिणस्तदकरणे ... | ५४२ | ४१ |
| शूद्रात्तधनेनाग्निहोत्रनिन्दा | ५४२ | ४२ |
| विहिताकरणादौ प्रायश्चित्ती | ५४३ | ४५ |
| कामाकामकृतपापे ... | ५४३ | ४५ |
| प्रायश्चित्तिसंसर्गनि० ... | ५४४ | ४७ |
| पूर्वपापे न कुष्ठ्यन्धादयः | ५४४ | ४८ |
| प्रायश्चित्तमवश्यं कर्तव्यम् | ५४५ | ५३ |
| पञ्चमहापातकान्याह ... | ५४५ | ५४ |
| ब्रह्महत्यादिसमान्याह ... | ५४५ | ५४ |
| उपपातकान्याह ... | ५४७ | ५९ |
| जातिभ्रंशकराण्याह ... | ५४८ | ६७ |
| संकरीकरणान्याह ... | ५४९ | ६८ |
| अपात्रीकरणान्याह ... | ५४९ | ६९ |
| मलिनीकरणान्याह ... | ५४९ | ७० |
| अथ ब्रह्मवधप्रायश्चित्तम् | ५४९ | ७२ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| गर्भात्रेयीक्षत्रवैश्यवधे ... | ५५५ | ८७ |
| स्त्रीसुहृद्वधनिक्षेपहरणादौ | ५५५ | ८८ |
| अथ सुरापानप्रायश्चित्तम् | ५५६ | ९० |
| सुराप्रकाराः ... ... | ५५७ | ९४ |
| अथ सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम् | ५५८ | ९९ |
| गुरुस्त्रीगमनप्राय० ... | ५५९ | १०३ |
| गोवधाद्युपपातकप्रायश्चित्तम्... ... ... | ५६० | १०८ |
| अवकीर्णिप्रायश्चित्तम् ... | ५६२ | ११८ |
| जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्तम् | ५६३ | १२४ |
| संकरीकरणादिप्रायश्चित्तम् | ५६३ | १२५ |
| क्षत्रियादिवधप्रायश्चित्तम् | ५६४ | १२६ |
| मार्जारादिवधप्रायश्चित्तम् | ५६५ | १३१ |
| हयादिवधप्रायश्चित्तम् ... | ५६६ | १३६ |
| व्यभिचरितस्त्रीवधे ... | ५६६ | १३८ |
| सर्पादिवधे दानाशक्तौ ... | ५६६ | १३९ |
| क्षुद्रजन्तुसमूहवधादौ ... | ५६६ | १४० |
| वृक्षादिच्छेदनादौ ... | ५६७ | १४२ |
| अन्नजादिसत्ववधे ... | ५६७ | १४३ |
| वृथौषध्यादिच्छेदने ... | ५६७ | १४४ |
| अमुख्यसुरापानप्रायश्चित्तम् | ५६८ | १४६ |
| सुराभाण्डस्थजलपाने ... | ५६८ | १४७ |
| शूद्रोच्छिष्टजलपाने ... | ५६९ | १४८ |
| सुरागन्धाघ्राणे ... ... | ५६९ | १४९ |
| विण्मूत्रसुरासंसृष्टभोजने | ५६९ | १५० |
| पुनः संस्कारे दण्डादिनिवृत्तिः ... ... | ५६९ | १५१ |
| अभोज्यान्नस्त्रीशूद्रोच्छिष्टाभक्ष्यमांसभक्षणे ... | ५६९ | १५२ |
| शुक्तादिभक्षणे ... ... | ५७० | १५३ |
| सूकरादिविण्मूत्रभक्षणे ... | ५७० | १५४ |
| शुष्कसूनास्थाज्ञातमांसभक्षणे... ... ... | ५७० | १५५ |
| कुक्कुटनरसूकरादिभक्षणे | ५७० | १५६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| मासिकान्नभक्षणप्रायश्चित्तम्... ... ... | ५७१ | १५७ |
| ब्रह्मचारिणो मधुमांसादिभक्षणे... ... ... | ५७१ | १५८ |
| विडालाद्युच्छिष्टादिभक्षणे | ५७१ | १५९ |
| अभोज्यान्नमुत्तार्यम् ... | ५७१ | १६० |
| सजातीयधान्यादिस्तेये ... | ५७१ | १६२ |
| मनुष्यादिहरणप्रायश्चित्तम् | ५७२ | १६३ |
| त्रपुसीसकादिहरणे ... | ५७३ | १६४ |
| भक्ष्ययानशय्यादिह० ... | ५७२ | १६५ |
| शुष्कान्नगुडादिहरणे ... | ५७२ | १६६ |
| मणिमुक्तारजतादिहरणे... | ५७२ | १६७ |
| कार्पासांशुकादिहरणे ... | ५७३ | १६८ |
| अगम्यागमनप्रायश्चित्तम् | ५७३ | १७० |
| वडवारजस्वलादिगमने ... | ५७४ | १७३ |
| दिवा मैथुनादौ ... ... | ५७४ | १७४ |
| चाण्डाल्यादिगमने ... | ५७४ | १७५ |
| व्यभिचारे स्त्रीणां प्रायश्चित्तम्... ... ... | ५७४ | १७६ |
| चाण्डालीगमने ... ... | ५७५ | १७८ |
| अथ पतितसंसर्गप्रायश्चित्तम्... ... ... | ५७५ | १७९ |
| पतितस्य जीवत एव प्रेतक्रिया ... ... | ५७६ | १८२ |
| पतितस्यांशादिनिवृत्तिः... | ५७७ | १८५ |
| कृतप्रायश्चित्तसंसर्गः ... | ५७७ | १८६ |
| पतितस्त्रीणामन्नादिदेयम् | ५७७ | १८८ |
| पतितसंसर्गनिषेधादि ... | ५७७ | १८९ |
| बालघ्नादित्यागः... ... | ५७८ | १९० |
| व्रात्यवेदत्यक्तप्रायश्चित्तम् | ५७८ | १९१ |
| गर्हितार्जितधनत्यागः ... | ५७८ | १९३ |
| असत्प्रतिग्रहप्रायश्चित्तम् | ५७८ | १९४ |
| कृतप्रायश्चित्तं साम्यं पृच्छेत् | ५७९ | १९५ |
| गोभ्यो घासदानं तत्र संसर्गः ... ... | ५७९ | १९६ |
| व्रात्ययाजनपतितक्रियाकृत्यादौ ... ... | ५७९ | १९७ |
| वेदशरणगतत्यागे ... | ५७९ | १९८ |
| श्वादिदंशनप्रायश्चित्तम् ... | ५७९ | १९९ |
| अपाङ्क्तेयप्रायश्चित्तम् ... | ५८० | २०० |
| उष्ट्रादियानप्रायश्चित्तम् ... | ५८० | २०१ |
| जले जलंविना वा मूत्रादित्यागे ... ... | ५८० | २०२ |
| वेदोदितकर्मादित्यागे ... | ५८० | २०३ |
| ब्राह्मणस्य त्यङ्कृते ... | ५८० | २०४ |
| ब्राह्मणावगुरणे ... ... | ५८१ | २०५ |
| अनुक्तप्रायश्चित्तस्थले ... | ५८१ | २०९ |
| अथ प्राजापत्यादिव्रतनिर्णयः | ५८२ | २११ |
| अथ व्रताङ्गानि ... ... | ५८४ | २२२ |
| पापं न गोपनीयम् ... | ५८५ | २२७ |
| पापानुतापे ... ... | ५८६ | २३० |
| पापवृत्तिनिन्दा ... ... | ५८६ | २३२ |
| मनस्तुष्टिपर्यन्तं तपः कुर्यात् ... ... | ५८७ | २३३ |
| तपः प्रशंसा ... ... | ५८७ | २३४ |
| वेदाभ्यासप्रशंसा ... | ५८९ | २४५ |
| अथ रहस्यप्रायश्चित्तम् ... | ५९२ | २५७ |


## ॥ अथ द्वादशोऽध्यायः ॥


| | | |
|---|---|---|
| अथ शुभाशुभकर्मफलम् | ५९४ | ३ |
| कर्मणो मनः प्रवर्तकम्... | ५९४ | ४ |
| त्रिविधमानसकर्माणि ... | ५९५ | ५ |
| चतुर्विधवाचिककर्माणि... | ५९५ | ६ |
| त्रिविधशारीरकर्माणि ... | ५९५ | ७ |
| मनोवाक्कायकर्मभोगे ... | ५९५ | ८ |
| त्रिदण्डिपरिचयः ... | ५९६ | १० |
| क्षेत्रज्ञपरिचयः ... ... | ५९६ | १२ |
| जीवात्मपरिचयः ... | ५९६ | १३ |
| जीवानामानन्त्यम् ... | ५९७ | १५ |
| परलोके पाञ्चभौतिकशरीरम् | ५९७ | १६ |

| प्रकरणम् | पृ० | श्लोकाः |
|---|---|---|
| भोगानन्तरमात्मनि लीयते | ५९७ | १७ |
| धर्माधर्मबाहुल्याद्भोगः ... | ५९८ | २० |
| त्रिविधगुणकथनम् ... | ५९९ | २४ |
| अधिकगुणप्रधानो देहः... | ५९९ | २५ |
| सत्त्वादिलक्षणमाह ... | ५९९ | २६ |
| सात्विकगुणलक्षणम् ... | ६०० | ३१ |
| राजसगुणलक्षणम् ... | ६०० | ३२ |
| तामसगुणलक्षणम् ... | ६०० | ३३ |
| संक्षेपतस्तामसादिलक्षणम् | ६०१ | ३५ |
| गुणत्रयात्त्रिविधा गतिः ... | ६०२ | ४० |
| त्रिविधगतिप्रकाराः ... | ६०२ | ४१ |
| पापेन कुत्सिता गतिः ... | ६०४ | ५२ |
| पापविशेषेण योनिविशेषोत्पत्तिः ... ... | ६०४ | ५३ |
| पापप्रावीण्यान्नरकादि ... | ६०८ | ७३ |
| मोक्षोपायषट्कर्माण्याह... | ६१० | ८३ |
| आत्मज्ञानस्यप्राधान्यम् ... | ६१० | ८५ |
| वेदोदितकर्मणः श्रेष्ठत्वम् | ६११ | ८६ |
| वैदिकं कर्म द्विविधम् ... | ६११ | ८८ |
| प्रवृत्तनिवृत्तकर्मफलम् ... | ६१२ | ९० |
| समदर्शनम् ... ... | ६१२ | ९१ |
| वेदाभ्यासादौ ... ... | ६१२ | ९२ |
| वेदबाह्यस्मृतिनिन्दा ... | ६१३ | ९५ |
| वेदप्रशंसा ... ... | ६१४ | ९७ |
| वेदज्ञस्य सेनापत्यादि ... | ६१४ | १०० |
| वेदज्ञप्रशंसा ... ... | ६१४ | १०१ |
| वेदव्यवसायिनः श्रेष्ठत्वम् | ६१५ | १०३ |
| तपोविद्याभ्यां मोक्षः ... | ६१५ | १०४ |
| प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि ... ... | ६१५ | १०५ |
| धर्मज्ञलक्षणम् ... ... | ६१५ | १०६ |
| अकथितधर्मस्थले ... | ६१५ | १०८ |
| अथ शिष्टाः ... ... | ६१६ | १०९ |
| अथ परिषत् ... ... | ६१६ | ११० |
| मूर्खाणां न परिषत्त्वम् ... | ६१७ | ११४ |
| आत्मज्ञानं पृथक्कृत्याह ... | ६१८ | ११८ |
| वाय्वाकाशादीनां लयमाह | ६१८ | १२० |
| आत्मस्वरूपमाह ... | ६१९ | १२२ |
| आत्मदर्शनमवश्यमनुष्ठेयम् | ६२० | १२५ |
| एतत्संहितापाठफलम् ... | ६२० | १२६ |

# अथ मनुस्मृतिः ।

## कुल्लूकभट्टकृतव्याख्यासंवलिता ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

**मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।**
**प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥**

श्रीगणेशाय नमः ॥ ॐनमो भगवते वासुदेवाय । गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये वरेन्द्र्यां कुले श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् । काश्यामुत्तरवाहिजह्नुतनयातीरे समं पण्डितैस्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ १ ॥ सर्वज्ञस्य मनोरसर्ववेदपि व्याख्यामि यद्वाङ्मयं युक्त्या तद्बहुभिर्यतो मुनिवरैरेतद्बहु व्याहृतम् । तां व्याख्यामधुनातनैरपि कृतां न्याय्यां ब्रुवाणस्य मे भक्त्या मानववाङ्मये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः ॥ २ ॥ मीमांसे बहु सेवितासि सुहृदस्तर्काः समस्ताः स्थ मे वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः । जाता व्याकरणानि बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थये प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविवृतौ साहाय्यमालम्ब्यताम् ॥ ३ ॥ द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममोद्यतस्य । दैवाद्यदि क्वचिदिह स्खलनं तथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥ ४ ॥ मानववृत्तावस्यां ज्ञेया व्याख्या नवा मयोद्भिन्ना । प्राचीना अपि रुचिरा व्याख्यातॄणामशेषाणाम् ॥ ५ ॥ मनुमेकाग्रमासीनमित्यादि । अत्र महर्षीणां धर्मविषयप्रश्ने मनोः श्रूयतामित्युत्तरदानपर्यन्तश्लोकचतुष्टयेनैतस्य शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजनान्युक्तानि तत्र धर्म एव विषयस्तेन सह वचनसंदर्भरूपस्य मानवशास्त्रस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः संबन्धः । प्रमाणान्तरासन्निकृष्टस्य स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वात् । प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि तस्य धर्माधीनत्वात् । यद्यपि पत्न्युपगमनादिरूपः कामोऽप्यत्राभिहितस्तथापि ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदेति ऋतुकालादिनियमेन सोऽपि धर्म एव । एवं चार्थार्ज-

नमपि ऋतामृताभ्यां जीवेतेत्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तव्यम् । मोक्षोपायत्वेनाभिहितस्यात्मज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम् । पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजनपरिग्रहाच्छ्रुत्युपग्रहाच्च वेदमूलकतया प्रामाण्यम् । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते । मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजताया इति । बृहस्पतिरप्याह । वेदार्थोपनिबन्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते । तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च । धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥ महाभारतेऽप्युक्तम् । पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ विरोधिबौद्धादितर्कैर्न हन्तव्यानि । अनुकूलस्तु मीमांसादितर्कः प्रवर्तनीय एव । अत एव वक्ष्यति । आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर इति ॥ सकलवेदार्थादिमननान्मनुं महर्षय इदं द्वितीयश्लोकवाक्यरूपं उच्यते अनेनेति वचनमब्रुवन् । श्लोकस्यादौ मनुनिर्देशो मङ्गलार्थः परमात्मन एव संसारस्थितये सार्वज्ञैश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादुर्भूतत्वात्तदभिधानस्य मङ्गलातिशयत्वात् । वक्ष्यति हि । एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिमिति । एकाग्रं विषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तं आसीनं सुखोपविष्टं ईदृशस्यैव महर्षिप्रश्नोत्तरदानयोर्योग्यत्वात् । अभिगम्य अभिमुखं गत्वा महर्षयो महान्तश्च ते ऋषयश्चेति । तथा प्रतिपूज्य पूजयित्वा यद्वा मनुना पूर्वं स्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजां कृत्वेति प्रतिशब्दादुन्नीयते । यथान्यायं येन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुं युज्यते प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना । वक्ष्यति च । नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छत इति । अभिगम्य प्रतिपूज्य अब्रुवन्निति क्रियात्रयेऽपि मनुमित्येव कर्म अब्रुवन्नित्यत्राकथितकर्मता ब्रुविधातोर्द्विकर्मकत्वात् ॥१॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायामाह—

**भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।**
**अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥**

भगवन्नित्यादि । ऐश्वर्यादीनां भगशब्दो वाचकः । तदुक्तं विष्णुपुराणे । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चै-

व षण्णां भग इतीङ्गना । मतुवन्तेन संबोधनं भगवन्निति । वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानां अम्बष्ठक्षत्तृकर्णप्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंभवत्वेन खरतुरगीयसंपर्काज्जाताश्चतरवज्जात्यन्तरत्वाद्वर्णशब्देनाग्रहणात्पृथक् प्रश्नः । एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम् । यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः । अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म तदनु नामधेयमित्यादिना । धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद्ब्रूहीत्यध्येषणमध्याहार्यम् । यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत्प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन न स्वतन्त्रतया ॥ २ ॥

सकलधर्माभिधानयोग्यत्वे हेतुमाह—

**त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।**
**अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥३॥**

त्वमेक इत्यादि । हि शब्दो हेतौ यस्मात्त्वमेकोऽद्वितीयः अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्रुतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेन कर्माण्यग्निहोत्रादीनि इति विधानं वेदस्तस्य स्वयंभुवोऽपौरुषेयस्याचिन्त्यस्य बहुशाखाविभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेत्तुमयोग्यस्य अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयाऽनवगम्यमानप्रमेयस्य कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि तत्त्वं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिवेदान्तवेद्यं तदेवार्थः प्रतिपाद्यभागस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित् । मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासनया वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थविदिति व्याचष्टे तन्न । वेदानां ब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्न कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः । धर्माधर्मव्यवस्थापनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ ३ ॥

**स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।**
**प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥४॥**

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगित्यादि । स मनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान्स-

म्यग्यथातत्त्वं प्रत्युवाच श्रूयतामित्युपक्रम्य अमितमपरिच्छेद्यमोजः सामर्थ्यं ज्ञानतत्त्वाभिधानादौ यस्य स तथा अत एव सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षीणामपि प्रश्नविषयः । महात्मभिर्महानुभावैः आर्च्य पूजयित्वा आङ्पूर्वस्यार्चतेर्ल्यबन्तस्य रूपमिदम् । धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम् । ननु मनुप्रणीतत्वे अस्य शास्त्रस्य स पृष्टः प्रत्युवाच इति न युक्तम् । अहं पृष्टो ब्रवीमीति युज्यते अन्यप्रणीतत्वे च कथं मानवीयसंहितेति । उच्यते । प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति ॥ अत एवकर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वादिति जैमिनेरेव सूत्रम् । अत एव तदुपर्यपि बादरायणसंभवादिति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम् । अथवा मनूपदिष्टा धर्मास्तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः । अत एव वक्ष्यति । एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत इत्यतो युज्यत एव स पृष्टः प्रत्युवाचेति । मनूपदिष्टधर्मोपनिबद्धत्वाच्च मानवीयसंहितेति व्यपदेशः ॥ ४ ॥

श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाह—

**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।**
**अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥**

आसीदिदमिति । ननु मुनीनां धर्मविषयप्रश्ने तत्रैवोत्तरं दातुमुचितं तत्कोऽयमप्रस्तुतः प्रलयदशायां कारणलीनस्य जगतः सृष्टिप्रकरणावतारः । अत्र मेधातिथिः समादधे । शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुनेति च वक्ष्यति । एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दद्यात्सदा मन इति । ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्याद्यध्यायतात्पर्यमित्यन्तेन । गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम् । नैतन्मनोहरम् । धर्मस्वरूपप्रश्ने यद्धर्मस्य फलकीर्तनं तदप्यप्रस्तुतम् । धर्मोक्तिमात्राद्धि शास्त्रमर्थवत् । किंच । कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसेत्युक्ते महर्षिभिः । द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तुमादौ न युज्यते । इदं तु वदामः । मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कार-

णतया ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम् । आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वान्मनुनैव—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणमिति, दशविधधर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम् । महाभारतेऽपि—आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृपेत्यात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम् । याज्ञवल्क्येन तु परमधर्मत्वेन यदुक्तम् । इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमिति । जगत्कारणत्वं च ब्रह्मलक्षणम् । अत एव ब्रह्ममीमांसायां—अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रानन्तरं ब्रह्मलक्षणकथनाय जन्माद्यस्य यत इति द्वितीयसूत्रं भगवान्बादरायणः प्रणिनाय । अस्य जगतो यतो जन्मादिसृष्टिस्थितिप्रलयमिति सूत्रार्थः । तथा च श्रुतिः—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति, प्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनम् । आत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्मं तदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः ।

किंच । प्रश्नोत्तरवाक्यानामेव स्वरसादयं मदुक्तोऽर्थो लभ्यते । तथाहि—धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन् । आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान् । प्राधान्यात्प्रथमाध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम् । धर्मोऽन्यस्तु तदङ्गत्वाद्युक्तो वक्तुमनन्तरम् । इदमित्यध्यक्षेण सर्वस्य प्रतिभासमानत्वाज्जगन्निर्दिश्यते । इदं जगत्तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत् । तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते । तम इव तमः । यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्ते एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्ते इति गुणयोगः । प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्र इति । प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मना अव्याकृतासीदत एव अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञातमलक्षणमननुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गं तदस्य नास्तीति अलक्षणं अप्रतर्क्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूलशब्दाभावात् । शब्दतोऽप्यविज्ञेयं एतदेव च प्रमाणत्रयं सतर्कं द्वादशाध्याये मनुनाभ्युपगतं अत एवाविज्ञेयमित्यर्थापत्त्याद्यगोचरमिति धरणीधरस्यापि व्याख्यानम् । न च नासीदे-

वेति वाच्यम् । तदानीं श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रूयते—तद्वेदं तर्ह्य-व्याकृतमासीत् । छान्दोग्योपनिषच्च—सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । इदं जगत्सदेवासीद्ब्रह्मात्मना आसीदित्यर्थः । सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः अ-त एव प्रसुप्तमिव सर्वतः । प्रथमार्थे तसिः स्वकार्याक्षममित्यर्थः॥५॥

अथ किमभूदित्याह—

**ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।**
**महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥**

ततः स्वयंभूर्भगवानित्यादि । ततः प्रलयावसानानन्तरं स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति, न त्वितरजीववत्कर्मायत्तदेहः । तथा च श्रुतिः—स एकधा भवति द्विधा भवति । भगवानैश्वर्यादिसंपन्नः । अव्यक्तो बाह्यकरणागोचरः यो-गाभ्यासावसेय इति यावत् । इदं महाभूतादि । आकाशादीनि म-हाभूतानि । आदिग्रहणान्महदादीनि च व्यञ्जयन्नव्यक्तावस्थं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयन् । वृत्तौजाः वृत्तमप्रतिहत-मुच्यते । अत एव वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम इत्यत्र वृत्तिरप्रतिघात इति व्याख्यातं जयादित्येन । वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स तथा । तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः । "तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—मयाध्य-क्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमिति" । प्रादुरासीत्प्रकाशितो बभूव । तमोनुदः प्रलयावस्थाध्वंसक इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ६ ॥

**योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।**
**सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥**

योऽसाविति । योऽसाविति सर्वनामद्वयेन सकललोकवेदपुराणे-तिहासादिप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति । अतीन्द्रियग्राह्यः इन्द्रि-यमतीत्य वर्तत इत्यतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इत्यर्थः । यदाह व्यासः—नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः । सूक्ष्मो बहिरिन्द्रियागोचरः । अव्यक्तो व्य-क्तिरवयवः तद्रहितः । सनातनो नित्यः । सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मा अत एवाचिन्त्यः इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्यः । स एव स्वयं उद्बभौ महदादिकार्यरूपतया प्रादुर्बभूव । उत्पूर्वो भातिः प्रादुर्भावे वर्तते । धातूनामनेकार्थत्वात् ॥ ७ ॥

**सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।**
**अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥**

सोऽभिध्यायेति । स परमात्मा नानाविधाः प्रजाः सिसृक्षुरभिध्यायापो जायन्तामित्यभिध्यानमात्रेणाप एव ससर्ज । अभिध्यानपूर्विकां सृष्टिं वदतो मनोः प्रकृतिरेवाचेतनाऽस्वतन्त्रा परिणमत इत्ययं पक्षो न संमतः, किंतु ब्रह्मैवाव्याकृतशक्त्यात्मना जगत्कारणमिति त्रिदण्डिवेदान्तसिद्धान्त एवाभिमतः प्रतिभाति । तथा च छान्दोग्योपनिषत्—तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । अत एव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्ततमीक्षतेर्नाशब्दमिति । ईक्षतेरीक्षणश्रवणान्न प्रधानं जगत्कारणम् । अशब्दं न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति सूत्रार्थः । स्वाच्छरीरात् अव्याकृतरूपात् अव्याकृतमेव । भगवद्भास्करीयवेदान्तदर्शने प्रकृतिस्तदेव तस्य च शरीरं अव्याकृतशब्देन पञ्चभूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणमनःकर्माविद्यावासना एव सूक्ष्मरूपतया शक्त्यात्मना स्थिता अभिधीयन्ते । अव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सह भेदाभेदस्वीकारात् । ब्रह्माद्वैतं शक्त्यात्मना च ब्रह्मजगद्रूपतया परिणमत् इत्युभयमप्युपपद्यते । आदौ स्वकार्यभूमिब्रह्माण्डसृष्टेः प्राक् । अपां सृष्टिश्चेयं महदहंकारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या । महाभूतादि व्यञ्जयन्निति पूर्वाभिधानात् । अनन्तरमपि महदादिसृष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तास्वप्सु बीजं शक्तिरूपं अरोपितवान् ॥ ८ ॥

**तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।**
**तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥**

तदण्डमभवद्धैममिति । तद्बीजं परमेश्वरेच्छया हैममण्डमभवत् । हैममिव हैमं शुद्धिगुणयोगान्न तु हैममेव । तदीयैकशकलेन भूमिनिर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । भूमेश्चाहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचाराश्रयणम् । सहस्रांशुरादित्यस्तत्तुल्यप्रभं तस्मिन्नण्डे हिरण्यगर्भो जातवान् येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्गशरीरावच्छिन्नजीवमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः । सर्वलोकानां पितामहो जनकः सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम ॥ ९ ॥

इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनेन उक्तमेवार्थं द्रढयति—

**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।**
**ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥**

आपो नारा इत्यादि । आपो नाराशब्देनोच्यन्ते । अप्सु नाराशब्दस्याप्रसिद्धेस्तदर्थमाह—यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि । तस्येदमित्यण्प्रत्ययः । यद्यपि अणि कृते ङीप्प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि स्मृतिषु व्यवहारात्सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति पाक्षिको ङीप्प्रत्ययस्तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्ते टापि कृते नारा इति रूपसिद्धिः । आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वान्नातः । गोविन्दराजेन तु आपो नरा इति पठितं व्याख्यातं च नरायण इति प्राप्ते अन्येषामपि दृश्यते इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम् । अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति ॥ १० ॥

**यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।**
**तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥**

यत्तत्कारणमव्यक्तमित्यादि । यत्तदिति सर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति । कारणं सर्वोत्पत्तिमतां अव्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरं नित्यं उत्पत्तिविनाशरहितम् । वेदान्तसिद्धत्वात्सत्स्वभावम् । प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादसत्स्वभावमिव । अथवा सद्भावजातमसदभावः तयोरात्मभूतम् । तथा च श्रुतिः—ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति । तद्विसृष्टस्तेनोत्पादितः स पुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते॥११॥

**तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।**
**स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ १२ ॥**

तस्मिन्नण्डे स भगवानित्यादि । तस्मिन् पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाणब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा स्थित्वा आत्मनैवाण्डं द्विधा भवत्विति आत्मगतध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान् ॥ १२ ॥

**ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।**
**मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥१३॥**

ताभ्यां स शकलाभ्यां चेत्यादि । शकलं खण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्यां उत्तरेण दिवं स्वर्लोकमधरेण भूलोकं उभयोर्मध्ये आकाशं दिशश्चान्तरालदिग्भिः सहाष्टौ समुद्राख्यं अपां स्थानं स्थिरं निर्मितवान् ॥ १३ ॥

इदानीं महदादिक्रमेणैव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुं तत्तत्सृष्टिमाह—

**उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।**
**मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥**

उद्बबर्हात्मनश्चैवेत्यादि । ब्रह्मा आत्मनः परमात्मनः सकाशात्तेन रूपेण मन उद्धृतवात् । परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेणोत्पन्नत्वात्परमात्मन एव च मनःसृष्टिः वेदान्तदर्शनेन प्रधानात् । तथा च श्रुतिः—एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गाच्च सत् अप्रत्यक्षत्वादसदिति मनसः पूर्वमहंकारतत्त्वं अहमित्यभिमानाख्यकार्ययुक्तं ईश्वरं स्वकार्यकरणक्षमम् ॥ १४ ॥

**महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।**
**विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥**

महान्तमेव चात्मानमित्यादि । महान्तमिति महदाख्यतत्त्वं अहंकारात्पूर्वं परमात्मन एवाव्याकृतशक्तिरूपप्रकृतिसहितादुद्धृतवान् । आत्मन उत्पन्नत्वात् आत्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा यान्यभिहितानि अभिधास्यन्ते च तान्युत्पत्तिमन्ति सर्वाणि सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि । शनैः क्रमेण वेदान्तसिद्धेन श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्तव्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चशब्दात्पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि शब्दतन्मात्रादीनि । च पञ्चोत्पादितवान् ॥ नन्वभिध्यानपूर्वकसृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तसिद्धान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तत्र संगच्छते । इदानीं महदादिक्रमेण सृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण सृष्टिरुक्ता । तथा च तैत्तिरीयोपनिषत्—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी-

ति ॥ उच्यते—प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति भगवद्भास्करीयदर्शनेऽप्युपपद्यत इति तद्विदो व्याचक्षते अव्यक्तमेव प्रकृतिरिष्यते तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकालयोगरूपं तदेव महत्तत्त्वं ततो बहुस्यामित्यभिमानात्मकेक्षणकालयोगित्वमव्याकृतस्याहंकारतत्त्वं तत आकाशादिपञ्चभूतसूक्ष्माणि क्रमेणोत्पन्नानि पञ्च तन्मात्राणि ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्पन्नानि पञ्च महाभूतानि सूक्ष्मस्थूलक्रमेणैव कार्योदयदर्शनादिति न विरोधः। अव्याकृतगुणत्वेऽपि सत्त्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते । भवतु वा सत्त्वरजस्तमःसमतारूपैव मूलप्रकृतिः भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहंकारतन्मात्राणि तथापि प्रकृतिर्ब्रह्मणोऽनन्येति मनोः स्वरसः । यतो वक्ष्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनीति । तथा एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदमिति ॥ १५ ॥

**तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम् ।**
**सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥**

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मानित्यादि । तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहंकारस्य तन्मात्राणां च ये सूक्ष्मा अवयवास्तान् आत्ममात्रासु षण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्यक्स्थावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान् । तत्र तन्मात्राणां विकारः पञ्च महाभूतानि अहंकारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया परिणतेषु तन्मात्राहंकारयोजनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणं अतएवामितौजसां अनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम् ॥ १६ ॥

**यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।**
**तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥**

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मा इत्यादि । यस्मान्मूर्तिः शरीरं तत्संपादका अवयवाः सूक्ष्मास्तन्मात्राहंकाररूपाः षट् तस्य ब्रह्मणः सप्रकृतिकस्य इमानि वक्ष्यमाणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्ति तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तेः अहंकाराच्च इन्द्रियोत्पत्तेः । तथा च पठन्ति—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि तस्मात्तस्य ब्रह्मणो या मूर्तिः स्वभावस्तां

तथा परिणतामिन्द्रियादिशालिनीं लोकाः शरीरमिति वदन्ति । षडाश्रयणाच्छरीरमिति शरीरनिर्वचनेनानेन पूर्वोक्तोत्पत्तिक्रम एव दृढीकृतः ॥ १७ ॥

## तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
## मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

तदा विशन्ति भूतानीत्यादि । पूर्वश्लोके तस्येति प्रकृतं ब्रह्मात्र तदिति परामृश्यते । तद्ब्रह्म शब्दादिपञ्चतन्मात्रात्मनावस्थितं महाभूतान्याकाशादीनि आविशन्ति तेभ्य उत्पद्यन्ते । सह कर्मभिः स्वकार्यैस्तत्राकाशस्यावकाशदानं कर्म वायोर्व्यूहनं विन्यासरूपं तेजसः पाकोऽपां संग्रहणं पिण्डीकरणरूपं पृथिव्या धारणं अहंकारात्मनावस्थितं ब्रह्म मन आविशत्यहंकारादुत्पद्यत इत्यर्थः । अवयवः स्वकार्यैः शुभाशुभसंल्पसुखदुःखादिरूपैः सूक्ष्मैर्बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत्सर्वोत्पत्तिनिमित्तं मनोजन्यशुभाशुभकर्मप्रभवत्वाज्जगतः अव्ययमविनाशि ॥ १८ ॥

## तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
## सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् १९

तेषामिदं तु सप्तानामित्यादि । तेषां पूर्वप्रकृतीनां महदहंकारतन्मात्राणां सप्तसंख्यानां पुरुषादात्मन उत्पन्नत्वात्तद्वृत्तिग्राह्यत्वाच्च पुरुषाणां महौजसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मा या मूर्तिमात्राः शरीरसंपादकभागास्ताभ्य इदं जगन्नश्वरं संभवत्यनश्वराद्यत्कार्यं तद्विनाशिस्वकारणे लीयते । कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरम् । परमकारणं तु ब्रह्म नित्यमुपासनीयमित्येतद्दर्शयितुमयमनुवादः ॥ १९ ॥

## आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामित्यादि । एषामिति पूर्वतरश्लोके तदाविशन्ति भूतानीत्यत्र भूतानां परामर्शः । तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्तिक्रमः शब्दादिगुणवत्ता च वक्ष्यते । तत्राद्याद्यस्याकाशादेर्गुणं शब्दादिकं वाय्वादिः परः परः प्राप्नोति ।

एतदेव स्पष्टयति—

**यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥२०॥**

यो य इति । एषां मध्ये यो यो यावतां पूरणो यावतिथः वतोरिथुक् स स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयस्त्रिगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः । एतेनैतदुक्तं भवति । आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः शब्दस्पर्शौ, तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां शब्दस्पर्शरूपरसाः, भूमेः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । अत्र यद्यपि नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनेनाद्यस्याद्यस्येति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दःसमानविषयत्वात्सुपां सुलुगिति प्रथमाद्यस्य सुब्लुक् तेनाद्याद्यस्येति रूपसिद्धिः॥२०॥

**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।**
**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥**

सर्वेषां तु स नामानीत्यादि । स परमात्मा हिरण्यगर्भरूपेणावस्थितः सर्वेषां नामानि गोजातेर्गौरिति अश्वजातेरश्व इति । कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि पृथक् पृथक् यस्य पूर्वकल्पे यान्यभूवन् आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्य एवावगम्य निर्मितवान् । भगवता व्यासेनापि वेदमीमांसायां वेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिर्व्युत्पादिता । तथा च शारीरकसूत्रम्—शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । अस्यार्थः । देवतानां विग्रहवत्त्वे वैदिकेव आदिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्यादिमत्त्वप्रसंगादिति चेन्नास्ति विरोधः । कस्मादतः शब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्यवस्थान्तरमनापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति । तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्यगादिप्रविभक्तं जगत् अभिधेयभूतं निर्मिमीते । कथमिदं गम्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिरनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वात् । तथा च श्रुतिः—एत इति प्रजापतिर्देवानसृजतासृजदग्र इति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन् तिरःपवित्रमिति ग्रहानावसव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमिति सौभगेत्यन्याः प्रजाः । स्मृतिस्तु सर्वेषां तु स नामानीत्यादिका मन्वादिप्रणीता एव । पृथक्संस्थाश्चेति । लौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिविभागेन निर्मितवान् ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥२२॥

कर्मात्मनां च देवानामित्यादि । स ब्रह्मा देवानां गणमसृजत् । प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषामप्राणिनां च ग्रावादीनां देवानां साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरेऽप्यनुमीयमानत्वान्नित्यं साध्यानां च गणस्य पृथग्वचनं सूक्ष्मत्वात् ॥ २२ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्त्वित्यादि । ब्रह्मा ऋग्यजुःसामसंज्ञं वेदत्रयं अग्निवायुरविभ्य आकृष्टवान् । सनातनं नित्यं वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः । पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष । औतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः । तथा च श्रुतिः— अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद इति । आकर्षणार्थत्वाद्दुहिधातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतैव । यज्ञसिद्ध्यर्थं त्रयीसंपाद्यत्वाद्यज्ञानां आपीनस्थक्षीरवद्विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्तिप्रदर्शनार्थं आकर्षणवाचको गौणो दुहिः प्रयुक्तः ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥२४॥

कालं कालविभक्तीश्चेत्यादि । अत्र ससर्जेत्युत्तरश्लोकवर्तिनी क्रिया संबध्यते । आदित्यादिक्रियाप्रचयरूपं कालं कालविभक्तीर्मासर्त्वयनाद्याः नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि ग्रहान्सूर्यादीन् सरितो नदीः सागरान्समुद्रान् शैलान्पर्वतान् समानि समस्थानानि विषमाणि उच्चनीचरूपाणि ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥२५॥

तपो वाचमित्यादि । तपः प्राजापत्यादि वाचं वाणीं रतिं चेतःपरितोषं काममिच्छां क्रोधं चेतोविकारं इमां एतच्छ्लोकोक्तां पूर्वश्लोकोक्तां च सृष्टिं चकार । सृज्यत इति सृष्टिः । कर्मणि क्तिन् । इमाः प्रजा वक्ष्यमाणा दैवादिकाः कर्तुमिच्छन् ॥ २५ ॥

**कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।**
**द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥**

कर्मणां चेति । धर्मो यज्ञादिः स च कर्तव्यः अधर्मो ब्रह्मवधादिः स न कर्त्तव्यः इति कर्मणां विभागाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्पृथक्त्वेनाभ्यधात् । धर्मस्य फलं सुखं अधर्मस्य फलं दुःखम् । धर्माधर्मफलभूतैर्द्वन्द्वैः परस्परविरुद्धैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजाः योजितवान् । आदिग्रहणात्कामक्रोधरागद्वेषक्षुत्पिपासाशोकमोहादिभिः ॥ २६ ॥

**अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः**
**ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥**

अण्व्यो मात्रा इति । दशार्धानां पञ्चानां महाभूतानां याः सूक्ष्माः पञ्चतन्मात्ररूपा विनाशिन्यः पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्यः ताभिः सह उक्तं वक्ष्यमाणं चेदं सर्वमुत्पद्यते । अनुपूर्वशः क्रमेण सूक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलतरमित्यनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो मानससृष्टिः । कदाचित्तत्त्वनिरपेक्षा स्यादितीमां शङ्कामपनिनीषंस्तद्व्यारेणैवेयं सृष्टिरिति मध्ये पुनः पूर्वोक्तं स्मारितवान् ॥ २७ ॥

**यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।**
**स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥**

यं तु कर्मणीति । स प्रजापतिर्यं जातिविशेषं व्याघ्रादिकं यस्यां क्रियायां हरिणमारणादिकायां सृष्ट्यादौ नियुक्तवान् स जातिविशेषः पुनःपुनरपि सृज्यमानः स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान् । एतेन प्राणिकर्मसापेक्षं प्रजापतेरुत्तमाधमजातिनिर्माणं न रागद्वेषाधीनमिति दर्शितं अत एव वक्ष्यति । यथाकर्मतपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गममिति ॥ २८ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

**हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।**
**यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशेत् ॥२९॥**

हिंस्राहिंस्रे इत्यादि । हिंस्रं कर्म सिंहादेः करिमारणादिकं अहिंस्रं हरिणादेः । मृदु दयाप्रधानं विप्रादेः । क्रूरं क्षत्रियादेः । धर्मो यथा ब्रह्मचर्यादेः गुरुशुश्रूषादिः अधर्मो यथा तस्यैव मांसमैथुनसेवनादिः ऋतं सत्यं तच्च प्रायेण देवानाम् । अनृतमसत्यं तदपि प्रायेण मनुष्याणाम् । तथा च श्रुतिः—सत्यवाचो देवा अनृतवाचो मनुष्या इति । तेषां मध्ये यत्कर्म स प्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारयत्सृष्ट्युत्तरकालमपि । स तदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे ॥ २९ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

**यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।**
**स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ३०**

यथर्त्विति । यथा वसन्तादिऋतव ऋतुचिह्नानि चूतमञ्जर्यादीनि ऋतुपर्यये स्वकार्यावसरे स्वयमेवाप्नुवन्ति तथा देहिनोऽपि हिंस्रादीनि कर्माणि ॥ ३० ॥

**लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।**
**ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥**

लोकानां त्विति । भूलोकानां वाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान् । ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्नावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नमन्नात्प्रजावाहुल्यम् । वक्ष्यति च— अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमित्यादि । दैव्या च शक्त्या अथादित्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्राह्मणो न विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रुतिः । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्यादि ॥ ३१ ॥

**द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।**
**अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥**

द्विधा कृत्वेति । स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन स्त्री तस्यां मैथुनधर्मेण विराट्संज्ञं पुरुषं निर्मितवान् । श्रुतिश्च— ततो विराडजायतेति ॥ ३२ ॥

**तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।**
**तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥३३॥**

तपस्तप्त्वेति । स विराट् तपो विधाय यं निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारं भो द्विजसत्तमाः । एतेन स्वजन्मोत्कर्षसामर्थ्यातिशयावभिहितवान् लोकानां प्रत्ययितप्रत्ययार्थम् ३३

**अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।**
**पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥**

अहमिति । अहं प्रजाः स्रष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा दश प्रजापतीन्प्रथमं सृष्टवान् तैरपि प्रजानां सृज्यमानत्वात् ॥ ३४ ॥

**मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।**
**प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥**

मरीचिमित्यादि । त एते दश प्रजापतयो नामतो निर्दिष्टाः ॥३५॥

**एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।**
**देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥**

एते मनूंस्त्विति । एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसो ऽन्यान् सप्तापरिमिततेजस्कान् मनून्देवान् ब्रह्माणा सृष्टान् देवनिवासस्थानानि स्वर्गादीन्महर्षींश्च सृष्टवन्तः । मनुशब्दोऽयमधिकारवाची चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः स एतस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनामभिर्मनुरिति व्यपदिश्यते ॥ ३६ ॥

**यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।**
**नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ३७**

यक्षरक्ष इति । एतेऽसृजन्निति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्गः उत्तरत्र च श्लोकद्वये च । यक्षो वैश्रवणस्तदनुचराश्च रक्षांसि रावणादीनि । पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टाः अशुचिमरुदेशनिवासिनः । गन्धर्वाश्चित्ररथादयः । अप्सरस उर्वश्यादयः । असुरा विरोचनादयः । नागा वासुक्यादयः । सर्पास्ततोऽपकृष्टाः अलगर्दादयः । सुपर्णा गरुडादयः । पितृणामाज्यपादीनां गणः समूहः । एषां च भेद इतिहासादिप्रसिद्धो नाध्यक्षादिगोचरः ॥ ३७ ॥

**विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।**
**उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥३८॥**

विद्युत इति । मेघेषु दृश्यं दीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत् । मेघादेव यज्ज्योतिर्वृक्षादिविनाशकं तदशनिः । मेघाः प्रसिद्धाः । रोहितं दण्डाकारम् । नानावर्णं दिवि दृश्यते यज्ज्योतिस्तदेव वज्रमिन्द्रधनुः । उल्का रेखाकारमन्तरिक्षात्पतज्ज्योतिः । निर्घातो भूम्यन्तरिक्षगत उत्पातध्वनिः । केतवः शिखावन्ति ज्योतींषि उत्पातरूपाणि । अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि ॥ ३८ ॥

**किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।**
**पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥**

किन्नरानिति । किन्नरा अश्वमुखा देवयोनयो नरविग्रहाः । वानराः प्रसिद्धाः । मत्स्या रोहितादयः । विहङ्गमाः पक्षिणः । पशवो गवाद्याः । मृगा हरिणाद्याः । व्यालाः सिंहाद्याः । उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्क्ती येषां उत्तराधरे भवतः ॥ ३९ ॥

**कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।**
**सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥**

कृमिकीट इति । कीटाः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलाः । पतङ्गाः शलभाः । यूकादयः प्रसिद्धाः । क्षुद्रजन्तव इत्यनेन एकवद्भावः । स्थावरं वृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम् ॥ ४० ॥

**एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।**
**यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥**

एवमेतैरिति । एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम् । यथाकर्म यस्य जंतोर्यादृशं कर्म तदनुरूपं तस्य देवमनुष्यतिर्यगादियोनिपूत्पादनं मन्नियोगान्मदाज्ञया तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा सर्वमैश्वर्यं तपोऽधीनमिति दर्शितम् ॥ ४१ ॥

**येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।**
**तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ४२**

येषामित्यादि । येषां पुनर्यादृशं कर्म इह संसारे पूर्वाचार्यैः कथितं यथौषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादिकर्म तत्तथैव वो युष्माकं वक्ष्यामि जन्मादिक्रमयोगं च ॥४२॥

**पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।**
**रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥४३॥**

पशवश्चेति । जरायुर्गर्भावरणचर्म तत्र मनुष्यादयः प्रादुर्भवन्ति पश्चान्मुक्ता जायन्ते । एषामेव जन्मक्रमः प्रागुक्तो विवृतः । दन्तशब्दसमानार्थो दच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्येदं प्रथमाबहुवचने रूपं उभयतोदत इति ॥ ४३ ॥

**अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।**
**यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥४४॥**

अण्डजाः पक्षिण इति । अण्ड आदौ संभवन्ति ततो जायन्त इति एषां जन्मक्रमः । नक्रः कुम्भीरः स्थलजानि कृकलासादीनि औदकानि शङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

**स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।**
**उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥४५॥**

स्वेदजमिति । स्वेदः पार्थिवद्रव्याणां तापेन क्लेदः ततो दंशमशकादिर्जायते ॥ उष्मणश्च स्वेदहेतुतापादपि अन्यदंशादिसदृशं पुत्तिकापिपीलिकादि जायते ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

उद्भिज्जा इति । उद्भेदनमुद्भित् । भावे क्विप् । ततो जायन्ते ऊर्ध्वं बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्भिज्जा वृक्षास्ते च द्विधा केचिद्बीजादेव जायन्ते केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यान्ति ।

इदानीं येषां यादृशं कर्म तदुच्यते—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

ओषध्य इति । ओषध्यो व्रीहियवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफलयुक्ताश्च भवन्ति । ओषधिशब्दादेव कृदिकारादक्तिन इति ङीपा दीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम् ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

अपुष्पा इति । नास्य श्लोकस्याभिधानकोषवत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धिपरत्वमप्रकृतत्वात् किंतु क्रमयोगं च जन्मनीति प्रकृतं तदर्थमिदमुच्यते । ये वनस्पतयस्तेषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः फलानीति । एवं वृक्षा उभयरूपाः प्रथमान्तात्तसिः ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥

गुच्छगुल्मं त्विति । मूलत एव यत्र लतासमूहो भवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छा मल्लिकादयः । गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः । तृणजातयः उलपाद्याः । प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाबूप्रभृतयः । वल्ल्यो गुडूच्यादयः या भूमेर्वृक्षमारोहन्ति । एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणि । नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकत्वम् ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

तमसेति । एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन व्याप्ताः अन्तश्चैतन्या भवन्ति । यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते । त्रिगुणारब्धखेऽपि चैषां तमोगुणबाहुल्यात्तथा व्यपदेशः । अत एव सुखदुःखसमन्विताः सत्त्वस्यापि भावात्कदाचित्सुखलेशोऽपि जलधरजनितजलसंपर्कादेषां जायते ॥ ४९ ॥

**एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।**
**घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥**

एतदन्ता इति । स्थावरपर्यन्ता ब्रह्मोपक्रमा गतय उत्पत्तयः कथिताः । भूतानां क्षेत्रज्ञानां जन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुलतया भीषणे सदा विनश्वरे ॥ ५० ॥

इत्थं सर्गमभिधाय प्रलयदशामाह—

**एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।**
**आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥**

एवं सर्वमिति । एवं उक्तप्रकारेण । इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत्सृष्ट्वा स प्रजापतिरचिन्त्यशक्तिरात्मनि शरीरत्यागरूपं अन्तर्धानं कृतवान् । सृष्टिकालं प्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनां कर्मवशेन पुनःपुनः सर्गप्रलयान्करोतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

अत्र हेतुमाह—

**यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।**
**यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ५२**

यदेति । यदा स प्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थिती इच्छति तदेदं जगत् श्वासप्रश्वासाहारादिचेष्टां लभते । यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति तदा शान्तात्मा उपसंहारमनाः तदेदं जगत्प्रलीयते ॥ ५२ ॥

पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति—

**तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।**
**स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥५३॥**

तस्मिन्स्वपतीति। तस्मिन्प्रजापतौ निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहृतदेहमनोव्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते। मनः सर्वेन्द्रियसहितं वृत्तिरहितं भवति ॥ ५३ ॥

इदानीं महाप्रलयमाह—

**युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।**
**तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥ ५४ ॥**

युगपत्त्विति। एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मनि सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति तदायं सर्वभूतानामात्मा निर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वप्नव्यापारः सुखं स्वपिति सुषुप्त इव भवति। यद्यपि नित्यज्ञानानन्दस्वरूपे परमात्मनि न सुष्वापस्तथापि जीवधर्मोऽयमुपचर्यते ५४

इदानीं प्रलयप्रसंगेन जीवस्योत्क्रमणमपि श्लोकद्वयेनाह—

**तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।**
**न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥ ५५॥**

तमोऽयमिति। अयं जीवस्तमो ज्ञाननिवृत्तिं प्राप्य बहुकालमिन्द्रियादिसहितस्तिष्ठति। न चात्मीयं कर्म श्वासप्रश्वासादिकं करोति। तदा मूर्तितः पूर्वदेहादुत्क्रामति अन्यत्र गच्छति। लिङ्गशरीरावच्छिन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तद्गमनमप्युपपद्यते। तथा चोक्तं बृहदारण्यके। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति। प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ५५ ॥

कदा देहान्तरं गृह्णातीत्यत आह—

**यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।**
**समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥ ५६ ॥**

यदाणुमात्रिक इति। अणवो मात्राः पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः। पुर्यष्टकशब्देन भूतादीन्यष्टावुच्यन्ते। तदुक्तं सनन्दने। भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥ ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम्। पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु॥ यदाणुमात्रिको भूत्वा संपद्य स्थास्नु वृक्षादिहेतुभूतं चरिष्णु मानुषादिकारणं

बीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टकयुक्तो मूर्तिं स्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विमुञ्चति गृह्णाति ॥ ५६ ॥

प्रासंगिकं जीवस्योत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति—

**एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।**
**संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥**

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिति । स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं संजीवयति भारयति चाजस्रं सततं अव्ययः अविनाशी ॥ ५७ ॥

**इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।**
**विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८॥**

इदं शास्त्रमिति । असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्ट्यादौ मामेव विधिवच्छास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान् । अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान् ॥ ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवव्यपदेशः । अत्र मेधातिथिः । शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास मनुस्तु तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः । अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवव्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिव्यपदेशवत् । इदं तूच्यते । ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत्ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः । तथा च नारदः । शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थ इति स्मरतिस्म ॥ ५८ ॥

**एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।**
**एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥**

एतद्वोऽयमित्यादि । एतच्छास्त्रमयं भृगुः युष्माकमखिलं कथयिष्यति यस्मादेषोऽशेषमेतन्मत्तोऽधीतवान् ॥ ५९ ॥

**ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।**
**तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥**

ततस्तथेति । स भृगुर्मनुना तथोक्तोऽयं श्रावयिष्यतीति यस्मादेषोऽधिजग इत्युक्तस्ततोऽनन्तरमनेकमुनिसन्निधौ गुरुसंभावनया प्रीतमनास्तानृषीन्प्रत्युवाच श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

**स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।**
**सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ६१**

स्वायंभुवस्येति । ब्रह्मपुत्रस्य मनोः षड्वंशप्रभवा अन्ये मनवः । एवं कार्यकारिणः स्वस्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताः स्वाः स्वाः प्रजा उत्पादितवन्तः ॥ ६१ ॥

**स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।**
**चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥**

स्वारोचिषश्चेति । एते भेदेन मनवः षट् नामतो निर्दिष्टाः ६२

**स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।**
**स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥**

स्वायंभुवेति । स्वायंभुवमुखाः सप्तामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकाले इदं स्थावरजङ्गममुत्पाद्य पालितवन्तः ॥ ६३ ॥

इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह—

**निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।**
**त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥**

निमेषा दश चाष्टाविति । अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्य उन्मेषस्य सहकारी निमेषः तेऽष्टादश काष्ठानाम कालः । त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः । त्रिंशत्कलाः मुहूर्ताख्यः कालः । तावत्त्रिंशन्मूहूर्तान् अहोरात्रं कालं विद्यात् । तावत इति द्वितीयानिर्देशाद्विद्यादित्यध्याहारः ॥ ६४ ॥

**अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।**
**रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥**

अहोरात्रे इति । मानुषदैवसंबन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यः पृथक्करोति । तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नार्थं रात्रिर्भवति कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम् ॥ ६५ ॥

**पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।**
**कर्मचेष्टास्वहःकृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥**

पित्र्ये इति । मानुषाणां मासः पितॄणामहोरात्रे भवतः तत्र पक्षद्वयेन विभागः कर्मानुष्ठानाय पूर्वपक्षोऽहः । स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः ॥ ६६ ॥

**दैवे रात्र्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः ।**
**अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥**

दैवे रात्र्यहनी वर्षमिति । मानुषाणां वर्षं देवानां रात्रिदिने भवतः तयोरप्ययं विभागः नराणामुदगयनं देवानामहः तत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानं दक्षिणायनं तु रात्रिः ॥ ६७ ॥

**ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।**
**एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥**

ब्राह्मस्येति । ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणं प्रत्येकं युगानां च कृतादीनां तत्क्रमेण समासतः संक्षेपतः शृणुत । प्रकृतेऽपि कालविभागे यद्ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य पृथक् प्रतिज्ञानं तत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम् । वक्ष्यति च ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुरिति । तद्वेदनात्पुण्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

**चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।**
**तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥**

चत्वार्याहुरिति । चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालं मन्वादयो वदन्ति । तस्य तावद्वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च भवति । युगस्य पूर्वा संध्या उत्तरश्च संध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे । तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते । संध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यान-

न्तरो हि यः ॥ संध्यासंध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम । युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः ॥ वर्षसंख्या चेयं दिव्यमानेन तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात् । दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् । चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥ इति विष्णुपुराणवचनाच्च६९

**इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ।**
**एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥**

इतरेष्विति । अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु संध्यासंध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति । तेनैवं संपद्यते त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगं तस्य त्रीणि वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च । एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः तस्य द्वे वर्षशते संध्या संध्यांशश्च । एवं वर्षसहस्रं कलिः तस्यैकवर्षशतं संध्या संध्यांशश्च ॥ ७० ॥

**यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।**

यदेतदिति । एतस्य श्लोकस्यादौ पदे तन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एतदेवानां युगमुच्यते ॥

चतुर्युगशब्देन संध्यासंध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह—

**एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥**

एतद्द्वादशसाहस्रमिति । स्वार्थेऽण् । चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैर्दिव्यं युगमिति तु मेधातिथेर्भ्रमो नादर्तव्यः । मनुनानन्तरं दिव्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात् । विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्माहकीर्तनान्मानुषचतुर्युगेनैव दिव्ययुगानुगमनात् । तथा च विष्णुपुराणम् । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने ॥ ७१ ॥

**दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।**
**ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥**

दैविकानामिति । देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मदिनं ज्ञातव्यम । सहस्रमेव रात्रिः । परिसंख्ययेति श्लोकपूराणोऽर्थानुवादः ॥ ७२ ॥

**तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।**
**रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३॥**

तद्वै युगेति । युगसहस्रेणान्तः समाप्तिर्यस्य तद्ब्राह्ममहस्तत्परिमाणां च रात्रिं ये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम् । स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रं ज्ञातव्यमिति विधिः परिकल्प्यते अत एतत्पुण्यहेतुत्वात्पुण्यमिति विशेषणं कृतम् ॥ ७३ ॥

**तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।**
**प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥**

तस्येति । स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समाप्तौ प्रतिबुद्धो भवति । प्रतिबुद्धश्च स्वीयं मनः सृजति भूर्लोकादित्रयसृष्टये नियुङ्क्ते न तु जनयति । तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वात् अनष्टत्वाच्च । अवान्तरप्रलये भूर्लोकादित्रयमात्रनाशात्सृष्ट्यर्थं मनोनियुक्तिरेव मनःसृष्टिः । तथा च पुराणे श्रूयते । मनः सिसृक्षया युक्तं सर्गाय निदधे पुनरिति । अथवा मनःशब्दोऽयं महत्तत्त्वपर एव । यद्यपि तन्महाप्रलयानन्तरमुत्पन्नं महान्तमेव चेत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिक्रमं तद्गुणांश्च कथयितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भूतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि परमार्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवदति । एतेनेदमुक्तं भवति । ब्रह्मा महाप्रलयानन्तरितसृष्ट्यादौ परमात्मरूपेण महदादितत्त्वानि जगत्सृष्ट्यर्थं सृजति अत एव शेषे वक्ष्यति इत्येषा सृष्टिरादित इति । अवान्तरप्रलयानन्तरं तु मनःप्रभृतिसृष्टावभिधानक्रमेणैव प्राथम्यप्राप्तिरित्येषा सृष्टिरादित इति निष्प्रयोजनोऽनुवादः स्यात् ॥ ७४ ॥

**मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।**
**आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥**

मनः सृष्टिमिति । मनो महान्सृष्टिं करोति परमात्मनः स्रष्टुमिच्छया प्रेर्यमाणं तस्मादाकाशमुत्पद्यते तच्च पूर्वोक्तानुसारादहंकारतन्मात्रक्रमेणाकाशस्य शब्दं गुणं विदुर्मन्वादयः ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥७६॥

आकाशादिति । आकाशात्तु विकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहः पवित्रो बलवांश्च वायुरुत्पद्यते । स च स्पर्शाख्यगुणवान्मन्वादीनां संमतः ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

वायोरपीति । वायोरपि तेज उत्पद्यते विरोचिष्णु परप्रकाशकं तमोनाशनं भास्वत्प्रकाशकं तच्च गुणरूपमभिधीयते ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥ ७८ ॥

ज्योतिषश्चेति । तेजस आप उत्पद्यन्ते ताश्च रसगुणयुक्ता अद्भ्यो गन्धगुणयुक्ता भूमिरित्येषा महाप्रलयानन्तरसृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः तैरेव भूतैरवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकत्रयनिर्माणम् ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

यत्प्रागिति । यत्पूर्वं द्वादशवर्षसहस्रपरिमाणं संध्यासंध्यांशसहितं मनुष्याणां चतुर्युगं देवानामेकं युगमुक्तं तदेकसप्ततिगुणितं मन्वन्तराख्यः काल इह शास्त्रेऽभिधीयते । तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनःपुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तराणीति । यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्यादसंख्यानि आवृत्त्या सर्गः संहारश्चासंख्यः । एतत्सर्वं क्रीडन्निव प्रजापतिः पुनःपुनः कुरुते । सुखार्थं

हि प्रवृत्तिः क्रीडा तस्य चाप्तकामत्वान्न सुखार्थेति इवशब्दः प्रयुक्तः। परमे स्थानेऽनावृतलक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी। प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेल्लीलयैव एवं स्वभावत्वादित्यर्थः। व्याख्यातुरिव करताडनादौ। तथा च शारीरकसूत्रं लोकवद्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ८० ॥

**चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।**
**नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥**

चतुष्पात्सकलो धर्म इति। सत्ययुगे सकलो धर्मश्चतुष्पात्सर्वाङ्गसंपूर्ण आसीत्। धर्मे मुख्यपादासंभवाद्वृषो हि भगवान्धर्म इत्यागमे वृषत्वेन कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्सत्ययुगेऽपि धर्मीणां सर्वैरङ्गैः समग्रत्वात्संपूर्णत्वपरोऽयं चतुष्पाच्छब्दः। अथवा तपः परमित्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्णां कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः। तथा सत्यं च कृतयुगमासीत्सकलधर्मश्रेष्ठत्वात्सत्यस्य पृथग्ग्रहणम्। तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागम उत्पत्तिर्मनुष्यान्प्रति संपद्यते ॥ ८१ ॥

**इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।**
**चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥**

इतरेष्विति। सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमादधर्मेण धनविद्यादेरर्जनात्तस्यैव पूर्वश्लोके प्रकृतत्वात्। आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजो मेधातिथिश्च। धर्मो यागादिः यथाक्रमं प्रतियुगं पादंपादमवरोपितो हीनः कृतः। तथा धनविद्यार्जितोऽपि यो धर्मः प्रचरति सोऽपि चौर्यासत्यच्छद्मभिः प्रतियुगं पादशो ह्रासाद्व्यपगच्छति। त्रेतादियुगैः सह चौरिकानृतच्छद्मनां न यथासंख्यम्। सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात् ॥ ८२ ॥

**अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।**
**कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥**

अरोगा इति। रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः

प्रतिबन्धकाधर्माभावाच्चतुर्वर्षशतायुष्ट्वं च स्वाभाविकमधिकायुः प्राप्तकधर्मवशादधिकायुषोऽपि भवन्ति। तेन दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयदित्याद्यविरोधः । शतायुर्वै पुरुष इत्यादि श्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा एवंरूपा मनुष्याः कृते भवन्ति त्रेतादिषु पुनः पादंपादमायुरल्पं भवतीति ॥ ८३ ॥

**वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।**
**फलं वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥**

वेदोक्तमायुरिति । शतायुर्वै पुरुष इत्यादि वेदोक्तमायुः कर्मणां च काम्यानां फलविषयाः प्रार्थनाः ब्राह्मणादीनां च शापानुग्रहक्षमत्वादिप्रभावा युगानुरूपेण फलन्ति ॥ ८४ ॥

**अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।**
**अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥**

अन्य इति । कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति त्रेतादिष्वपि युगापचयानुरूपेणाधर्मवैलक्षण्यम् ॥ ८५ ॥

**तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।**
**द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥**

तपः परमिति । यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमिति ज्ञाप्यते । एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे द्वापरे यज्ञः दानं कलौ ॥ ८६ ॥

**सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।**
**मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥**

सर्वस्यास्येति । स ब्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्य समग्रस्याग्नौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन रक्षार्थं मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां विभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान् ॥ ८७ ॥

**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।**
**दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥**

अध्यापनमिति । अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाभिधानं विधिस्तेषामुत्तरत्र भविष्यति । अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ॥ ८८ ॥

**प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।**
**विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥**

प्रजानामिति । प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्य कर्माणि कल्पितवान् । विषयेषु गीतनृत्यवनितोपभोगादिष्वप्रसक्तिस्तेषां पुनरनासेवनं समासतः संक्षेपेण ॥ ८९ ॥

**पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।**
**वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥**

पशूनामिति । पशूनां पालनादीनि वैश्यस्य कल्पितवान् । वणिक्पथं स्थलजलादिना वाणिज्यं कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः ॥ ९० ॥

**एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।**
**एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥**

एकमेव त्विति । प्रभुर्ब्रह्मा शूद्रस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान् । एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थं दानादेरपि तस्य विहितत्वात् । अनसूयया गुणानिन्दया ॥ ९१ ॥

इदानीं प्राधान्येन सर्गरक्षणार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वाच्चास्य शास्त्रस्य ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह—

**ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।**
**तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥**

ऊर्ध्वमिति । सर्वत एव पुरुषो मेध्यः नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः ततोऽपि मुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम् ॥ ९२ ॥

ततः किमत आह—

**उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।**
**सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥**

उत्तमाङ्गोद्भवादिति । उत्तमाङ्गं मुखं तदुद्भवत्वात् । क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः । संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

कस्योत्तमाङ्गादयमुद्भूत इत्यत आह—

**तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।**
**हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥**

तं हि स्वयंभूरिति । तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखादैवपित्र्ये हविःकव्ये वहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षायै च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान् ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्तहव्यकव्यवहनं स्पष्टयति—

**यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।**
**कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥**

यस्यास्येनेति । यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत् ९५

**भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।**
**बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥**

भूतानामिति । भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः । कदाचित्सुखलेशात् । तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणापसर्पणकारिणः पश्वादयः । तेभ्योऽपि मनुष्याः । प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात् । तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकारयोग्यत्वाच्च ॥ ९६ ॥

**ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।**
**कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥**

ब्राह्मणेषु चेति । ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसो महाफलज्योतिष्टोमादिकर्माधिकारित्वात् । तेभ्योऽपि कृतबुद्धयः अनागतेऽपि कृतं

मयेति बुद्धिर्येषां शास्त्रोक्तानुष्ठानेपूत्पन्नकर्तव्यतावुद्धय इत्यर्थः । तेभ्योऽपि अनुष्ठातारः । हिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः मोक्षलाभात् ॥ ९७ ॥

**उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।**
**स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥**

उत्पत्तिरेवेति । ब्राह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि यस्मादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संपद्यते ९८

**ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।**
**ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥**

ब्राह्मण इति । यस्माद्ब्राह्मणो जायमानः पृथिव्यामधि उपरि भवति श्रेष्ठ इत्यर्थः । सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षायै प्रभुः । ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्सर्वधर्माणाम् ॥ ९९ ॥

**सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।**
**श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥**

सर्वं स्वमिति । यत्किंचिज्जगद्गतं धनं तद्ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते । स्वमिव स्वं न तु स्वमेव । ब्राह्मणस्यापि मनुना स्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्माद्ब्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव । वै अवधारणे ॥ १०० ॥

**स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।**
**आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥**

स्वमेवेति । यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुङ्क्ते परस्य च वस्त्रं परिधत्ते परस्य गृहीत्वान्यस्मै ददाति तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव पूर्ववत्स्तुतिः । एवं सति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्ये भोजनादि कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥

इदानीं प्रकृष्टब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते—

**तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।**
**स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥**

तस्य कर्मविवेकार्थमिति । ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपुत्रो धीमान् सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान् ॥ १०२ ॥

**विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।**
**शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित् १०३**

विदुषेति । एतच्छास्त्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य व्याख्यानाध्यापनोचितं प्रयत्नतोऽध्ययनं कर्तव्यं शिष्येभ्यश्चेदं व्याख्यातव्यं नान्येन क्षत्रियादिना । अध्ययनमात्रं तु व्याख्यानाध्यापनरहितं क्षत्रियवैश्ययोरपि निषेकादिश्मशानान्तैरित्यादिना विधास्यते । अनुवादमात्रमेतदिति मेधातिथिमतं तन्न मनोहरम् । द्विजैरध्ययनं ब्राह्मणेनैवाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात् । यत्तु अधीयीरंस्त्रयो वर्णा इत्यादि तद्वेदविषयमिति वक्ष्यति । विप्रेणैवाध्यापनमिति विधानेन संभवत्यपि अनुवादत्वमस्येति वृथा मेधातिथेर्ग्रहः ॥ १०३ ॥

**इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।**
**मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥**

इदं शास्त्रमिति । इदं शास्त्रं पठन्नेतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितव्रतोऽनुष्ठितव्रतः मनोवाक्कायसंभवैः पापैर्न संबध्यते ॥ १०४ ॥

**पुनाति पङ्क्तिवंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।**
**पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति १०५**

पुनातीति । इदं शास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते । अपाङ्क्त्योपहतां पङ्क्तिमानुपूर्व्या निविष्टजनसमूहं पवित्रीकरोति वंशभवांश्च सप्त परान्पित्रादीन् अवरांश्च पुत्रादीन्पृथिवीमपि सर्वां सकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन गृहीतुं योग्यो भवति ॥ १०५ ॥

**इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।**
**इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥**

इदमिति । अभिप्रेतार्थस्याविनाशः स्वस्ति तस्यायनं प्रापकं एत-

च्छास्त्रस्याध्ययनं स्वस्त्ययनं जपहोमादिबोधकत्वाच्च श्रेष्ठं स्वस्त्ययनान्तरात्प्रकृष्टं बुद्धिविवर्धनमेतच्छास्त्राभ्यासेनाशेषविधिनिषेधपरिज्ञानात् । यशसे हितं यशस्यं विद्वत्तया ख्यातिलाभात्परं प्रकृष्टं निःश्रेयसं निःश्रेयसस्य मोक्षस्योपायोपदेशकत्वात् ॥ १०६ ॥

**अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।**
**चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥**

अस्मिन्धर्म इति । अस्मिन्कात्स्न्र्येन धर्मोऽभिहित इति शास्त्रप्रशंसा । कर्मणां च विहितनिषिद्धानामिष्टानिष्टफले वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मरूप आचारः शाश्वतः पारंपर्यागतः । धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः ॥ १०७ ॥

प्राधान्यमेव स्पष्टयति—

**आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।**
**तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः**

आचार इति । युक्तो यत्नवान् आत्महितेच्छुः सर्वस्यात्मास्तीति आत्मशब्देन आत्महितेच्छा लक्ष्यते ॥ १०८ ॥

**आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।**
**आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥**

आचारादिति । आचाराद्विच्युतो विप्रो न वैदिकं फलं लभेत् । आचारयुक्तः पुनः समग्रफलभाग्भवति ॥ १०९ ॥

**एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।**
**सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥**

एवमिति । उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिमृषयो बुध्वा तपसश्चान्द्रायणादेः समग्रस्य कारणमाचारमनुष्ठेयतया गृहीतवन्तः । उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचारस्य इह स्तुतिः शास्त्रस्तुत्यर्था ॥ ११० ॥

इदानीं शिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वक्ष्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह ।

**जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।**
**व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥१११॥**

जगतश्च समुत्पत्तिमिति । पाषण्डगणधर्माश्चेत्यन्तं जगदुत्पत्तिर्यथोक्ता ब्राह्मणस्तुतिश्च मार्गरक्षार्थत्वेन ब्राह्मणस्य शास्त्रस्तुत्यादिकं च सृष्टावेवान्तर्भवति । एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम् । संस्काराणां जातकर्मादीनां विधिमनुष्ठानं ब्रह्मचारिणो व्रताचरणमुपचारं च गुर्वादीनामभिवादनोपासनादि । सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति इत्येकवद्भावः । एतद्द्वितीयाध्यायप्रमेयम् । स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषस्यस्त प्रकृष्टं विधानम् ॥ १११ ॥

**दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।**
**महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥**

दाराधिगमनमिति । दाराधिगमनं विवाहः तद्विशेषाणां ब्राह्मादीनां च लक्षणम् । महायज्ञाः पञ्च वैश्वदेवादयः श्राद्धस्य विधिः शाश्वतः प्रतिसर्गमनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः । एष तृतीयाध्यायार्थः ।

**वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।**
**भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ११३**

वृत्तीनामिति । वृत्तीनां जीवनोपायानां ऋतादीनां लक्षणं स्नातकस्य गृहस्थस्य व्रतानि नियमाः । एतच्चतुर्थाध्यायप्रमेयम् । भक्ष्यं दध्यादि अभक्ष्यं लशुनादि शौचं मरणादौ ब्राह्मणादेर्दशाहादिना द्रव्याणां शुद्धिमुदकादिना ॥ ११३ ॥

**स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।**
**राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥**

स्त्रीधर्मयोगमिति । स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायं एतत्पाञ्चमिकम् । तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मं मोक्षहेतुत्वान्मोक्षं यतिधर्मम् । यतिधर्मत्वेऽपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः । एष षष्ठाध्यायार्थः । राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वो दृष्टादृष्टार्थो धर्मः । एष सप्तमाध्यायार्थः । कार्याणामृणादीनामर्थिप्रत्यर्थिसमर्थितानां विनिर्णयो विचार्य तत्त्वनिर्णयः ॥ ११४ ॥

**साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।**
**विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ११५**

साक्षीति । साक्षिणां च प्रश्ने यद्विधानं व्यवहाराङ्गखेऽपि साक्षिप्रश्नस्य विधाननिर्णयोपायत्वात्पृथङ्निर्देशः । एतदाष्टमिकम् । स्त्रीपुंसयोर्भार्यापत्योः सन्निधावसन्निधौ च धर्मानुष्टानं ऋक्थभागस्य च धर्मम् । यद्यपि ऋक्थभागोऽपि कार्याणां च विनिर्णयमित्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदात्पृथङ्निर्देशः । द्यूतविषयो विधिर्द्यूतशब्देनोच्यते। कण्टकानां चौरादीनां शोधनं निरसनम् ॥ ११५ ॥

**वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम् ।**
**आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥११६॥**

वैश्यशूद्रोपचारं चेति । वैश्यशूद्रोपचारं स्वधर्मानुष्टानम् । एतन्नवमे । एवं संकीर्णानां अनुलोमप्रतिलोमजानामुत्पत्तिं आपदि च जीविकोपदेशं आपद्धर्मम् । एतद्दशमे । प्रायश्चित्तविधिमेकादशे॥

**संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।**
**निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥**

संसारगमनमिति । संसारगमनं देहान्तरप्राप्तिरूपं उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधशुभाशुभकर्महेतुकम् । निःश्रेयसमात्मज्ञानं सर्वोत्कृष्टमोक्षलक्षणस्य श्रेयोहेतुत्वात् । कर्मणां च विहितनिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

**देशधर्मांञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।**
**पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥**

देशधर्मानिति । प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमाना देशधर्माः ब्राह्मणादिजातिनियता जातिधर्माः कुलविशेषाश्रयाः कुलधर्माः वेदबाह्यागमसमाश्रयाप्रतिषिद्धव्रतचर्या पाषण्डं तद्योगात्पुरुषोऽपि पाषण्डः तन्निमित्ता ये धर्माः पाषण्डिनो विकर्मस्थानित्यादयः तेषां पृथग्धर्मानभिधानात् । गणः समूहो वणिगादीनाम् ॥ ११८ ॥

**यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।**
**तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥**

यथेदमिति । पूर्वं मया पृष्टो मनुर्यथेदं शास्त्रमभिहितवांस्तथैवान्यू-

नानतिरिक्तं मत्सकाशाच्छृणुतेति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थं पुनरभिधानम् ॥ ११९ ॥

## इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ॥ छ ॥

---

## अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतसंस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—

**विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।**
**हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥**

विद्वद्भिरिति । विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्धार्मिकै रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यनेन श्रेयःसाधनमभिमतं तत्र हि स्वरसान्मनोऽमुखीभवति । वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्याज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम् । खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्यमतो वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तं एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत । उक्तार्थसंग्रहश्लोकाः । वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम् । वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः ॥ हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन् । श्रेयःसाधनमित्याह तद्ध्रुवति मुखं मनः ॥ वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः । मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम् । अत एव हारीतः । अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः श्रुतिप्रमाणको धर्मः । श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च । भविष्यपुराणे । धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् । स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥ अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते । इह लोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥ श्रेयःसाधन-

मित्यर्थः । जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत् । चोदनालक्षणो ऽर्थो धर्म इति । उभयचोदनया लक्ष्यतेऽर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः अनर्थप्रत्यवायसाधनं श्येनादि तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिधर्म इति सूत्रार्थः । स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः । गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणविचिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान् तन्मते वेदविद्भिरित्यनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात् । एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते । मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय अथवा हृदयं वेदः स ह्यधीतो भावनादिरूपेण हृन् हृदयस्थिनिर्हृदयमित्युच्यते इत्युक्तवान् ॥ १ ॥

**कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।**
**काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥**

कामात्मतेति । फलाभिलाषशीलत्वं पुरुषस्य कामात्मता सा न प्रशस्ता । बन्धहेतुत्वात् । स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति । नित्यनैमित्तिकानि तु आत्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते । तदाह । न चैवेहास्त्यकामतेति । यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकलधर्मसंबन्धश्चेच्छाविषय एव ॥ २॥

अत्रोपपत्तिमाह—

**संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।**
**व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥**

संकल्पमूल इति । अनेन कर्मणा इदमिष्टं फलं साध्यत इति एवं विषया बुद्धिः संकल्पः तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते तदर्थं प्रयत्नं कुरुते च इत्येवं यज्ञाः संकल्पप्रभवा व्रतानि यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः । सर्वे इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः । गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह ॥ ३ ॥

अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति—

**अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।**
**यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥**

अकामस्येति । लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया साप्यनिच्छतो न कदाचिद्दृश्यते । ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम् ॥ ४ ॥

संप्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—

**तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।**
**यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥**

तेषु सम्यग्वर्तमान इति । नात्रेच्छा निषिध्यते किंतु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते । बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलषितान्प्राप्नोति । तथा च छान्दोग्ये । स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि ॥ ५ ॥

इदानीं धर्मप्रमाणान्याह—

**वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।**
**आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥**

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति । वेद ऋग्यजुःसामार्थवलक्षणः स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम् । अर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात् । यदाह जैमिनिः । विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युर्मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम् । स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते । मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम् । वेदविदामिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम् । शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम् । तदाह हारीतः । ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता

अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं तु मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलं गोविन्दराजस्तु शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह । आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम् । तदाह गर्गः । वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम् ॥६॥

वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह—

**यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।**
**स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥**

यः कश्चिदिति । यः कश्चित्कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमानवेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान् । गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥ ७ ॥

**सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।**
**श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥**

सर्वं त्विति । सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत ॥ ८ ॥

**श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।**
**इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥**

श्रुतिस्मृत्युदितमिति । श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इह लोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकीं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति । अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ९ ॥

**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।**
**ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ १०**

श्रुतिस्त्विति । लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्वविधानार्थं स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबाधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम् । श्रुतिर्वेदः मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः ते उभे प्रतिकूलतर्कैर्न विचारयितव्ये यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो बभौ प्रकाशतां गतः ॥ १० ॥

**योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।**
**स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ११**

योऽवमन्येतेति । यः पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्यः । पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो माभूदिति विशेषयति । हेतुशास्त्राश्रयात् । वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिको यतो वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसंभवाद्वेदमूलता एव तन्त्रं न स्मृतिशीलादिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।**
**एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥**

वेद इति । वेदो धर्मप्रमाणं स क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्यानुमितः इत्येवं तात्पर्यं न तु प्रमाणपरिगणने अत एव श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममित्यत्र द्वयमेवाभिहितवान् । सदाचारः शिष्टाचारः स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः ॥ १२ ॥

**अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते ।**
**धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥**

अर्थकामेष्विति । अर्थकामेष्वसक्तानां अर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम् । ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिप्रत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः । धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः । प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः । अत एव जाबालः । श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।

अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता ॥ भविष्यपुराणेऽप्युक्तम् । श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना ॥ जैमिनिरप्याह । विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम् । श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्षं अप्रमाणं अनादरणीयम् । असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः ॥ १३ ॥

**श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।**
**उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥**

श्रुतिद्वैधं त्विति । यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ । तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः । यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ । समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्प इति प्रकृतोपयोगः । तुल्यबलत्वाविशेषात् । तदाह गौतमः । तुल्यबलविरोधे विकल्पः ॥ १४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

**उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।**
**सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥**

उदितेऽनुदिते चैवेति । सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः समयाध्युषितशब्देनोच्यते उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान् प्रविरलतारकोऽनुदितकालः परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगात् । यज्ञशब्दोऽत्र गौणः । उदिते होतव्यमित्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

**निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।**
**तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्**

निषेकादीति । गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः । तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः । एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेन इत्यत्र व्याख्यातम् ॥१६॥

धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—

**सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।**
**तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥**

सरस्वतीति । सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः । देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ प्राशस्त्यार्थौ ॥ १७ ॥

**तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।**
**वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८॥**

तस्मिन्देश इति । तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवात्तेषां ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

**कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।**
**एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥**

कुरुक्षेत्रमिति । मत्स्यादिशब्दा बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः । शूरसेनका मथुरादेशाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः ॥ १९ ॥

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥**

एतद्देश इति । कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

**हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।**
**प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥**

हिमवदिति । उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

**आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।**
**तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥**

आसमुद्रात्त्विति । आपूर्वसमुद्रात् आपश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति । मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ । तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता । आर्या अत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

**कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।**
**स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥**

कृष्णसारस्त्विति । कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्यः । अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ २३ ॥

**एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।**
**शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥२४॥**

एतानिति । अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्च एतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेरन् । शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥ २४ ॥

**एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।**
**संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥**

एषा धर्मस्येति । एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता । योनिर्ज्ञप्तिकारणं वेदोऽखिलो धर्ममूलमित्यादिना उक्तमित्यर्थः । गोविन्दराजस्त्विह धर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तत इति विद्वद्भिः सेवित इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वा पूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान् । संभवश्चोत्पत्तिर्जगत इत्युक्ता । इदानीं वर्णधर्मान्शृणुत । वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः । ते च भविष्यपुराणोक्ताः । वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् । वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥ वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥ प्राप्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते । स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जी या मेखला यथा ॥ यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते । यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपा-

लनम् ॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥ २५ ॥

**वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।**
**कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥**

वैदिकैरिति । वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रयोगादिकर्मभिः द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीरसंस्कारः कर्तव्यः । पावनः पापक्षयहेतुः प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसंबन्धात् । इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात् ॥ २६ ॥

कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—

**गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।**
**वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥**

गार्भैरिति । ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः । होमग्रहणमुपलक्षणं गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात् । जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म । चौडं चूडाकरणकर्म । मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम् । एतैर्वैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना च पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तत् द्विजातीनां अपमृज्यते ॥ २७ ॥

**स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।**
**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥**

स्वाध्यायेनेति । वेदाध्ययनेन व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैर्होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः सायंप्रातर्होमैश्च त्रैविद्याख्येन च व्रतेष्वप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः । इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया । गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः । यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते । कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः २८

**प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।**
**मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥**

प्रागिति । नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्राशनम् ॥२९॥

**नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।**
**पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥**

नामधेयमिति । जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसंभवे कारयेत् । अथवा अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयत इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम् । तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम् । वाशब्दोऽवधारणे ॥ ३० ॥

**मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।**
**वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥**

मङ्गल्यमिति । ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि ॥ ३१ ॥

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

**शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।**
**वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥**

शर्मवद्ब्राह्मणस्येति । एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रैष्यवाचकानि कर्तव्यानि शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि । उदाहरणानि तु शुभशर्मा बलवर्मा वसुभूतिः दीनदास इति । तथाच यमः । शर्मदेवश्च विप्रस्य वर्मत्राता च भूभुजः । भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् । विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् । शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् । गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२ ॥

**स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।**
**मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥**

स्त्रीणामिति । सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम् । यथा यशोदादेवीति ॥ ३३ ॥

**चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।**
**षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥**

चतुर्थे मासीति । चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम् । अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम् । तथा च यमः । ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् । सकलसंस्कारशेषश्चायं तेन नाम्नां शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥ ३४ ॥

**चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।**
**प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥**

चूडाकर्मेति । चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम् । श्रुतिचोदनात् । यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इवेति मन्त्रलिङ्गात्कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः अत एवाश्वलायनगृह्यम् । तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा ॥ ३५॥

**गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।**
**गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥**

गर्भाष्टम इति । गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम् । उपनयनमेवोपनायनम् । अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः । गर्भैकादशे क्षत्रियस्य गर्भद्वादशे वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

**ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।**
**राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥**

ब्रह्मवर्चसकामस्येति । वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम् । क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे । वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात् । यद्यपि बालस्य कामना न संभवति तथापि तत्पितुरेव तद्व्रतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते॥३७॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

आषोडशादिति । अभिविधावाङ् । ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् । षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थे वचनमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति । क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम् । वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम् । अत्र मर्यादायामाङ् केचिद्व्याख्यापयन्ति यमवचनदर्शनात् । तथा च यमः । पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च । ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ॥ प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः । विवस्वतः सुतः श्रीमान्यमो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः । हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा॥३८॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

अत ऊर्ध्वमिति । एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता व्रात्यसंज्ञा भवन्ति । संज्ञाप्रयोजनं च व्रात्यानां याजनं कृत्वेत्यादिना व्यवहारसिद्धिः॥३९॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्योनांश्च संबन्धान्नाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

नैतैरिति । एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्यादानादीन्संबन्धान्ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत् ॥ ४० ॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्वेण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

कार्ष्णरौरवबास्तानीति । कार्ष्ण इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषः रुरुसाहचर्यात् हारिणमैणेयं वा कार्ष्ण ब्राह्मणस्येत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते । कृष्णमृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्म-

चारिण उत्तरीयाणि वसीरन् । चर्माण्युत्तरीयाणीति गृह्यवचनात् । तथा शणक्षुमामेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन् ॥ ४१ ॥

**मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।**
**क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥**

मौञ्जीति । मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या । क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला अतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्त्वं नास्तीति मेधातिथिगोविन्दराजौ । वैश्यस्य शणसूत्रमयी । अत्र त्रैगुण्यं अनुवर्तत एव त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखला इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्

**मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।**
**त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥**

मुञ्जालाभे त्विति । कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानात् मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम् । कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरं भिन्नजातिसंबन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि बहुवचनपाठः संमतः । मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः । त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा । अत्र च वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण संबन्धः किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः । ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासंभवाद्गृहीतव्यः ॥ ४३ ॥

**कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।**
**शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥**

कार्पासमिति । यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञां वक्ष्यति तद्धर्मिब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्य शणसूत्रमयं वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम् । त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितं एतच्च सर्वत्र संबध्यते । यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तत्त्रिगुणीकृत्य त्रिगुणं कार्यम् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे । ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं

च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि गृहीतव्यानि । खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानीति गोतमवचनात् । उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानान्निरब्भक्षणमात्रमाचमनं खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यता इति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

**पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।**
**दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥**

पूजयेदशनमिति । सर्वदा अन्नं पूजयेत्प्राणार्थत्वेन ध्यायेत् । तदुक्तमादिपुराणे । अन्नं विष्णुःस्वयं प्राह इत्यनुवृत्तौ प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां संपूजयेत्सदा । अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्चेति । हेत्वन्तरमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत् । प्रतिनन्देन्नित्यमस्माकमेतदस्त्विति अभिधाय वन्दनं प्रतिनन्दनम् । तदुक्तमादिपुराणे । अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः । अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥ सर्वशः सर्वमन्नम् ॥ ५४ ॥

**पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।**
**अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥**

पूजितमिति । यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति । अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयति । तस्मात्सर्वदाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदम् । फलश्रवणं संध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहतानित्यश्रुतिविरोधात् । फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ५५ ॥

**नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।**
**न चैवाह्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥५६॥**

नोच्छिष्टमिति । भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात् चतुर्थ्यां प्राप्तायां संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी । अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे नोच्छिष्टं न हविष्कृतमिति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः । दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यात् । नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थं स्नातकव्रतार्थं उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत् ॥ ५६ ॥

अतिभोजने दोषमाह—

**अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।**
**अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥**

अनारोग्यमिति । अरोगो रोगाभावः तस्मै हितमारोग्यं आयुषे हितमायुष्यं यस्मादतिभोजनमनारोग्यमनायुष्यं च भवति । अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात् । अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात् । अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात् । लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात् । तस्मात्तन्न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

**ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।**
**कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥**

ब्राह्मेणेति । ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च न तु मुख्यं ब्रह्मदेवताकत्वं संभवति । अयागरूपत्वात् । तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद्ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत् । कः प्रजापतिस्तदीयस्तस्येदमित्यण् इकारश्चान्तादेशः । त्रैदशिको देवः ताभ्यां वा । पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत् । अप्रसिद्धत्वात् ॥५८॥

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

**अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।**
**कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥**

अङ्गुष्ठमूलस्येति । अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मं कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायं अङ्गुलीनामग्रे दैवं अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः । यद्यपि कायमङ्गुलिमूले तयोरध इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः । तथा च याज्ञवल्क्यः । कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च । प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

**त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।**
**खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥**

त्रिराचामेदिति । पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रयं पिबेत् ।

अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात् । संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखमिति दक्षेण विशेषाभिधानात् । खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेन्मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव । गोतमोऽप्याह । खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुष इति उपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत् ॥ ६० ॥

**अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।**
**शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्राग्उदङ्मुखः ॥ ६१ ॥**

अनुष्णाभिरिति । अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे शुचिदेश इत्यर्थः । प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाचामेत् । आपस्तम्बेन तप्ताभिश्च कारणादित्यभिधानाद्व्याध्यादिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत् । व्याधौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः । तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम् ॥ ६१ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

**हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।**
**वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ६२**

हृद्गाभिरिति । ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपिशूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति । अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः ॥६२

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसंगेन प्राचीनावीतीत्यादिलक्षणमाह—

**उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।**
**सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥**

उद्धृते इति । दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वा उपवीती द्विजः कथ्यते । वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते । सव्ये प्राचीन आवीतीति छन्दोऽनुरोधादुक्तम् । तथा च गोभिलः ।

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवति एवं यज्ञोपवीती भवति सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति । निवीती कण्ठसज्जन इति शिरोवधाय दक्षिणपाण्यांदावप्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जने ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति ॥ ६३ ॥

**मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।**
**अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥**

मेखलामिति । मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि स्वस्वगृह्योक्तमन्त्रैर्गृह्णीयात् ॥ ६४ ॥

**केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।**
**राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥**

केशान्त इति । केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो गर्भादिसंख्यावर्षाणामिति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य । क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे । वैश्यस्य ततो द्व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः ॥ ६५ ॥

**अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ॥**
**संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥**

अमन्त्रिकेति । इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समग्र उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः ॥ ६६ ॥

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

**वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।**
**पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥**

वैवाहिक इति । विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः । पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः । गृहकृत्यमेव सायंप्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या । तस्माद्विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति ॥ ६७ ॥

**एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।**
**उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥**

एष इति औपनायनिक इति अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । अयं द्विजातीनामुपनयनसंबन्धी कर्मकलाप उक्तः उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः ॥ ६८ ॥

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं शृणुत इत्याह—

**उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।**
**आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥**

उपनीय गुरुरिति । गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथममेका लिङ्गे गुदे तिस्र इत्यादि वक्ष्यमाणं शौचं स्नानाचमनाद्याचारमग्नौ सायंप्रातःसमिद्धोमानुष्ठानं समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत् ॥ ६९ ॥

**अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।**
**ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥७०॥**

अध्येष्यमाण इति । अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्त्रः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणा अध्याप्यः । प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वेति गोतमवचनात् प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम् । ब्रह्माञ्जलिकृत इति वाहिताग्न्यादिष्वित्यनेन कृतशब्दस्य परनिपातः ॥ ७० ॥

**ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।**
**संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥**

ब्रह्मारम्भेऽवसाने चेति । वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम् । हस्तौ संहत्य संश्लिष्टौ कृत्वाध्येतव्यं स एव ब्रह्माञ्जलिः स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकरः ॥ ७१ ॥

**व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।**

व्यत्यस्तपाणिनेति । पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तं तद्व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते ।

कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह—

**सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥**

सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टव्यः । उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम् । यदाह पैठीनसिः । उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् । दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्ट-समाचारात् ॥ ७२ ॥

**अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।**
**अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥७३॥**

अध्येष्यमाणमिति । अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुरधीष्व भो इति प्रथमं वदेत् । शेषे विरामोऽस्त्वित्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत ॥ ७३ ॥

**ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।**
**स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥**

ब्रह्मणः प्रणवमिति । ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ चोंकारं कुर्यात् । यस्मात्पूर्वं यस्योंऽकारो न कृतस्तत्स्रवति शनैः-शनैर्नश्यति । यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यति अवस्थितिमेव न लभते ॥ ७४ ॥

**प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।**
**प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥**

प्राक्कूलानिति । प्राक्कूलान्प्राग्ग्रान्दर्भानध्यासीनः पवित्रैः कुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृतः प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्रा इति गोतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभिः प्राणायामैः प्रयतः अकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा ततोऽध्ययनार्थमोंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

**अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।**
**वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥**

अकारं चेति । एतदक्षरमेतां चेति वक्षति तस्यायं शेषः ।

अकारमुकारं मकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयाद्ऋग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयं च क्रमेण निरदुहत् उद्धृतवान् ७६

**त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।**
**तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ७७**

त्रिभ्य एवेति । तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्यः । ऋग्यजुःसामभ्यः । तदित्यृच इति प्रतीकेनानुदितायाः सावित्र्याः । पादं पादमिति त्रीन्पादान्ब्रह्मा चकर्ष । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी ॥ ७७ ॥

**एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।**
**संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥**

यत एवमतः एतदक्षरमिति । एतदक्षरमोंकाररूपं एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिर्वेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति अतः संध्याकाले प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ७८ ॥

**सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।**
**महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥**

सहस्रकृत्व इति । संध्यायामन्यत्र काले एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रयसावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कञ्चुकान्मुच्यते । तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम् । अन्यत्रैतत्त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ॥ ७९ ॥

**एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।**
**ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥**

एतयर्चेति । संध्यायामन्यत्र समये ऋचैतया सावित्र्या विसंयुक्तस्त्यक्तसावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायंप्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रियां च न त्यजेत् ॥ ८० ॥

**ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।**
**त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥**

ओंकारपूर्विकेति । ओंकारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयः भूर्भुवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययास्त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम् । तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात् । अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतदध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः ॥ ८१ ॥

अत एवाह—

**योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।**
**स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥**

योऽधीत इति । यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते । खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशाद्ब्रह्मैव संपद्यते ॥ ८२ ॥

**एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।**
**सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ८३**

एकाक्षरमिति । एकाक्षरमोंकारः परब्रह्म परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात् । ओंकारस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः । प्राणायामाः सप्रणवसव्याहृतिसशिरस्कगायत्रीभिः त्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः । प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशात्त्रयोऽवश्यं कर्तव्या इत्युक्तम् । सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यन्मन्त्रजातं नास्ति । मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते । एषां चतुर्णां स्तुत्या चत्वार्येतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते । धरणीधरेण तु । एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तप इति पठितं व्याख्यातं च । एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैरलिखितं यतः लिखनात्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः ॥८३॥

**क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः ।**
**अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥**

क्षरन्तीति । सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूप-

तः फलतश्च विनश्यन्ति । अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात् ।

कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह । ब्रह्म चैवेति । चशब्दो हेतौ यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद्ब्रह्म तदेवायमोंकारः स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वं उभयथापि ब्रह्मत्वेन प्रतिपादकत्वेन वायमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम् ॥ ८४ ॥

**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।**
**उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥८५॥**

विधियज्ञादिति । विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः । जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानसः ॥ ८५ ॥

**ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।**
**सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥**

ये पाकयज्ञा इति । ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः विधियज्ञा दर्शपौर्णमासादयः तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति । जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

**जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।**
**कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥**

जप्येनैवेति । ब्राह्मणो जप्येनैव निःसंदेहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति । अन्यद्वैदिकं यागादिकं करोतु न करोतु वा यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणः । ब्रह्मणः संबन्धी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः स्वार्थेऽण् । यागादिषु पशुबीजादिवधान्न सर्वप्राणिप्रियतां संभवति तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निरस्त इति जपप्रशंसा न तु यागादीनां निषेधः । तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥ ८७ ॥

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

**इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।**
**संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥**

इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षयित्वादिविषयदोषाज्ञानन्संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वानाम् ॥ ८८ ॥

**एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।**
**तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥**

एकादशेति । पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि ॥ ८९ ॥

**श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।**
**पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥**

श्रोत्रमिति । तेषु एकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि । पायूपस्थं हस्तपादमिति । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानामिति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भवः ॥ ९० ॥

**बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।**
**कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥**

बुद्धीन्द्रियाणीति । एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वाद्बुद्धीन्द्रियाणि । पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति ॥ ९१ ॥

**एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।**
**यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥९२॥**

एकादशमिति । एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम् । स्वगुणेन संकल्परूपेण उभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपमत एव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः । पञ्चकाविति तदस्य परिमाणमित्यनुवृत्तौ संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेष्विति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः९२

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रिय-निग्रहः कर्तव्य इत्यत आह—

**इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।**
**संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥**

इन्द्रियाणामिति । यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ्नियम्य सिद्धिं मोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते । तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥**

न जात्विति । न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषयाः तेषामुपभोगेन निवर्तते किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते । प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अत एव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम् । यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥ तथा । पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः । तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते ॥ ९४ ॥

**यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।**
**प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥**

यश्चैतानिति । य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयांस्तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्या । तथाहि विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादने कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो न तु विषयविरसस्य ॥ ९५ ॥

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह—

**न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।**
**विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥**

न तथेति । एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते । दुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूलमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत् ॥ ९६ ॥

यस्मादनियमितं मनो विकारस्य हेतुः स्यादत आह—

**वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।**
**न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥**

वेदा इति । वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

**श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।**
**न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ९८**

श्रुत्वेति । स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा सुखस्पर्शं दुकूलादि दुःखस्पर्शं मेषकम्बलादि स्पृष्ट्वा सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा सुरभिमसुरभिं च घ्रात्वा यस्य न हर्षविषादौ स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः ॥ ९८ ॥

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

**इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।**
**तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥**

इन्द्रियणां त्विति । सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषयप्रवणं भवति ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानं क्षरति न व्यवतिष्ठते चर्मनिर्मितोदकपात्रादिवैकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ ९९ ॥

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

**वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।**
**सर्वान्संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥**

वशे कृत्वेति । बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान्पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत् । योगत उपायेन स्वदेहमपीडयन्यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते स क्रमेण तं त्यजेत् ॥ १०० ॥

**पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।**
**पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥**

पूर्वां संध्यामिति । पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत् । आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात् । पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपन्सम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात् । अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानं स्थानासनं त्वङ्गे । फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् । संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते । सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य इति च पूर्वं जपात्फलमुक्तम् । मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह । संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रं तदाह योगी याज्ञवल्क्यः । ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम् । संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥ १०१ ॥

**पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।**
**पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् १०२**

पूर्वां संध्यामिति । पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति । पश्चिमसंध्यायां तु उपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति । तत्रापि जपात्फलमुक्तम् । एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम् । अत एव याज्ञवल्क्यः । दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् । त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति १०२

**न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।**
**स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥**

न तिष्ठतीति । यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति पश्चिमां तु नोपास्ते तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः । स शूद्र इव सर्वस्माद्द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः । अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता । नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम् ॥१०३॥

**अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।**
**सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ १०४॥**

अपां समीप इति। ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासुः सावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्तामधीयीत॥ १०४॥

**वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।**
**नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥१०५॥**

वेदोपकरण इति। वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति॥

**नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।**
**ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ १०६॥**

नैत्यक इति। पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः। नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति। यतः सततभवत्वात्। ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम्। ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्याहुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति॥ १०६॥

**यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।**
**तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ १०७॥**

यः स्वाध्यायमिति। अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पितॄंश्च प्रीणाति। ते च प्रीताः सर्वकामैर्जपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अत एव याज्ञवल्क्यः। मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः। पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहमित्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च। देवपितृतृप्तिमुक्त्वा शेषे। ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैरित्युक्तवान्॥ १०७॥

**अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।**
**आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥**

अग्नीन्धनमिति । सायंप्रातः समिद्धोमं भिक्षासमूहाहरणमखट्वाशयनरूपामधःशय्यां न तु स्थण्डिलशायित्वमेव गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् १०८

कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

**आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।**
**आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥**

आचार्यपुत्रः परिचारकः ज्ञानान्तरदाता धर्मवित् मृद्वार्यादिषु शुचिः बान्धवः ग्रहणधारणसमर्थः धनदाता हितेच्छुः ज्ञातिः दशैते धर्मेणाध्याप्याः ॥ १०९ ॥

**नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।**
**जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥**

नापृष्ट इति । यद्यन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेच्छिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यं भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनमन्यायः तेन पृच्छतो न ब्रूयात् । जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत् ॥ ११० ॥

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

**अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।**
**तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥**

अधर्मेणेति । अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ॥ १११ ॥

**धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।**
**तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥**

धर्मार्थाविति । यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वाध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया । सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे ।

यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति स उषरः । न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयं यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात् ॥ ११२ ॥

**विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।**
**आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ११३**

विद्ययेति । विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यं न तु सर्वथाध्यापनयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत् । तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् । विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत् ॥ ११३ ॥

अस्यानुवादमाह—

**विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।**
**असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥११४॥**

विद्या ब्राह्मणमिति । विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्य एवमवदत्तवाहं निधिरस्मि मां रक्ष असूयकादिदोषवते न मां वदेः तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम् । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणम् । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय अनर्हते मानिने नैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मीति ११४

**यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।**
**तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥११५॥**

यमिति । यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद ॥ ११५ ॥

**ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।**
**स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥**

ब्रह्मेति । यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥ ११६ ॥

**लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।**
**आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७॥**

लौकिकमिति । लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानं वैदिकं वेदार्थज्ञानं आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं यस्मात्तु गृह्णाति तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत् । लौकिकादिज्ञानदातृणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम् ॥ ११७ ॥

**सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।**
**नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥**

सावित्रीति । सावित्रीमात्रवेत्तापि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितः विप्रादिर्मान्यः । नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्तापि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च । एतच्च प्रदर्शनमात्रम् । सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ ११८ ॥

**शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।**
**शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥**

शय्येति । शय्या च आसनम् च शय्यासनं जातिरप्राणिनामिति द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्मिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत । स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥ ११९ ॥

अस्यार्थवादमाह—

**ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।**
**प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१२०॥**

ऊर्ध्वमिति । यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वं उत्क्रामन्ति देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान्करोति तस्माद्वृद्धस्य प्रत्युत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥ १२० ॥

इतश्च फलमाह—

**अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।**
**चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् १२१**

अभिवादनशीलस्येति । उत्थाय सवर्दा वृद्धाभिवादनशीलस्य

वृद्धसेविनश्च आयुःप्रज्ञायशोबलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते ॥ १२१ ॥

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

**अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।**
**असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् १२२**

अभिवादात्परमिति । वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परं अभिवादये इति शब्दोच्चारणानन्तरममुकनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेदतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति मेधातिथिगोविन्दराजयोरभिधानमप्रमाणम् । अत एव गोतमः । स्वनाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत् । साङ्ख्यायनोऽप्यसावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेदित्युक्तवान् । यदि च नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम् ॥ १२२ ॥

**नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।**
**तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च १२३**

नामधेयस्येति । नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाभिवादनमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्य शक्तिविज्ञोऽभिवादयिताभिवादयेऽहमित्येवं ब्रूयात् । स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात् ॥ १२३ ॥

**भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।**

भोः शब्दमिति । अभिवादने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसंबोधनार्थम् ।

अत एवाह—

**नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः १२४**

नाम्नामिति । भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्यनाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभिः स्मृतः तस्मादेवमभिवादनवाक्यमभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः ॥ १२४ ॥

**आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।**
**अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः १२५**

आयुष्मानिति । अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिरायुष्मान्भव सौम्येति वाच्यः । अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्स प्लुतः कार्यः । स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्नि संभवति । पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य पूर्वाक्षरः तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः । एतच्च वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त इत्यस्यानुवृत्तौ प्रत्यभिवादेऽशूद्र इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान् । व्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन । टेरिति किं व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यादिति । तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन् एवं क्षत्रियस्य बलवर्मन् एवं वैश्यस्य वसुभूते प्लुतो राजन्यविशां वेति कात्यायनवचनात् क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति । शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः । अशूद्र इति पाणिनिवचनात् । स्त्रियामपि निषेध इति कात्यायनवचनात् । स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न प्लुतः । गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये आयुष्मन् भव सौम्य भद्र इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति । धरणीधरोऽपि आयुष्मन् भव सौम्येति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नपि असंबुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मा इत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव ॥ १२५ ॥

**यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।**
**नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥**

यो न वेत्तीति । यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानाति असावभिवादनविदुषापि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः । अभिवादयेऽहमिति शब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम् । प्रागुक्तत्वात् ॥ १२६ ॥

**ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।**
**वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥**

ब्राह्मणमिति । समागम्य समागमे कृते अभिवादकमवरवयस्कं समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलं क्षत्रियमनामयं वैश्यं क्षेमं शूद्रमारोग्यं पृच्छेत् । अत एवापस्तम्बः । कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत् । अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यं आरोग्यं शूद्रम् । अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपीति मन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयतिस्म । गोविन्दराजस्तु प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह तन्नाभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात् । समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसंगात् । अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम् ।

**अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।**
**भो भवत्पूर्वकं तेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥**

अवाच्य इति । प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातः प्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत । भो दीक्षित इदं कुरु भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति १२८

**परपत्नी तु या स्त्रीस्यादसंबन्धा च योनितः ।**
**तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥**

परपत्नी त्विति । या स्त्री परपत्नी भवति असंबन्धा च योनित इति स्वस्रादिर्न भवति तामुपयुक्तसंभाषणकाले भवति सुभगे भगिनीति वा वदेत् । परपत्नीग्रहणात्कन्यायां नैष विधिः । स्वसुः कन्यादेस्त्वायुष्मतीत्यादिपदैरभिभाषणम् ॥ १२९ ॥

**मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।**
**असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥**

मातुलांश्चेति । मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय असावहमिति वदेत् नाभिवादयेत् । असाविति स्वनामनिर्देशः । भूयिष्ठाः खलु गुरव इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि संभवात्तद्विषयोऽयं गुरुशब्दः ॥ १३० ॥

**मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।**
**संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥**

मातृष्वसेति । मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्या अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति । समास्ता इत्यवोचत् । गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

**भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।**
**विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥१३२॥**

भ्रातुर्भार्येति । भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या । अहन्यहनि प्रत्यहमेव । अपिरेवार्थे । ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः संबन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः न तु प्रत्यहं नियमः ॥ १३२ ॥

**पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।**
**मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥**

पितुर्भगिन्यामिति । पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेत् । माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा । ननु मातृष्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते । इदमेव माता ताभ्यो गरीयसीति । तेन पितृष्वस्रानुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति । अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम् । अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यते इत्यपुनरुक्तिः ॥ १३३ ॥

**दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।**
**त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥१३४॥**

दशाब्दाख्यमिति । दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम् । अयमर्थः एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानां एकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते । पुरग्रहणं प्रद-

र्शनार्थं तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात् । गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यं श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तं सपिण्डेषु अत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यं अपिरेवार्थे सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः ॥ १३४ ॥

**ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।**
**पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥१३५॥**

ब्राह्मणमिति । दशवर्षं ब्राह्मणं शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात् । तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः ॥ १३५ ॥

**वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।**
**एतानी मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥**

वित्तमिति । वित्तं न्यायार्जितं धनं बन्धुः पितृव्यादिः वयोऽधिकवयस्कता कर्म श्रौतं स्मार्तं च विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानं एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम् ॥ १३६ ॥

**पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।**
**यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः १३७**

पञ्चानामिति । त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरस्मादपि मान्यः । तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः । एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः । वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः । गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः । शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः । शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥ १३७ ॥

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसंगादुच्यते—

**चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।**
**स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥**

चक्रिण इति । चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य नवत्यधिकवयसो रोगार्तस्य भारपीडितस्य स्त्रियाः अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य देशाधिपस्य विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः । त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी ॥ १३८ ॥

**तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।**
**राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥**

तेषामिति । तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ । राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः । अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः । क्षत्रियजात्यपेक्षया ब्राह्मणं दशवर्षं स्त्रित्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानात् । स्नातकग्रहणवैयर्थ्यात् ॥ १३९ ॥

आचार्यादिशब्दार्थमाह—

**उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।**
**सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥**

उपनीयेति । तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात् । यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसंहितां वेदाख्यां सर्वामध्यापयति तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति । कल्पो यज्ञविद्या रहस्यमुपनिषत् । वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः ॥ १४० ॥

**एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।**
**योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥१४१॥**

एकदेशमिति । वेदस्यैकदेशं मन्त्रब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीनि अङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपाध्याय उच्यते १४१

**निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।**
**संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥**

निषेकादीनीति । निषेको गर्भाधानं तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः । गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

**अध्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।**
**यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥१४३॥**

अध्याधेयमिति । आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्म अध्याधेयं अष्टकादीन्पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति स तस्य ऋत्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते । ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमपि ऋत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि । मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसंगादुक्तम् ।

**य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।**
**स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥१४४॥**

य आवृणोतीति । य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति स माता पिता च ज्ञेयः । महोपकारकत्वगुणयोगात् । अयमध्यापको मातापितृशब्दवाच्यस्तन्नापकुर्यात्कदाचनेति गृहीते वेदे ॥ १४४ ॥

**उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।**
**सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ १४५ ॥**

उपाध्यायानिति । दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः । आचार्यशतमपेक्ष्य पिता । सहस्रं पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति । अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतः तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः । उत्पादकब्रह्मदात्रोरित्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्य उत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः ॥ १४५ ॥

**उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।**
**ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥१४६॥**

उत्पादकेति । जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ । जन्मदातृत्वात् । तयोराचार्यः पिता गुरुतरः । यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनजन्मसंस्काररूपं परलोके इहलोके च शाश्वतं नित्यम् । ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥ १४६ ॥

**कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।**
**संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१४७॥**

कामादिति । मातापितरौ यदेनं बालकं कामवशेनान्योन्यं उत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणं यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायते अङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ॥ १४७ ॥

**आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।**
**उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा १४८**

आचार्य इति । आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजरा अमरा । ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात् । उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् १४८

**अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।**
**तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥**

अल्पं वेति । श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात् । श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया ॥ १४९ ॥

**ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।**
**बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥**

ब्राह्मस्येति । ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनं स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति । धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्ननुष्ठातव्याः ॥ १५० ॥

**अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।**
**पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥**

अध्यापयामासेति । अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितॄन् गौणान् पितृव्यतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान् । तान् ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान् कृत्वा पुत्रका इति आजुहाव इति । ह इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम् ॥ १५१ ॥

**ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।**
**देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् १५२**

ते तमर्थमपृच्छन्त इति । ते पितृतुल्याः पुत्रका इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः । देवाश्च पृष्टा एतानवोचन् युष्मान् यत् शिशुः पुत्रशब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम् ॥ १५२ ॥

**अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।**
**अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥**

अज्ञ इति । वैशब्दोऽवधारणे । अज्ञ एव बालो भवति न त्वल्पवयाः । मन्त्रदः पिता भवति । मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थं यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे स पिता ॥ १५३ ॥

अत्रैव हेतुमाह । यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं बालमित्यूचुः मन्त्रदं च पितेत्येवाब्रुवन्नित्याह—

**न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।**
**ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् १५४**

न हायनैरिति । न बहुभिर्वर्षैर्न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः न बहुना धनेन न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति किंतु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् सत्यतः ॥ १५४ ॥

**विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।**
**वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥**

विप्राणामिति । ब्राह्मणानां विद्यया क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन शूद्राणामेव पूर्वजन्मना श्रेष्ठत्वम् । सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ॥ १५५ ॥

**न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।**
**यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥**

न तेनेति । न तेन वृद्धो भवति येनास्य शुक्लकेशं शिरः किंतु युवापि सन्विद्वांस्तं देवाः स्थविरं जानन्ति ॥ १५६ ॥

**यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।**
**यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१५७॥**

मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः । रहस्यमुपनिषदः प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः १६५ ॥

**वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।**
**वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥**

वेदमेवेति । यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तं तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते । तपस्तप्स्यन् चरिष्यन्द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत् । तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते ॥ १६६ ॥

**आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।**
**यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्**

आहैवेति । स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम् । हशब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः । स द्विज आनखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते । यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते । स्रग्वी अपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति । तप्यत इति तपस्तपःकर्मकस्यैवेति यणात्मनेपदे भवतः ॥ १६७ ॥

**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।**
**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥**

योऽनधीत्येति । यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति । वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः । अत एव शङ्खलिखितौ । न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः ॥ १६८ ॥

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

**मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।**
**तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥१६९॥**

मातुरग्रे इति । मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म द्वितीयं मौञ्जिबन्धने उपनयने । ङ्याप्पोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति ह्रस्वः । तृतीयं

ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात् । तथा च श्रुतिः । पुनर्वा यद्दत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्तीति प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् ॥ १६९ ॥

**तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।**
**तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते १७०**

तत्रेति । तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म उपनयनसंस्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता आचार्यश्च पिता मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः ॥ १७० ॥

**वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।**

वेदप्रदानादिति । वेदाध्ययनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति । पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम् ॥

महोपकारमेव दर्शयति—

**न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् १७१**

न ह्यस्मिन्निति । यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किंचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न संबद्ध्यते न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

**नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।**
**शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥**

नाभिव्याहारयेदिति । आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते । प्रागुपनयनाद्वेदं नोच्चारयेत् । स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते । निनीयते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रं नोच्चारयेत् । तव्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत् यस्माद्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥ १७२ ॥

**कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।**
**ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥**

कृतोपनयनस्येति । यस्मादस्य माणवकस्य समिधमाधेहि दिवा मास्वाप्सीरित्यादिव्रतादेशनं वेदस्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाध्येष्य-

वेदयज्ञैरिति । वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्नभिक्षामाहरेत् ॥ १८३ ॥

**गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।**
**अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥**

गुरोः कुल इति । आचार्यस्य सपिण्डेषु बन्धुषु च मातुलादिषु न भिक्षेत् । तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत् । ततश्च प्रथमं बन्धून् भिक्षेत । तत्रालाभे ज्ञातीन् । तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन् भिक्षेत ॥ १८४ ॥

**सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।**
**नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥**

सर्वं वेति । पूर्वं वेदयज्ञैरहीनानामित्यनेनोक्तासंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत् । महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत् ॥ १८५ ॥

**दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।**
**सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥**

दूरादिति । दूरादिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत् । ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥ १८६ ॥

**अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।**
**अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥**

अकृत्वेति । भिक्षाहारं सायंप्रातः समिद्धोममरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति । ततश्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् १८७

**भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।**
**भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥**

भैक्षेणेति । ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाद्धृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत् । यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

व्रतवदिति । पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः । देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी व्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत । अथ पित्रुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थो वैदग्ध्येनोक्तः तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति । याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह । ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि । ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन्निति । विश्वरूपेण तु व्रतमस्य न लुप्यत इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

ब्राह्मणस्यैवेति । ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानाद्व्रतवदित्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते तदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितं क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

चोदित इति । आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु च उद्योगं कुर्यात् ॥ १९१ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

शरीरं चेति । देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेत् नोपविशेत् ॥ १९२ ॥

**नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।**
**आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः १९३**

नित्यमिति । सततमुत्तरीयाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः शोभनाचारो वस्त्रावृतदेह आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत ॥ १९३ ॥

**हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।**
**उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥**

हीनान्नवस्त्रेति । सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्ववकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत ॥ १९४ ॥

**प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।**
**नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः १९५**

प्रतिश्रवणेति । प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणं संभाषणं च गुरोः शय्यायां सुप्तः आसनोपविष्टो भुञ्जानस्तिष्ठन्विमुखश्च न कुर्यात् १९५

कथं तर्हि कुर्यात्तदाह—

**आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।**
**प्रत्युद्गम्य त्वव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥**

आसीनस्येति । आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा यथा गुरुरागच्छति तथाप्यभिमुखं गत्वा यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥ १९६ ॥

**पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।**
**प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥**

पराङ्मुखस्येति । पराङ्मुखस्य वादिशतः संमुखस्थो दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य शयानस्य गुरोः प्रणम्य प्रह्वो भूत्वा निदेशे निकटे अवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥ १९७ ॥

**नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।**
**गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥**

नीचमिति । यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात् ॥ १९८ ॥

**नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।**
**न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥**

नोदाहरेदिति । अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत् । न तु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत । गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुद्धया न कुर्वीत ॥ १९९ ॥

**गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।**
**कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः२००**

गुरोर्यत्रेति । विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा । यत्र देशे गुरोः परीवादो निन्दा च वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ तस्माद्वा देशादेशान्तरं गन्तव्यम् ॥ २०० ॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

**परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।**
**परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी २०१**

परीवादादिति । गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति परिभोक्ता अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति कीटः कृमिभ्यः स्थूलो भवति ॥ २०१ ॥

**दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।**
**यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥**

दूरस्थ इति । दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्यमानो वस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत् । स्वयं गमनाशक्तौ त्वदोषः । क्रुद्धः कामिनीसमीपे च

स्थितं स्वयमपि नार्चयेत् । यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत् । यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः ॥ २०२ ॥

**प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।**
**असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥**

प्रतिवात इति । प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति स प्रतिवातः यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः तत्र गुरुणा समं नासीत । तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे गुरुर्यत्र न शृणोतीत्यर्थः तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित्कथयेत् ॥ २०३ ॥

**गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्तरेषु कटेषु च ।**
**आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥**

गो इति । यानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते बलीवर्दयाने घोटकप्रयुक्ते याने उष्ट्रयुक्तयाने रथकाष्ठादौ प्रासादोपरि स्तरे कटे च तृणादिनिर्मिते शिलायां फलके च दारुघटितदीर्घासने नौकायां च गुरुणा सह आसीत ॥ २०४ ॥

**गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।**
**न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥**

गुरोर्गुराविति । आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नपि अभिवादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत् । तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृव्यादीनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

**विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।**
**प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥**

विद्येति । आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्याया विद्यागुरवः तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः किं तदाचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया । तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः । अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम् ॥ २०६ ॥

**श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।**
**गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥**

श्रेयःसु विद्यातपःसमृद्धेषु आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम् । समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठेत् । गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः । शिष्यबालसमानवयसां अनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०७ ॥

**बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।**
**अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥**

बाल इति । कनिष्ठः सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयन्नध्यापनसमर्थो गृहीतवेद इत्यर्थः । स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति ॥ २०८ ॥

आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह—

**उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।**
**न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥**

उत्सादनमिति । गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनं उच्छिष्टस्य भक्षणं पादयोश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥ २०९ ॥

**गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।**
**असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥२१०॥**

गुरुवदिति । सवर्णा गुरुपत्न्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः । असवर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

**अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।**
**गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् २११**

अभ्यञ्जनमिति । तैलादिना देहाभ्यङ्गस्नापनं गात्राणां चोद्वर्तनं केशानां च मालादिना प्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि । केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥

**गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।**
**पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥**

गुरुपत्नी त्विति । युवती गुरुपत्नी पादयोरुपसंगृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या । पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम् । बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम् । यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति ॥ २१२ ॥

**स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।**
**अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥**

स्वभाव इति । स्त्रीणामयं स्वभावः यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम् । अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति ॥ २१३ ॥

**अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।**
**प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥**

अविद्वांसमिति । विद्वानहं जितेन्द्रिय इति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः । यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः ॥ २१४ ॥

अत आह—

**मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।**
**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥**

मात्रेति । मात्रा भगिन्या दुहित्रा निर्जनगृहादौ नासीत । यतोऽतिबल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥

**कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।**
**विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥**

कामं त्विति । कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिनाभिवादयेऽमुकशर्माहं भोरिति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टमभिवादनं कुर्यात् ॥ २१६ ॥

**विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।**
**गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥**

विप्रोष्येति । प्रवासादागत्य सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिण-

मित्युक्तविधिना पादग्रहणं प्रत्यहं च भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात् । शिष्टानामयमाचार इति जानन्तु ॥ २१७ ॥

उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह—

**यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।**
**तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥**

यथेति । यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनञ्जलं प्राप्नोति एवं स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति ॥ २१८ ॥

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह—

**मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।**
**नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् २१९**

मुण्डो वेति । मुण्डितमस्तकः शिरःकेशो जटावान्वा शिखैव वा जटा जाता यस्य वा परे शिरः केशा मुण्डिताः तथा वा भवेत् एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिद्ग्रामे निद्राणं उत्तरत्र शयानमिति दर्शनात्सूर्योऽभिनिम्लोचेन्नास्तमियात् ॥ २१९ ॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

**तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।**
**निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥**

तं चेदिति । तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत । अभिनिर्मुक्तस्य उत्तरेऽहनि उपवासजपौ । अभिरभाग इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । सावित्रीजपं तु गोतमवचनात् । तदाह गोतमः । सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेत् अहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम् । ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिनाभोजनजपावुक्तौ अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ नैतदपेक्षायां व्याख्यासंदेहे वा मुन्यन्तरविवृतमन्वर्थमन्वयमाह न तु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः । अत एव जपापेक्षायां गोतमवचनात्सावित्रीजपमभ्युपेय एव न तूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगोतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ २२० ॥

अस्य तु प्रायश्चित्तविधेः प्रायश्चित्तमाह—

**सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।**
**प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१॥**

सूर्येणेति । यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन्महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात् । यस्मादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापमतः ॥ २२१ ॥

**आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।**
**शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥**

आचम्येति । आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुभे संध्ये विधिवदुपासीत ॥ २२२ ॥

**यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।**
**तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥**

यदीति । यदि स्त्री शूद्रो वा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति तदपि कुर्यात् ॥ २२३ ॥

श्रेय एव हि धर्मार्थौ तद्दर्शयति—

**धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।**
**अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥२२४॥**

धर्मार्थाविति । धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते । अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते । धर्म एवेत्यपरे । अर्थकामयोरप्युपायत्वात् । अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये । धर्मकामयोरपि साधनत्वात् । संप्रति स्वमतमाह । धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः । एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून्मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते ॥ २२४ ॥

**आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।**
**माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः २२५**

आचार्य इति । आचार्यो दान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः शरीरं पिता हिरण्यगर्भस्य माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रस्य तस्मादेवतारूपा एता नावमन्तव्याः ॥ २२५ ॥

**आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।**
**नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥**

आचार्यश्चेति । आचार्यो जनको जननी च भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनापि अमी नावमाननीयाः विशेषतो ब्राह्मणेन यस्मात् ॥२२६॥

**यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।**
**न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२२७॥**

यमिति । नृणामपत्यानां संभवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्लेशं मातापितरौ सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम् । मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुःखं प्रसववेदनातिशयो जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितुरधिकान्येव रक्षासंवर्धनदुःखं उपनयनात्प्रभृतिवेदतदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धं तस्मात् ॥ २२७ ॥

**तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।**
**तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥**

तयोर्नित्यमिति । तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पादयेत् । यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्टयैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि ॥ २२८ ॥

**तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।**
**न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥**

तेषामिति । तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं इत एव सर्वतपःफलप्राप्तेर्यद्यन्यमपि धर्मं कथंचित्करोति तदप्येतत्त्रयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात् ॥ २२९ ॥

**त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।**
**त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥**

त एवेति । यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः लोकत्रय-प्राप्तिहेतुत्वात् । ये कारणे कार्योपचाराः त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रय आश्रमाः । गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात् । त एव त्रयो वेदाः । वेदत्रयजपफलोपायत्वात् । त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहितास्त्रेतासं-पाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात् ॥ २३० ॥

**पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।**
**गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥**

पितेति । वैशब्दोऽवधारणे । पितैव गार्हपत्योऽग्निः माता दक्षि-णाग्निः आचार्य आहवनीयः सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः ॥ २३१ ॥

**त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।**
**दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥**

त्रिष्विति । एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जपत्येव गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते । संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्य-त्वान्न विपराभ्यां जेरित्यात्मनेपदम् । त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वा-धिपत्यं प्राप्नोति । तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिवि हृ-ष्टो भवति ॥ २३२ ॥

**इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।**
**गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥**

इममिति । इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षं आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेवं प्राप्नोति ॥ २३३ ॥

**सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।**
**अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः २३४**

सर्वे इति । यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः सत्कृतास्त-स्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥ २३४ ॥

**यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।**
**तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥**

यावदिति । ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत् । तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राग्विहितमेव किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां तदर्थं प्रीतिसाधनं प्रियं भेषजपानादिवत् । आपत्त्यामिष्टसाधनं हितम् ॥ २३५ ॥

**तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।**
**तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥**

तेषामिति । तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

**त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।**
**एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥**

त्रिष्विति । इतिशब्दः कार्त्स्न्ये हिशब्दो हेतौ । यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु सर्वं श्रौतस्मार्तं कर्तव्यं संपूर्णमनुष्ठितं भवति । तत्फलावाप्तेस्तस्मादेव स्पष्टो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुषार्थसाधनः अस्याग्निहोत्रादिप्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मो जघन्यधर्म इति शुश्रूषास्तुतिः ॥ २३७ ॥

**श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।**
**अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥**

श्रद्दधान इति । श्रद्धायुक्तः शुभां दृष्टशक्तिं गारुडादिविद्यां अवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात् । अन्त्यश्चाण्डालः तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्तचाण्डालजन्मतः परं धर्मं मोक्षोपायमाददीत । तथा अज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे प्राप्यज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता । मेधातिथिस्तु श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः । धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते । यदि चाण्डालोऽप्यत्र प्रदेशे मा चिरं स्था मा वास्मिन्नम्भसि

स्नाया इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत् । प्रागलभ्याल्लौकिकं वस्तु परं धर्ममिति ब्रुवन् । चित्रं तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम् । स्त्रीरत्नं आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात् २३८

**विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।**
**अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥**

विषादिति । विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य तस्मादमृतं ग्राह्यम् । बालादपि हितवचनं ग्राह्यं शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तं अमेध्यादपि सुवर्णादिकं गृहीतव्यम् ॥ २३९ ॥

**स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।**
**विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः २४०**

स्त्रिय इति । अतस्त्र्यादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानं यथा स्त्र्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलिखनादीनि सर्वतः प्रतिगृहीतव्यानि ॥ २४० ॥

**अब्राह्मणाद्ध्ययनमापत्काले विधीयते ।**
**अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥**

अब्राह्मणादिति । ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासंभवे ब्रह्मचारिणो विधीयते । अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या । गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषा प्रशस्ता सा न कार्या। तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितं गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः । मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना । प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः ॥ २४१ ॥

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्यापि अब्राह्मणाद्ध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधयति—

**नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।**
**ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२४२॥**

नाब्राह्मण इति । आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतरि अनुत्तमां गतिं मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

**यदि स्यात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।**
**युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥**

यदीति । यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचार्यर्थकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत् ॥ २४३ ॥

अस्य फलमाह—

**आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।**
**स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् २४४**

आसमाप्तेरिति । समाप्तिः शरीरस्य जीवनत्यागः तत्पर्यन्तं यो गुरुं परिचरति स तत्त्वतो ब्रह्मणः सद्मरूपमविनाशि प्राप्नोति । ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः ॥ २४४ ॥

**न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।**
**स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥**

न पूर्वमिति । उपकुर्वाणस्यायं विधिः । नैष्ठिकस्य स्नानासंभवात् । गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किंचिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात् । यदि तु यदृच्छातो लभते तदा गुरवे दद्यादेव अत एव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः । यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतमिति । स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात् ॥ २४५ ॥

किं तत्तदाह—

**क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।**
**धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् २४६**

क्षेत्रमिति । शक्त्या गुर्वर्थमाहरेदित्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्वा तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासंभवे छत्रोपानहमपि दद्यात् । द्वन्द्वनिर्देशात् । समुदितदानं प्रदर्शनार्थं चैतत्संभवेऽन्यदपि दद्यात् । अत एव लघुहारीतः । एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् । पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत् । असम्भवे शाकमपि दद्यात् ॥

**आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।**
**गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥**

आचार्य इति । नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते तदभावे गुरुपत्न्यां तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ॥ २४७ ॥

**एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।**
**प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥**

एतेष्विति । एतेषु त्रिषु अविद्यमानेषु सततमाचार्यस्यैवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायंप्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत्

**एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।**
**स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥**

**इति मनुस्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥**

एवं चरतीति । आसमाप्तेः शरीरस्येत्यनेन यावज्जीवमाचार्यशुश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यग्निपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिको ब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यान्तकसलक्षणं प्राप्नोति न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते २४९

इति मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ छ ॥ छ

---

## अथ तृतीयोऽध्यायः ।

पूर्वत्रासमाप्तेः शरीरस्येत्यनेन नैष्ठिकब्रह्मचर्यमुक्तं न तत्रावध्यपेक्षा । आसमावर्तनादित्यनेन चोपकुर्वाणकस्य सावधिब्रह्मचर्यमुक्तमतस्तस्यैव गार्हस्थ्याधिकारः तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्ये तस्य गार्हस्थ्यमित्यपेक्षायामाह—

**षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।**
**तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥**

षट्त्रिंशदाब्दिकमिति । त्रयो वेदा ऋग्यजुःसामाख्यास्त्रिवेदी तद्विषयं व्रतं स्वगृह्योक्तनियमसमूहरूपं षट्त्रिंशद्वर्षं यावद्गुरुकुले चरितव्यम् । षट्त्रिंशदाब्दिकमिति षट्त्रिंशदब्दशब्दात्कालाट्ठञ् । अस्मिंश्च पक्षे समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायेन प्रतिवेदशाखं द्वादश वर्षाणि व्रताचरणम् । तदधिकमष्टादश वर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखं षट्पादिकं नव वर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखं त्रीणि । यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान्गृह्णाति तावत्कालं वा व्रताचरणम् । विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेका देया तिस्रो देया यद्देया इतिवन्नियमफले न्यूनापेक्षो विकल्पः । तथा च श्रुतिः । नियमेनाधीतं वीर्यवत्तरं भवतीति । ग्रहणान्तिकपक्षसंदर्शनात्पूर्वोक्तपक्षत्रये ग्रहणादूर्ध्वमपि व्रतानुष्ठानमवगम्यते । अथर्ववेदस्य ऋग्वेदांशत्वेऽपि ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमिति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थवेदत्वेन कीर्तनात् । अङ्गानि वेदाश्चत्वार इति विष्णुपुराणादिवाक्येषु च पृथङ्निर्देशाश्चतुर्थवेदत्वेऽपि प्रायेणाभिचाराद्यर्थत्वाद्यज्ञविद्यायामनुपयोगाच्चानिर्देशः । तथाहि । ऋग्वेदेनैव हौत्रं कुर्वन्यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं यदेव त्रय्यै विद्यायै सूक्तं तेन ब्रह्मत्वमिति श्रुतेस्त्रयीसंपाद्यत्वं यज्ञानां ज्ञायते । अयं च मानवः त्रैवेदिकव्रतचर्याविधिर्नाथर्ववेदे व्रतचर्यां निषेधयति तत्परत्वे वाक्यभेदप्रसंगाच्छ्रुत्यन्तरे वेदमात्रे व्रतश्रवणाच्च । यदाह योगियाज्ञवल्क्यः । प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ॥ १ ॥

**वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।**
**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥**

वेदानधीत्येति । वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः । स्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रमं गृहस्थविहितकर्मकलापरूपमनुतिष्ठेत् । कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः । गृहशब्दस्य दारवचनत्वात् । अविप्लुतब्रह्मचर्य इति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्षणवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वख्यापनार्थः । पुरुषशक्त्यपेक्षश्चायमेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः । यद्यपि व्रतानि वेदाध्ययनं च नित्यवदुपदिशता मनुनोभयस्नातक एव श्रेष्ठत्वादभिहितस्तथापि स्मृत्यन्तरादन्यस्नातकोऽपि बोद्ध-

**नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।**
**न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥**

नेति । ऋक्षं नक्षत्रं तन्नामिकां आर्द्रारेवतीत्यादिकां एवं तरुनदीम्लेच्छपर्वतपक्षिसर्पदासभयानकनामिकां कन्यां नोद्वहेत् ॥ ९ ॥

**अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।**
**तनुलोमकेशदशनां मृदङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥**

अव्यङ्गाङ्गीमिति । अविकलाङ्गीं मधुरसुखोद्यनाम्नीं हंसगजरुचिरगमनां अनतिस्थूललोमकेशदशनां कोमलाङ्गीं कन्यामुद्वहेत् ॥१०॥

अत्र विधिनिषेधयोरभिधानमनिषिद्धविहितकन्यापरिणयनमभ्युदयार्थमिति दर्शयितुमाह—

**यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।**
**नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥**

यस्या इति । यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोद्वहेत् यदपत्यं भवेदस्यास्तन्मम स्यात्स्वधाकरमित्यभिसंधानमात्रादपि पुत्रिका भवति । अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येक इति गोतमस्मरणात् । यस्या वा विशेषेण पिता न ज्ञायते अनेनेयमुत्पन्नेति तामपि नोद्वहेत् । अत्र च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति न योजनीयमिति केचित् । गोविन्दराजस्त्वाह । भिन्नपितृकयोरप्येकमातृकयोर्भ्रातृत्वप्रसिद्धेः सभ्रातृकत्वेऽपि यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि पुत्रिकाशङ्कयैव नोद्वहेदिति । मेधातिथिस्तु एकमेव इमं पक्षमाह । यस्यास्तु भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोपयच्छेत् । पिता चेन्न ज्ञायते प्रोषितो मृतो वा वाशब्दश्चेदर्थे पितरि तु विद्यमाने तदीयवाक्यादेव पुत्रिकात्वाभावमवगम्याभ्रातृकापि वोढव्येति । अस्माकं तु विकल्पस्वरसादिदं प्रतिभाति । यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि तावत्त्वेनाधर्मशङ्कया नोद्वहेत् । अत्र च पक्षे पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति पुत्रिका चाधर्मश्च तयोः शङ्का पुत्रिकाधर्मशङ्केति यथासंख्यं योजनीयम् । अत्र च प्रकरणे सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेन्मातृवदेनां बिभृयादिति परित्यागश्रवणात् । परिणीय सगोत्रां चेति प्रायश्चित्तश्रवणाच्च । तत्र तामसमभिव्याहृते च मातृसपिण्डापरिणयनादौ भार्यात्वमेव न भवति ।

भार्याशब्दस्याहवनीयादिवत्संस्कारवचनत्वात् । येषां पुनर्दृष्टगुणदोषमूलके विधिनिषेधाभिधाने यथा हीनक्रियमिति न तदतिक्रमे भार्यात्वाभावः अत एव मनुना महान्त्यपि समृद्धानीत्यादिपृथक्करणं कृतं एतन्मध्यपतितश्च नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीमित्यादिप्रतिषेधोऽपि न भार्यात्वाभावफलकः किंत्वत्र शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्तमात्रम् ॥११॥

**सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।**
**कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥१२॥**

सवर्णाग्र इति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां प्रथमे विवाहे कर्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति । कामतः पुनर्विवाहे प्रवृत्तानामेता वक्ष्यमाणा आनुलोम्येन श्रेष्ठा भवेयुः ॥ १२ ॥

**शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।**
**ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः १३**

शूद्रैवेति । शूद्रस्य शूद्रैव भार्या भवति न तूत्कृष्टा वैश्यादयस्तिस्रः । वैश्यस्य च शूद्रा वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृता । क्षत्रियस्य वैश्याशूद्रे क्षत्रिया च ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा ब्राह्मणी च । वसिष्ठोऽपि शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जमिति द्विजातीनां मन्त्रवर्जितं शूद्राविवाहमाह ॥ १३ ॥

**न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।**
**कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥१४॥**

न ब्राह्मणेति । ब्राह्मणक्षत्रिययोर्गार्हस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णालाभे कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते इतिहासाख्यानेऽपि शूद्रा भार्या नाभिधीयते । पूर्वसवार्णानुक्रमेणानुलोम्येन विवाहाद्यनुज्ञानादयं निषेधः प्रातिलोम्येन विवाहविषयो बोद्धव्यः । ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणं चेदं दोषभूयस्त्वार्थम् । अनन्तरं द्विजातय इति बहुवचनात् । वैश्यगोचरनिषेधस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४ ॥

**हीनजातिस्त्रियं मोहाद्उद्वहन्तो द्विजातयः ।**
**कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥१५॥**

हीनजातिस्त्रियमिति । सवर्णामपि परिणीय हीनजातिं शूद्रां शा-

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥२३॥

षडिति । ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट् । क्षत्रियस्यावरानुपरितनानासुरादींश्चतुरः । विट्शूद्रयोस्तु तानेव राक्षसवर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान् । धर्म्यान् धर्मादनपेताञ्जानीयात् ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

चतुर इति । ब्राह्मणस्य प्रथमं पठितान्ब्राह्मादींश्चतुरः । क्षत्रियस्य राक्षसमेकमेव । वैश्यशूद्रयोरासुरमेताञ्छ्रेष्ठान् ज्ञातारो जानन्ति । अत एव ब्राह्मणादिष्वासुरादीनां पूर्वविहितानामप्यत्राप्युपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थं तेन प्रशस्तविवाहासंभवे जघन्यस्यापि परिग्रह इति दर्शितम् । एवमुत्तरत्रापि विगर्हितपरित्यागो बोद्धव्यः ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

पञ्चानामिति । इह पैशाचप्रतिषेधादुपरितनानां पञ्चानां प्राजापत्यादीनां ग्रहणं तेषु मध्ये प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसास्त्रयो धर्मादनपेतास्तत्र प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते । ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूद्यते । गान्धर्वस्य च चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनुवादः । राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोर्विधीयते । ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्यापि आसुरपैशाचौ न कर्तव्यौ कदाचनेत्यविशेषाच्चतुर्णामेव निषिध्यते । अत्र यं वर्णं प्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ तस्य तंप्रति विकल्पः स च विहितासंभवे बोद्धव्यः ॥ २५ ॥

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥२६॥

पृथगिति । पृथक्पृथगिति प्राप्तत्वादनूद्यते । मिश्राविति विधीयते । पृथक्पृथग्विमिश्रौ वा पूर्वविहितौ गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रस्य धर्म्यौ मन्वादिभिः स्मृतौ । यदा स्त्रीपुंसयोरन्योन्यानुरागपूर्वकसंवा-

देन परिणेता युद्धादिना विजित्य तामुद्वहेत्तदा गान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः ॥ २६ ॥

**आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।**
**आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः २७**

आच्छाद्येति । आच्छादनमात्रस्यैवौचित्यप्राप्तत्वात्सविशेषवाससा कन्यावरावाच्छाद्यालंकारादिना च पूजयित्वा विद्याचारवन्तमप्रार्थकवरमानीय तस्मै कन्यादानं ब्राह्मो विवाहो मन्वादिभिरुक्तः २७

**यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।**
**अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥**

यज्ञ इति । ज्योतिष्टोमादियज्ञे प्रारब्धे यथाविधि ऋत्विजे कर्मकर्त्रे अलंकृत्य कन्यादानं दैवं विवाहं मुनयो ब्रुवते ॥ २८ ॥

**एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।**
**कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥**

एवमिति । स्त्रीगवी पुंगौश्च गोमिथुनं तदेकं द्वे वा वराद्धर्मतः धर्मार्थं यागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं न तु शुल्कबुद्ध्या गृहीत्वा यद्यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्षो विवाहो विधीयते ॥ २९ ॥

**सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।**
**कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ३०**

सहेति । सह युवां धर्मं कुरुतमिति सुताप्रदानकाले वचसा पूर्वं नियम्यार्थयित्वा यत्कन्यादानं स प्राजापत्यो विवाहः स्मृतः ३०

**ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।**
**कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥३१॥**

ज्ञातिभ्य इति । कन्याया ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः कन्यायै यद्यथा शक्ति धनं दत्वा कन्याया आप्रदानमादानं स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात्स्वेच्छया न त्वार्षशास्त्रीयधनं जातिपरिमाणनियमेन स आसुरो विवाह उच्यते ॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

इच्छयेति । कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण यः परस्परसंयोग आलिङ्गनादिरूपः स गान्धर्वो ज्ञातव्यः संभवत्यस्मादिति संभवः यस्मात्कन्यावरयोरभिलाषादसौ संभवति अत एव मैथुन्यो मैथुनाय हितः । सर्वविवाहानामेव मैथुनत्वेन यदस्य मैथुनत्वाभिधानं तत्सत्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थम् ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

हत्वेति । प्रसह्य बलात्कारेण कन्याया हरणं राक्षसो विवाह इत्येव लक्षणम् । यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्षते तदा नावश्यकं हननादि । यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्तव्यमित्यर्थप्राप्तमनूद्यते । कन्यापक्षान्विनाश्य तेषामङ्गच्छेदं कृत्वा प्राकारादीन् भित्त्वा हा पितर्भ्रातरनाथाहं द्विये इति वदन्तीं अश्रूणि मुञ्चतीं यत्कन्यां गृहादपहरति । अनेन कन्याया अनिच्छोक्ता गान्धर्वाद्विवेकार्थम् ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

सुप्तामिति । निद्राभिभूतां मद्यमदविह्वलां शीलसंरक्षणेन रहितां विजनदेशे यत्र विवाहे मैथुनधर्मेण प्रवर्तते स पापहेतुर्विवाहानां मध्येऽधमः पैशाचः ख्यातः ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

अद्भिरिति । उदकदानपूर्वकमेव ब्राह्मणानां कन्यादानं प्रशस्तं क्षत्रियादीनां पुनर्विनाप्युदकं परस्परेच्छया वाङ्मात्रेणापि कन्यादानं भवति । उदकपूर्वकमपीत्यनियमः ॥ ३५ ॥

**यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।**
**सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥**

य इति । यद्यपि गुणदोषौ च यस्य याविति गुणाभिधानमपि प्रतिज्ञातमेव तथापि बहूनामर्थानां तत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वाद्विशेषज्ञापनार्थः पुनरुपन्यासः । एषां विवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी । एषां मध्ये यस्य विवाहस्य यो गुणो मनुना कथितस्तत्सर्वं हेविप्राः मम कथयतः शृणुत ॥ ३६ ॥

**दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।**
**ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥**

दशेति । दशपूर्वान्पित्रादीन्वंश्यान्परान्पुत्रादीन् दश आत्मानं चैकविंशकं ब्राह्मविवाहोढापुत्रो यदि सुकृतकृद्भवति तदा पापान्मोचयति पित्रादीन्नरकादुद्धरति । पुत्रादयश्च तस्य कुले निष्पापा जायन्त इति मोचनार्थः । तेषामनुत्पत्तेः पापध्वंसस्याशक्यत्वात् ॥ ३७ ॥

**दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।**
**आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ३८**

दैवोढेति । दैवविवाहोढायाः पुत्रः सप्तपरान्पित्रादीन्सप्त अवरान्पुत्रादींश्च । आर्षविवाहोढायाः पुत्रस्त्रीन्पित्रादींस्त्रींश्च पुत्रादीन् । प्राजापत्यविवाहोढायाः पुत्रः षट् पित्रादीन् षट् पुत्रादीन् आत्मानं चैनसो मोचयतीति पूर्वस्यैव सर्वत्रानुषङ्गः । कायोढज इति ङ्याप्रातिपदिकात्संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति ह्रस्वत्वम् । ब्राह्माद्यष्टविवाहोद्देशक्रमानुसारेण मन्त्रफलस्यार्षस्येह बहुफलप्राजापत्यात्पूर्वाभिधानम् । ब्राह्मादिविवाहोद्देशश्लोक एव कथमयं क्रम इति चेत्पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या इत्यत्र प्राजापत्यग्रहणार्थम् । अन्यथा आर्षस्यैव ग्रहणं स्यात् ॥ ३८ ॥

प्रसवे च गुणागुणानिति यदुक्तं तदुच्यते—

**ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।**
**ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥**

ब्राह्मेति । ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु श्रुताध्ययनसंपत्तिकतेजोयुक्ताः पुत्राः शिष्टप्रिया जायन्ते । प्रियार्थत्वाच्च संमतशब्दस्य क्तेन

च पूजायामिति न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । संबन्धसामान्यविषया षष्ठीयं समस्यते ॥ ३९ ॥

**रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।**
**पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥४०॥**

रूपेति । रूपं मनोहराकृतिः सत्त्वं द्वादशाध्याये वक्ष्यमाणा गुणादयः तैर्युक्ता धनिनः ख्यातिमन्तो यथेप्सितवस्त्रस्रग्गन्धलेपनादिभोगशालिनो धार्मिकाश्च पुत्रा जायन्त इति पूर्वमनुवर्तते शतं च वर्षाणि जीवन्ति ॥ ४० ॥

**इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।**
**जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥**

इतरेष्विति । ब्राह्मादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येष्वासुरादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रूरकर्माणो मृषावादिनो वेदद्वेषिणो यागादिधर्मद्वेषिणः पुत्रा जायन्ते ॥ ४१ ॥

**अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।**
**निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्४२**

अनिन्दितैरिति । संक्षेपेण विवाहानां फलकथनमिदम् । अगर्हितैर्भार्याप्राप्तिहेतुभिर्विवाहैरगर्हिता मनुष्याणां सन्ततिर्गर्हितैस्तु गर्हिता तस्माद्गर्हितविवाहान्न कुर्यात् ॥ ४२ ॥

**पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णास्वुपदिश्यते ।**
**असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३॥**

पाणीति । समानजातीयासु गृह्यमाणासु हस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्यादिशास्त्रेण विधीयते । विजातीयासु पुनरुह्यमानासु विवाहकर्मणि पाणिग्रहणस्थाने अयमनन्तरश्लोके वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

**शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।**
**वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥**

शर इति । क्षत्रियया पाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहे ब्राह्मणहस्त-

परिगृहीतकाण्डैकदेशो ग्राह्यः । वैश्यया ब्राह्मणक्षत्रियावधृतप्रतोदैकदेशो ग्राह्यः । शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशा ग्राह्या ॥

**ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।**
**पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥**

ऋत्विति । ऋतुर्नामशोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः तत्कालाभिगामी स्यादित्ययं नियमविधिः[1] । न तु परिसंख्या । स्वार्थहानिपरार्थकल्पनाप्राप्तबाधात्मकदोषत्रयदुष्टत्वात् । ऋतुकालेऽपि रागतः पक्षे गमनप्राप्तौ यस्मिन्पक्षे प्राप्तिस्तत्र विधिः समे यजेतेतिवत् । अत एव ऋतावगमने दोषमाह पराशरः । ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां पतते नात्र संशयः ॥ अनुत्पन्नपुत्रस्य चायं नियमः । ब्राह्मणो ह वै जायमानस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्य इत्येतत्प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वेऽस्य संभवति । मूलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात् । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियमिति च वक्ष्यति । ततोऽप्येतच्छ्रुतिमूलत्वमवगम्यते । पुत्रोत्पादनशास्त्रस्य चैकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात् । कामजानितरान्विदुरिति दर्शनादजातपुत्रस्यैव नियमः । दशास्यां पुत्रानाधेहीति मन्त्रस्तु बहुपुत्रप्रशंसापरः । जातपुत्रस्यापि ऋतुकालगमननियमो न दशस्वेवावतिष्ठते । स्वदारनिरतः सदेति नित्यं स्वदारसंतुष्टः स्यान्नान्यभार्यामुपगच्छेदिति विधानात्परिसंख्यैव वाक्यानर्थक्यात्स्वदारगमनस्य प्रशस्तत्वात् । ऋतावगमने दोषाश्रवणाच्च न नियमविधिः । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामिति । पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते । तानि वर्जयित्वा भार्याप्रीतिर्व्रतं यस्य स तद्व्रतोऽनृतावप्युपेयादत एव रतिकाम्यया न तु पुत्रोत्पादनशास्त्रबुद्ध्या तस्माद्विधित्रयमिदम् । ऋतावुपेयादेव अन्यभार्यां नोपगच्छेत् । अनृतावपि भार्याप्रीतये गच्छेदिति । अत्र च गौतमः । ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम् । याज्ञवल्क्योऽप्याह । यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । पर्ववर्जमिति ऋतावनृतौ चोभयत्र संबध्यते ॥ ४५ ॥

---

१ विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ॥ तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

ऋतुरिति । अत्र रात्र्यहःशब्दावहोरात्रपरौ शोणितदर्शनात्प्रभृतिस्त्रीसंपर्कगमनादौ शिष्टनिन्दितैश्चतुर्भिरन्यैरहोरात्रैः सह षोडशाहोरात्राणि मासि मासि स्त्रीणामृतुः स्वभावे भवः स्वाभाविकः व्याध्यादिना तु न्यूनाधिककालोऽपि भवति ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

तासामिति । तासां पुनः षोडशानां रात्रीणां शोणितदर्शनात्प्रभृति आद्याश्चतस्रो रात्रयः एकादशी त्रयोदशी च रात्रिर्गमने निन्दिता । अवशिष्टा दश रात्रयः प्रशस्ता भवेयुः ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

युग्मास्विति । पूर्वोक्तास्वपि दशसु षष्ठ्यष्टम्याद्यासु रात्रिषु गमने पुत्रा उत्पद्यन्ते । अयुग्मासु पञ्चमीसप्तम्यादिषु दुहितरः । अतः पुत्रार्थी युग्मासु ऋतुकाले भार्यां गच्छेत् ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

पुमानिति । पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहिता एव अतो वृद्ध्याहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्य युग्मास्वपि पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दर्शितम् । स्त्रीपुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्नपुंसकं जायते पुंस्त्रियाविति यमौ च । निःसारेऽल्पे चोभयोरेव बीजे गर्भस्यासंभवः ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

निन्द्येति । निन्द्यासु पूर्वोक्तासु षट्सु रात्रिषु अन्यासु च नि-

न्यास्वपि यासु कासु चिदृष्टासु स्त्रियो वर्जयन्द्वे रात्री अवशिष्टे पर्ववर्जिते व्रजन्नखण्डितब्रह्मचार्येव भवति। यत्र तत्राश्रमे वसन्निति वानप्रस्थापेक्षया। तस्य हि भार्यया सहगमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तम्। न च वनस्थभार्याया ऋतुर्न भवतीति वाच्यम्। वनं पञ्चाशतो व्रजेदिति। वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणः पुमानित्यादिशास्त्रपर्यालोचनया तत्संभवात्। मेधातिथिस्तु यत्र तत्राश्रमे वसन्निति अनुवादमात्रं गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेन्द्रियत्वविधानात् रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासंभवादित्याह। गोविन्दराजस्तु उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमांतरस्थस्यापीच्छया पुत्रार्थं रात्रिद्वयगमने दोषाभावप्रतिपादनार्थमेतत्। यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य च महोपकारकत्वादित्याह। हन्त गोविन्दराजेन विशेषमविवृण्वता। व्यक्तमङ्गीकृतमृतौ स्वदारसुरतं यतेः॥ ५०॥

**न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।**
**गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥५१॥**

नेति। कन्यायाः पिता धनग्रहणदोषज्ञः अल्पमपि धनं कन्यादाननिमित्तकं न गृह्णीयात्। यस्माल्लोभेन तद्गृह्णन्नपत्यविक्रयी भवति॥ ५१॥

**स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।**
**नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्५२**

स्त्रीधनानीति। कन्यादाननिमित्तकशुल्कग्रहणनिषेधान्नवमाध्यायाभिधेयस्त्रीधनग्रहणनिषेधोऽयम्। ये बान्धवाः पतिपित्रादयः कलत्रदुहित्रादिधनानि गृह्णन्ति नारी स्त्री यानानि अश्वादीनि वस्त्रं चेति प्रदर्शनार्थं सर्वमेव धनं न ग्राह्यं ते गृह्णानाः पापकारिणो नरकं गच्छन्ति॥ ५२॥

**आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।**
**अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः॥५३॥**

आर्ष इति। आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कं वराद्ग्राह्यमिति केचिदाचार्या वदन्ति तत्पुनरसत्यं यस्मादल्पमूल्यसाध्यत्वादल्पो वा भवतु बहुमूल्यसाध्यत्वान्महान्वा भवतु स तावद्विक्रयो भवत्येव। यत्पुनरेकं

गोमिथुनमिति पूर्वमुक्तं तत्परमतमिति गोविन्दराजः तदयुक्तम् । मनुमते लक्षणमार्षस्य न स्यादेव । वराद्गोमिथुनपूर्वककन्यादानस्यैवार्षविवाहलक्षणत्वान्मन्वभिमतमन्यदेवार्षलक्षणमेकं गोमिथुनमिति परमतमिति चेत् एकं गोमिथुनं द्वे चेत्येतत्परमतं यदि । तदा मनुमतेनार्षलक्षणं किं तदुच्यताम् ॥ अष्टौ विवाहान्कथयन्नार्षोढासंततेर्गुणान् । मनुः किं स्वमतेनार्षलक्षणं वक्तुमक्षमः ॥ मेधातिथिस्तु पूर्वापरविरोधोपन्यासनिरासमेव न कृतवान् तस्मादस्माभिरित्थं व्याख्यायते । आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुल्कोचरूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति मनोस्तु मतं नेदं शास्त्रनियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न [illegible] शुल्कले मूल्यात्मकमहत्त्वऽनुपयोगिनि विक्रय एव तदा स्यात् । किंतु विवाहसंपत्त्यै अवश्यकर्तव्ययागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते अत एवार्षलक्षणश्लोके वरादादाय धर्मत इति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थः भोगलोभेन तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम् । अत एव गृह्णन् शुल्कं हि लोभेनेति निन्दामुक्तवान् तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनादार्षे धर्मार्थं गोमिथुनं ग्राह्यं न तु भोगार्थमिति मनुना स्वमतमनुवर्णितम् ॥ ५३ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कमित्युक्तं इदानीं कन्यार्थमपि धनस्य दानं न शुल्कमित्याह—

**यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।**
**अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥**

यासामिति । यासां कन्यानां प्रीत्या वरेण दीयमानं धनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किंतु कन्यायै समर्पयन्ति सोऽपि न विक्रयः यस्मात्कुमारीणां पूजनं तदानृशंस्यमहिंसकत्वं केवलं तदनुकम्पारूपम् ५४

**पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।**
**पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥**

पितृभिरिति । न केवलं विवाहकाले वरेण दत्तं धनं समर्पणीयं किंतु तदुत्तरकालमपि पित्रादिभिरप्येता भोजनादिना पूजयितव्याः वस्त्रालंकारादिना भूषयितव्याश्च बहुधनादिसंपदं प्राप्तुकामैः ॥ ५५ ॥

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।**
**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ५६**

यत्रेति । यत्र कुले पित्रादिभिः स्त्रियः पूज्यन्ते तत्र देवताः प्रसीदन्ति । यत्र पुनरेता न पूज्यन्ते तत्र देवताप्रसादाभावाद्यागादिक्रियाः सर्वा निष्फला भवन्तीति निन्दार्थवादः ॥ ५६ ॥

**शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।**
**न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥**

शोचन्तीति । जामिः स्वसृकुलस्त्रियोरित्याभिधानिकाः । यस्मिन्कुले भगिनी गृहपतिसंवर्धनीयसन्निहितसपिंडस्त्रियश्च पत्नीदुहितृस्नुषाद्याः परितापादिना दुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलं शीघ्रं निर्धनीभवति दैवराजादिना च पीड्यते । यत्रैता न शोचन्ति तद्धनादिना नित्यं वृद्धिमेति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु नवोढादुहितृस्नुषाद्या जामय इत्याहतुः ॥ ५७ ॥

**जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।**
**तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८॥**

जामय इति । यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृस्नुषाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति इदमनिष्टमेषामस्त्विति तान्यभिचारहतानि धनपश्वादिसहितानि नश्यन्ति ॥ ५८ ॥

**तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।**
**भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥**

तस्मादिति । यस्मादेवं तस्मात्कारणादेता भूषणाच्छादनाशनैर्नित्यं सत्कारेषु कौमुद्यादिषु उत्सवेषु उपनयनादिषु समृद्धिकामैर्नृभिः सदा पूजनीयाः ॥ ५९ ॥

**संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।**
**यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥**

संतुष्ट इति । भार्यया भर्त्रा इति हेतौ तृतीया । यत्र कुले भार्यया भर्ता प्रीतो भवति स्त्र्यन्तराभिलाषादिकं न करोति भार्या च

स्वामिना प्रीता भवति तस्मिन् कुले चिरं श्रेयो भवति । कुलग्रहणान्न केवलं भार्यापती एवं पुत्रपौत्रादिसंततिः श्रेयोभागिनी भवति ॥

**यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।**
**अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥६१॥**

यदीति । दीप्त्यर्थोऽत्र रुचिः । यदि स्त्री वस्त्राभरणादिना शोभाजनकेन दीप्तिमती न स्यात्तदा स्वामिनं पुनर्न हर्षयेदेव । हिशब्दोऽवधारणे । अप्रहर्षात्पुनः स्वामिनः प्रजनं गर्भधारणं न संपद्यते ॥ ६१ ॥

**स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।**
**तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥**

स्त्रियामिति । स्त्रियां मण्डनादिना कान्तिमत्यां भर्तृस्नेहविषयतया परपुरुषसंपर्कविरहात्तत्कुलं दीप्तं भवति तस्यां पुनररोचमानायां भर्तृविद्विष्टतया नरान्तरसंपर्कात्सकलमेव कुलं मलिनं भवति ॥६२॥

**कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।**
**कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥**

कुविवाहैरिति । आसुरादिविवाहैर्यथावर्णनिषिद्धैर्जातकर्मादिक्रियालोपैर्वेदापाठेन ब्राह्मणापूजनेन प्रख्यातकुलान्यपकर्षं गच्छन्ति ६३

**शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।**
**गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥**

शिल्पेनेति । चित्रकर्मादिशिल्पेन कलया धनप्रयोगात्मकव्यवहारेण केवलशूद्रापत्येन गवाश्वरथक्रयविक्रयादिना कृषिराजसेवाभ्यां कुलानि विनश्यन्तीत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६४ ॥

**अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।**
**कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ६५**

अयाज्येति । अयाज्यव्रात्यादियाजनैः कर्मणां श्रौतस्मार्तादीनां नास्तिक्येन शास्त्रीयफलवत्कर्मसु फलाभावबुद्धिर्नास्तिक्यम् । वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि क्षिप्रमपकर्षं गच्छन्ति । अत्र च विवाह-

प्रकरणे विवाहनिन्दाप्रसंगेन क्रियालोपादयो निन्दिताः । निन्दयाचैतन्न कर्तव्यमिति सर्वनिषेधः कल्प्यते ॥ ६५ ॥

इदानीं क्रियालोपादिगतप्रासंगिककुलनिन्दानुप्रसक्त्या कुलोत्कर्षमाह—

**मन्वतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।**
**कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥६६॥**

मन्वेति । यद्यपि धनेन कुलमिति लोके प्रसिद्धं तथाप्यल्पधनान्यपि कुलानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानप्रसक्तानि उत्कृष्टकुलगणनायां गण्यन्ते महतीं तु ख्यातिमर्जयन्ति ॥ ६६ ॥

विवाहप्रकरणमतिक्रान्तमिदानीं वैवाहिकाग्नौ संपाद्यं महायज्ञविधानं चेति वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं महायज्ञाद्यनुष्ठानमाह—

**वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।**
**पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥६७॥**

वैवाहिक इति । विवाहे भवो वैवाहिकः । आध्यात्मिकादित्वाठ्ञ् । तस्मिन्नग्नौ गृह्योक्तं कर्म सायंप्रातर्होमाष्टकादि यथाशास्त्रमग्निसंपाद्यं च पञ्चमहायज्ञान्तर्गतवैश्वदेवाद्यनुष्ठानं प्रतिदिनसंपाद्यं च पाकं गृहस्थः कुर्यात् ॥ ६७ ॥

**पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।**
**कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥६८॥**

पञ्चेति । पशुवधस्थानं सूना सूना इव सूना हिंसास्थानगुणयोगाच्चुल्ल्यादयः पञ्च गृहस्थस्य हिंसाबीजानि हिंसास्थानानि । चुल्ली उद्वाहनी पेषणी दृषदुपलात्मिका उपस्करः गृहोपकरणकुण्डसंमार्जन्यादिः कण्डनी उलूखलमुसले उदकुम्भो जलाधारकलशः याः स्वकार्ये योजयन्पापेन संबध्यते ॥ ६८ ॥

**तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।**
**पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥**

तासामिति । तासां चुल्ल्यादिस्थानानां यथाक्रमं निष्कृत्यर्थं उत्प-

न्नपापनाशार्थं गृहस्थानां पञ्च महायज्ञाः प्रतिदिनं मन्वादिभिरनुष्ठेयतया स्मृताः । एवं च निष्कृत्यर्थमित्यभिधानाद्धिंसास्थानत्वेन च कीर्तनात्सूनादोषैर्न लिप्यत इति वक्ष्यमाणत्वात्पञ्चसूनानां पापहेतुकत्वं पञ्चयज्ञानां च तत्पापनाशकत्वमवगम्यते । प्रत्यहमित्यभिधानात्प्रतिदिनं तत्पापक्षयस्यापेक्षितत्वात्संध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपि न विरुध्यते ॥ ६९ ॥

**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।**
**होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७० ॥**

अध्यापनमिति । अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते जपोऽहुतमिति वक्ष्यमाणत्वादतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः । अन्नाद्येनोदकेन वा इति तर्पणं वक्ष्यति स पितृयज्ञः । अग्नौ होमो वक्ष्यमाणो देवयज्ञः । भूतबलिर्भूतयज्ञः । अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः । अध्यापनादिषु यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थं गौणः ॥ ७० ॥

**पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।**
**स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥**

पञ्चेति । शक्तित इत्येतद्विधानार्थोऽयमनुवादः । अनुकल्पेनापि यथासंभवमेते कर्तव्याः । हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव छान्दसत्वाण्णिच् जहातीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

**देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।**
**न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥**

देवतेति । देवताशब्देन भूतानामपि ग्रहणं तेषामपि बलिहरणे देवतारूपत्वात् । भृत्या वृद्धमातापित्रादयोऽवश्यं संवर्धनीयाः । सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति श्रुत्या आत्मपोषणमप्यवश्यं कर्तव्यम् । देवतादीनां पञ्चानां योऽन्नं न ददाति स श्वसन्नपि जीवितकार्याकरणान्न जीवतीति निन्दयावश्यकर्तव्यता बोध्यते ॥ ७२ ॥

**अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।**
**ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥**

अहुतं चेति । नामभेदेऽपि वाक्यभेद इति दर्शयितुं पञ्च महाय-

ज्ञानां मुन्यन्तरकृतान्यहुतादीनि संज्ञान्तराण्यभिधेयानि तानि स्वयं व्याचष्टे ॥ ७३ ॥

**जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।**
**ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पित्तृतर्पणम्॥७४॥**

जप इति । अहुतशब्देन ब्रह्मयज्ञाख्यो जप उच्यते । हुतशब्देन देवयज्ञाख्यो होमः । प्रहुतशब्देन भूतयज्ञाख्यो भूतबलिः । ब्राह्म्यहुतशब्देन मनुष्ययज्ञाख्यो ब्राह्मणश्रेष्ठस्यार्चा । प्राशितशब्देन पितृयज्ञाख्यं नित्यश्राद्धम् ॥ ७४ ॥

**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवे चैवेह कर्मणि ।**
**दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥**

स्वाध्याय इति । यदि दारिद्र्यादिदोषेणातिथिभोजनादिकं कर्तुं न क्षमते तदा ब्रह्मयज्ञे नित्ययुक्तो भवेत् । दैवे कर्मण्यग्नौ होमे च होमस्य स्तुतिमाह यतो दैवकर्मपर इदं स्थावरजङ्गमं धारयति ७५

कुत एतदित्याह—

**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।**
**आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥**

अग्नाविति । यजमानेनाग्नावाहुतिः सम्यक् क्षिप्ता रसाहरणकारित्वादादित्यस्य आदित्यं प्राप्नोति । स चाहुतिरस आदित्याद्वृष्टिरूपेण जायते । ततोऽन्नं तदुपभोगेन जायन्ते प्रजाः ॥ ७६ ॥

**यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।**
**तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥**

यथेति । यथा प्राणाख्यवाय्वाश्रयेण सर्वप्राणिनो जीवन्ति तथा गृहस्थाश्रयेण सर्वाश्रमिणो निर्वहन्ति ॥ ७७ ॥

गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणामित्युक्तं तदेवोपपादयति—

**यस्मात्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।**
**गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७८॥**

यस्मादिति । यस्माद्गृहस्थव्यतिरिक्तास्त्रयोऽप्याश्रमिणो वेदार्थव्या-

वरुणपुरुषेभ्यो नमः उत्तरस्यां सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्यो नमः यद्यपि शब्दावगम्यत्वाद्देवतात्वस्यान्तकाप्पतीन्दुशब्दैरेवोद्देशो युक्तस्तथापि बह्वृचानुष्ठानसंवादाद्बह्वृचगृह्ये च यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्य इति प्रतिदिशमिति पाठाद्यथोक्त एव प्रयोगः ॥ ८७ ॥

**मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।**
**वनस्पतिभ्य इत्येवं मुशलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥**

मरुद्भ्य इति । इतिशब्दः स्वरूपविवक्षार्थः । मरुद्भ्यो नमः इति द्वारे बलिं दद्यात् । जलेऽद्भ्य इति । मुशलोलूखल इति द्वन्द्वनिर्देशात्सहयुक्तयोरन्यतरत्र वनस्पतिभ्य इति बलिं दद्यात् । गुणानुरोधेन प्रधानबलिकर्मावृत्तेरन्याय्यत्वात् ॥ ८८ ॥

**उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।**
**ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥**

उच्छीर्षेति । वास्तुपुरुषस्य शिरःप्रदेशे उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रियै बलिं दद्यात् । तस्यैव पाददेशे दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकाल्यै । अन्ये तु उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरःस्थानभूभागं पादत इति तस्यैव चरणभूप्रदेशमाहुः । ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति गृहमध्ये । द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम् । यत्र द्वन्द्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति । यथा सहद्यावापृथिव्योश्चेति ॥ ८९ ॥

**विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।**
**दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥**

विश्वेभ्य इति । विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्य इति शब्दादेकेयमाहुतिः । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम इति गृहाकाशे बलिं दद्यात् । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्य इति दिवा नक्तंचारिभ्य इति नक्तम् । बह्वृचगृह्यदर्शनादियं व्यवस्था ॥ ९० ॥

**पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।**
**पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥**

पृष्ठेति । गृहस्योपरि यद्गृहं तत्पृष्ठवास्तु वलिं दातुः पृष्ठदेशे भूभागे वा तत्र सर्वात्मभूतये नम इत्येव वलिं दद्यात् । उक्तवलिदानावशिष्टं सर्वमन्नं दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखः स्वधापितृभ्य इति वलिं हरेत् । प्राचीनावीतिना चायं वलिर्देयः । स्वधापितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणानिनयेदिति बह्वृचगृह्यवचनात् ९१

**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।**
**वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥**

शुनां चेति । अन्यदन्नं पात्रे समुद्धृत्य श्वपतितादिभ्यः शनकैर्यथा रजसा न संगृह्यते तथा भुवि दद्यात् । पापरोगी कुष्ठी क्षयरोगी वा ॥ ९२ ॥

**एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।**
**स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना ॥ ९३ ॥**

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण यः सर्वभूतान्यन्नदानादिना नित्यं पूजयति स परं स्थानं ब्रह्मात्मकं तेजोमूर्ति प्रकाशं अवक्रेण वर्त्मनार्चिरादिमार्गेण प्राप्नोति । ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः । ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षप्राप्तेः । तेजोमूर्तिरिति सविसर्गपाठे प्रकृष्टब्रह्मबोधस्वभावो भूत्वेति व्याख्या ॥ ९३ ॥

**कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।**
**भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥**

कृत्वेति । एवमुक्तप्रकारेण एतद्वलिकर्म कृत्वा गृहभोक्तृभ्यः पूर्वमतिथिं भोजयेत् । भिक्षवे परिव्राजे ब्रह्मचारिणे प्रथमाश्रमिणे च विधिवत्स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्यूर्ध्वमिति गौतमाद्युक्तविधिना भिक्षां दद्यात् । ग्रासप्रमाणा च भिक्षा भवति । ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षेति शातातपवचनात् । संभवे त्वधिकमपि देयम् ॥ ९४ ॥

**यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः ।**
**तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही ॥९५॥**

यदिति । गुरवे गां दत्वा विधिवत्स्वर्णशृङ्गिकादिविधानेन यत्फलं प्राप्नोति तद्गृहस्थो विधिना भिक्षादानात्प्राप्नोति ॥ ९५ ॥

**भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।**
**वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥**

भिक्षामिति । प्रचुरान्नाभावे ग्रासप्रमाणां भिक्षामपि व्यञ्जनादिना सत्कृत्य तदभावे जलपूर्णं पात्रमपि फलपुष्पादिना सत्कृत्य तत्त्वतो वेदतदर्थज्ञानवते ब्राह्मणाय स्वस्तिवाच्येत्यादिविधिपूर्वकं दद्यात् ॥ ९६ ॥

**नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।**
**भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥**

नश्यन्तीति । मोहाद्यत्पात्रानभिज्ञतया देवपित्रुद्देशेनान्नानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानतेजःशून्यतया भस्मरूपेष्विव पात्रेषु दत्तानि दातृभिर्निष्फलानि भवन्ति ॥ ९७ ॥

**विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।**
**निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥**

विद्यातपःसमृद्धेष्विति । विद्यातपस्तेजःसंपन्नविप्राणां मुखानि होमाधिकरणत्वेनाग्नितया निरूपितानि । हव्यकव्यादि प्रक्षिप्तमिह लोके दुस्तराद्व्याधिशत्रुराजपीडादिभयान्महतश्च पापादमुत्र नरकात्त्रायते ॥ ९८ ॥

**संप्राप्ताय स्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।**
**अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥**

संप्राप्तायेति । स्वयमागताय त्वतिथये आसनं पादप्रक्षालनाद्युदकं यथासंभवं व्यञ्जनादिभिः सत्कृतं चान्नमासनावसथावित्यादिवक्ष्यमाणविधिपूर्वकं दद्यात् ॥ ९९ ॥

**शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।**
**सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥**

शिलानिति । लूनकेदारशेषधान्यानि शिलास्तानपि उञ्छिन्वतो वृत्तिसंयमान्वितस्य त्रेतावसथ्यः सभ्यश्चेति पञ्चाग्नयः सभ्यो नामाग्निः शीतापनोदाद्यर्थं यस्तत्र प्रणीयते पञ्चस्वग्निषु होमं कुर्वाणस्य वृ-

त्तिसंकोचो न पञ्चाग्निहोमार्जितपुण्यमनर्चितोऽतिथिर्वसन्गृह्णाति । अनया च निन्दयातिथ्यनर्चनस्य निन्दावगम्यते ॥ १०० ॥

**तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।**
**एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥१०१॥**

तृणानीति । अन्नासंभवे पुनस्तृणविश्रामभूमिपादप्रक्षालनाद्यर्थजलप्रियवचनान्यपि धार्मिकगृहेष्वातिथ्यर्थं न कदाचिदुच्छिद्यन्ते अवश्यदेयानीति विधीयते । तृणग्रहणं शयनीयोपलक्षणार्थम् ॥१०१॥

अप्रसिद्धत्वादतिथिलक्षणमाह—

**एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।**
**अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते १०२**

एकेति । एकरात्रमेव परगृहे निवसन्ब्राह्मणोऽतिथिर्भवति । अनित्यावस्थानान्न विद्यते द्वितीया तिथिरस्येति अतिथिरुच्यते १०२

**नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।**
**उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा॥१०३॥**

नैकेति । एकग्रामनिवासिनं लोकेषु विचित्रपरिहासकथादिभिः संगत्या वृत्त्यर्थिनं भार्याग्नियुक्तो गृहे वैश्वदेवकालोपस्थितमपि नातिथिं विद्यात् । एतेन भार्याग्निरहितस्य प्रवासिनो नातिथित्वमिति बोधितम् ॥ १०३ ॥

**उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।**
**तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥१०४॥**

उपासत इति । अतिथिप्रकरणादातिथ्यलोभेन ये गृहस्थाः ग्रामान्तराणि गत्वा परान्नं सेवन्ते निषिद्धपरान्नदोषानभिज्ञास्तेन परान्नभोजनेन जन्मान्तरे अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति तस्मादिदं न कुर्यादिति निषेधः कल्प्यते ॥ १०४ ॥

**अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।**
**काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसन् १०५**

अप्रणोद्य इति । सूर्येऽस्तमिते गृहस्थेनातिथिर्न प्रत्याख्येयः । सूर्ये-

णोढः प्रापितः रात्रौ स्वगृहगमनाशक्तेः । द्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तः अकाले वा सायंभोजने निवृत्तेऽपि नास्य गृहे अतिथिरनश्नन्वसेदवश्यमस्मै भोजनं देयम् । प्रत्याख्याने प्रायश्चित्तगौरवार्थोऽयमारम्भः । अत एव विष्णुपुराणे । दिवातिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते ॥ गोविन्दराजस्तु प्रतिनिषिद्धातिथिप्रतिप्रसवार्थत्वमस्याह ॥ १०५ ॥

**न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।**
**धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम्॥१०६॥**

न वै इति । यद्भृतदध्यादि उत्कृष्टमतिथिं न प्रत्याचष्टे तत्तस्मै अदत्वा न स्वयं भोक्तव्यम् । धनाय हितं धनस्य निमित्तं वा धन्यम् । एवं यशस्यादयोऽपि शब्दाः । अतिथिभोजनफलकथनमिदं न चानावश्यकतापत्तिः । सर्वं सुकृतमादत्ते इत्यादिदोषश्रवणात् ॥ १०६ ॥

**आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।**
**उत्तमेष्वुत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥**

आसनेति । आसनं पीठं चर्म वा । आवसथो विश्रामस्थानम् । शय्या खट्वादि । अनुव्रज्या गच्छतोऽनुगमनम् । उपासनां परिचर्याम् । एतत्सर्वं बहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेषु इतरेतरापेक्षया उत्कृष्टापकृष्टमध्यमं कुर्यात् न पुनः सर्वेषां समम् ॥ १०७ ॥

**वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।**
**तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥**

वैश्वदेव इति । अन्यशब्दनिर्देशादतिथिभोजनपर्यन्तं वैश्वदेवे कृते यद्यपरोऽतिथिरागच्छेत्तदा तदर्थं पुनः पाकं कृत्वा तस्यान्नं दद्यात् । बलिहरणं ततो नात्र कुर्यात् । बलिनिषेधादन्नसंस्काराभावो वैश्वदेवस्यावगम्यते । अन्नसंस्कारपक्षे कथमसंस्कृतान्नभोजनमनुजानीयात् ॥ १०८ ॥

**न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।**
**भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः १०९**

नेति । भोजनलाभार्थं ब्राह्मणः स्वकुलगोत्रे न निवेदयेत् यस्माद्भोजनार्थं ते कथयन्नुद्वीर्णाशीति पण्डितैः कथ्यते ॥ १०९ ॥

**न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।**
**वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥**

नेति ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयः अतिथयो न भवन्ति क्षत्रियादीनां ब्राह्मणस्योत्कृष्टजातित्वात् । मित्रज्ञातीनामात्मसंबन्धाद्गुरोः प्रभुत्वात् । अनेनैव न्यायेन क्षत्रियस्य उत्कृष्टो ब्राह्मणः सजातीयश्च क्षत्रियोऽतिथिः स्यान्नापकृष्टौ वैश्यशूद्रौ । एवं वैश्यस्यापि द्विजातयोऽतिथयो न शूद्रः ॥ ११० ॥

**यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।**
**भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥**

यदीति । यदि ग्रामान्तरागतत्वादतिथिकालोपस्थितत्वादतिथिधर्मेण क्षत्रियो विप्रगृहमागच्छेत्तदा विप्रगृहोपस्थितविप्रेषु कृतभोजनेषु स्थितेषु इच्छातस्तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

**वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।**
**भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥११२॥**

वैश्येति । यदि वैश्यशूद्रावपि ब्राह्मणस्य कुटुम्बे गृहे प्राप्तौ ग्रामान्तरादागतत्वाद्यतिथिधर्मशालिनौ तदा तावपि क्षत्रियभोजनकालात्परतो दम्पतीभोजनात्पूर्वं दासभोजनकाले अनुकम्पामाश्रयन्भोजयेत् ॥ ११२ ॥

**इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् ।**
**सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥११३॥**

इतरानिति । उक्तभोजनकाले क्षत्रियादिव्यतिरिक्तान्सखिसहाध्यायिप्रभृतीन्संप्रीत्या गृहमागतान् न त्वतिथिभावेन तस्य प्रतिषेधात् यथाशक्ति प्रकृष्टमन्नं कृत्वा भार्याभोजनकाले भोजयेत् । गृहस्थस्यापि स एव भोजनकालः । अवशिष्टं तु दम्पतीति वक्ष्यमाणत्वात् । आत्मना सहेति वक्तव्ये वचनवैचित्र्यमाचार्यस्य । गुरोस्तु भोजनकालानभिधानम् । प्रभुत्वेन स्वाधीनकालत्वात् ॥ ११३ ॥

**सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।**
**अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥**

सुवासिनीरिति । सुवासिन्यो नवोढाः स्त्रियः । स्नुषा दुहितरश्च ताः कुमारीर्गर्भिणीश्चातिथिभ्योऽग्रे पूर्वमेवातिथिभ्यो भोजयेत् । कथमतिथिषु अभोजितेषु भोजनमेषामिति विचारमकुर्वन् । मेधातिथिस्त्वनुमेवेति पठित्वानुगतानेवैतान्भोजयेत् । अतिथिसमकालमिति व्याख्याय अन्ये तु अग्र इति पठन्तीत्युक्तवान् ॥ ११४ ॥

**अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।**
**स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धमात्मनः ११५**

अदत्त्वेति । एतेभ्योऽतिथ्यादिभृत्यपर्यन्तेभ्योऽन्नमदत्त्वा व्यतिक्रमभोजनदोषमजानन्यः पूर्वं भुङ्क्ते स मरणानन्तरं श्वगृध्रैरात्मनो भक्षणं न जानाति । व्यतिक्रमस्येदं फलमिति वचनवैदग्ध्येनोक्तम् ११५

**भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।**
**भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥**

भुक्तेति । विप्रेषु अतिथिषु स्वेषु ज्ञातिषु भृत्येषु दासादिषु कृतभोजनेषु ततोऽन्नादवशिष्टं भार्यापती पश्चादश्नीयाताम् ॥ ११६ ॥

**देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।**
**पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥११७॥**

देवानिति । गृह्याश्च देवता इत्यनेन भूतयज्ञ उक्तः । पञ्चयज्ञानुष्ठानस्य अवशिष्टं तु दम्पतीत्यनेन शेषभोजनस्य च विहितत्वात् । वक्ष्यमाणदोषकथनार्थोऽयमनुवादः । अथवा देवानित्यनेनैव भूतयज्ञस्य संग्रहः । गृहे भवा गृह्या देवताः पूजयित्वेति वासुदेवादिप्रतिकृतिपूजाविधानार्थत्वमस्य ॥ ११७ ॥

**अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।**
**यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥**

अघमिति । यस्त्वात्मार्थमेवान्नं पक्त्वा भुङ्क्ते देवादिभ्यो न ददाति स पापहेतुत्वात्पापमेव केवलं भुङ्क्ते नान्नम् । तथाच श्रुतिः । केव-

लाघो भवति केवलादी । यस्माद्यदेव पाकयज्ञावशिष्टमशनमन्नमश्यते इति तदेव साधूनामन्नमुपदिश्यते इति ॥ ११८ ॥

अतिथिपूजाप्रसंगेन राजादीनामपि गृहागतानां पूजाविशेषमाह—

**राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।**
**अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥**

राजेति । राज्याभिषिक्तः क्षत्रियो राजा ऋत्विक् येन यस्यार्त्विज्यं कृतं स्नातको विद्याव्रताभ्यां प्रियो जामाता राजादीनेतान्गृहागतान्सप्त गृह्योक्तेन मधुपर्काख्येन कर्मणा पूजयेत् । परिसंवत्सरादिति संवत्सरं वर्जयित्वा तदूर्ध्वं गृहागतान्पुनर्मधुपर्केण पूजयेत् । पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति सूत्रेण वर्जनार्थपरियोगेन इयं पञ्चमी अतएवैतत्सूत्रव्याख्याने जयादित्येनोक्तं अपेन साहचर्यात्परेर्वर्जनार्थस्य ग्रहणमिति । मेधातिथिस्तु परिसंवत्सरानिति पठित्वा परिगतो निष्क्रान्तः संवत्सरो येषां तान्पूजयेदिति व्याख्यातवान् उभयत्रापि पाठे संवत्सरमध्यागमने न मधुपर्काईता ॥ ११९ ॥

राजस्नातकयोः पूजासंकोचार्थमाह—

**राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।**
**मधुपर्केण संपूज्यौ न स्वयज्ञ इति स्थितिः ॥१२०॥**

राजेति । राजस्नातकौ संवत्सरादूर्ध्वमपि यज्ञकर्मण्येव प्राप्तौ मधुपर्केण पूजनीयौ न तु यज्ञव्यतिरेकेण । जामात्रादयस्तु संवत्सरादूर्ध्वं यज्ञं विनापि मधुपर्काहाः । संवत्सरमध्ये तु सर्वेषां यज्ञविवाहयोरेव मधुपर्कः । तदाह गौतमः । ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः । संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोर्वाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च ॥ १२० ॥

**सायं स्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।**
**वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥**

सायमिति । दिनान्ते सिद्धस्यान्नस्य पत्नी अमन्त्रं बलिहरणं कुर्यात् । इन्द्राय नम इति मन्त्रपाठवर्जं मानसस्तु देवतोद्देशो न निषिध्यते । यत एतद्वैश्वदेवं नामान्नसाध्यं होमबलिदानातिथिभोजनात्मकं तत्सायंप्रातर्गृहस्थस्योपदिश्यते ॥ १२१ ॥

श्राद्धकल्पं च शाश्वतमित्यनुक्रमणिकायां प्रतिज्ञातं श्राद्धकल्पमुपक्रमते—

**पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।**
**पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् १२२**

पितृयज्ञमिति । साग्निरमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञाख्यं कर्म कृत्वा श्राद्धं कुर्यात् । पितृयज्ञपिण्डानामनुपश्चादाह्रियत इति पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं मासानुमासिकं मासश्चानुमासश्च तयोर्भवं प्रतिमासं कर्तव्यमित्यर्थः । अनेनास्य नित्यत्वमुक्तम् । विप्रग्रहणं द्विजातिपरम् त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ १२२ ॥

इदानीं नामनिर्वचनेनोक्तमेव पितृयज्ञानन्तर्यं द्रढयति—

**पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।**
**तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥**

पितॄणामिति । इदं मासिकं प्रतिमासभवं श्राद्धं यस्मात्पितृयज्ञपिण्डानामनुपश्चादाह्रियते तेन पिण्डान्वाहार्यकमिदं पण्डिता जानन्ति ततो युक्तं पितृयज्ञानन्तर्यमस्य । तच्चामिषेण वक्ष्यमाणमांसेन प्रशस्तेन मनोहरेण पूतिगन्धादिरहितेन प्रयत्नतः कर्तव्यम् । पिण्डानां मासिकं श्राद्धमिति वा पाठः । पिण्डानां पितृयज्ञपिण्डानां शेषं तुल्यम् ॥ १२३ ॥

**तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।**
**यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥**

तत्रेति । तस्मिन् श्राद्धे ये भोजनीयाः ये च त्याज्या यत्संख्याकाः यैश्चान्यैस्तत्सर्वं प्रवक्ष्यामि ॥ १२४ ॥

अत्र यद्यप्युद्देशक्रमेण ये भोजनीया इति वक्तुमुचितं तथाप्यल्पवक्तव्यत्वाद्ब्राह्मणसंख्यामाह—

**द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।**
**भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥**

द्वाविति । देवश्राद्धे द्वौ ब्राह्मणौ पितृपितामहप्रपितामहानां त्रीन्ब्राह्मणान् । अथवा दैवे एकं पित्रादित्रिके चैकं ब्राह्मणं भोजयेत् ।

उक्तातिरिक्तभोजनसमर्थोऽपि नाधिकभोजनेषु प्रवर्तेत । मेधातिथिस्त्वाह । पितृकृत्ये त्रीनिति पितुस्त्रीन् ब्राह्मणान् पितामहस्य त्रीन् ब्राह्मणान् प्रपितामहस्य त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयेत् । एकैकमुभयत्र वेति दैव एकं पित्रादित्रयस्य चैकैकं न त्वेवैकं पित्रादित्रयस्य । न त्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातमित्याश्वलायनगृह्यविरोधात् । यथैकः पिण्डः पित्रादित्रयस्य न निरूप्यते तथैको ब्राह्मणो न भोजयितव्य इत्यर्थः । तस्मान्न पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनं तदसत् गृह्यकारेणैव न त्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातमिति पठित्वा काममनाद्ये इत्यभिहितम् । अस्यार्थः । बहुपित्रादिदेवताकश्राद्धानामाद्यं सपिंडीकरणमभिमतं तद्व्यतिरिक्तश्राद्धे काममेकः पित्रादीनां ब्राह्मण इत्यर्थः । अथवा अनाद्ये अदनीयद्रव्याभावे एकोऽपि भोजयितव्यः । उभयत्रापि व्याख्याने पार्वणादौ पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनं गृह्यकृतैवोक्तम् ॥ वसिष्ठोऽपि यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवतन्त्रं कथं भवेत् । अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवतायतने कृत्वा यथाविधि प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नं तदग्नौ वा दद्याद्वा ब्रह्मचारिण इति सर्वेभ्य एकब्राह्मणभोजनमाह तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या । प्रथमे वाशब्दः इत्यनेन विस्तार इति प्राप्ते छन्दःसमानत्वात्स्मृतीनां सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते इति विस्तर इति रूपम् ॥ १२५ ॥

**सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ।**
**पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥१२६॥**

सदिति । सत्क्रियां ब्राह्मणस्य पूजां देशं दक्षिणप्रवणत्वादिवक्ष्यमाणं कालमपराह्णं शौचं श्राद्धकर्तृभोक्तृब्राह्मणप्रैष्यगतं गुणवद्ब्राह्मणालाभं च ब्राह्मणविस्तरो नाशयति । तस्माद्ब्राह्मणविस्तरं न कुर्यादिति सत्क्रियादिविरोधतो ब्राह्मणविस्तरनिषेधात्सत्क्रियादिसंभवे पित्रादेरेकैकस्यापि ब्राह्मणत्रयाभ्यनुज्ञानम् । अत एव गौतमः । नवावरान्भोजयेदयुजो वा यथोत्साहम् । बह्वृचगृह्यकारोऽपि । अथातः पार्वणश्राद्धे काम्ये आभ्युदयिक एकोद्दिष्टे ब्राह्मणानित्युपक्रम्य एकैकमेकैकस्य द्वौ द्वौ त्रीन् त्रीन्वा वृद्धौ फलभूयस्त्वमित्याह । द्वौ द्वाविति आभ्युदयिकश्राद्धविषयम् । स्मृत्यन्तरेषु तथा विधानात् अत्राप्याभ्युदयिक इत्युपक्रमाच्च ॥ १२६ ॥

**प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।**
**तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी॥१२७॥**

प्रथितेति । यदेतत्पित्र्यं कर्म श्राद्धरूपं प्रथममियं प्रख्याता प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया । प्रकर्षेण इतः प्रेतः पितृलोकस्थ एवोच्यते । विधुक्षये अमावास्यायां तस्मिन्पित्र्ये कर्मणि युक्तस्यैतत्परस्य लौकिकी स्मार्तिकी प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया । गुणवत्पुत्रपौत्रधनादिफलप्रबन्धरूपेण कर्तारमुपतिष्ठते तस्मादिदं कर्तव्यम् । गोविन्दराजेन तु विधिः क्षय इति पठितं व्याख्यातं च योऽयं नामविधिः पित्र्यं कर्म तिथिक्षये चन्द्रक्षये ग्रहे वा तदसांप्रदायिकम् । मेधातिथिप्रभृतिभिर्गोविन्दराजादपि वृद्धतरैरनभ्युपेतत्वात्क्षय इति संबन्धक्लेशाच्च ॥ १२७ ॥

**श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।**
**अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥**

श्रोत्रियायेति । छन्दोमात्राध्यायी श्रोत्रियस्तस्मै दैवपित्र्यन्नानि यत्नतो देयानि । अर्हत्तमाय श्रुताचाराभिजनादिभिः पूज्यतमाय तस्मै दत्तं महाफलं भवति ॥ १२८ ॥

**एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।**
**पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥**

एकैकमिति । दैवपित्र्ययोरेकैकमपि वेदतत्त्वविदं ब्राह्मणं भोजयेत् तदापि विशिष्टं श्राद्धफलं प्राप्नोति न त्वविदुषो बहूनपि । एवं च फलश्रवणाद्ब्राह्मणभोजनमेव प्रधानं पिण्डदानादिकं लङ्गमिति गोविन्दराजः । वयं तु पित्रुद्देशेन द्रव्यत्यागं ब्राह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धशब्दवाच्यं प्रधानं ब्रूमः । तदेव मनुना पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यादिति विहितम् । आपस्तम्बेन तु मन्वर्थस्यैव व्याख्यातत्वात्तदाह आपस्तम्बः । तथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजानिःश्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे मासि मास्यपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयानिति । श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्दो वाचको यस्य तत्तथा ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे आहवनीयवत्त्यक्तद्रव्यप्रतिपत्तिस्थानत्वात्पितरो देवता इति नियतपितृदेवताकत्वाच्च श्राद्धस्य देवता

श्राद्धादौ श्राद्धशब्दस्तु तद्धर्मप्राप्त्यर्थो गौणः कौण्डपायिनामयन इवाग्निहोत्रशब्दः । पुष्कलं फलं प्राप्नोति इति तु पुष्टतरफलार्थिनो गुणफलविधिः । स भोजनस्याङ्गत्वेऽपि तदाश्रयो न विरुद्धः । आपस्तम्बोऽभ्यधाच्छ्राद्धं कर्मैतत्पितृदैवतम् । मन्वर्थं कथयंस्तस्मान्नेदं ब्राह्मणभोजनम् ॥ १२९ ॥

**दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।**
**तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः १३०**

दूरादिति । दूरादेव पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन कृत्स्नशाखाध्यायिनं ब्राह्मणं परीक्षेत यस्मात्तथाविधो ब्राह्मणो हव्यादीनां तीर्थं पात्रं प्रदाने सोऽतिथिरेव महाफलप्राप्तेर्हेतुत्वात् ॥ १३० ॥

**सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।**
**एकस्तान्मन्त्रावित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥१३१॥**

सहस्रमिति । यत्र श्राद्धे ब्राह्मणानामवेदविदां दशलक्षाणि भुञ्जते तत्रैको वेदविद्भोजनेन परितुष्टो धर्मतो धर्मोत्पादनेन तान्सर्वानर्हति स्वीकर्तुं योग्यो भवति तद्भोजनजन्यं फलं जनयतीत्यर्थः । छान्दसत्वादेकवचनम् । अथवा बहुवचनानां स्थाने सहस्रमिति मनोरभिमतम् । गोविन्दराजस्त्वाह सहस्रं गच्छन्तु भूतानीति वेदे ॥ १३१ ॥

**ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।**
**न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥१३२॥**

ज्ञानेति । विद्यया उत्कृष्टेभ्यो हव्यानि कव्यानि च देयानि न मूर्खेभ्यः । अर्थान्तरन्यासो नामालंकारः । न हि रक्ताक्तौ हस्तौ रक्तेनैव विशुद्धौ भवतः किंतु विमलजलेन एवं मूर्खभोजनेन जनितं दोषं न मूर्ख एव भोजितोऽपहन्ति किंतु विद्वान् ॥ १३२ ॥

अविद्वन्निन्दया विद्वद्दानमेवोक्तं वक्रोक्त्या स्तौति—

**यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।**
**तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥**

यावत इति । यावत्संख्याकान् ग्रासान् हव्यकव्येष्ववेदविद्भुङ्क्ते

तत्संख्याकानेव प्रकृतश्राद्धकर्ता ज्वलितशूलष्टङ्कायुधलोहपिण्डान् ग्रसते । श्राद्धकर्तुरेवेदमविद्वद्दानफलकथनम् । तथा च व्यासः । ग्रसते यावतः पिण्डान्यस्य वै हविषोऽनृचः । ग्रसते तावतः शूलान्गत्वा वैवस्वतक्षयम् ॥ १३३ ॥

**ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ।**
**तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥**

ज्ञानेति । केचिदात्मज्ञानपरा ब्राह्मणा भवन्ति अन्ये प्राजापत्यादितपःप्रधानाः अपरे तपोध्ययननिरताः इतरे यागादिपराः ॥१३४॥

तत्किमत आह—

**ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।**
**हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥**

ज्ञानेति । ज्ञानप्रधानेभ्यः पित्र्यर्थान्नानि यत्नाद्दातव्यानि देवान्नानि पुनः न्यायावधृतार्थशास्त्रानुसारेण चतुर्भ्योऽपि ॥ १३५ ॥

**अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।**
**अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः १३६**

अश्रोत्रिय इति । योऽश्रोत्रियपितृकः स्वयं च श्रोत्रियः यः श्रोत्रियपितृकः स्वयं वा अश्रोत्रियः ॥ १३६ ॥

तयोः कः श्रेष्ठ इत्युपन्यस्य विशेषमाह—

**ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।**
**मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥**

ज्यायांसमिति । अनयोः पूर्वश्लोकनिर्दिष्टयोर्मध्ये श्रोत्रियपुत्रं स्वयमश्रोत्रियमपि ज्येष्ठं जानीयात् । पितृविद्यादरपरमिदम् । यः पुनरश्रोत्रियस्य पुत्रः स्वयं च श्रोत्रियः स तदधीतवेदपूजनार्थं पूजामर्हति वेद एव तद्द्वारेण पूज्यत इति पुत्रविद्यादरपरमिदम् । तस्माद्वचनभङ्ग्या श्रोत्रियपुत्रः स्वयं च श्रोत्रियः श्राद्धे भोजयितव्य इत्युक्तम् । ननु श्रोत्रियपुत्रस्य स्वयमश्रोत्रियस्यैवाभ्यनुज्ञानं श्रोत्रियायैव देयानीति विरोधादेवं च दूरादेव परीक्षेतेति विद्याव्यतिरिक्ताचारादिपरीक्षार्थत्वेनावतिष्ठते ॥ १३७ ॥

**न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।**
**नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् १३८**

नेति । श्राद्धे न मित्रं भोजयेत् धनान्तरैरस्य मैत्री संपादनीया न शत्रुं न च मित्रं यं जानीयात्तं ब्राह्मणं श्राद्धे भोजयेत् ॥ १३८॥

**यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।**
**तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च १३९**

यस्येति । मित्रशब्दोऽयं भावप्रधानः । यस्य मैत्रीप्रधानानि हव्यकव्यानि तस्य पारलौकिकं फलं न भवतीति फलाभावकथनपरमिदम् । प्रेत्येति परलोके इत्यर्थे शब्दान्तरमव्ययमिदं न तु क्त्वान्तं तेनासमानकर्तृकत्वे कथं क्त्वा इति नाशङ्कनीयम् ॥ १३९ ॥

स्वर्गफलं श्राद्धस्य दर्शयितुं पूर्वोक्तफलाभावमेव विशेषेण कथयति—

**यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।**
**स स्वर्गाच्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः १४०**

य इति । यो मनुष्यः संगतानि मित्रभावं शास्त्रानभिज्ञतया श्राद्धेन कुरुते श्राद्धमेव मित्रलाभहेतुत्वान्मित्रं यस्य स श्राद्धमित्रो द्विजापसदः स स्वर्गलोकाच्यवते तं न प्राप्नोतीत्यर्थः । श्राद्धस्यापि स्वर्गफलत्वमाह याज्ञवल्क्यः । आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥१४०

**संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।**
**इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥**

संभोजनीति । सा दक्षिणा दानक्रिया संभोजनी सह भुज्यते यया सा संभोजनी गोष्ठी बहुपुरुषभोजनात्मिका पिशाचधर्मत्वात्पैशाची मन्वादिभिरुक्ता सा च मैत्री प्रयोजनकत्वान्न परलोकफला इह लोके एवास्ते यथान्धा गौरेकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति न गृहान्तरंगमनक्षमा ॥ १४१ ॥

**यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।**
**तथाऽनृचे हविर्दत्वा न दाता लभते फलम् ॥१४२॥**

यथेति । ईरिणमूषरदेशो यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति तत्र यथा बीजमुप्त्वा कर्षको न फलं प्राप्नोति एवमविदुषे श्राद्धदानफलं दाता न प्राप्नोतीति ॥ १४२ ॥

**दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः ।**
**विदुषे दक्षिणां दत्ता विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३॥**

दातॄनिति । वेदतत्त्वविदे । यथाशास्त्रं दत्तं ऐहिकामुष्मिकफलभागिनो दातॄन्करोति । ऐहिकं फलं यथाशास्त्रानुष्ठानेन लोके ख्यातिरूपमानुषङ्गिकमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ । वयं त्वायुरादिकमेवैहिकफलं ब्रूमः । आयुः प्रजां धनं विद्यामित्याद्यैहिकामुष्मिकादिफलत्वेनापि श्राद्धस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात् । प्रतिग्रहीतॄंश्च श्राद्धलब्धधनानुष्ठितयागादिफलेन परलोके सफलां कुरुते । अन्यायार्जितधनानुष्ठितयागादेरफलप्रदत्वात् । इह लोके न्यायार्जितधनारब्धकृष्यादिफलातिशयलाभात्सफलां कुरुते ॥ १४३ ॥

**कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि क्वरिम् ।**
**द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥१४४॥**

काममिति । वरं विद्वद्ब्राह्मणाभावे गुणवन्मित्रं भोजयेत् न तु विद्वांसमपि शत्रुं यतः शत्रुणा श्राद्धं भुक्तं परलोके निष्फलं भवति यथोक्तपात्रासंभवे मित्रप्रतिप्रसवार्थमिदम् ॥ १४४ ॥

श्रोत्रियायैव देयानीत्यनेन छन्दोमात्राध्यायिनि श्रोत्रियशब्दप्रयोगात्तदाश्रयणमावश्यकमुक्तं इदानीं त्वधिकफलार्थं मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिनि श्रोत्रिये दानमाह—

**यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।**
**शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम्॥१४५॥**

यत्नेनेति । ऋग्वेदिनं मन्त्रब्राह्मणात्मकशाखाध्यायिनं यत्नतो भोजयेत् । तथाविधमेव यजुर्वेदिनं वेदस्य पारं गच्छतीति वेदपारगः शाखाया अन्तं गच्छतीति शाखान्तगः समाप्तिरस्यातीति समाप्तिकः। सर्वैरेव शब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्येताभिहितः ॥ १४५ ॥

तद्भोजने अधिकं फलमाह—

**एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।**
**पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी १४६**

एषामिति । एषां संपूर्णशाखाध्यायिनां बह्वृचादीनां मध्यादन्यतमो यस्य सम्यक् पूजितः सन् श्राद्धे भुङ्क्ते तस्य पुत्रादिसप्तपुरुषाणां शाश्वती अविच्छिन्ना पितॄणां तृप्तिः स्यात् । साप्तपौरुषीति । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । तस्य चाकृतिगणत्वात् ॥ १४६ ॥

**एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।**
**अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥**

एष इति । हव्यकव्ययोरुभयोरेव प्रदाने यदसंबन्धिश्रोत्रियादिभ्यो दीयत इति अयं मुख्यः कल्प उक्तः । अयं तु मुख्याभावे वक्ष्यमाणोऽनुकल्पो ज्ञातव्यः सर्वदा साधुभिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

**मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।**
**दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् १४८**

मातामहमिति । स्वस्रीयो भागिनेयः गुरुर्विद्यागुरुराचार्यादिः विट् दुहिता तस्याः पतिः विट्पतिर्जामाता बन्धुर्मातृष्वस्रपुत्रादिः एतान्मातामहादीन्दश मुख्यश्रोत्रियाद्यसंभवे भोजयेत् ॥ १४८ ॥

**न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।**
**पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥**

नेति । धर्मज्ञो दैवश्राद्धे भोजनार्थं न ब्राह्मणं यत्नतः परीक्षेत लोकप्रसिद्धिमात्रेणासौ साधुतया भोजयितव्यः । पित्र्ये पुनः कर्मण्युपस्थिते पितृपितामहाद्यभिजनपरीक्षाकर्तव्येति प्रयत्नतशब्दस्यार्थः ॥

**य स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।**
**तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥**

य इति । स्तेनश्चौरः स च सुवर्णचोरादन्यः तस्य पतितशब्देनैव ग्रहणात् । पतितो महापातकी क्लीबो नपुंसकः नास्तिकवृत्तिर्नास्तिपरलोक इत्येवं वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य एतान्दैवपित्र्यकृत्ययोरुभयोरेवा-

योग्यान्मनुरब्रवीदिति । मनुग्रहणं निषेधादरार्थम् । सर्वधर्माणामेव मनुनोक्तत्वात् ॥ १५० ॥

**जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।**
**याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् १५१**

जटिलमिति । जटिलो ब्रह्मचारी । मुण्डो वा जटिलो वा स्यादित्युक्तब्रह्मचार्युपलक्षणत्वात् । जटिलत्वस्य मुण्डोऽपि निषिध्यते । अनधीयानं वेदाध्ययनरहितं यस्योपनयनमात्रं कृतं न वेदादेशः तेनास्वीकृतवेदस्यापि ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनकर्तुरभ्यनुज्ञानार्थोऽयं निषेधः अतः श्रोत्रियायैव देयानीति ब्रह्मचारीतरविषयम् । दुर्बलो दुश्चर्मा । मेधातिथिस्तु दुर्बलमिति पठित्वा खलतिर्लोहितकेशो वा दुश्चर्मा वा इत्यर्थत्रयमुक्तवान् । कितवो द्यूतकृत् पूगयाजका बहुयाजकाः पूगः ऋमुकवृन्दयोरित्याभिधानिकाः । अत एव वसिष्ठः । यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहूनिति । तान् श्राद्धे न भोजयेदिति न दैवे निषेधो मनोरभिमतः तत्र हव्यकव्यग्रहणमुभयत्रेति वा करोति ॥ १५१ ॥

**चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।**
**विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः १५२**

चिकित्सेति । चिकित्सको भिषक् देवलः प्रतिमापरिचारकः वर्तनार्थत्वेनैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधः न तु धर्मार्थम् । देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेदिति देवलवचनात् । मांसविक्रयिणः सकृदपि सद्यः पतति मांसेनेति लिङ्गात् । विपणेनेति । विपणो वणिज्या तया जीवन्तः । हव्यकव्ययोरित्यभिधानाद्दैवे पित्र्ये चैते त्याज्याः ॥

**प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।**
**प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्द्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥**

प्रेष्य इति । भृतिग्रहणपूर्वकं ग्रामाणां राज्ञश्चाज्ञाकारी कुत्सितनखकृष्णदन्तगुरुप्रतिकूलाचरणशीलत्यक्तश्रौतस्मार्ताग्निकलोपजीवनश्च हव्यकव्ययोर्वर्ज्या इति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्गः उत्तर एव च ॥ १५३ ॥

**यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।**
**ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥**

यक्ष्मीति। यक्ष्मी क्षयरोगी पशुपालो वृत्त्यर्थतया छागमेषादिपोषकः परिवेत्तृपरिवित्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ निराकृतिः पञ्चमहायज्ञानुष्ठानरहितः। तथा च च्छन्दोगपरिशिष्टम्। निराकर्तामरादीनां स विज्ञेयो निराकृतिः। ब्रह्मद्विट् ब्राह्मणादीनां द्वेष्टा गणाभ्यन्तरो गणार्थोपस्पृष्टसंबन्धिधनाद्युपजीवी ॥ १५४ ॥

**कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।**
**पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥**

कुशीलव इति। कुशीलवो नर्तनवृत्तिः अवकीर्णी स्त्रीसंपर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्च वृषलीपतिः सवर्णामपरिणीय कृतशूद्राविवाहः पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रो वक्ष्यमाणः उपपतिर्यस्य जायाजारो गृहेऽस्ति ॥ १५५ ॥

**भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।**
**शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६॥**

भृतकेति। भृतिर्वेतनं तद्ग्राही भृतकः सन् योऽध्यापकः स तथा एवं भृतकाध्यापितः शूद्रशिष्यो व्याकरणादौ गुरुश्च तस्यैव वाग्दुष्टः परुषभाषी अभिशस्त इत्यन्ये कुण्डगोलकौ। वक्ष्यमाणौ ॥१५६॥

**अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।**
**ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥**

अकारणेति। मातुः पितुर्गुरूणां च परित्यागकारणं विना त्यक्ता शुश्रूषादेरकर्ता पतितश्चाध्ययनकन्यादानादिभिः संबन्धैः संपर्कं गतः पतितत्वादेवास्य निषेध इति चेन्न। संवत्सरात्प्रागिदं भविष्यति संवत्सरेण पततीति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १५७ ॥

**अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।**
**समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८॥**

अगारेति। गृहदाहकः मरणहेतुद्रव्यस्य दाता कुण्डस्य वक्ष्यमाणस्य योऽन्नमश्नाति प्रदर्शनार्थत्वात्कुण्डस्य गोलकस्यापि ग्रहणम्। अत एव देवलः। अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः। यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशीति कथ्यते ॥ सोमलताविक्रेता। समुद्रे

यो वह्नित्रादिना द्वीपान्तरं गच्छति वन्दी स्तुतिपाठकः तैलार्थं तिलादिबीजानां पेष्टा साक्षिवादे कूटस्य मृषावादस्य कर्ता ॥ १५८ ॥

**पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।**
**पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥१५९॥**

पित्रेति । पित्रा सह शास्त्रार्थे लौकिके वा वस्तुनि निरर्थं यो विवदते कितवो यः स्वयं देवितुमनभिज्ञः स्वार्थं परान्देवयति न स्वयं देविता तस्योक्तत्वात् न च सभिकः तस्य द्यूतवृत्तिपदेनाभिधास्यमानत्वात् । केकर इति पाठे तिर्यग्दृष्टिः सुराव्यतिरिक्तमद्यपाता कुष्ठी अनिर्णीतेऽपि तस्मिन्महापातकादौ जाताभिशापः छद्मना धर्मकारी रसविक्रेता ॥ १५९ ॥

**धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः ।**
**मित्रध्रुक् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥**

धनुरिति । धनूंषि शरांश्च यः करोति ज्येष्ठायां सोदरभगिन्यामनूढायां या कनिष्ठा विवाहेन दीयते साग्रेदिधिषूस्तस्याः पतिः । तथा च लोकाक्षिः । ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा । सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृतः ॥ गोविन्दराजस्तु भ्रातुर्मृतस्य भार्यायामित्यनेनाग्रेदिधिषूपतिरेव वृत्तिवशादग्रेपदलोपेन दिधिषूपतिरिति मनुना वक्ष्यते स इह गृह्यत इत्याह। मित्रध्रुक् यो मित्रस्यापकारे वर्तते द्यूतवृतिः सभिकः पुत्रेणाध्यापितः पिता पुत्राचार्यत्वासंभवात् ॥

**भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।**
**उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च १६१**

भ्रामरीति । अपस्मारी गण्डमालाख्यव्याध्युपेतः श्वेतकुष्ठयुक्तः दुर्जनः उन्मादवान् अचक्षुर्वेदनिन्दाकरः ॥ १६१ ॥

**हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।**
**पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥१६२॥**

हस्तीति । हस्तिगवाश्वोष्ट्राणां विनेता नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशास्त्रमुपलक्ष्यते तेन यो वर्तते । पक्षिणां पञ्जरसंजातानां क्रीडाद्यर्थं पोषिता युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

स्रोतसामिति । प्रवहज्जलानां सेतुभेदादिना देशान्तरनेता तेषामेवावरणकर्ता निजगतिप्रतिबन्धको गृहसन्निवेशोपदेशको वास्तुविद्योपजीवी दूतो राजग्रामप्रेष्यव्यतिरिक्तोऽपि वृक्षरोपयिता वेतनग्रहणेन नतु धर्मार्थी । पश्चान्नरोपी नरकं न यातीति विधानात् २६३

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥१६४॥

श्वक्रीडीति । क्रीडार्थं शुनः पोषयति श्येनैर्जीवति क्रयविक्रयादिना । कन्याभिगन्ता हिंसारतः शूद्रोपकृतवृत्तिः । वृषलपुत्र इति पाठान्तरम् वृषला एव केवलाः पुत्रा यस्येत्यर्थः । विनायकादिगणयागकृत् ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च १६५

आचारेति । गुर्वतिथिप्रत्युत्थानाद्याचारवर्जितः क्लीबो धर्मकृत्यादौ निरुत्साहः । नपुंसकस्योक्तत्वात् । नित्यं याचनेन परोद्वेजकः स्वयंकृतया कृष्या यो जीवति वृत्त्यन्तरेऽपि वा संभवत्यस्वयंकृतयापि श्लीपदी व्याधिना स्थूलचरणः केनापि निमित्तेन साधूनां निन्दाविषयः ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६॥

औरभ्रिक इति । मेषमहिषजीवनः परपूर्वा पुनर्भूस्तस्याः पतिः प्रेतनिर्हारको धनग्रहणेन नतु धर्मार्थम् । एतद्वै परमं तपो यत्प्रेतमरण्यं हरन्तीति अवश्यश्रुत्या विहितत्वात् ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

एतानिति । एतान् स्तेनादीन्निन्दिताचारान्काणादींश्च पूर्वजन्मा-

**त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।**
**ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥**

त्रिणाचिकेत इति । त्रिणाचिकेतः अध्वर्युवेदभागः तद्व्रतं च तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निरग्निहोत्री । तथा च हारीतः । पवनः पावनस्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे । सायंप्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पङ्क्तिपावनः । पवन आवसथ्याग्निः पावनः सभ्योऽग्निः शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते । त्रिसुपर्णो बह्वृचां वेदभागः तद्व्रतं च तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिसुपर्णः षडङ्गानि शिक्षादीनि यो व्याचष्टे स षडङ्गवित् सर्वप्रवचनेन षडङ्गाध्येतोक्तः । ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहोढा तस्या आत्मसंतानः पुत्रः ज्येष्ठसामानि आरण्यके गीयन्ते तेषां गाता एते षट् विज्ञेयाः पङ्क्तिपावना इत्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥ १८५ ॥

**वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।**
**शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥१८६॥**

वेदेति । अनधीत्यापि वेदाङ्गानि गुरूपदेशाधिगतवेदार्थः प्रवक्ता वेदार्थस्यैव ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी सहस्रद इति देयविशेषानुपादानेऽपि गावो वै यज्ञस्य मातर इत्यादिविशेषप्रवृत्तश्रुतिदर्शनात् गोसहस्रदाता बहुप्रदो वा शतायुः शतवयाः श्रोत्रियायैव देयानीति नियमात्सति श्रोत्रियत्वे उक्तगुणयोगात्पङ्क्तिपावनत्वम् ॥ १८६ ॥

**पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।**
**निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥१८७॥**

पूर्वेद्युरिति । श्राद्धकर्मणि प्राप्ते श्राद्धाहात्पूर्वदिने तदसंभवे श्राद्धदिन एवोक्तलक्षणान्ब्राह्मणान्सम्यगतिसत्कृत्य निमन्त्रयेत् । त्रयोऽवरा न्यूना येषां ते त्र्यवराः न तु तावत एव । एकैकभोजनस्याप्युक्तत्वात् ॥ १८७ ॥

**निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।**
**न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् १८८**

निमन्त्रित इति । श्राद्धे निमन्त्रितो ब्राह्मणो निमन्त्रणादारभ्य

श्राद्धाहोरात्रं यावन्मैथुननिवृत्तिसंयमनियमवान् स्यात् । अवश्यकर्तव्यजपादिवर्जं वेदाध्ययनं च न कुर्यात् । श्राद्धकर्तापि तथैव स्यात् ॥ १८८ ॥

**निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।**
**वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥**

निमन्त्रितानिति । पूर्वनियमविधेरयमनुवादः । यस्मात्तान्ब्राह्मणान्निमन्त्रितानदृश्यरूपेण पितरोऽधितिष्ठन्ति । प्राणवायुवद्गच्छतोऽनुगच्छन्ति तथोपविष्टेषु तेषु समीप उपविशन्ति तस्मान्नियता भवेयुः ॥ १८९ ॥

**केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।**
**कथं चिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥१९०॥**

केतित इति । हव्यकव्ये यथाशास्त्रं निमन्त्रितो ब्राह्मणः स्वीकृत्य केनापि प्रकारेण भोजनमकुर्वाणस्तेन पापेन जन्मान्तरे सूकरो भवति ॥ १९० ॥

नियतात्मा भवेत्सदेत्यनेन मैथुननिषेधे कृते वृषलीगमनस्याधिकदोषज्ञापनायाह—

**आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।**
**दातुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥**

आमन्त्रितस्त्विति । वृषली शूद्रा तत्र ऊढत्वाच्छ्राद्धे निमन्त्रितः सन् यो वृषल्या सार्धं स्त्रीपुंसधर्मेण सुरतादिना रमते स दातुर्यत्पापं तत्प्राप्नोति । पापोत्पत्तिमात्रं विवक्षितम् । अन्यथा दातरि अपापे पापं न जायते न चेदं दातुः प्रायश्चित्ततया विहितं येनासौ पापान्मुच्यते । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानात् वृषस्यन्ती चपलयति भर्त्तारमिति योगाश्रयणेन श्राद्धभोक्तुरूढा ब्राह्मण्यपि वृषल्यभिमतात्रेत्याहतुः ॥ १९१ ॥

**अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।**
**न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥१९२॥**

अक्रोधना इति । क्रोधरहिता बहिःशौचं मृद्वारिभ्यामन्तःशौचं

रागद्वेषादित्यागस्तद्युक्ताः सर्वदा स्त्रीसंयोगादिशून्याः त्यक्तयुद्धाः दयाद्यष्टगुणयोगो महाभागता तद्वन्तः अनादिदेवतारूपाः पितरस्तस्मात्क्रोधादिरहितेन भोक्त्रा कर्त्रा च भवितव्यम् ॥ १९२ ॥

**यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।**
**ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥**

यस्मादिति । एषां सर्वेषां पितॄणां यस्मादुत्पत्तिर्ये च पितरो यैर्ब्रह्मणादिभिर्यैर्नियमैः शास्त्रोक्तकर्मभिरुपचरणीया भवेयुस्तान्साकल्येन शृणुत ॥ १९३ ॥

**मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।**
**तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः १९४**

मनोरिति । हिरण्यगर्भोपत्यस्य मनोर्ये मरीच्यादयः पुत्राः पूर्वमुक्ताः मरीचिरत्र्यङ्गिरसावित्यादिना तेषामृषीणां सर्वेषां सोमपादयः पितृगणाः पुत्रा मन्वादिभिः स्मृताः ॥ १९४ ॥

**विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।**
**अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः १९५**

विराडिति । विराट्सुताः सोमसदोनाम साध्यानां पितरः । अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याता देवानां पितरः ॥ १९५ ॥

**दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।**
**सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः॥१९६॥**

दैत्येति । दैत्यादीनां प्रथमाध्यायोदितभेदानां अत्रिपुत्रा बर्हिषदो नाम पितरः स्मृताः ॥ १९६ ॥

**सोमपानाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।**
**वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः १९७**

सोमपा इति । ब्राह्मणप्रभृतीनां चतुर्णां वर्णानां सोमपाप्रभृतयश्चत्वारः पितरः स्मृताः ॥ १९७ ॥

**सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।**
**पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः १९८**

सोमपा इति। कवेर्भृगोः सोमपाः पुत्राः। हविर्भुज एव हविष्मन्तः अङ्गिरसः पुत्राः। आज्यपाः पुलस्त्यसुताः। सुकालिनो वसिष्ठसुताः

**अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा।**
**अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥ १९९**

अग्नीति। अग्निदग्धानग्निदग्धकाव्यबर्हिषदग्निष्वात्तसौम्याख्यान्परानिपितॄन्विप्राणामेव जानीयात्॥ १९९॥

**य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः।**
**तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम्॥ २००॥**

य इति। य एते प्रधानभूताः पितृगणा उक्तास्तेषामपीह जगति पितर एव पुत्रपौत्रा अनन्ता विज्ञेयाः। पुत्रपौत्रमिति गवाश्वप्रभृतीनि चेत्येकवद्भावः। एतच्छ्लोकसूचिता एव वरो वरेण्य इत्यादयोऽन्येऽपि पितृगणा मार्कण्डेयादिपुराणादिषु श्रूयन्ते॥ २००॥

**ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।**
**देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥२०१॥**

ऋषिभ्य इति। ऋषिभ्यो मरीच्यादिभ्य उक्तक्रमेण पितरो जाताः। पितृभ्यो देवमानवा जाताः देवेभ्यश्च जङ्गमस्थावरं जगत्क्रमेण जातं तस्मात्सोमपादिप्रभवत्वात्स्वपितृपितामहप्रपितामहानामेषां श्राद्धे पूजनीयाः सोमपादयोऽपि पूजिताः सन्तः श्राद्धफलदानाय कल्पन्त इति प्रकृतश्च पित्रादिश्राद्धस्तुल्यर्थोऽयं सोमपादिपितृगणोपन्यासः। अथवा आवाहनकाले निजपित्रादयो ब्राह्मणादिभिः सोमपादिरूपेण ध्येया एवं व्यवस्थाज्ञानमनुष्ठानपरता च स्यात्॥ २०१॥

**राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः।**
**वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥ २०२॥**

राजतैरिति। एषां पितॄणां रूप्यमयपात्रैः रूप्ययुक्तैर्वा ताम्रादिपात्रैर्जलमपि श्रद्धया दत्तमक्षयसुखहेतुः। संपद्यते किं पुनः प्रशस्तपायसादीति॥ २०२॥

**देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।**
**दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम्॥२०३॥**

देवेति । देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तद्देवकार्यम् । ततः पितृकार्यं द्विजातीनां विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते । अनेन पितृश्राद्धस्य प्राधान्यं दैवं तत्राङ्गमित्याह । एतदेव स्पष्टयति । यतो दैवं कर्म पितृकृत्यस्य पूर्वं सदाप्यायनं परिपूरकं स्मृतम् ॥ २०३ ॥

**तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।**
**रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्॥२०४॥**

तेषामिति । आरक्षो रक्षा तेषां पितॄणां रक्षाभूतं दैवं विश्वेदेवब्राह्मणं पूर्वं निमन्त्रयेत् । यस्माद्रक्षावर्जितं श्राद्धं राक्षसा आच्छिन्दन्ति ॥ २०४ ॥

**दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।**
**पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः २०५**

दैवेति । यत एवमतः तच्छ्राद्धं दैवाद्यन्तं दैवे कर्मणि आद्यन्तावारम्भावसाने यस्य तत्तथा । एतेनेदमुक्तं निमन्त्रणादि सर्वं दैवपूर्वं विसर्जनं तु देवानां शेषे अत एव देवलः । यत्तत्र क्रियते कर्म पैतृके ब्राह्मणान्प्रति । तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेविकपूर्वकम् । न तु तच्छ्राद्धं पित्रुपक्रमावसानं पित्राद्यन्तं तदनुतिष्ठन्ससंतानः शीघ्रं विनश्यति ॥ २०५ ॥

**शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।**
**दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥**

शुचिमिति । अस्थ्यङ्गाद्यनुपहतं देशं निर्जनं च गोमयेनोपलेपयेत् दक्षिणादिगवनतं च प्रयत्नतः संपादयेत् ॥ २०६ ॥

**अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।**
**विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७॥**

अवेति । चोक्षाः स्वभावशुचयोऽरण्यादिप्रदेशास्तेषु नद्यादितीरेषु तथा निर्जनप्रदेशेषु दत्तेन श्राद्धादिना सर्वदा पितरस्तुष्यन्ति २०७

**आसनेषूपकॢप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक् ।**
**उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८॥**

आसनेष्विति । तत्र च देशे आसनेषु पृथक्पृथक् विन्यस्तेषु सकुशेषु प्रागामन्त्रितब्राह्मणान्सम्यक्कृतस्नानाचमनानुपवेशयेत् । अत्र देवब्राह्मणासने कुशद्वयं पित्रासनेषु च प्रत्येकं दक्षिणाग्र एकः कुशो देयः । तदाह देवलः । ये चात्र विश्वेदेवानां विप्राः पूर्वनिमन्त्रिताः । प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहतानि च । दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च ॥ दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः । दक्षिणामुखयुक्तानि दक्षिणाग्राणि । अग्रं काण्डमूलापेक्षया २०८

**उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।**
**गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥**

उपेति । तान्विप्रानामन्त्रितानासनेषूपवेश्य कुङ्कुमादिगन्धमाल्यधूपादिभिः स्पृहणीयगन्धैर्देवपूर्वकमर्चयेत् ॥ २०९ ॥

**तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।**
**अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥**

तेषामिति । तेषां ब्राह्मणानामर्घोदकपवित्रतिलान्संमिश्रान्कृत्वा तैर्ब्राह्मणैः सहानुज्ञातोऽग्नौ वक्ष्यमाणं होमं कुर्यात् । अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनापि पूर्वं कर्त्तव्या सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि करिष्य इत्यादिका । अनुज्ञापि ओमित्येवंरूपा कुरुष्वेति वा ॥ २१० ॥

**अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः ।**
**हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥**

अग्नेरिति । अग्नेः सोमयमयोश्च विधिवत्पर्युक्षणादिपूर्वं हविर्दानेन प्रीणनमादौ कृत्वा पश्चादन्नादिना पितॄंस्तर्पयेत् । सोमयमयोर्द्वन्द्वनिर्देशेऽपि पृथगेव देवतात्वम् । सहादिशब्दप्रयोगाभावात् । यत्र साहित्यं विवक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोतीत्युक्तं प्राक् ॥ २११ ॥

**अभ्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।**
**यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥**

अभ्यभावे त्विति । अभ्यभावे पुनर्ब्राह्मणहस्त एव उक्ताहुतित्रयं दद्यात् । यस्माच्च एवाग्निः स एव ब्राह्मण इति वेदविद्भिर्ब्राह्मणैरुक्तः

अग्न्यभावश्चानुपनीतस्य संभवति उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वं मृतभार्यस्य वा ॥ २१२ ॥

**अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।**
**लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥**

अक्रोधेति । क्रोधशून्यान्सुप्रसादान्प्रसन्नमुखान्प्रवाहानादितया पुरातनान् अग्नौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन लोकवृद्धये उद्युक्तान् श्राद्धपात्रभूतान्मन्वादयो वदन्ति । तस्माद्देवतुल्यत्वाच्छ्राद्धं ब्राह्मणस्य तद्धस्ते दातव्यमिति पूर्वविध्यनुवादः ॥ २१३ ॥

**अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।**
**अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥**

अपेति । अग्नौ पर्युक्षणाद्यङ्गमुक्तं अग्नौकरणहोमानुष्ठानक्रममपसव्यं दक्षिणसंस्थं कृत्वा ततोऽपसव्येन दक्षिणहस्तेन पिण्डाधारभूतायां भुव्युदकं क्षिपेत् ॥ २१४ ॥

**त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।**
**औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥**

त्रीनिति । तस्मादग्न्यादिहोमादुद्धृतादन्नादुद्धृतावशिष्टान् त्रीन् पिण्डान्कृत्वा औदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन समाहितोऽनन्यमना दक्षिणमुखस्तेषु दर्भेष्विति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भेषु दद्यात् ॥ २१५ ॥

**न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।**
**तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥२१६॥**

न्युप्येति । विधिपूर्वकं स्वगृह्योक्तविधिना दर्भेषु तान्पिण्डान्दत्वा दर्भमूलेषु करावघर्षणमिति विष्णुवचनाच्च तेषु दर्भेषु मूलदेशे हस्तं निर्लेपं कुर्यात्प्रपितामहपित्रादीनां त्रयाणां लेपभुजां तृप्तये ॥२१६॥

**आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।**
**षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥२१७॥**

आचम्येति । अनन्तरमुपस्पृश्योदङ्मुखो भूत्वा यथाशक्ति प्राणायामत्रयं कृत्वा वसन्ताय नमस्तुभ्यमित्यादिना षड्ऋतून्नमस्कुर्यात्पि-

तृंश्च नमो वः पितर इत्यादिमन्त्रयुक्तमद्भिः पर्यावृत्त्येति गृह्यदर्शनाद्दक्षिणामुखो नमस्कुर्यात् ॥ २१७ ॥

**उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।**
**अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः॥२१८॥**

उदकमिति । पिण्डदानात्पूर्वं पिण्डाधारदेशदत्तोदकशेषमुदकपात्रस्थं प्रतिपिण्डसमीपे क्रमेण पुनरुत्सृजेत् । तांश्च पिण्डान्यथान्युप्तान् येनैव क्रमेण दत्तांस्तेनैव क्रमेणावजिघ्रेत्समाहितोऽनन्यमनाः ॥ २१८ ॥

**पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।**
**तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९॥**

पिण्डेभ्य इति । अल्पिकेति अन्नाल्पमात्रा अवयवभागाः पिण्डेषु उत्पन्नानल्पभागान्पिण्डक्रमेणैव गृहीत्वा तेनैव पित्रादिब्राह्मणान्भोजनकाले भोजनात्पूर्वं भोजयेत् । विधिवत्पिण्डानुष्ठानवत्पितरमुद्दिश्य यः पिण्डो दत्तस्तदवयवं पितृब्राह्मणं भोजयेत् । एवं पितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि ॥ २१९ ॥

**म्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।**
**विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥२२०॥**

म्रियमाण इति । म्रियमाणे जीवति पितरि मृतानां पितामहादित्रयाणां श्राद्धं कर्तव्यम् । अथवा पितृविप्रस्थाने तमेव स्वपितरं भोजयेत् । पितामहप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणौ भोजयेत्पिण्डद्वयं च दद्यात् ॥ २२० ॥

**पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।**
**पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्॥२२१॥**

पितेति । नामकीर्तनमत्र श्राद्धोपलक्षणार्थं पितृजीवनापेक्षोऽयं वाशब्दः । यस्य पुनः पिता मृतः स्यात्पितामहे जीवति स पितृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात् । गोविन्दराजस्तु यस्य पितृप्रपितामहौ प्रेतौ स्यातां स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यादिति विष्णुवचनात्प्रपितामहतत्पितृभ्यां दद्यादिति व्याख्यातवान् ॥२२१॥

**पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।**
**कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥**

पितामह इति । यथा जीवत्पिता भोज्यस्तथा पितामहोऽपि पितामहब्राह्मणस्थाने भोज्यः । पितृप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणभोजनं पिण्डदानं च कुर्यात् । यथा वा जीवता पितामहेन त्वमेव यथारुचि कुर्विति दत्तानुज्ञः स्वरुच्या पितामहं वा भोजयेत् । पितृप्रपितामहयोर्वा श्राद्धद्वयं कुर्यादिति विष्णुवचनात्पितृप्रपितामहवृद्धप्रपितामहानां श्राद्धत्रयं कुर्यात् ॥ २२२ ॥

**तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।**
**तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥२२३॥**

तेषामिति । पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रामिति यदुक्तं तस्यायं कालविधिः प्रदेयविधिश्च तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सदर्भतिलोदकं दत्वा तदिति पूर्वनिर्दिष्टं पिण्डाग्रं पित्रे स्वधास्त्वित्येवमादि ब्रुवन् पित्रादिब्राह्मणेभ्यस्त्रिभ्यः क्रमेण दद्यात् ॥ २२३ ॥

**पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।**
**विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत्॥२२४॥**

पाणिभ्यामिति । अन्नस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । वर्धितं पूर्णं पिठरादिपात्रं स्वयं पाणिभ्यां गृहीत्वा पितॄंश्च चिन्तयन्नसवत्यगारादानीय ब्राह्मणानां समीपे परिवेषणार्थमत्वरया स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

**उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।**
**तद्धिप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥**

उभयोरिति । अधिकरणसप्तमीयम् । उभयोः करयोर्मुक्तमस्थितं यदन्नं ब्राह्मणान्तिकमानीयते तदसुरा दुष्टबुद्धय आच्छिन्दन्ति । तस्मान्नैकहस्तेनानीय परिवेष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

**गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।**
**विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥२२६॥**

गुणानिति । गुणान् व्यञ्जनानि अन्नापेक्षयाऽप्राधान्याद्गुणयुक्ता-

न्वा सूपशाकाद्यान्प्रयतः शुचिः समाहितः अनन्यमनाः सम्यक् यथा न विशीर्यन्ति तथा भूमावेव स्वपात्रस्थाने स्थापयेन्न दारुफलकादौ ॥

**भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।**
**हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च २२७**

भक्ष्यमिति । भक्ष्यं खरविशदमभ्यवहरणीयं मोदकादि । भोज्यं पायसादि । नानाप्रकारफलमूलानि हृदयस्य प्रियाणि मांसानि पानानि सुगन्धीनि भूमावेव विन्यसेदिति पूर्वेण संबन्धः ॥ २२७ ॥

**उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।**
**परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥**

उपेति । एतत्सर्वमन्नादिकं ब्राह्मणसमीपमानीय प्रयतः शुचिः अनन्यमनाः क्रमेण परिवेषयेत् इदं मधुरमिदमम्लमित्येवं माधुर्यादिगुणान्कथयन् ॥ २२८ ॥

**नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।**
**न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥**

नास्रमिति । रोदनक्रोधमृषाभाषणानि न कुर्यात् । पादेन चान्नं न स्पृशेत् । न चोत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्नं पात्रे क्षिपेत् । पुरुषार्थतया प्रतिषिद्धयोरपि क्रोधानृतयोः श्राद्धाङ्गत्वज्ञापनार्थोऽयं निषेधः॥२२९॥

**अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।**
**पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥**

अस्रमिति । अश्रु क्रियमाणं प्रेतान्भूतवेषान् श्राद्धान्नानि प्रापयति न पितॄणामुपकारकं भवति । क्रोधः शत्रून्मृषावादः कुक्कुरान् पादस्पर्शोऽन्नस्य राक्षसान् अवधूननं पापकारिणः तस्मान्न रोदनादि कुर्यात् ॥ २३० ॥

**यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।**
**ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् २३१**

यदिति । यद्यद्विप्राणामीप्सितं अन्नव्यञ्जनादि तत्तदमत्सरो दद्यात् परमात्मनिरूपणपराः कथाश्च कुर्यात् यतः पितॄणामेतदपेक्षितम् २३१

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च २३२

स्वाध्यायमिति । स्वाध्यायं वेदं मानवादीनि धर्मशास्त्राणि आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि इतिहासान्महाभारतादीन् पुराणानि ब्रह्मपुराणादीनि खिलानि श्रीसूक्तशिवसंकल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान् श्रावयेत् ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

हर्षयेदिति । स्वयं हृष्टो भूत्वा प्रियवचनादिभिर्ब्राह्मणान्परितोषयेत् । अन्नं चात्वरया भोजयेत् । मिष्टान्नेन पायसादिभिः पायसमिदं स्वादु मोदकोऽयं हृद्यो गृह्यतामित्यादिगुणाभिधानैः पुनर्ब्राह्मणान्प्रेरयेत् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

व्रतेति । ब्रह्मचारिणमपि दौहित्रं श्राद्धे प्रयत्नतो भोजयेत् । अपिशब्दादब्रह्मचारिणमपि आनुकल्पिकमध्यपठितस्यापि ब्रह्मचारिणो यत्नवचनाच्छ्रेष्ठत्वं कथयति । नेपालकम्बलं चासने दद्यात् । दौहित्र मन्तरेणापि तिलांश्च श्राद्धभूमौ विकिरेत् ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् २३५

त्रीणीति । पूर्वोक्तान्येव त्रीणि दौहित्रादीनि श्राद्धे पवित्राणीति ज्ञाप्यन्ते । त्रीणि च शौचादीनि प्रशंसन्ति ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्दुग्धीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् २३६

अत्युष्णमिति । उष्णमेवात्युष्णं यस्योष्णस्यान्नादेर्भोजनमुचित्तं तदुष्णं दद्यान्न तु फलाद्यपि । अत एव शङ्खः । उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् । अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च प-

ण्डितः ॥ संयतवचाश्च ब्राह्मणा अश्नीयुः किमिदं स्वाद्वस्वादुवेति दात्रा अन्नादिगुणान् पृष्टा वक्त्राद्यभिनयेनापि न ब्रूयुः । वाग्यतस्यात्रैव विधानात् ॥ २३६ ॥

**यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।**
**पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७॥**

यावदिति । यावदन्ने उष्णता भवति यावच्च मौनिनो भुञ्जते यावच्च हविर्गुणा नोच्यन्ते तावत्पितरोऽश्नन्तीति पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य प्रशंसा ॥ २३७ ॥

**यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।**
**सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥**

यदिति । वस्त्रादिवेष्टितशिरा यदन्नं भुङ्क्ते तथा दक्षिणामुखः सपादुकश्च तद्राक्षसा भुञ्जते न पितरस्तस्मादेवंरूपं न कर्तव्यम् २३८

**चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।**
**रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९॥**

चाण्डाल इति । चाण्डालग्राम्यसूकरकुक्कुटकुक्कुरोदक्यानपुंसका यथा ब्राह्मणान्भोजनकाले न पश्येयुस्तथा कार्यम् ॥ २३९ ॥

**होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।**
**दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥२४०॥**

होम इति । यस्माद्धोमेऽग्निहोत्रादौ प्रदाने गोहिरण्यादौ भोज्ये स्वाभ्युदयार्थं ब्राह्मणभोजने दैवे हविषि दर्शपौर्णमासादौ पित्र्ये श्राद्धादौ यदेभिर्वीक्ष्यते क्रियमाणं कर्म तद्यदर्थं क्रियते तन्न साधयति ॥

**घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।**
**श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥**

घ्राणेनेति । सूकरस्तदन्नादेर्गन्धं घ्रात्वा कर्म निष्फलं करोति तस्मादन्नघ्राणयोग्यदेशान्निरसनीयः । कुक्कुटः पक्षवातेन सोऽपि पक्षपवनयोग्यदेशादपगमनीयः । श्वा दर्शनेन शुनोऽन्नादिदर्शनं निषिद्धमतिदोषभूयस्त्वज्ञापनार्थं पुनरभिहितम् । अथवा दृष्टिनिपातेनेति

श्राद्धकर्तृभोक्तृणां दृष्टिनिपातविषयत्वेन । अवरवर्णः शूद्रस्तस्माज्जातोऽवरवर्णजः शूद्र एव असावन्नादिस्पर्शेन द्विजातिश्राद्धं निष्फलयति ॥ २४१ ॥

**खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।**
**हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥**

खञ्जो वेति । यदि गतिविकलः काणो वा दातुर्दासस्यैव प्रेष्यत्वविधानात् । अपिशब्दादन्योऽपि शूद्रो न्यूनाधिकाङ्गुल्यादिर्वा स्यात्तदा तमपि ततः श्राद्धदेशादपसारयेत् ॥ २४२ ॥

**ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् ।**
**ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥**

ब्राह्मणमिति । ब्राह्मणमतिथिरूपं अन्यं वा भक्षणशीलं भोजनार्थं तत्कालोपस्थितं श्राद्धपात्रब्राह्मणैरनुज्ञातो यथाशक्त्यन्नभोजनेन भिक्षादानेन चार्हयेत् ॥ २४३ ॥

**सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।**
**समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥**

सार्वेति । वर्णशब्दः प्रकारवाची सर्वप्रकारकमन्नादिकं व्यञ्जनादिभिरेकीकृत्य उदकेनाप्लावयित्वा कृतभोजनानां ब्राह्मणानां पुरतो भूमौ दर्भेषु विकिरश्च य इति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भोपरि निक्षिपेत्त्यजेत् २४४

**असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।**
**उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥**

असंस्कृतेति । नास्य कार्योऽग्निसंस्कार इति निषेधात्संस्कारानर्हबालानां तथा कुलस्त्रीणां अदृष्टदोषाणां ये त्यक्तारस्तेषां पात्रस्थमुच्छिष्टं दर्भेषु च यो विकिरः स भागः स्यात् । अन्ये तु त्यागिनामिति गुर्वादित्यागिनां कुलयोषितामिति स्वातन्त्र्येण तु कुलयोषितामनूढकन्यानामिति व्याचक्षते । गोविन्दराजस्तु त्यागिनां कुलयोषितामिति सामान्योपक्रमादिदं विशेषाभिधानं संस्कृतं भक्षा इतिवत्ततः स्वकुलं त्यक्त्वा गतानां कुलस्त्रीणामित्याह ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

उच्छेषणमिति । उच्छिष्टं यद्भूमिगतं तद्दाससमूहस्यावक्रस्यानलसस्याकुटिलस्य च पित्र्ये श्राद्धकर्मणि भागधेयं मन्वादयो वदन्ति २४६

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥२४७॥

आसपिण्डेति । मर्यादायामाङ् नाभिविधौ । सपिण्डीकरणश्राद्धपर्यन्तमचिरमृतस्य द्विजातेश्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनरहितं श्राद्धार्थमन्नं ब्राह्मणं भोजयेत् एकं च पिण्डं दद्यात् । अस्य च श्राद्धानुष्ठानं एकोद्दिष्टं दैवहीनमेकार्घैकपवित्रकम् । आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवदिति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिष्ववगन्तव्यम् ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

सहेति । अस्येति यस्येदमेकोद्दिष्टं विहितं तस्य धर्मतः स्वगृह्यादिविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धे कृते अनयैवावृता उक्तामावास्याश्राद्धेतिकर्तव्यतया पिण्डनिर्वपणं पार्वणविधिना श्राद्धं पुत्रैः सर्वत्र मृताहादौ कर्तव्यम् । नन्वनयैवावृता इत्यनेन प्रकृतमेकोद्दिष्टमेव हि किमिति न परामृश्यते । उच्यते । तर्हि सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणे कृते पुनः अनयैवावृता इति भेदनिर्देशो न स्यात् ततोऽमावास्येतिकर्तव्यतैव प्रतीयते ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः॥२४९॥

श्राद्धमिति । आश्रितशूद्राय उच्छिष्टदानप्रसक्तावयं निषेधः । श्राद्धभोजनोच्छिष्टं यः शूद्राय ददाति स मूर्खः कालसूत्रं नाम नरकमधोमुखं गच्छति ॥ २४९ ॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदह्यौऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

आद्धेति । वृषलीशब्दोऽत्र स्त्रीपर इत्याहुः । निरुक्तं च कुर्वन्ति वृषस्यन्ती चपलयति भर्तारमिति वृषली ब्राह्मणस्य परिणीता ब्राह्मण्यपि वृषलीति । श्राद्धं भुक्त्वा तदहोरात्रे यः स्त्रीसंयोगं करोति तस्य पितरस्तस्याः पुरीषे मासं शेरत इति निवृत्त्यर्था निन्दा २५०

**पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।**
**आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति २५१**

पृष्ट्वेति । तृप्तान् ब्राह्मणान् बुध्वा स्वदितमिति पृष्ट्वा तेषामाचमनं कारयेत् । कृताचमनांश्च भो इति संबोध्य अभिरम्यतामिति ब्रूयात् । अभित इति पाठे अभित उभयत इह वा स्वगृहे वास्यतामित्यर्थः २५१

**स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।**
**स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥२५२॥**

स्वधेति । अनुज्ञानानन्तरं ब्राह्मणाः श्राद्धकर्तारं स्वधास्तु इति ब्रूयुः यस्मात्सर्वेषु श्राद्धतर्पणादिपितृकर्मसु स्वधाशब्दोच्चारणं प्रकृष्टा आशीः ॥ २५२ ॥

**ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।**
**यथा ब्रूयुस्तथाकुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥**

तत इति । स्वधाशब्दोच्चारणानन्तरं कृतभोजनानां ब्राह्मणानां शेषमन्नमप्यस्तीत्यवशिष्टमन्नं निवेदयेत् । तैर्ब्राह्मणैरिदमनेनान्नेन क्रियतामित्यनुज्ञातो यथा ते ब्रूयुस्तथान्नशेषविनियोगं कुर्यात् ॥२५३॥

इदानीं प्रसंगाच्छ्राद्धान्तरेषु विशेषविधिमाह—

**पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।**
**संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥**

पित्र्ये इति । पित्र्ये निरपेक्षपितृमातृदेवताक एकोद्दिष्टश्राद्धे तृप्तिप्रश्नार्थं स्वदितमिति वाच्यम् । तथा च गोभिलसांख्यायनौ स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु श्राद्धकालागतेनान्येनापि स्वदितमित्येव कर्तव्यमिति व्याचक्षतुः । श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित् । नानुरुद्धमिदं विद्वद्भद्धैर्न श्रद्दधीमहि । गोष्ठे गोष्ठिश्राद्धे सुश्रुतमिति वाच्यम् । गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टममिति द्वादश-

विधश्राद्धगणनायां गोष्टिश्राद्धमिति विश्वामित्रेण पठितम् । अभ्युदये वृद्धिश्राद्धे संपन्नमिति वाच्यम् । दैवे देवतोद्देशेन श्राद्धे रुचितमिति वचनीयम् । दैवश्राद्धं तु भविष्यपुराणोक्तम् । देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते । हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः ॥

**अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।**
**सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्राद्ध्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥२५५॥**

अपराह्ण इति । अमावास्याश्राद्धस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयोऽयमपराह्णकालः प्रातर्वृद्धिनिमित्तकमित्यादिना वृद्धिश्राद्धादौ स्मृत्यन्तरे प्रातःकालादिविधानात् । विष्टराद्यर्था दर्भाः गोमयादिना श्राद्धदेशसंशोधनं तिलाश्च विकिरणाद्यर्थाः सृष्टिरकार्पण्येनान्नादिविसर्गः मृष्टिरन्नादेश्च संस्कारविशेषः पङ्क्तिपावनादयश्च ब्राह्मणाः एताः श्राद्धे संपत्तय इत्यभिधानादङ्गान्तरापेक्षं प्रकृष्टत्वमेषां बोधितम् ॥ २५५ ॥

**दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।**
**पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥**

दर्भा इति । पवित्रं मन्त्राः पूर्वाह्णः कालः हविष्याणि मुन्यन्नादीनि सर्वाणि च यच्च पवित्रं पावनं वास्तुसंपादनादि पूर्वमुक्तं एताश्च देवार्थस्य कर्मणः समृद्धयः । हव्यशब्दो दैवकर्मोपलक्षणार्थः ॥

**मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।**
**अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥**

मुन्यन्नानीति । मुनेर्वानप्रस्थस्यान्नानि नीवारादीनि पयः क्षीरं सोमलतारसः अनुपस्कृतमविकृतं पूतिगन्धादिरहितं मांसं अक्षारलवणमकृत्रिमलवणं सैन्धवादि एतत्स्वभावतो हविर्मन्वादिभिरभिधीयते॥

**विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।**
**दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥२५८॥**

विसृज्येति । तान्ब्राह्मणान्विसृज्यानन्यमनाः मौनी पवित्रो दक्षिणां दिशं वीक्षमाण एतान्वक्ष्यमाणान् अभिलषितानर्थान् पितॄन्प्रार्थयेत् ॥ २५८ ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।
श्रद्धा च नो माव्यगमद्बहुधेयं च नोऽस्विति २५९

दातार इति । अस्मत्कुले दातारः पुरुषा वर्धन्तां वेदाश्चाध्ययनाध्यापनतदर्थबोधतदर्थयागाद्यनुष्ठानैर्वृद्धिमाप्नुवन्तु । पुत्रपौत्रादिकं च वर्धताम् । वेदार्थश्रद्धा चास्मत्कुले न व्यपैतु । दातव्यं च धनादिकं बहु भवतु ॥ २५९ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥२६०॥

एवमुक्तप्रकारेण पिण्डानां प्रदानं कृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरं तान् पिण्डान् गां ब्राह्मणं छागं वा भोजयेत् अग्नौ जले वा क्षिपेत् ॥२६०॥

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा॥२६१॥

पिण्डेति । पिण्डप्रदानं केचिदाचार्याः ब्राह्मणभोजनानन्तरं कुर्वते अन्ये पक्षिभिः पिण्डान् खादयन्ति । इयं च पक्षिभोजनरूपा प्रतिपत्तिरप्युदकप्रक्षेपयोर्वैकल्पिकीति दर्शयितुमुक्तयोरप्यभिधानम् २६१

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी २६२

पतिव्रतेति । धर्मार्थकामेषु मनोवाक्कायकर्मभिः पतिरेव मया परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा पतिव्रता धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोढा श्राद्धक्रियाणां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तेषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत् सम्यगाधत्त पितरो गर्भमित्यादिगृह्योक्तमन्त्रेण ॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्विकं धार्मिकं तथा ॥२६३॥

आयुष्मन्तमिति । तेन पिण्डभक्षणेन दीर्घायुषं कीर्तिधारणात्मकबुद्धियुक्तं धनपुत्रादिसंततिधर्मानुष्ठानसत्त्वाख्यगुणान्वितं पुत्रं जनयति ॥ २६३ ॥

**प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।**
**ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत्२६४**

प्रक्षाल्येति । तदनु हस्तौ प्रक्षाल्य ज्ञातिप्रायमन्नं कुर्यात् । ज्ञातीन् प्रैति गच्छतीति ज्ञातिप्रायम् । कर्मण्यम् । ज्ञातीन्भोजयेदित्यर्थः । तेभ्यः पूजापूर्वकमन्नं दत्वा मातृपक्षानपि साह्णं भोजयेत् ॥ २६४ ॥

**उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।**
**ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥२६५॥**

उच्छेषणमिति । तद्ब्राह्मणोच्छिष्टं तावत्कालं तिष्ठेत् यावद्ब्राह्मणानां विसर्जनं ब्राह्मणेषु मार्ष्टव्यमित्यर्थः । ततः संपन्ने श्राद्धकर्मणि वैश्वदेवबलिहोमकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनानि कर्तव्यानि । बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । अत एव मत्स्यपुराणे । निवृत्त्य प्रतिपत्त्यर्थं पर्युक्ष्याग्निं च मन्त्रवित् । वैश्वदेवं प्रकुर्वीत नैत्यकं विधिमेव चेति ॥

यैश्चान्नैरिति पूर्वमुक्तमपि व्यवधानादवुद्धिस्थं शिष्यसुखप्रतिपत्तये पुनर्वक्तव्यतया प्रतिजानीते—

**हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।**
**पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥**

हविरिति । चिररात्रायपदमव्ययं चिरकालवाचि अत एव । चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिराथर्का इत्याभिधानिकाः । यद्धविः पितृभ्यो यथाविधि दत्तं चिरकालतृप्तये अनन्ततृप्तये च संपद्यते तन्निःशेषेणाभिधास्यामि ॥ २६६ ॥

**तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।**
**दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम्॥२६७॥**

तिलैरिति । तिलधान्ययवमाषजलमूलफलानामन्यतमेन यथाशास्त्रं श्रद्धया दत्तेन मनुष्याणां मासं पितरस्तृप्यन्ति । कृष्णा माषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालय इति वायुपुराणवचनान्माषैरिति कृष्णमाषा बोद्धव्याः ॥ २६७ ॥

**द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।**
**औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥**

द्वाविति । पाठीनादिमत्स्यानां मांसेन द्वौ मासौ पितरः प्रीयन्त इति पूर्वेण संबन्धः । त्रीन्मासान्हारिणेन मांसेन चतुरो मेषमांसेन पञ्च द्विजातिभक्ष्यपक्षिमांसेन ॥ २६८ ॥

**षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।**
**अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥**

षण्मासानिति । षण्मासांश्छागमांसेन प्रीयन्ते पृषतश्चित्रमृगस्तन्मांसेन सप्त एणमांसेनाष्टौ रुरुमांसेन नव । एणरुरू हरिणजातिविशेषौ ॥ २६९ ॥

**दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।**
**शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥२७० ॥**

दशेति । दशमासानारण्यसूकरमहिषमांसैस्तृप्यन्ति एकादश शशकच्छपमांसेन ॥ २७० ॥

**संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।**
**वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥**

संवत्सरमिति । वर्षं पुनर्गोभवक्षीरेण तत्साधितोदनेन च तुप्यन्ति । तत्रैव पायसशब्दप्रसिद्धेः । वार्ध्रीणसस्य मांसेन द्वादशवर्षपर्यन्तं पितृतृप्तिर्भवति । वार्ध्रीणसश्च निगमे व्याख्यातः । त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धप्रजापतिम् । वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि ॥ नद्यादौ पयः पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च । त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः ॥ २७१ ॥

**कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।**
**आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः २७२**

कालेति । कालशाकाख्यं शाकं महाशल्काः सशल्का इति मेधातिथिः । मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते । महाशल्कलिनो मत्स्या इति वचनात् । खड्गो गण्डकः लोहो लोहितवर्णश्छाग एव सर्वलोहेनानन्त्यमिति पैठीनसिवचनात्तयोरामिषं मधुमाक्षिकं मुन्यन्नानि नीवारादीनि आरण्यानि सर्वाणि एतान्यनन्ततृप्तये संपद्यन्ते २७२

**यत्किंचिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।**
**तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥**

यदिति । ऋतुनक्षत्रतिथीनामयं समुच्चयः यत्किंचिदित्यप्रसिद्धं मधुसंयुक्तं वर्षाकाले मघात्रयोदश्यां दीयते तदप्यक्षयमेव भवति । त्रयोदश्या अधिकरणत्वेऽपीप्सितत्वविवक्षया प्राप्येत्यध्याहाराद्वा द्वितीया ॥ २७३ ॥

**अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।**
**पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥२७४॥**

अपीति । वर्षासु मघायुक्तत्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता तत्रापि प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् । प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन चेति शङ्खवचनात् । भाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते । पितरः किलैवमाशासते अपि नाम तथाविधः कश्चिदस्माकं कुले भूयात् योऽस्मभ्यं प्रकृतायां त्रयोदश्यां तथा तिथ्यन्तरेऽपि हस्तिनः पूर्वा दिशं गतायां छायायां मधुघृतसंयुक्तं पायसं दद्यात् । न तु त्रयोदशीहस्तिच्छाययोः समुच्चयः । यथाह विष्णुः । अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः । प्रावृट्काले सिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥ मधुप्लुतेन यः श्राद्धं पायसेन समाचरेत् । कार्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

**यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।**
**तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥**

यदिति । यद्यदिति वीप्सायाम् । सर्वमन्नमप्रतिषिद्धं यथाशास्त्रं सम्यग्रूपश्रद्धायुक्तः पितृभ्यो ददाति तदनन्तकं सर्वकालमक्षयमनपचितं परलोके पितृतृप्तये भवति अतस्तत्फलार्थिना श्रद्धया देयमिति विधियते ॥ २७५ ॥

**कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।**
**श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥२७६॥**

कृष्णेति । कृष्णपक्षे दशमीमारभ्य चतुर्दशीं त्यक्त्वा श्राद्धे यथा तिथयः श्रेष्ठा महाफला न तथैतदन्याः प्रतिपदादयः ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् २७७

युक्ष्विति । दिनशब्दोऽत्र तिथिपरः । युक्षु युग्मासु तिथिषु द्वितीयाचतुर्थ्यादिषु युग्मनक्षत्रेषु भरणीरोहिण्यादिषु श्राद्धं कुर्वन्सर्वाभिलषितान्प्राप्नोति । अयुग्मासु तिथिषु प्रतिपत्तृतीयाप्रभृतिषु अयुग्मेषु च नक्षत्रेषु अश्विनीकृत्तिकादिषु श्राद्धेन पितॄन्पूजयन्पुत्रादिसन्ततिं लभते पुष्कलां धनविद्यापरिपुष्टाम् ॥ २७७ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥२७८॥

यथेति । चैत्रसिताद्या मासा इति ज्योतिःशास्त्रविधानाच्छुक्लपक्षोपक्रमत्वान्मासानां अपरः पक्षः कृष्णपक्षः स यथा शुक्लपक्षात् श्राद्धस्य संबन्धी विशिष्टफलदो भवति । एवं पूर्वार्धदिवसादुत्तरार्धदिवसः प्रकृष्टफलो विशिष्यत इति वचनात्पूर्वाह्णेऽपि श्राद्धकर्तव्यतां बोधयति ॥ ननु शुक्लपक्षादनुक्तोत्कर्षस्यापरपक्षस्य कथं दृष्टान्तता । प्रसिद्धो हि दृष्टान्तो भवति । उच्यते । कृष्णपक्षे दशम्यादावित्यत्रैव विशिष्टविधावुत्कर्षाभिधानात् ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥२७९॥

प्राचीति । दक्षिणसंस्थितयज्ञोपवीतेनानलसेन दर्भहस्तेन अपसव्यं पितृतीर्थेन यथाशास्त्रं सर्वं पितृसंबन्धि कर्म आनिधनादासमाप्तेः कर्तव्यम् । आनिधनाद्यावज्जीवमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

रात्राविति । रात्रौ श्राद्धं न कर्तव्यम् । यस्माच्छ्राद्धविनाशनगुणयोगाद्राक्षसी मन्वादिभिरसौ कथिता । संध्ययोश्च न कुर्यात् । आदित्ये चाचिरोदिते अचिरोदितादित्यकालश्चापेक्षायां त्रिमुहूर्तः प्रातःकालो ग्राह्यः । यथोक्तं विष्णुपुराणे । रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्ते गते रवौ । प्रातस्ततः स्मृतः कालो भागः सोऽह्नस्तु पञ्चमः ॥

अपराह्णस्य श्राद्धाङ्गतया विधानात्कथमयमप्रसक्तप्रतिषेध इति चेत् नायं प्रतिषेधः स हि रागप्राप्तस्य वा स्याद्विधिप्राप्तस्य वा । नाद्यः । नात्र रागतो नित्यस्य दर्शश्राद्धस्य प्राप्तत्वाद्विधिप्राप्तस्य निषेधे षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः स्यात् तस्मात्पर्युदासोऽयम् । रात्र्यादिपर्युदस्तेतरकाले श्राद्धं कुर्यात् । अनुयाजेतरयजतिषु येयजामह इति मन्त्रवत् । अपराह्णविधिश्च प्राशस्त्यार्थः । अत एवोक्तम् । यथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यत इति ॥ २८० ॥

**अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।**
**हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥**

अनेनेति । कुर्यान्मासानुमासिकमिति प्रतिमासं श्राद्धं विहितं तदसंभवे विधिरयं चतुर्भिर्मासैरृतुरेकः एकस्तु ऋतुः संवत्सर इतीमं पक्षमाश्रित्योच्यते । अनेनोक्तविधानेन संवत्सरमध्ये त्रीन्वारान् हेमन्तग्रीष्मवर्षासु श्राद्धं कर्तव्यं तच्च समयाचारात्कुम्भवृषकन्यास्थेऽर्के पञ्चमहायज्ञान्तर्गतं च एकमप्याशयेद्विप्रमित्यनेन विहितं प्रत्यहं तु कुर्यादिति पूर्वोक्तदाढ्यर्थम् ॥ २८१ ॥

**न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।**
**न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥२८२॥**

न पैत्रिति । अग्नेः सोमयमाभ्यां चेत्यनेन विहितपितृयज्ञाङ्गभूतो होमो न लौकिके श्रौतस्मार्तव्यतिरिक्ताग्नौ शास्त्रेण विधीयते तस्मान्न लौकिकाग्नावग्नौकरणहोमः कर्तव्यः । निरग्निना तु अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावित्यभिधानाद्विप्रपाण्यादौ करणीयः । आहिताग्नेर्द्विजस्य नामावास्याव्यतिरेकेण कृष्णपक्षे दशम्यादौ श्राद्धं विधीयते । मृताहश्राद्धं तु नियतत्वात्कृष्णपक्षेऽपि तिथ्यन्तरे न निषिध्यते ॥ २८२ ॥

**यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।**
**तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥**

यदिति । पाञ्चयज्ञिकश्राद्धासंभवे विधिरयम् । यत्र स्नानानन्तरमुदकतर्पणं द्विजः करोति तेनैव सर्वं नित्यश्राद्धफलं प्राप्नोति । द्विजोत्तमपदं द्विजपरम् ॥ २८३ ॥

**वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।**
**प्रपितामहांस्तथादित्यान्श्रुतिरेषा सनातनी॥२८४॥**

वसूनिति । यस्मात्पित्रादयो वस्वादय इति । एषामनादिभूता श्रुतिरस्ति अतः पितॄन्वस्वाख्यदेवान्पितामहान् रुद्रान्प्रपितामहानादित्यान्मन्वादयो वदन्ति । ततश्च सिद्धबोधनवैयर्थ्यात् श्राद्धे पित्रादयो वस्वादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते। अत एव पैठीनसिः। य एवं विद्वान् पितॄन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पितृद्वेषान्नास्तिक्याद्वा यः पितृकर्मणि न प्रवर्तते तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पितॄणां स्तुतिवचनम् ॥ २८४ ॥

**विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।**
**विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५॥**

विघसाशीति । सर्वदा विघसभोजनः स्यात्सर्वदा चामृतभोजनो भवेत् । विघसामृतपदयोरप्रसिद्धत्वादर्थं व्याकुरुते । विप्रादिभुक्तशेषं विघस उच्यते । दर्शपौर्णमासादियज्ञशिष्टं पुरोडाशाद्यमृतम् । सामान्याभिधानेऽपि प्रकृतत्वाच्छ्राद्धे विप्रभुक्तशेषभोजनार्थोऽयं विधिः । अत एव भुञ्जीतातिथिसंयुक्तः सर्वं पितृनिषेवितमिति स्मृत्यन्तरम् । अतिथ्यादिविशेषाभोजनं त्वशिष्टं तु दम्पती इत्यनेनैव विहितं । तस्यैव यज्ञशेषतुल्यत्वापादनेन स्तुत्यर्थं पुनर्वचनमिति तु गोविन्दराजव्याख्यानमनुष्ठानविशेषानर्हं अप्राकरणिकं च ॥ २८५ ॥

**एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।**
**द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥**
**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥**

एतदिति । इदं पञ्चयज्ञभवमनुष्ठानं सर्वं युष्माकमुक्तं पार्वणश्राद्धव्यवहितैरपि पञ्चयज्ञैरुपसंहारस्तेषामभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थः । मङ्गलार्थ इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ । इदानीं द्विजानां मुख्यो ब्राह्मण-

स्तस्य वृत्तीनामृतादीनामनुष्ठानं श्रूयतामिति वक्ष्यमाणाध्यायैकदेशोपन्यासः ॥ २८६ ॥

इति वारेन्द्रनंदनवासीयभट्टदिवाकरात्मजश्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

## अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

आद्धकल्पानन्तरं वृत्तीनां रक्षणं चैवेति वृत्तिषु व्यक्ततया प्रतिज्ञातासु वृत्त्यधीनत्वाद्गार्हस्थ्यस्यानन्तरं वक्तव्यासु ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव गार्हस्थ्यं तत्रैव वक्ष्यमाणा वृत्तय इति दर्शयितुं ब्रह्मचर्यकालं गार्हस्थ्यकालं चात्र वदति—

**चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।**
**द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥**

चतुर्थमिति । चतुर्थमायुषो भागमाद्यमित्युक्तं ब्रह्मचर्यकालोपलक्षणार्थम् । अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात् । न च शतायुर्वै पुरुष इति श्रुतेः पञ्चविंशतिवर्षपरत्वम् । षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादिविरोधात् । आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उक्तब्रह्मचर्यकालं जन्मापेक्षाद्यं यथाशक्ति गुरुकुले स्थित्वा द्वितीयमायुश्चतुर्थभागो गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् । गृहस्थस्तु यदा पश्येदित्यनियतत्वाद्द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्यकालमेव ॥ १ ॥

**अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।**
**या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २॥**

अद्रोहेणेति । परस्यापीडा शिलोञ्छायाचितादिरद्रोहः न तु हिंसैव द्रोहः तस्या निषिद्धत्वात् । अद्रोहेण तदसंभवेऽल्पद्रोहेण या वृत्तिर्जीविनोपायः तदाश्रयणेन भार्यादिभृत्यपञ्चयज्ञानुष्ठानयुक्तो ब्राह्मणो न तु क्षत्रियादिरनापदि जीवेत् । आपदि दशमे विधिर्भविष्यति । अयं च सामान्योपदेशो याजनाध्यापनविशुद्धप्रतिग्रहादिसंग्रहार्थः । वक्ष्यमाण ऋतादिविशेषमात्रनिष्ठत्वे संकुचितस्वरसत्वहानिरनधिकारार्थत्वं याजनादेर्वृत्तिप्रकरणानिवेशश्च स्यात्तयापि जीवेत् ॥ २ ॥

**यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।**
**अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥**

यात्रेति । यात्रा प्राणस्थितिः शास्त्रीयकुटुम्बसंवर्धननित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकप्राणस्थितिमात्रार्थं न भोगार्थं स्वसंबन्धितया शास्त्रविहितार्जनरूपैः कर्मभिर्ऋतादिवक्ष्यमाणैः कायक्लेशं विनाऽर्थसंग्रहं कुर्यात्।

कैः कर्मभिरित्यत्राह—

**ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।**
**सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥**

ऋतामृताभ्यामिति । अनापदीत्यनुवर्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत् । सेवया त्वनापदि कदाचिन्न वर्तेत ॥ ४ ॥

अप्रसिद्धत्वादृतादीनि व्याचष्टे—

**ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।**
**मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥**

ऋतमुञ्छशिलमिति । अबाधितस्थानेषु पथि वा क्षेत्रेषु वाप्रतिहतावकाशेषु यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यां एकैकं कणं समुञ्छयित्वेति बौधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः उञ्छश्च शिलश्चेत्येकवद्भावः तत्सत्यसमानफलत्वादृतमित्युच्यते । अयाचितोपस्थितममृतमिव सुखहेतुत्वादमृतं प्रार्थितं पुनर्भैक्षं भिक्षासमूहरूपं मरणशरणपीडाजननान्मृतं एतच्च साग्नेर्गृहस्थस्य भैक्षमपक्वतण्डुलादिरूपं न तु सिद्धान्नं पराग्निपक्वेन स्वाग्नौ होमाभावात् । कर्षणं च भूमिगतप्रचुरप्राणिमरणनिमित्तत्वाद्बहुदुःखफलकं प्रकर्षेण मृतमिव प्रमृतम् ॥ ५ ॥

**सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।**
**सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥**

सत्यानृतं त्विति । प्रायेण सत्यानृतव्यवहारसाध्यत्वात्सत्यानृतं वाणिज्यं कुसीदे अनापदीत्यनुवृत्तेरस्वयंकृतान्येतानि बोद्धव्यानि । यथाह गौतमः । कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च न तु वाणिज्ये

शास्त्रेण सत्यानृताद्यनुज्ञातं तेन चैवापि जीव्यत इति चशब्देन वाणिज्यकृषिसमवशिष्टत्वात्कुसीदमपि गृह्यते पूर्वश्लोकोक्ता कृषिरेतच्छ्लोके च वाणिज्यं सेवा तु दीनदृष्टिसंदर्शनस्वामितर्जननी च क्रियादिधर्मयोगाच्छुन इव वृत्तिरतः श्ववृत्तिरुक्ता तस्मात्तां प्रकृतो ब्राह्मणस्त्यजेत् ॥ ६ ॥

**कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।**
**त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥**

कुशूलधान्यक इति । कुशूलो व्रीह्यगारं स्यादित्याभिधानिकाः इष्टकानिर्मितागारधान्यसंचयो भवेत् । अत्र कालविशेषापेक्षायां यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हतीति मनूक्त एव कालो ग्राह्यः तेन नित्यनैमित्तिकधर्मकृत्यपोष्यवर्गसहितस्य गृहिणो यावता धान्यादिधनेन वर्षत्रयं समधिकं वा निर्वाहो भवति तावद्धनः कुशूलधान्यक उच्यते । वर्षनिर्वाहोचितधान्यादिधनः कुम्भीधान्यः । प्राक् सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेदिति याज्ञवल्क्येन गृहस्थस्य वार्षिकसंचयाभ्यनुज्ञानात् । मनुरपि यदा वानप्रस्थस्यैव समानिचय एव इत्यनेन समानिचयं वक्ष्यति तदपेक्षया बहुपोष्यवर्गस्य गृहिणः समुच्चितः संवत्सरसंचयः । मेधातिथिस्तु यावता धान्यादिधनेन बहुभृत्यदारादिमतस्त्रिसंवत्सरस्थितिर्भवति तावत्सुवर्णादिधनवानपि कुशूलधान्य इत्यभिधाय कुम्भी उष्ट्रिका षाण्मासिकधान्यादिनिचयः कुम्भीधान्यक इति व्याख्यातवान् । गोविन्दराजस्तु कुशूलधान्यक इत्येतद्व्याचक्षते । कोष्ठप्रमाणधान्यसंचयो वा स्यात् द्वादशाहमात्रपर्याप्तधनः कुम्भीधान्यक इत्येतद्व्याचष्टे । उष्ट्रिकाप्रमाणधान्यादिसंचयो वा षडहमात्रपर्याप्तधनः । द्वादशाहं कुशूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट् । इमामनूनां गोविन्दराजोक्तिं नानुरुन्ध्महे । ईहा चेष्टा तस्यां भवं ऐहिकं त्र्यहपर्याप्तमैहिकं धनं यस्य स त्र्यहैहिकः तथा वा स्यात् । दिनत्रयनिर्वाहोचितधनमित्यर्थः । श्वो भवं श्वस्तनं भक्तं तदस्यास्तीति मत्वर्थीयमिकं कृत्वा नञ्समासः । तथा वा भवेत् ॥७॥

**चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।**
**ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥**

चतुर्णामपीति । एषां चतुर्णामपि कुशूलधान्यकादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां मध्ये यो यः शेषे पठितः स श्रेष्ठो ज्ञातव्यः । यतोऽसौ वृत्तिसंकोचधर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो भवति ॥ ८ ॥

**षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।**
**द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥**

षट्कर्मेति । एषां गृहस्थानां मध्ये कश्चिद्गृहस्थो यो बहुपोष्यवर्गः स प्रकृतैर्कृतायाचितभैक्षकृषिवाणिज्यैः पञ्चभिस्तेन चैवेत्यनेनैव चशब्दसमुच्चितेन कुसीदेनेत्येवं षड्भिः कर्मभिः षट्कर्मा भवति षड्भिरेतैर्जीवति । कृषिवाणिज्यकुसीदान्येतानि गौतमोक्तानीत्युक्तम् । अन्यः पुनस्ततोऽल्पपरिकरः त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरद्रोहेणेत्येतच्छ्लोकसंगृहीतैः प्रवर्तते । प्रशब्दोऽनर्थको वर्तेत इत्यर्थः । अपरः पुनः प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति वक्ष्यमाणत्वात्परित्यागेन द्वाभ्यां याजनाध्यापनाभ्यां प्रवर्तते । उक्तत्रयापेक्षया चतुर्थः पुनर्ब्रह्मसत्रेणाध्यापनेन जीवति । मेधातिथिस्तु एषां कुशूलधान्यकादीनां मध्यादेकः कुशूलधान्यकः प्रकृतैरुञ्छशिलायाचितकृषिवाणिज्यैः षट्कर्मा भवति षड्भिर्जीवति । अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यकः कृषिवाणिज्ययोर्निन्दितत्वात् । तत्त्यागे उञ्छशिलयाचितायाचितानां मध्यादिच्छातस्त्रिभिर्वर्तेत एकरूयहैहिकोऽयाचितलाभं विहाय उञ्छशिलायाचितानां मध्यादिच्छया द्वाभ्यां वर्तेत । चतुर्थः पुनरश्वस्तनिको ब्रह्मसत्रेण जीवति । ब्रह्मसत्रं शिलोञ्छयोरन्यतरा वृत्तिः ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य सततभवत्वात्सत्रमित्याह ॥ ९ ॥

**वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।**
**इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥**

वर्तयंश्चेति । शिलोञ्छाभ्यां जीवन्धनसाध्यकर्मान्तरानुष्ठानासामर्थ्यादग्निहोत्रनिष्ठ एव स्यात् । पार्वायनान्तीयाश्च इष्टीः केवला अनुतिष्ठेत् पर्व च अयनं च पर्वायने तयोरन्तस्तत्र भवा दर्शपौर्णमासाग्रयणात्मिकाः ॥ १० ॥

**न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।**
**अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥**

न लोकवृत्तमिति । लोकवृत्तमसत्प्रियाख्यानं विचित्रपरिहासकथादिकं जीविकार्थं न कुर्यात् । अजिह्मां मृषानुगुणार्थाभिधानादिपापरहिताम् । अशठां दम्भादिव्याजशून्याम् । शुद्धां वैश्यादिवृत्तेरसंकीर्णां ब्राह्मणजीविकामनुतिष्ठेत् । अनेकार्थत्वाद्धातूनां अनुष्ठानार्थोऽयं जीवतिरिति सकर्मता ॥ ११ ॥

**संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।**
**संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥**

संतोषमिति । यथासंभवभृत्यात्मप्राणधारणावश्यकपञ्चयज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितधनानधिकास्पृहा संतोषः तमतिशयितमालम्ब्य प्रचुरधनार्जने संयमं कुर्यात् । यतः संतोषहेतुकमिति सुखं परत्र चाव्यग्रस्य विहितानुष्ठानात्स्वर्गादिसुखं विपर्ययस्त्वसंतोषो दुःखमूलं बहुधनार्जनप्रयासेन प्रचुरदुःखादसंपत्तौ च क्लेशात् ॥ १२ ॥

**अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।**
**स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३॥**

अतोऽन्यतमेति । अबहुभृत्यैकवृत्त्या निर्वाहसंभवे सत्यन्यतमयेति विधीयते । बहुभृत्यस्यान्नसंभवे षट्कर्मैको भवत्येषामिति विहितत्वात् । अथवा एकवाक्यतावगमाद्व्रतविधायकतया वृत्त्येत्यनुवादकत्वादेकत्वमविवक्षितम् । उक्तवृत्तीनामन्यतमया वृत्त्या जीवन्स्नातको ब्राह्मण इमानि वक्ष्यमाणानि यथासंभवं स्वर्गायुर्यशसां हितानि व्रतानि कुर्यात् । इदं मया कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमित्येवंविधिसंकल्पविशेषाद्व्रतम् ॥ १३ ॥

**वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।**
**तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४॥**

वेदोदितमिति । वेदोक्तं स्मार्तमपि वेदमूलत्वाद्वेदोक्तमेव स्वकं स्वाश्रमोक्तं यावज्जीवमतन्द्रितोऽनलसः कुर्यात् । हि हेतौ यस्मात्तत्कुर्वन्यथासामर्थ्यं परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति । नित्यकर्मानुष्ठानात्पापक्षये सति निष्पापान्तःकरणेन ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षावाप्तेः । तदुक्तं मोक्षधर्मे । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य

कर्मणः । तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि । आत्मनि अन्तः-करणे ॥ १४ ॥

**नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।**
**न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥**

नेहेतार्थानिति । प्रसज्यते यत्र पुरुषः स प्रसंगो गीतवादित्रादिः तेनार्थान्नार्जयेत् । नापि शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणा अयाज्ययाजनादिना च न च विद्यमानेषु धनेषु न चाप्यविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरासंभवे यतस्ततः पतितादिभ्योऽपि ॥ १५ ॥

**इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।**

इन्द्रियार्थेष्विति । इन्द्रियाणामर्था रूपरसगन्धस्पर्शादयः तेषु निषिद्धेष्वपि स्वदारसुरतादिषु न प्रसज्येत । नातिप्रसक्तिमत्यन्त-सेवनात्मिकां कुर्यात्कामत उपभोगार्थम् ॥

अतिप्रसक्तिनिवृत्त्युपायमाह—

**अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥**

अतिप्रसक्तिमिति । विषयाणामस्थिरत्वस्वर्गापवर्गार्थकश्रेयोविरो-धित्वादिभावनया मनसा सम्यङ् निवर्तयेत् ॥ १६ ॥

**सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।**

सर्वानिति । वेदार्थविरोधिनः अर्थानत्यन्तेश्वरगृहोपसर्पणकृषिलो-कयात्रादयः तान्सर्वान्परित्यजेत् ॥

कथं तर्हि भृत्यात्मपोषणमित्याशङ्क्याह—

**यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥**

यथातथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीव-यन् यस्मात्सास्य स्नातकस्य कृतकृत्यता यन्नित्यं स्वाध्यायपरता १७

**वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।**
**वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥**

वयस इति । वयसः क्रियाया धनस्य श्रुतस्य कुलस्यानुरूपेण

वेषवाग्बुद्धीराचरँल्लोके प्रवर्तेत यथा यौवने स्रग्गन्धलेपनादिधारणं त्रिवर्णानुसारी वाग्बुद्धिश्च एवं कर्मादिष्वप्युन्नेयम् ॥ १८ ॥

**बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धान्यानि च हितानि च ।**
**नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९॥**

बुद्धीति । वेदाविरुद्धानि शीघ्रं बुद्धिवृद्धिजनकानि व्याकरणमीमांसास्मृतिपुराणन्यायादीनि शास्त्राणि तथा धन्यानि धनाय हितानि अर्थशास्त्राणि बार्हस्पत्यौशनसादीनि तथा हितानि दृष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान्निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्नित्यं पर्यालोचयेत् ॥ १९ ॥

**यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।**
**तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥२०॥**

यथा यथेति । यस्माद्यथा यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्यति तथा तथा विशेषेण जानाति शास्त्रान्तरविषयमपि चास्य विज्ञानं रोचते तद्बलं भवति । दीप्त्यर्थत्वाद्रुचेरभिलाषार्थत्वाभावाद्रुच्यर्थानां प्रीयमाण इति न संप्रदानसंज्ञा ॥ २० ॥

**ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।**
**नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥**

ऋषियज्ञमिति । स्वाध्यायादीन्पञ्चयज्ञान्यथाशक्ति न त्यजेत् । तृतीयाध्यायविहितानामपि पञ्चयज्ञानामिह निर्देश उत्तरत्र विशेषविधानार्थः । स्नातकव्रतत्वबोधनार्थश्च ॥ २१ ॥

**एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।**
**अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥**

एतानेक इति । एके गृहस्था बाह्यान्तरयज्ञानुष्ठानशास्त्रज्ञा एतान्पञ्चमहायज्ञान् ब्रह्मज्ञानप्रकर्षाद्बहिरचेष्टमानाः पञ्चसु बुद्धीन्द्रियेषु एवं पञ्चरूपज्ञानादिसंयमं कुर्वन्तः संपादयन्ति । यज्ञानां होमत्वानुपपत्तेः संपादनार्थो जुहोति ॥ २२ ॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥२३॥

वाचीति । एके गृहस्था ब्रह्मविदो वाचि प्राणवायौ च यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयफलां जानन्तः सततं वाचि प्राणं च जुह्वति । वाचं च प्राणे भाषमाणेन च वाचि प्राणं जुहोतीति । अभाषमाणेनोच्छ्वसता प्राणे वाचं जुहोमीति व्याख्यातव्यमित्यनेन विधीयते । यथा कौषीतकरहस्यब्राह्मणम् । यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति यावद्धि पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति एतेऽनन्तेऽमृते मृते आहुती जाग्रच्च सततं जुहोति । अथवा अन्या आहुतयः अनन्तरन्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवांचक्रुरिति २३

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।

ज्ञानेनैवेति । अपरे विप्रा ब्रह्मनिष्ठाः सर्वथा ब्रह्मज्ञानेनैव एतैर्मखैर्यजन्ति एतांश्च यज्ञाननुतिष्ठन्ति ॥

कथमेतदित्याह—

ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

ज्ञानं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तेत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धं ज्ञानमूलामेषां ज्ञानानां क्रियामुत्पत्तिं जानन्तः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुरिव चक्षुः ज्ञानचक्षुषा उपरि यदा खल्विदं ब्रह्म तज्जनकानित्यादिकपञ्चयज्ञानपि ब्रह्मोत्पत्तिकाले ब्रह्मात्मकान्ध्यायन्तः संपादयन्ति पञ्चयज्ञफलमश्नुवत इत्यर्थः । श्लोकत्रयेण ब्रह्मनिष्ठानां वेदसंन्यासिनां गृहस्थानामपि विधयः ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमिति । उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ निशायाश्चादौ । अनुदितहोमपक्षे दिनस्यान्ते निशायाश्चान्ते । यद्वा उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ दिनान्ते च । अनुदितहोमपक्षे निशादौ निशान्ते च अग्निहोत्रं कुर्यात् । कृष्णपक्षार्धमासान्ते दर्शाख्येन कर्मणा शुक्लपक्षार्धे च पौर्णमासाख्येन यजेत् ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः॥ २६॥

सस्यान्त इति। पूर्वार्जितधान्यादिसस्ये समाप्ते शरदि नवानामिति सूत्रकारवचनात्। असमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तौ आग्रयणेन यजेत्। सस्यक्षयस्यानियतत्वात्। धनिनां बहुहायनजीवनोचितधान्यसंभवाच्च सस्यान्तग्रहणाच्च नवसस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेता। नियतत्वात्तस्याः प्रत्यब्दं सनिमित्तत्वोत्पत्तेः। ऋतुसंवत्सर इत्येतन्मताश्रयणेन चत्वारश्चत्वारो मासा ऋतवस्तदन्तेऽध्वरैश्चातुर्मासाख्यैर्यागैर्यजेत्। अयनयोरनयोरुत्तरदक्षिणयोरादौ पशुना यजेत्पशुबधाख्यं यागमनुतिष्ठेत्। ज्योतिःशास्त्रे चैत्रशुक्लप्रतिपदादिवर्षगणात् शिशिरेण समाप्ते वर्षे वसन्ते सोमरससाध्यैरग्निष्टोमादियागैर्यजेत्॥ २६॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७॥

नानिष्ट्वेति। आहिताग्निर्द्विजो दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छन्नाग्रयणमकृत्वा नवान्नं न भक्षयेत्। न च पशुयागमकृत्वा मांसमश्नीयात् २७

दोषं कथयन्ननित्यतामनयोराह—

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः॥ २८॥

नवेनेति। यस्मान्नवेन हव्येन पशुवदामेनानर्चिता अकृतयागा अग्नयो नवान्नमांसाभिलाषिणोऽस्याहिताग्नेः प्राणानेव अग्निहोत्रिणः खादितुमिच्छन्ति। गर्धोऽभिलाषातिशयः गृधेर्धञन्तस्य रूपं सोऽस्यास्तीति गर्धी मत्वर्थीय इनिः॥ २८॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥२९॥

आसनाशनेति। यथाशक्त्यासनभोजनादिभिरनर्चितोऽतिथिरस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत्। अनेन शक्तितोऽतिथिं पूजयेदित्युक्तमपि उत्तरार्थमनूद्यते॥ २९॥

**पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।**
**हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥**

पाषण्डिन इति । पाषण्डिनो वेदबाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुकाख्या गणकादयः विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धजीविनः बैडालव्रतिकबकवृत्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ शठा वेदेष्वश्रद्दधानाः हैतुका वेदविरोधितर्कव्यवहारिणः एतानतिथिकालोपस्थितान् वाङ्मात्रेणापि न पूजयेत् । पूजारहिते अन्नदानमात्रं तु शक्तितोऽपचमानेभ्य इत्यनुज्ञातमेव ॥ ३० ॥

**वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।**
**पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥**

वेदविद्येति । वेदविद्याव्रतस्नातानिति विद्यास्नातकव्रतस्नातकोभयस्नातकास्त्रयोऽपि गृह्यन्ते । यथाह हारीतः । यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतानि असमाप्य वेदान्समावर्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः । यद्यपि स्नातकधर्मत्वेनैव स्नातकमात्रप्राप्तिस्तथापिश्रोत्रियत्वं विवक्षितं तान्स्नातकान् । श्रोत्रियान्हव्यकव्येन पूजयेत् विपरीतान्पुनर्वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

**शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।**
**संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥**

शक्तित इति । अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजकाः पाषण्डादयः ब्रह्मचारिपरिव्राजकानामुक्तमपि अन्नदानं पचमानापेक्षयातिशयार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरुच्यते । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिण इति ब्रह्मचारिपरिव्राजकयोरुक्तत्वात्पाषण्ड्यादिविषयत्वमेवास्य वचनस्य इत्यूचतुः । स्वकुटुम्बानुरोधेन वृक्षादिपर्यन्तं प्राणिभ्योऽपि जलादिनापि विभागः कर्तव्यः ॥३२॥

**राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।**
**याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ३३**

राजत इति । न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतित इति निषेधा-

द्राजशब्दोऽत्र क्षत्रियनृपतिपरः । स्नातकः क्षुधा अवसीदन्द्विजाति-प्रतिग्रहस्य संभवेऽपि यथाशास्त्रवर्तिनः क्षत्रियाद्राज्ञो याज्यशिष्याभ्यां वा प्रथमं धनमभिलषेत् । राज्ञो महाधनत्वेन पीडाविरहात् । याज्यशिष्ययोश्च कृतोपकारतया प्रत्युपकारप्रवणत्वात् । तदसंभवे त्वन्यस्मादपि द्विजाद्धनमाददीत तदभावे तु सर्वतः प्रतिगृह्णीयादिति । यथाधर्मं वक्ष्यति । एवं चानापदि प्रथमं क्षत्रियनृपयाज्यशिष्येभ्यः प्रतिग्रह-नियमार्थं वचनं अत एवाह न त्वन्यत इति स्थितिः शास्त्रमर्यादा । न च संसीदन्नित्यभिधानादापद्धर्मविषयत्वमस्य वाच्यम् । अव्यभि-चारादनापत्प्रकरणात् । संसीदन्नित्यस्य चोपात्तधनाभावपरत्वात् । न च धनाभाव आपत् किंतु तस्मिन् सति विहितोपायासंभवात् । अन्यथा सद्यःप्रक्षालकोऽप्यापद्वृत्तिः स्यात् । यदि चापद्विषयत्वमस्य भवेत्तदा न त्वन्यत इत्यनेन सर्वतः प्रतिगृह्णीयादिति विरुध्येत् । यच्चापत्प्रकरणात्सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः याच्यः स्यादित्युक्तं तच्छूद्रनृपविषयम् । एवं राजादिप्रतिग्रहासंभवे ॥३३॥

**न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ।**
**न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥**

न सीदेदिति । विद्यादियोगात्प्रतिग्रहशक्तोऽपि स्नातको ब्राह्मण उक्तराजप्रतिग्रहादिलाभे सति न क्षुधावसन्नो भवेत् । न च धने संभवति जीर्णे मलिने च वाससी बिभृयात् ॥ ३४ ॥

**कृत्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।**
**स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥३५॥**

कृत्तकेशेति । कल्पनं छेदनं लूनकेशनखश्मश्रुस्तपःक्लेशसहो दान्तः शुक्लवासा बाह्याभ्यन्तरशौचसंपन्नो वेदाभ्यासयुक्त औषधो-पयोगादिना चात्महितपरः स्यात् ॥ ३५ ॥

**वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।**
**यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥**

वैणवीमिति । वेणुदण्डमुदकसहितं च कमण्डलुं यज्ञोपवीतं कुशमुष्टिं शोभने सौवर्णकुण्डले धारयेत् ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यनभसो गतम् ॥ ३७ ॥

नेक्षेतेति । उद्यन्तमस्तमयन्तं च सूर्यबिम्बं संपूर्णं नेक्षेत । उपसृष्टं ग्रहोपरक्तं वक्राद्युपसर्गयुक्तं च वारिस्थं जलप्रतिबिम्बितं नभोमध्यगतं मध्यंदिनसमये ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

न लङ्घयेदिति । वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत् । वर्षति मेघे न धावेत् । न च स्वदेहप्रतिबिम्बं जले निरीक्षेत इति शास्त्रे निश्चयः॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

मृदमिति । प्रस्थितः सन् संमुखावस्थितान् उद्धृतमृत्तिकां गां पाषाणादिदेवतां ब्राह्मणघृतक्षौद्रचतुष्पथप्रमाणज्ञातवृक्षान्दक्षिणहस्तमार्गेण कुर्यात् । प्रदक्षिणानीति नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकत्वम् ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

नोपगच्छेदिति । प्रमत्तः कामार्तोऽपि रजोदर्शने निषिद्धस्पर्शदिनत्रये स्त्रियं नोपगच्छेत् । स्पर्शनिषेधेनैव तासामाद्याश्चतस्र इति निषेधसिद्धौ प्रायश्चित्तगौरवार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरारम्भः । न चागच्छन्नपि तया सहैकशय्यायां सुप्यात् ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

रजसाभिप्लुतामिति । यस्माद्रजस्वलां स्त्रियं पुरुषस्योपगच्छतः प्रज्ञावीर्यबलचक्षूंषि नश्यन्ति तस्मात्तां नोपगच्छेत् ॥ ४१ ॥

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

तामिति । तां तु रजस्वलामगच्छतस्तस्य प्रज्ञादयो वर्द्धन्ते तस्मात्तां नोपेयात् ॥ ४२ ॥

**नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।**
**क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ४३**

नाश्नीयादिति । भार्यया सह एकपात्रे नाश्नीयात् एनां च भुञ्जानां क्षुतं जृम्भां च कुर्वन्तीं यथासुखं निर्यन्त्रणप्रदेशावस्थितां च नेक्षेत ॥ ४३ ॥

**नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।**
**न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥४४॥**

नाञ्जयन्तीमिति । तथा स्वनेत्रयोरञ्जनं कुर्वन्तीं तैलाद्यभ्यक्तां अनावृतां स्तनावरणरहितां न तु नग्नां नग्नां नेक्षेत च स्त्रियमिति वक्ष्यमाणत्वात् । अपत्यं च प्रसवन्तीं ब्राह्मणो न निरीक्षेत ॥ ४४ ॥

**नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।**
**न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥**

नान्नमद्यादिति । एकवस्त्रो नान्नं भुञ्जीत । उपस्थाच्छादनवासोरहितो न स्नायात् । मूत्रग्रहणमधःकायमलविसर्गोपलक्षणार्थं तेन मूत्रपूरीषे वर्त्मनि भस्मनि गोष्ठे च न कुर्यात् ॥ ४५ ॥

**न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।**
**न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥**

न फलकृष्ट इति । तथा फालकृष्टे क्षेत्रादावुदके अभ्यर्थकृतेष्टकाचये पर्वते चिरन्तनदेवतागारे कृमिकृतमृत्तिकाचये च विण्मूत्रोत्सर्गं न कदाचन कुर्यात् ॥ ४६ ॥

**न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।**
**न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥**

न ससत्त्वेष्विति । तथा सप्राणिषु विलेषु न व्रजन्न चोत्थितो न नदीतटमाश्रित्य नापि पर्वतशृङ्गे मूत्रपुरीषे कुर्यात् । पर्वतनिषेधादेव नच्छृङ्गनिषेधे सिद्धे पुनः पर्वतशृङ्गनिषेधस्तदितरपर्वते विकल्पार्थः ।

तत्रेच्छाविकल्पस्यान्यथापि प्राप्तौ सामान्यनिषेधवैयर्थ्याद्व्यवस्थितोऽत्र विकल्पः । अत्यन्तात्तस्य पर्वते न दोषः ॥ ४७ ॥

**वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।**
**न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥**

वाय्वग्निविप्रमिति । वायुमग्निं ब्राह्मणं सूर्यं जलं गां च पश्यन्न कदापि मूत्रपूरीषोत्सर्गं कुर्यात् । वायोररूपत्वेनासंभवे वात्याप्रेरित-तृणकाष्ठादिनिषेधोऽयम् ॥ ४८ ॥

**तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।**
**नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥**

तिरसस्कृत्योच्चरेदिति । अन्तर्धाय काष्ठादीनि भूमाववागनुच्छिष्टः प्रच्छादिताङ्गोऽवगुण्ठितशिरा मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात् । शुष्कैस्तृ-णैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा । मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुंधरामिति वायुपुराणवचनात् । शुष्कानि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि ॥

**मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।**
**दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥५०॥**

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गमिति । मूत्रपुरीषोत्सर्गमहनि संध्यायां चोत्तरा-भिमुखो रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः कुर्यात् । धरणीधरस्तु स्वस्थोऽना-शाय चेतस इति चतुर्थपादं पठित्वा चेतसो बुद्धेः अनाशायेति व्या-ख्यातवान् । परंपरीयमाम्नायं हित्वा विद्वद्भिरादृतम् । पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः ॥ ५० ॥

**छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।**
**यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥**

छायायामिति । रात्रौ छायायामन्धकारे वा अहनि छायायां नीहाराद्यन्धकारे वा दिग्विशेषाज्ञाने सति चौरव्याघ्रादिकृतप्राण-विनाशभयेषु च यथेप्सितमुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ ५१ ॥

**प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।**
**प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥**

प्रत्यग्निमिति । वाय्वग्निविप्रमित्यनेन मेहतोऽभ्यादीनां दर्शनं निषिद्धं अनेन त्वपश्यतोऽपि संमुखीनत्वं निषिध्यते । अग्निसूर्यचन्द्रजलब्राह्मणगोवाताभिमुखं मूत्रपुरीषे कुर्वतः प्रज्ञा नश्यति तस्मादेतन्न कर्तव्यम् । प्रतिवातमित्यस्य स्थाने प्रतिसंध्यमित्यन्ये पठन्ति ५२

**नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।**
**नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥**

नाग्निमिति । नाग्निर्मुखेन ध्मातव्यः किं तर्हि व्यजनादिना । न नग्नां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्रेति सांख्यायनदर्शनान्मैथुनव्यतिरेकेण नग्नां स्त्रियं न पश्येत् । अमेध्यं मूत्रपुरीषादिकं नाग्नौ क्षिपेत् । न च पादौ प्रतापयेत् । प्रशब्दादग्नौ पादावुत्क्षिप्य साक्षान्न प्रतापयेत् । वस्त्रादितापस्वेदेऽविरोधः ॥ ५३ ॥

**अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।**
**न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥**

अधस्तादिति । खट्वादिभ्योऽधस्तादङ्गारशकट्यादिकं न कुर्यात् । न चाग्निमुत्प्लुत्य गच्छेत् । न च सुप्तः पाददेशेऽग्निं स्थापयेत् । न च प्राणपीडाकरं कर्म कुर्यात् ॥ ५४ ॥

**नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।**
**न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥**

नाश्नीयादिति । संध्याकाले भोजनं ग्रामान्तरगमनं निद्रां च न कुर्यात् । न च रेखादिना भूमिमुल्लिखेत् । न च मालां धृतां स्वयमेवापनयेत् । अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तम् ॥ ५५ ॥

**नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।**
**अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥**

नाप्सु मूत्रमिति । मूत्रं पुरीषं श्लेष्माणं मूत्राद्यमेध्यलिप्तवस्त्रं अन्यद्वा भुक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यं रुधिरं विषाणि च कृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्नानि न जले प्रक्षिपेत् ॥ ५६ ॥

**नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेत् ।**
**नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥**

नैक इति । उत्सन्नजनवासगेहे नैकः शयीत । वित्तविद्यादिभिरधिकं च सुप्तं न प्रबोधयेत् । रजस्वलया संभाषणं न कुर्यात् । यज्ञं चाकृतावरणोऽनृत्विक् न गच्छेत् । दर्शनायेच्छया गच्छेत् । दर्शनार्थं काममिति गोतमवचनात् ॥ ५७ ॥

**अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।**
**स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥**

अग्न्यगार इति । अग्निगृहे गवां निवासे ब्राह्मणानां गवां समीपे स्वाध्यायभोजनकालयोश्च दक्षिणपाणिं सबाढं वा उद्धरेदिति बहिष्कुर्यात् ॥ ५८ ॥

**नावारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।**
**न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥**

न वारयेदिति । गां जलं क्षीरं वा पिबन्तीं न निवारयेत् । दोहनार्थवारणादन्यत्र निषेधः । नापि परकीयक्षीरादि पिबन्तीं तस्य कथयेत् । न चेन्द्रधनुराकाशे दृष्ट्वा निषिद्धदर्शनदोषज्ञः कस्यचिद्दर्शयेत् ॥ ५९ ॥

**नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।**
**नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥**

नाधार्मिक इति । अधार्मिक इत्यनेन यत्राधार्मिका वसन्ति न तत्र वासो युक्तः । यत्र वा निन्दितदुश्चिकित्सितव्याधिपीडिता बहवो जनास्तत्र भृशमत्यर्थं वासो न युक्तः । पन्थानमेकः कदापि न गच्छेत् ॥ ६० ॥

**न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।**
**न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥**

न शूद्रराज्य इति । यत्र देशे शूद्रो राजा तत्र न वसेत् । अधार्मिकजनैश्च बाह्यतः परिवृते ग्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः । पाषण्डिभिश्च वेदबाह्यलिङ्गधारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चान्त्यजैरुपद्रुते न वसेत् ॥ ६१ ॥

**न भुञ्जीतोद्धतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।**
**नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२॥**

न भुञ्जीतेति । उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि न भुञ्जीत । अतितृप्तिं वारद्वयेऽपि न कुर्यात् । जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन च । वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेदित्यादिविष्णुपुराणवचनात् । सूर्योदयकाले सूर्यास्तसमये भोजनं न कुर्यात् । प्रातराशितोऽतितृप्तः सायं न भुञ्जीत् ॥ ६२ ॥

**न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।**
**नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥**

न कुर्वीतेति । दृष्टादृष्टार्थशून्यं व्यापारं न कुर्यात् । अञ्जलिना च जलं न पिबेत् । ऊर्वोरुपरि विन्यस्य मोदकादीन्न भक्षयेत् । असति प्रयोजने किमेतदिति जिज्ञासाकुतूहलं न कुर्यात् ॥ ६३ ॥

**न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।**
**नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४॥**

न नृत्येदिति । अशास्त्रीयाणि नृत्यगीतवाद्यानि नाचरेत् । पाणिना बाहौ ध्वनिरूपमास्फोटनं न कुर्यात् । अव्यक्तदन्तशब्दात्मकं क्ष्वेडनं न कुर्यात् । न च सानुरागो रासभादिरावं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

**न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।**
**न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥**

न पादाविति । कांस्यपात्रे कदाचित्पादौ न प्रक्षालयेत् । ताम्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोष इति पैठीनसिवचनादेतद्व्यतिरिक्तभिन्नभाण्डे न भोजनं कुर्यात् । यत्र मनो विचिकित्सति तद्भावदुष्टं न तत्र भुञ्जीत ॥ ६५ ॥

**उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।**
**उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥**

उपानहाविति । उपानहवस्त्रयज्ञोपवीतालंकारपुष्पमालाक्रमण्डलून्परोपभुक्तान्न धारयेत् ॥ ६६ ॥

**नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।**
**न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥**

नाविनीतैरिति । व्याधिना च पीडितैर्भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैश्छिन्नवालधिभिश्च न यायात् ॥ ६७ ॥

**विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।**
**वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥**

विनीतैस्त्विति । दमितैः शीघ्रगामिभिः शुभसूचकलक्षणोपेतैः शोभनवर्णैर्मनोज्ञाकृतिभिः प्रतोदेनात्यर्थमपीडयन्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

**बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ।**
**न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥६९॥**

बालातपमिति । प्रथमोदितादित्यतापो बालातपः स च मुहूर्तत्रयं यावदिति मेधातिथिः । कन्यार्कातप इत्यन्ये । प्रेतधूमो दह्यमानशवधूमः भग्नासनं च एतानि वर्जनीयानि । नखानि च रोमाणि च प्रवृद्धानि न छिन्द्यात् । दन्तैश्च नखान्नोत्पाटयेत् ॥ ६९ ॥

**न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।**
**न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥**

न मृल्लोष्टमिति । नाकारणं मृल्लोष्टं मृद्नीयात् । तृणानि च न छिन्द्यादिति आपस्तम्बवचनात् निष्प्रयोजनं मृल्लोष्टमर्दनं नखैश्च तृणच्छेदनं न कुर्यात् । न कुर्वीत वृथाचेष्टामित्यनेनैवास्यापि प्रतिषेधसिद्धौ दोषरूपत्वं प्रायश्चित्तगौरवं च दर्शयितुं विशेषेण निषेधः अत एवात्रानन्तरं लोष्टमर्दीति निन्दिष्यति । दृष्टादृष्टफलशून्यं च कर्म न कुर्यात् । ननु न कुर्वीत वृथाचेष्टामित्यनेन पुनरुक्तिः । उच्यते । देहव्यापारश्चेष्टा स वृथाचेष्टाशब्देन निषिद्धः अनेन तु निष्फलं मनोग्राह्यादिसंकल्पात्मकं यच्च आयत्यामागामिकाले कर्मासुखावहं यथा अजीर्णे भोजनादि तदपि न कुर्यात् ॥ ७० ॥

**लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।**
**स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥**

लोष्टमर्दीति । लोष्टमर्दयिता तृणच्छेत्ता नखखादिता च यो मनुष्यस्तथा च सूचकः खलो यः परस्य दोषानसतः सतो वा ख्यापयति बाह्याभ्यन्तरशौचरहितः शीघ्रमेते देहधनादिना विनश्यन्ति ॥

**न विगर्ह्यकथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् ।**
**गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥**

न विगर्ह्यकथामिति । न साभिनिवेशेन कथां शास्त्रीयेष्वर्थेषु लौकिकेषु वा कुर्यात् । केशकलापाद्बहिर्माल्यं न धारयेत् । गवां च पृष्ठे यानं सर्वथेति पाण्यादिव्यवधानेनाप्यधर्मावहं पृष्ठेनेत्यभिधानादाकृष्टशकटादिना न दोषः ॥ ७२ ॥

**अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम् ।**
**रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥**

अद्वारेण चेति । प्राकाराद्यावृतं गृहं च द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन प्राकारादिलङ्घनं कृत्वा न विशेत् । रात्रौ च वृक्षमूलावस्थानं दूरतस्त्यजेत् ॥ ७३ ॥

**नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।**
**शयनस्थोऽपि भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥७४॥**

नाक्षैरिति । कदाचिदपि परिहासेनापि नाक्षादिभिः क्रीडयेत् । स्वयमित्यभिधानादात्मोपानहौ पादव्यतिरिक्तेन हस्तादिना देशान्तरं न नयेत् । शय्याद्यवस्थितश्च न भुञ्जीत । हस्ते च प्रभूतमन्नं कृत्वा क्रमेण न खादयेत् । आसने भोजनपात्रं निधाय न भुञ्जीत ७४

**सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।**
**न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥७५॥**

सर्वमिति । यत्किंचित्तिलसंमिश्रं कृसरमोदकादि तदस्तमितेऽर्के नाद्यात् । उपस्थाच्छादनवासोरहितो नेह सुप्यात् । उच्छिष्टस्तु नान्यतो गच्छेत् ॥ ७५ ॥

**आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।**
**आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥**

राज्ञो धनं न प्रतिगृह्णीयात् । राजतो धनमन्विच्छेत्तस्यायं विशेष उक्तः । सूनाचक्रध्वजवतामिति । सूनावतां चक्रवतां ध्वजवतां च सूना प्राणिवधस्थानं तद्यस्यास्तीति स सूनावान् पशुमारणपूर्वकमांसविक्रयजीवी । चक्रवान् बीजवधविक्रयजीवी तैलिकः । ध्वजवान्मद्यविक्रयजीवी शौण्डिकः । वेशः पण्यस्त्रिया भृतिः तया यो जीवति स्त्री पुमान्वा स वेशवान् । एतेषां च न प्रतिगृह्णीयात् ८४

**दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।**
**दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥**

दशसूनेति । गोविन्दराजस्तु दशवेश्यासमो नृप इति पठति । मेधातिथिप्रभृतयः प्राचो दशवेशसमो नृप इति पठन्ति । सूनादिशब्दैस्तद्वानुपलक्ष्यते । दशसूनावत्सु यावान्दोषस्तावानेकस्मिन् चक्रवति तैलिके यावान्दशसु तैलिकेषु दोषस्तावानेकध्वजवति शौण्डिके यावान्दशसु ध्वजवत्सु दोषस्तावानेकत्र वेशवति यावान्दशसु वेशवत्सु दोषस्तावानेकत्र राजनि उत्तरोउत्तरनिन्दाचेयं पूर्वदातृसंभवे सत्युत्तरवर्जनार्थमपेक्षया योज्यते ॥ ८५ ॥

**दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।**
**तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥८६॥**

दश सूनासहस्राणीति । सूनया चरतीति सौनिकः । एवं संकलनया यत्सौनिको दशसहस्राणि स्वार्थे व्यापादयति तेन तुल्यो राजा मन्वादिभिः स्मृतः । तस्मात्तुल्यप्रतिग्रहो नरकहेतुत्वाद्भयानकः क्षत्रियस्यापि च ॥ ८६ ॥

**यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।**
**सपर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥**

यो राज्ञ इति । यो राज्ञः कृपणस्य शास्त्रोल्लङ्घनेन प्रवर्तमानस्य प्रतिग्रहं करोति स क्रमेणैतान्वक्ष्यमाणैकविंशतिनरकान्गच्छति ८७

पूर्वश्लोके सामान्यतो नरकानिमानेकविंशतिमित्युक्तमिदानीं तानेव नामतो निर्दिशति तामिस्रमिति त्रिभिः—

**तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।**
**नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥**

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

एतेषां नरकाणां स्वरूपं मार्कण्डेयपुराणादिषु विस्तरेणोक्तं तत्रैवावगन्तव्यम् ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः॥९१॥

एतद्विदन्त इति । प्रतिग्रहो विविधनरकहेतुरिति जानन्तो ब्राह्मणा धर्मशास्त्रपुराणादिविदो वेदाध्यायिनो जन्मान्तरे श्रेयःकामवन्तो न राज्ञः प्रतिगृह्णीयुः । विदुषो हि प्रतिग्रहे नातीव दोषः यतो वक्ष्यति तस्मादविद्वान्बिभियादिति । तेषामपि निषिद्धः राजप्रतिग्रहः प्रत्युरप्रत्यवायफलक इति दर्शयितुं विद्वद्ग्रहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च ९१

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

ब्राह्म इति । ब्राह्मो मुहूर्तो रात्रेः पश्चिमो यामः । ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात् । मुहूर्तशब्दोऽत्र कालमात्रवचनः तत्र बुध्येत । दक्षेणापि प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् । प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते इति ब्रुवता तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञातः । गोविन्दराजस्तु । रात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुध्येत इत्याह । धर्मार्थौ च परस्पराविरोधेनानुष्ठानार्थमवधारयेत् । तथा धर्मार्थार्जनहेतून्कायक्लेशान्निरूपयेत् । यदि महान्कायक्लेशोऽल्पौ च धर्मार्थौ वा तदा तं परिहरेत् । वेदस्य तत्त्वार्थं ब्रह्मकर्मात्मकं निश्चिनुयात् । तस्मिन्समये बुद्धिप्रकाशात्

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥

उत्थायेति । ततः उषःकाले शय्याया उत्थाय सति वेगे मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वात्र कृतवक्ष्यमाणशौचोऽनन्यमनाः पूर्वां संध्यां चिरं

गायत्रीजपं कुर्वन्वर्तेतार्कदर्शनादयं विधिः प्रातः संध्यायामुक्त उदयादूर्ध्वमपि जपेत् । आयुरादिकाम इति विधानार्थोऽयमारम्भः । अपरामपि संध्यां स्वकाले प्रारभ्य तारकोदयादूर्ध्वमपि जपन्नासीत ९३

आयुरादिकामाधिकारोऽयमिति दर्शयन्नाह—

**ऋषयो दीर्घसंध्यात्वादीर्घमायुरवाप्नुयुः ।**
**प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥**

ऋषय इति । संध्याशब्दोऽत्र संध्यानुष्ठेयजपादिपरः । यस्मादृषयो दीर्घसंध्यानुष्ठानादीर्घमायुः प्रज्ञां जीवन्तो यशोऽमृतां च कीर्तिमध्ययनादिसंपन्नं यशश्च प्राप्नुयुस्तस्मादायुरादिकामश्चिरं संध्यामुपासीत॥

**श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ।**
**युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान्॥९५॥**

श्रावण्यामिति । श्रावणस्य पौर्णमास्यां भाद्रपदस्य च स्वगृह्यानुसारेण उपाकर्माख्यं कर्म कृत्वा सार्द्धांश्चतुरो मासान्ब्राह्मण उद्युक्तो वेदानधीयीत ॥ ९५ ॥

**पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।**
**माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥**

पुष्ये खिति । ततः पक्षाधिकेषु चतुर्षु यः पुष्यस्तत्र ग्रामाद्बहिर्गत्वा स्वगृह्यानुसारेणोत्सर्गाख्यं कर्म कुर्यात् । अथवा माघशुक्लस्य प्रथमेऽहनि पूर्वाह्णे कुर्यात् । माघशुक्ले च विधिः प्रौष्ठपद्यां येनोपाकर्म न कृतं तद्विषयः ॥ ९६ ॥

**यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।**
**विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥**

यथाशास्त्रं खिति । एवमुक्तशास्त्रानुसारेण ग्रामाद्बहिश्छन्दसामुत्सर्गाख्यं कर्म कृत्वा पक्षिणीं रात्रिं विरमेत् नाधीयीत । द्वे दिने पूर्वापरे पक्षाविव यस्या मध्यवर्तिन्या रात्रेः सा पक्षिणी रात्रिः । अस्मिन्पक्षे नूत्सर्गाहोरात्रे द्वितीयदिने चान्हि नाध्येतव्यं द्वितीयरात्रौ त्वध्येतव्यम् । अथवा तदेवैकमुत्सर्गाहोरात्रमनध्यायं कुर्यात् । विद्यानैपुण्यकामं प्रत्ययमहोरात्रानध्यायविधिः ॥ ९७ ॥

**अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।**
**वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥**

अत ऊर्ध्वमिति । उत्सर्गानध्ययनादूर्ध्वं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं शुक्लपक्षेषु संयतः पठेत् । सर्वाणि तु वेदाङ्गादीनि शिक्षाव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु पठेत् ॥ ९८ ॥

**नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।**
**न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ९९**

नाविस्पष्टमिति । स्वरवर्णाद्यभिव्यक्तिशून्यं शूद्रसन्निधौ च नाधीयीत । तथा रात्रेः पश्चिमे यामे सुप्तोत्थितो वेदमधीत्य श्रान्तो न पुनः सुप्यात् ॥ ९९ ॥

**यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।**
**ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि॥१००॥**

यथोदितेनेति । यथोक्तविधिना नित्यं छन्दस्कृतं गायत्र्यादिछन्दोयुक्तं मन्त्रमात्रं पठेत् । मन्त्राणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात् । अनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणं मन्त्रजातं च यथोक्तविधिना युक्तः सन् द्विजः पठेत् ॥ १०० ॥

**इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।**
**अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् १०१**

इमानिति । इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायान्सर्वथा यथोक्तविधिना अधीयानः शिष्याध्यापनं च कुर्वाणो गुरुर्वर्जयेत् ॥ १०१ ॥

**कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।**
**एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥**

कर्णश्रव इति । रात्रौ कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायौ वाति । गोविन्दराजस्तु कर्णाभ्यामेव श्रवणोपपत्तेरतिशयविवक्षया कर्णश्रव इत्युक्तं तेनातिशब्दवति वायौ वातीत्यभिहितवान् । दिवा च धूलिपटलोत्सारणसमर्थे वायौ वहति एतौ वर्षाकाले अनध्यायौ तात्कालिकावध्यापनविधिज्ञा मुनयः कथयन्ति ॥ १०२ ॥

**विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे ।**
**आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥**

विद्युदिति । विद्युद्गर्जितवर्षेषु द्वन्द्वनिर्देशाद्युगपदुपस्थितेषु महतीनां चोल्कानां संप्लवे इतस्ततः पाते सति । आकालिकमिति तु निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्पर्यन्तमनध्यायमेतेषु मनुरवोचत् ॥ १०३ ॥

**एतांस्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।**
**तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥**

एतानिति । एतान्विद्युदादीन्यदा होमार्थं प्रकटीकृताग्निकालेषु संध्याक्षणेषु युगपदुत्पन्नान् जानीयात् तदानध्यायं वर्षासु कुर्यान्न सर्वदा तथाऽनृतौ प्रादुष्कृताग्निकालेषु मेघदर्शनमात्रे सति अनध्यायो न वर्षासु ॥ १०४ ॥

**निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।**
**एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥**

निर्घात इति । अन्तरिक्षभवोत्पातध्वनौ भूकम्पे सूर्यचन्द्रतारागणानां चोपसर्गे सत्यनध्याय इमानाकालिकान् जानीयात् । आकालिकशब्दार्थो व्याकृत एव । ऋतावपि वर्षासु किल भूकम्पादयो न दोषावहा इत्यभिप्रायेण ऋतावपीत्युक्तं अपिशब्दादन्यत्रापि १०५

**प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।**
**सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा१०६**

प्रादुष्कृतेष्विति । होमार्थं प्रकाशितेष्वग्निषु संध्यायां यदा विद्युद्गर्जितशब्दावेव भवतो न तु वर्षं तदा सज्योतिरनध्यायः स्यात् । नाकालिकः तत्र यदि प्रातःसंध्यायां तौ स्यातां रात्रौ स्तनितविद्युद्वर्षेष्विति त्रयाणां पूर्वोक्तानां शेषे वर्षाख्ये त्रितये जाते यथा दिवानध्यायस्तथा रात्रावपि अहोरात्र एवेत्यर्थः ॥ १०६ ॥

**नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।**
**धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा॥१०७॥**

नित्यानध्याय इति । नैपुण्यविषयो धर्मातिशयार्थिनो ग्रामनगरयोः सर्वदानध्यायः स्यात् । कुत्सितगन्धे च सर्वस्मिन्नपि गम्यमाने धर्मनैपुण्यकामं प्रत्ययं विद्यानध्यायोपदेशो विद्यानैपुण्यकामस्य कदाचिदध्ययनमनुजानाति । ये शिष्याः केचिद्गृहीतवेदाध्ययनजन्मादृष्टेच्छवस्ते धर्मनैपुण्यकामाः । केचित्प्रथमाध्येतारो विद्यातिशयमात्रार्थिनस्ते विद्यानैपुण्यकामाः ॥ १०७ ॥

**अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।**
**अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८॥**

अन्तर्गतेति । अन्तर्गतः शवो यस्मिन्ग्रामे ज्ञायते तत्र । वृषलोऽधार्मिकस्तस्य सन्निधौ न तु शूद्रः । तस्य न शूद्रजनसन्निधाविति निषेधात् । रुद्यमाने रोदनध्वनौ । भावे लकारः । कार्यान्तरार्थं बहुजनमेलके सत्यनध्यायः ॥ १०८ ॥

**उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।**
**उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत् १०९**

उदक इति । उदकमध्ये मध्यरात्रे च मुहूर्तचतुष्टये च निशायां च चतुर्मुहूर्तमिति गोतमस्मरणात् । गोविन्दराजस्तु रात्रिमध्यप्रहरद्वय इत्युक्तवान् । तथा मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽन्नभोजनादिना चोच्छिष्टो निमन्त्रणसमयादारभ्य श्राद्धभोजनाहोरात्रं यावन्मनसापि वेदं न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

**प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।**
**त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥११०॥**

प्रतिगृह्येति । एक एवोद्दिश्यते यत्र श्राद्धे तदेकोद्दिष्टं नवश्राद्धं तत्केतनं निमन्त्रणं गृहीत्वा निमन्त्रणादारभ्य क्षत्रियस्य जनपदेश्वरस्य पुत्रजन्मादिसूतके राहोश्च सूतकं चन्द्रसूर्योपरागः तत्र त्रिरात्रं वेदं नाधीयीत ॥ ११० ॥

**यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।**
**विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥१११॥**

यावदिति । यावदेकस्यानुदिष्टस्य उच्छिष्टस्य सकुङ्कुमादेर्गन्धो

लेपश्च ब्राह्मणस्य शास्त्रविदो देहे तिष्ठति तावन्त्यहोरात्राणि ऊर्ध्वमपि वेदं नाधीयीत ॥ १११ ॥

**शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।**
**नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च॥११२॥**

शयान इति । शय्यायां पतिताङ्घ्र आसनारूढपादः कृतावसक्थिको वा मांसं जननमरणाशौचिनां चान्नं भुक्त्वा नाधीयीत ॥११२॥

**नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः ।**
**अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥११३॥**

नीहार इति । नीहारे धूलिकायां बाणशब्दे शरध्वनौ वाणो वीणाविशेष इत्यन्ये प्रातःसायंसंध्ययोरमावास्याचतुर्दशीपौर्णमासीषु नाधीयीत । अष्टकासूत्तरत्र निषेधात्पौर्णमास्यादिसाहचर्यादष्टकाशब्दोऽष्टमीतिथिपरः ॥ ११३ ॥

विशेषदोषमाह—

**अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।**
**ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥११४॥**

अमावास्येति । यस्मादमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी वेदं चाष्टमीपौर्णमास्यौ विस्मारयतः तस्मात्ता अध्ययनाध्यापनयोः परित्यजेत् ॥ ११४ ॥

**पांशुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।**
**श्वखराष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥ ११५॥**

पांशुवर्ष इति । धूलीवर्षे दिशां दाहे सृगालकुक्कुरगर्दभोष्ट्रेषु च रुवत्सु पङ्क्तौ चोपविश्य प्रकृतत्वात्सृगालश्वखरादीनामेव ब्राह्मणो न पठेत् ॥ ११५ ॥

**नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।**
**वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च॥११६॥**

नाधीयीतेति । श्मशानसमीपे ग्रामसमीपे गोष्ठे च मैथुनसमयधृतवासः परिधाय श्राद्धीयं च सिद्धान्नादि प्रतिगृह्य नाधीयीत ११६

**प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।**
**तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥**

प्राणि वेति । श्राद्धिकमन्नादि भुक्त्वा तावदनध्यायो भवतात्युक्तम् । प्राणि वा गवाश्वादि अप्राणि वा वस्त्रमाल्यादि प्रतिग्रहकाले हस्तेन गृहीत्वानध्यायो भवति यस्मात्पाणिरेवास्यमस्येति पाण्यास्यो हि ब्राह्मणः स्मृतः ॥ ११७ ॥

**चोरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।**
**आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८॥**

चोरैरिति । चोरैरुपप्लुते ग्रामे गृहादिदाहादिकृते भये दिव्यान्तरिक्षभौमेषु चाद्भुतेषु उत्पाद्यभयेषु आकालिकमनध्यायं जानीयात् ॥

**उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।**
**अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥**

उपाकर्मणीति । उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रमध्ययनक्षेपणम् । उत्सर्गे पक्षिण्यहोरात्रावनध्यायावुक्तौ तत्रायं धर्मनैपुण्यकामंप्रति त्रिरात्रोपदेशः । तथाग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णपक्षाष्टमीषु तिसृषु चतसृषु चाहोरात्रमनध्यायः । दिवाकालमात्रसद्भावेऽपि पौर्णमास्यष्टकासु चेत्यनेन यावदष्टम्येवानध्याय इतराष्टमीषूक्त इत्यपुनरुक्तिः । ऋत्वन्ताहोरात्रेषु चानध्यायः ॥ ११९ ॥

**नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।**
**न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥१२०॥**

नाधीयीतेति । तुरगतरुकरिनौकाखरोष्ट्रारूढः तथोषरदेशस्थः शकटादियानेन गच्छन्नाधीयीत ॥ १२० ॥

**न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे ।**
**न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके॥१२१॥**

न विवाद इति । विवादे वाक्कलहे कलहे दण्डादण्ड्यादौ सेनायां अप्रवृत्तयुद्धायां संगरे युद्धे भोजनानन्तरं च यावदार्द्रहस्तो यावदार्द्रपाणिरिति वसिष्ठस्मरणात् । तथा अजीर्णेऽन्ने वमनं च कृत्वा अम्लोद्गारे च न पठेत् ॥ १२१ ॥

**अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।**
**रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥१२२॥**

अतिथिमिति । अध्ययनं करोमीति यावदतिथिरनुज्ञापितो न भवति मारुते चात्यर्थं वाति रुधिरे च गात्रात्स्रुते रुधिरस्रवं विनापि शस्त्रेण क्षतमात्रेऽपि नाधीयीत ॥ १२२ ॥

**सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।**
**वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३॥**

सामध्वनाविति । सामध्वनौ च श्रूयमाणे ऋग्यजुषोः कदाचिदध्ययनं न कुर्यात् । वेदं च समाप्य चारण्यकाख्यं च वेदैकदेशमधीत्य तदहोरात्रे वेदान्तरं नाधीयीत ॥ १२३ ॥

**ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।**
**सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः १२४**

ऋग्वेद इति । सामगानश्रुतौ ऋग्यजुषोरनध्याय उक्तस्तस्यायमनुवादः । ऋग्वेदो देव एव देवता अस्येति देवदैवत्यः । यजुर्वेदो मानुषो मानुषदेवताकत्वात् । प्रायेण मानुषकर्मोपदेशाद्वा मानुषः । सामवेदः पितृदेवताकत्वात्पित्र्यः । पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति तस्मात्तस्याशुचिरिव ध्वनिः न त्वशुचिरेव अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणे ऋग्यजुषी नाधीयीत ॥ १२४ ॥

**एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।**
**क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥**

एतद्विदन्त इति । एतद्वेदत्रयस्य देवमनुष्यपितृदेवताकत्वं जानन्तः शास्त्रज्ञास्त्रयीनिष्कर्षं सारोद्धृतं व्याहृतिसावित्र्यात्मकं प्रणवव्याहृतिसावित्रीः क्रमेण पूर्वमधीत्य पश्चाद्वेदाध्ययनं कुर्युः । द्वितीयाध्यायोक्तोऽप्ययमर्थः पुनरनध्यायप्रकरणेऽभिहितः । यथैते यथोक्तानध्याया एवं प्रणवव्याहृतिसावित्रीषु पठितासु अनध्याय इति दर्शयितुं शिष्यस्याध्यापनमेवं कर्तव्यमिति स्नातकव्रतत्वावगमार्थं च ॥

**पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।**
**अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥**

पशुमण्डूकेति । पशुर्गवादिः मण्डूकबिडालकुक्कुरसर्पनकुलमूषिकैः शिष्योपाध्याययोर्मध्यगमने अनध्यायमहोरात्रं जानीयात् ॥ १२६ ॥

संप्रति विद्यानैपुण्यकामंप्रति पूर्वोक्तानध्यायविकल्पार्थमाह—

**द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।**
**स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥**

द्वावेवेति । स्वाध्यायभूमिं चोच्छिष्टाद्यमेध्योपहतां आत्मानं च यथोक्तशौचरहितमिति द्वावेवानध्यायौ नित्यं प्रयत्नतो वर्जयेन्न तु पूर्वोक्तान् । तेषामपि यत्र नित्यग्रहणमनुवादो वा नित्यत्वापेक्षको वास्ति तानपि नित्यं वर्जयेत् अन्यत्र विकल्पः ॥ १२७ ॥

**अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।**
**ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥१२८॥**

अमावास्यामिति । आमवास्यादिषु ऋतावपि स्नातको द्विजो न स्त्रियमुपगच्छेत् । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामित्यनेनैव निषेधसिद्धौ स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तार्थमिह वर्जनम् ॥ १२८ ॥

**न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।**
**न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥१२९॥**

न स्नानमिति । नित्यस्नानस्य भोजनानन्तरमप्रसक्तेश्चाण्डालादिस्पर्शनिमित्तकस्य मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाप्रयतः स्यादित्यापस्तम्बस्मरणान्निषेद्धुमयोग्यत्वाद्यदृच्छास्नानमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते । तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं न कुर्यात् किंतु यथासामर्थ्यं अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् । आर्द्रेण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुरित्यादिजाबालाद्युक्तमनुसंधेयम् । तथा । महानिशात्र विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् । तस्मिन् स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृत इति देवलवचनात्तत्र न स्नायात् । बहुवासाश्च नित्यं न स्नायात् । नैमित्तिकचाण्डालादिस्पर्शे सति तु स्नानं बहुवाससोऽप्यनिषिद्धम् । ग्राहाद्याक्रान्तागाधरूपतया विशेषेणाज्ञाते जलाशये च ॥

**देवतानां गुरोः राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।**
**नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च॥१३०॥**

**हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।**
**रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥१४१॥**

हीनाङ्गानिति । हीनाङ्गाधिकाङ्गमूर्खवृद्धकुरूपहीनजातीन् काणशब्दाह्वानादिना न निन्देत् ॥ १४१ ॥

**न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।**
**न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि १४२**

न स्पृशेदिति । कृतभोजनः कृतमूत्रपुरीषादिश्चाकृतशौचाचमनो ब्राह्मणो हस्तादिना गोब्राह्मणाग्नीन्न स्पृशेत् । न चाशुचिः सन् अनातुरो दिविस्थान्सूर्यचन्द्रग्रहादिज्योतिर्गणान्पश्येत् ॥ १४२ ॥

**स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।**
**गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु॥१४३॥**

स्पृष्ट्वैतानिति । एतान्गवादीनशुचिः सन्स्पृष्ट्वा कृताचमनः पाणिना गृहीताभिरद्भिः प्राणांश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि शिरः स्कन्धजानुपादान्नाभिं च स्पृशेत् । अप्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थं तत्र करणे गवादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ १४३ ॥

**अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।**
**रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥**

अनातुर इति । अनातुरः सन् स्वानि खानि इन्द्रियाणि । छिद्राणि रोमाणि च गोप्यानि उपस्थकक्षगतानि निर्निमित्तं न स्पृशेत् ॥

**मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।**
**जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५॥**

मङ्गलाचारयुक्तः स्यादिति । अभिप्रेतार्थसिद्धिर्मङ्गलं तद्धेतुत्वेन गोरोचनादिधारणमपि मङ्गलम् । गुरुसेवादिकमाचारस्तत्रोद्युक्तः स्यात् । बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतो जितेन्द्रियो भवेत् । गायत्र्यादिजपं विहितहोमं च कुर्यात् । अतन्द्रितः अनलसः । अत्राचारादियुक्तानामपि विनिपातनिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानम् ॥ १४५ ॥

अत आह—

**मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।**
**जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६॥**

मङ्गलाचारयुक्तानामिति । मङ्गलाचाराभ्यां युक्तानां नित्यं शुचीनां जपहोमरतानां दैवमानुषोपद्रवो न जायते ॥ १४६ ॥

**वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।**
**तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥**

वेदमेवेति । नित्यकृत्यावसरे श्रेयोहेतुतया प्रणवगायत्र्यादिकं वेदमेवानलसो जपेत् । यस्मात्तं ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं धर्मं मन्वादयो वदन्ति । अन्यः पुनस्ततोऽपकृष्टो धर्मो मुनिभिरुच्यते । उक्तस्यैव वेदाभ्यासादेः पूर्वजातिस्मरणद्वारेण मोक्षहेतुत्वं वदितुं पुनरभिधानम् ॥ १४७ ॥

**वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।**
**अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् १४८**

वेदाभ्यासेनेति । सततवेदाभ्यासशौचतपोऽहिंसाभिः पूर्वभवस्य जातिं स्मरति ॥ १४८ ॥

ततः किमत आह—

**पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।**
**ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९॥**

पौर्विकीमिति । पूर्वजातिं स्मरन् । जातिमित्येकत्वमनाकाङ्क्षितत्वादविवक्षितम् । बहूनि जन्मानि स्मरंस्तेषु च गर्भजन्मजरामरणदुःखान्यपि स्मरन्संसारे विरजन्ब्रह्मैवाजस्रमभ्यसति श्रवणमननध्यानैः साक्षात्करोति तेन चानन्तमविनाशि परमानन्दाविर्भावलक्षणं मोक्षसुखं प्राप्नोति ॥ १४९ ॥

**सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ।**
**पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥**

सावित्रानिति । सावित्रीदेवताकान् होमान् अनिष्टनिवृत्त्यर्थं

शान्तिहोमान्पौर्णमास्यमावास्ययोः सर्वदा कुर्यात् । तथा आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसृषु चाष्टकाख्येन कर्मणा श्राद्धेन च तदन्तरितकृष्णनवमीषु चान्वष्टकाख्येन परलोकगतान् पितॄन् यजेत् १५०

**दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।**
**उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥**

दूरादावसथादिति । नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुव इति विष्णुपुराणवचनादेवंविधादग्निगृहदूरान्मूत्रपुरीषपादप्रक्षालनसफलोच्छिष्टान्नानि निषिच्यत इति निषेकं रेतश्चोत्सृजेत् ॥ १५१ ॥

**मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।**
**पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥१५२॥**

मैत्रमिति । मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुः तद्भवत्वान्मैत्रं पुरीषोत्सर्गम् । तथा देहप्रसाधनप्रातःस्नानदन्तधावनाञ्जनदेवार्चनादि पूर्वाह्ण एव कुर्यात् । पूर्वाह्णशब्देन रात्रिशेषदिनपूर्वभागाविह विवक्षितौ । पदार्थमात्रविधिपरत्वाच्चास्य पाठक्रमोऽपि नादरणीयः । न हि स्नानानन्तरं दन्तधावनम् ॥ १५२ ॥

**दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।**
**ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥**

दैवतानीति । पाषाणादिमयानि धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्रक्षार्थं राजादिकं गुरूंश्च पित्रादीनमावास्यादिपर्वसु द्रष्टुमभिमुखो गच्छेत् ॥

**अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।**
**कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥१५४॥**

अभिवादयेदिति । गृहागतान्गुरूनभिवादयेत्तेषां च स्वीयमासनमुपवेष्टुं च दद्यात् । बद्धाञ्जलिश्च गुरुसमीप आसीत । गच्छतश्च पृष्टदेशोऽनुगच्छेत् । उक्तोऽप्ययमभिवादनाद्याचारः फलाभिधानायपुनरुच्यते ॥ १५४ ॥

**श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।**
**धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥**

श्रुतिस्मृत्युदितमिति । वेदस्मृतिभ्यां सम्यगुक्तं स्वेषु कर्मसु अध्ययनादिष्वङ्गत्वेन संबद्धं धर्मस्य हेतुं साधूनामाचारमनलसः सन्नितान्तं सेवेतेति सामान्येनाचारानुष्ठानोपदेशः फलकथनाय ॥१५५॥

**आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।**
**आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥**

आचारादिति । आचाराद्वेदोक्तमायुर्लभते अभिमताश्च प्रजाः पुत्रपौत्रदुहित्रात्मिकाः प्रभूतं च धनं अशुभफलसूचकं च देहस्थमलक्षणमाचारो निष्फलयति । आचाराख्यधर्मेणालक्षणसूचितारिष्टनाशात् ॥ १५६ ॥

**दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।**
**दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥**

दुराचारो हीति । यस्माद्दुराचारः पुरुषो लोके गर्हितः स्यात्सर्वदा दुःखान्वितो रोगवानल्पायुश्च भवति तस्मात्सदाचारयुक्तः स्यात् ॥

**सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।**
**श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥**

सर्वलक्षणहीनोऽपीति । यः सदाचारवान् श्रद्धान्वितः परदोषानभिधाता स शुभसूचकलक्षणशून्योऽपि शतायुर्भवति ॥ १५८ ॥

**यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।**
**यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥**

यद्यत्परेति । यद्यत्कर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद्यत्नतो वर्जयेत् । यद्यत्स्वाधीनदेहव्यापारसाध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद्यत्नतोऽनुतिष्ठेत् ॥ १५९ ॥

अत्र हेतुमाह—

**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।**
**एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥**

सर्वं परवशमिति । सर्वं परप्रार्थनादिसाध्यं दुःखहेतुः सर्वमात्माधीनं सुखहेतुः एतत्सुखदुःखयोः कारणं जानीयात् ॥ १६० ॥

**यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।**
**तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥**

यत्कर्म कुर्वत इति । यत्कर्म कुर्वतोऽस्यानुष्ठातुः पुरुषस्यान्तरात्मनः तुष्टिः स्या त्तत्प्रयत्नतोऽनुष्ठेयम् । अतुष्टिकरं वर्जयेत् । एतच्चाविहितानिषिद्धगोचरं वैकल्पिकविषयं च ॥ १६१ ॥

**आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।**
**न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः १६२**

आचार्यं चेति । आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकं प्रवक्तारं वेदाध्यायव्याख्यातारं गुरुमल्पं वा बहु वा यस्येत्युक्तं आचार्यादींस्तु न हिंसेत् । प्रतिकूलाचरणेऽत्र हिंसाशब्दः । गोविन्दराजस्तु सामान्येन हिंसानिषेधादाततायिनोऽप्येतान्न हिंस्यादिति व्याख्यातवान् तदयुक्तम् । गुरुं वा बालवृद्धौ वा इत्यनेन विरोधात् ॥ १६२ ॥

**नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।**
**द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् १६३**

नास्तिक्यमिति । नास्ति परलोक इति बुद्धिं वेदस्य देवतानां च निन्दां मात्सर्यं धर्मानुत्साहाभिमानकोपक्रौर्याणि त्यजेत् ॥ १६३ ॥

**परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।**
**अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ १६४**

परस्य दण्डमिति । परस्य हननार्थं क्रुद्धः सन् दण्डादि नोत्क्षिपेत् । न च परगात्रे निपातयेत्पुत्रशिष्यभार्यादासादेरन्यत्र कृतापराधानेताननुशासनार्थं रज्ज्वा वेणुदलेन वा इत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण ताडयेत् ॥ १६४ ॥

**ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।**
**शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥**

ब्राह्मणायेति । द्विजातिरपि ब्राह्मणस्य हननार्थं दण्डादिकमुद्यम्यैव न तु निपात्य वर्षशतं तामिस्रादिनरके परिभ्रमति ॥ १६५ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६॥

ताडयित्वा तृणेनापीति । तृणेनापि क्रोधाद्बुद्धिपूर्वकं ब्राह्मणं ताडयित्वा एकविंशतिजन्मानि पापयोनिषु कुक्कुरादियोनिषु जायते ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतयानरः ॥ १६७ ॥

अयुध्यमानस्येति । अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गे शास्त्रानभिज्ञतया शोणितमुत्पाद्य परलोके च महदुःखमाप्नोति ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते १६८

शोणितमिति । खड्गादिहतब्राह्मणाङ्गनिर्गतं रुधिरं भूमिपतितं यावतो धूलिद्व्यणुकान् पिण्डीकरोति तावत्संख्यानि वर्षाणि परलोके शोणितोत्पादकः प्रहर्ता अन्यैः श्वसृगालादिभिर्भक्ष्यते ॥ १६८ ॥

न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥ १६९॥

न कदाचिदिति । तस्मादवगोरणादिदोषाभिज्ञो ब्राह्मणे दण्डाद्युद्यमननिपातरुधिरस्रवणानि नापद्यपि कुर्यादिति पूर्वोक्तक्रियात्रयस्योपसंहारः ॥ १६९ ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

अधार्मिक इति । अधर्मेण व्यवहरतीत्यधार्मिकः शास्त्रप्रतिषिद्धागम्यागमनाद्यनुष्ठाता यो मानुषो यस्य च साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ च मिथ्याभिधानमेव धनोपाय असत्यमभिधायोत्कोचधनं गृह्णाति यश्च परहिंसाभिरतः नासाविह लोके सुखयुक्तो वर्तते । तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निन्दानिषेधः कल्प्यते ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनो धर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् १७१

न सीदन्नपीति । शास्त्रविहितमनुतिष्ठन्धनाद्यभावेन अवसीदन्नपि कदाचिन्नाधर्मे बुद्धिं कुर्यात् । यस्मादधर्मव्यवहारिणो यद्यप्यापाततो धनादिसंपद्भागिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तेषामधार्मिकाणामधर्मचौरादिव्यवहारिणां पापिनां तज्जनितदुरितशालिनां शीघ्रं धनादिविपर्ययोऽपि दृश्यते । तं पश्यन्नाधर्मे धियं दद्यादिति विशिष्य हिताय दृष्टमर्थं दर्शितवान् ॥ १७१ ॥

**नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।**
**शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥**

नाधर्म इति । शास्त्रेणानियमितकालपरिपाकत्वाच्छुभाशुभकर्मणां नाधर्मोऽनुतिष्ठतः तत्काल एव फलति गौरिव इह भूमिपक्षे साधर्म्यदृष्टान्तः । यथा भूमिरुप्तबीजमात्रा तदैव प्रचुरपचेलिमफलव्रीहिस्तबकसंवलिता न भवति किंतु नियमफलपाकसमयमासाद्य । पशुपक्षे वैधर्म्यदृष्टान्तः । यथा गौः पशुर्वाहदोहाभ्यां सद्यः फलति नैवमधर्मः किंतु क्रमेणावर्तमानः फलोन्मुखीभवन्नधर्मकर्तुर्मूलानि छिन्दति मूलच्छेदेन सर्वनाशो लक्ष्यते देहधनाद्यन्वितो नश्यति ॥

**यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।**
**न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥**

यदीति । यदि स्वयं कर्तुर्देहधनादिनाशं फलं न जनयति तदा तत्पुत्रेषु नोचेत्पौत्रेषु जनयति न तु निष्फल एव भवति । ननु अन्यकृतस्य कर्मणः कथमन्यत्र फलजनकत्वम् । उच्यते । पुत्रादिनाशस्य पितुः क्लेशहेतुत्वाच्छास्त्रीयत्वाच्चास्यार्थस्य नाविश्वासः ॥१७३॥

**अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।**
**ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥**

अधर्मेणेति । अधर्मेण परद्रोहादिना तावदापाततो ग्रामधनादिना वर्धते ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वादीनि लभते ततः शत्रून्स्वस्मादपकृष्टान् जयति पश्चात्क्रियता कालेनाधर्मपरिपाकवशाद्देहधनतनयादिसहितो विनश्यति ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेष्विति । सत्यधर्मसदाचारशौचेषु सर्वदा रतिं कुर्यात् । शिष्यांश्चानुशासनीयान्भार्यापुत्रदासच्छात्रान् रज्ज्वा वेणुदलेन वेति शासयेत् । उक्तानामप्यभिधानादादरार्थं वाग्बाहूदरसंयतश्च स्यात् । वाक्संयमः सत्यभाषिता । बाहुसंयमो बाहुबलेन कस्याप्यपीडनम् । उदरसंयमो यथालब्धाल्पभोजनम् ॥ १७५ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

परित्यजेदिति । यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेतां तौ परिहरेत् । यथा चौर्यादिनार्थोपपादनं दीक्षादिने यजमानस्य पत्न्युपगमः उदर्कउत्तरकालः तत्रासुखं यत्र धर्मे तद्धर्ममपि परित्यजेत् यथा पुत्रादिवर्गपोष्ययुक्तस्य सर्वस्वदानम् । लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानां विक्रोशः यथा कलौ मध्यमाष्टकादिषु गोवधादिः ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥

न पाणिपादचपल इति । पाण्यादिचापलं त्यजेत् । अनुपयुक्तवस्तूपादानादि पाणिचापलम् । निष्प्रयोजनं भ्रमणादि पादचापलम् । परस्त्रीप्रेक्षणादि नेत्रचापलम् । बहुगर्ह्यवादिता वाक्चापलम् । अनृजुः कुटिलो न स्यात् । परद्रोहो हिंसा तदर्थं चेष्टां धियं च न कुर्यात् ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥

येनेति । बहुविधशास्त्रार्थसंभवे पितृपितामहाद्यनुष्ठित एव शास्त्रार्थोऽनुष्ठातव्यः तेन गच्छन्न रिष्यते नाधर्मेण हिंस्यात् ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥

**मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।**
**दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥**

ऋत्विगिति वचनद्वयम् । ऋत्विगादिभिर्वाकलहं न कुर्यात् । शान्त्यादिकर्ता पुरोहितः । संश्रिता अनुजीविनः । ज्ञातयः पितृपक्षाः । संबन्धिनः श्यालकादयः । बान्धवा मातृपक्षाः । यामयो भगिनीस्नुषाद्याः ॥ १७९ ॥ १८० ॥

**एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।**
**एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान्गृही ॥१८१॥**

एतैरिति । एतैर्ऋत्विगादिभिः सह विवादान्परित्यज्य अज्ञातपापैः प्रमुच्यते । तथैतैर्विवादैरुपेक्षितैरिमान्वक्ष्यमाणाँल्लोकान् गृहस्थो जयति ॥ १८१ ॥

**आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।**
**अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः १८२**

आचार्य इति । आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः तेन सह विवादपरित्यागेन तत्संतुष्ट्या तु ब्रह्मलोकप्राप्तिर्गौणं ब्रह्मलोकेशत्वम् । एवं प्राजापत्यलोकेशः प्राजापत्ये पिता च प्रभुः । अतिथिरिन्द्रलोकेशः । देवलोकस्य च ऋत्विजः । एवमुत्तरत्रापि तल्लोकेशत्वं बोद्धव्यम् ॥

**यामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।**
**संबन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ १८३**

यामय इति । अप्सरसां लोके यामयः प्रभवन्ति । वैश्वदेवलोके बान्धवाः । वरुणलोके संबन्धिनः । भूर्लोके मातृमातुलौ ॥ १८३॥

**आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।**
**भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥**

आकाशेशास्त्विति । कृशः कृशधनः संश्रितो विवक्षितः बालवृद्धसंश्रितातुरा अन्तरिक्षे प्रभवन्ति । भ्राता च ज्येष्ठः पितृतुल्यः तस्मात्सोऽपि प्रजापतिलोकप्रभुः । भार्यापुत्रौ च स्वशरीरमेव अतः कथमात्मनैव सह विवादः संभवति ॥ १८४ ॥

**छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्।**
**तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥**

छायेति। स्वदासवर्गश्च नित्यानुगतत्वादात्मच्छायेव न विवादार्हो दुहिता च परं कृपापात्रं तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सन् असंतापः सहेत न तु विवदेत् ॥ १८५ ॥

**प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।**
**प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥**

प्रतिग्रहसमर्थोऽपीति। विद्यातपोवृत्तसंपन्नतया प्रतिग्रहेऽधिकार्यपि तत्र पुनःपुनः प्रवृत्तिं त्यजेत्। यस्मात्प्रतिग्रहेण वेदाध्ययनादिनिमित्तप्रभावः शीघ्रमेव विनश्यति। यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थमित्युक्तेऽपि सामान्येनार्जनं संकोचविशेषेण प्रतिग्रहस्य ब्राह्मणप्रभावप्रशमनफलत्वकथनार्थं वचनम् ॥ १८६ ॥

**न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।**
**प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥**

न द्रव्याणामिति। द्रव्याणां प्रतिग्रहं धर्माय हितं विधानं ग्राह्यदेवताप्रतिग्रहमन्त्रादिकमज्ञात्वा क्षुधावसानं गच्छन्नपि प्राज्ञो न प्रतिगृह्णीयात्किं पुनरनापदि ॥ १८७ ॥

**हिरण्यभूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।**
**प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥**

हिरण्यमिति। स्वर्णादीन् श्रुतस्वाध्यायहीनः प्रतिगृह्णन्नग्निसंयोगेन दारुवद्भस्मीभूतो भवति पुनरुत्पत्तिं लभते ॥ १८८ ॥

**हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम्।**
**अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः १८९**

हिरण्यमिति। अविदुषः प्रतिग्रहीतुर्भूर्गौश्च शरीरं ओषतो दहतः। उष्दाहे भौवादिकस्तस्येदं रूपम्। भूगवोर्द्विवचविवक्षायां द्विवचनम्। एवं हिरण्यमन्नं चायुरोषतः अश्वश्चक्षुरित्यादिषु विभक्तिविपरिणामादोषतीत्येकवचनान्तस्यानुषङ्गः ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

अतपास्त्विति । यस्तपोविद्याशून्यः प्रतिग्रहेच्छुः ब्राह्मणो भवति स प्रतिग्रहाविनाभावाद्बुद्धिस्थेन तेन इति परामृष्टेनैव दात्रैवानर्हप्रतिग्रहादानपापयुक्तेन सह नरके मज्जति यथा पाषाणमयेनोडुपेनाम्भस्तरंस्तेनैव सहाम्भसि मग्नो भवति ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥

तस्मादविद्वानिति । यस्मादसावल्पद्रव्यप्रतिग्रहेणापि मूर्खः पङ्के गौरिव नरकेऽसमर्थो भवति तस्माद्यतः कुतश्चित्सुवर्णादिव्यतिरिक्तसीसकाद्यसारप्रतिग्रहादपि त्रस्येत् ॥ १९१ ॥

प्रतिग्रहीतुर्धर्ममभिधाय अधुना दातुराह—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

न वार्यपीति । वायसादिभ्यो यदीयते तदपि वैडालव्रतिकेभ्यो धर्मज्ञो न दद्यादित्यतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदानं निषिद्ध्यते न तु वारिदानमेव पाषण्डिनो विकर्मस्थानित्यनेन वैडालव्रतिकाय अतिथित्वेन सत्कृतार्थदानादि निषिद्धमिह तु धनदानं निषिद्ध्यते अत एव विधिनाप्यर्जितं धनमिति वक्ष्यति । नावेदविदीति वेदार्थानभिज्ञे एतच्च विद्वत्संभवेनावेदविदीति निषिध्यते ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

त्रिष्वपीति । एतेषु त्रिष्वपि बैडालव्रतिकादिषु न्यायार्जितमपि धनं दत्तं दातुः प्रतिग्रहीतुश्च परलोके नरकहेतुत्वादनर्थाय भवति ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१९४॥

यथा प्लवेनेति । यथा पाषाणमयेनोडुपादिना जले तरंस्तेनैव सहा-

धौ गच्छति एवं दानप्रतिग्रहशास्त्रानभिज्ञौ दातृग्राहकौ नरकं गच्छतः। अतपास्त्वनधीयान इति प्रतिग्रहीतृप्राधान्येन निन्दोक्ता । इह तु दातृप्राधान्येन इत्यपुनरुक्तिः ॥ १९४ ॥

**धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।**
**बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ १९५॥**

धर्मध्वजीति । यो बहुजनसमक्षं धर्ममाचरति स्वतः परतश्च लोके ख्यापयति तस्य धर्मो ध्वजं चिह्नमिवेति धर्मध्वजी । लुब्धः परधनाभिलाषुकः । छद्मना व्याजेन चलतीति छाद्मिकः । लोकदम्भको निक्षेपापहारादिना जनवञ्चकः । हिंस्रः परहिंसाशीलः । सर्वाभिसंधकः परगुणासहनतया सर्वाक्षेपकः । बिडालव्रतेन चरतीति बैडालव्रतिकः । बिडालो हि प्रायेण मूषिकादिहिंसारुचितया ध्याननिष्ठ इव विनीतः सन्नवतिष्ठत इति उपचाराद्बिडालव्रतशब्दः ॥ १९५ ॥

**अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।**
**शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥**

अधोदृष्टिरिति । अधोदृष्टिर्निजविनयख्यापनाय सततमध एव निरीक्षते । निष्कृतिर्निष्ठुरता तया चरतीति नैष्कृतिकः । स्वार्थसाधनतत्परः पदार्थखण्डनेन । शठो वक्रः । मिथ्या विनीतः कपटविनयवान् । बकव्रतं चरतीति बकव्रतचरः । बको हि प्रायेण मीनहननरुचितया मिथ्याविनीतः सन्नेवंशीलो भवतीति गौणो बकव्रतशब्दः ॥ १९६ ॥

**ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ।**
**ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥**

ये बकव्रतिन इति । ये बकव्रतं बिडालव्रतं चरन्ति ते ब्राह्मणास्तेन पापहेतुना कर्मणा अन्धतामिस्रनाम्नि नरके पतन्ति ॥ १९७॥

**न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।**
**व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१९८॥**

न धर्मस्येति । पापं कृत्वा प्रायश्चित्तरूपं प्राजापत्यादिव्रतं पापमप-

नयति तन्नेदं प्रायश्चित्तं किंतु धर्मार्थमहमनुतिष्ठामीति स्त्रीशूद्रमूर्खादिजनमोहनं कुर्वन्न तिष्ठेत् ॥ १९८ ॥

**प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।**
**छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥**
**अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।**
**स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥**

प्रेत्येह इति । श्लोकद्वयं प्रथमं सुबोधम् । अब्रह्मचारी यो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यादिलिङ्गं मेखलाजिनदण्डादिवेषोपलक्षितस्तद्वृत्त्या भिक्षाभ्रमणादिना जीवति स ब्रह्मचार्यादीनां यत्पापं तदात्मन्याहरति कुक्कुरादितिर्यग्योनौ उत्पद्यते तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निषेधः कल्प्यते ॥

**परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।**
**निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥**

परकीयेति । निपानं जलाधारः परकृतपुष्करिण्यादिषु न कदाचित्स्नायात् । तत्र स्नात्वा पुष्करिण्यादिकर्तुर्यत्पापं तस्यांशेन वक्ष्यमाणचतुर्थभागरूपेण संबध्यते । अकृत्रिमनद्यसंभवे परकृतेऽपि पुष्करिण्यादौ प्राक् प्रदानात्पञ्चपिण्डानुद्धृत्य स्नातव्यम् । तदाह याज्ञवल्क्यः । पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु । उद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत् ॥ स्नात्वा च तर्पयेद्देवान्पितॄंश्चैव विशेषतः ॥ २०१ ॥

**यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।**
**अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥**

यानशय्येति । अस्येति प्रकृतः पुनः परामृश्यते । परस्य यानादीन्यदत्तानि उपयुञ्जानस्तदीयपापचतुर्थभागभागी भवति । अदत्तानीति परस्यानुमत्यभावश्च विवक्षितस्तेन सर्वार्थोत्सृष्टमठकूपादौ उपयोगार्थात्मस्नानादौ न विरोधः ॥ २०२ ॥

**नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।**
**स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥**

नदीष्विति । नद्यादिषु सर्वदा स्नानमाचरेत् । देवखातेष्विति तडागविशेषणम् । देवसंबन्धित्वेन प्रसिद्धेषु सरःसु गर्तेषु अष्टधनुःसहस्रेभ्यो न्यूनगतिषु । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे । धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते । न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परिकीर्तिताः ॥ चतुर्हस्तप्रमाणं धनुः प्रस्रवणेषु निर्झरेषु चानेनैव परकीयनिपानव्यावृत्तिसिद्धौ यत्पृथग्वचनं तदात्मीयोत्सृष्टतडागादिषु स्नानाद्यनुज्ञानार्थं तदपि नद्याद्यसंभवे द्रष्टव्यम् ॥ २०३ ॥

**यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।**
**यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥२०४॥**

यमानिति । नियमापेक्षया यमानुष्ठानगौरवज्ञापनार्थमिदं न तु नियमनिषेधार्थम् । द्वयोरेव शास्त्रार्थत्वात् । यमनियमविवेकश्च मुनिभिरेव कृतः । तदाह याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ यमनियमस्वरूपज्ञः समस्तस्नानादिनियमत्यागेनाप्यहिंसादिरूपं यममनुतिष्ठेत् । नियमाननुतिष्ठन्नपि यमानुष्ठानरहितः पततीत्ययं यमस्तुत्यर्थ इति ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौ हिंसादिप्रतिषेधार्थकाः यमाः वेदमेव जपेन्नित्यमित्यादयोऽनुष्ठेयरूपा नियमा इति व्याचक्षते । अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै परिकीर्तिताः ॥ अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥ २०४ ॥

**नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।**
**स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् २०५**

नाश्रोत्रियेति । अनधीतवेदेनोपक्रान्ते यज्ञेऽग्नीषोमीयादूर्ध्वमपि भोजनयोग्यसमये ब्राह्मणो न भुञ्जीत । तथा बहूनां याजकेन ऋत्विजा स्त्रिया नपुंसकेन च यत्र यज्ञे हूयते तत्र कदाचिन्न भुञ्जीत ॥

**अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।**
**प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६॥**

अश्लीकमिति । पूर्वोक्ता बहुयाजकादयो यत्र होमं कुर्वन्ति तत्क-

मं शिष्टानामश्रीकमश्रीकं श्रीम्नं रेफस्य स्थाने लकारः देवानां प्रतिकूलं तस्मादेतद्धोमं न कारयेत् ॥ २०६ ॥

**मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।**
**केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७॥**

मत्तक्रुद्धातुराणामिति । क्षुन्धक्रुद्धव्याधितानामन्नं तथा केशकीटसंसर्गदुष्टं पादेन चेच्छातः संस्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत ॥ २०७ ॥

**भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।**
**पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥**

भ्रूणघ्नेति । भ्रूणघ्नेत्युपलक्षणाद्ब्रह्मघ्नेत्यादिपतितावेक्षितं रजस्वलया च स्पृष्टं पक्षिणा च काकादिना स्वादितं कुक्कुरेण च स्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत ॥ २०८ ॥

**गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।**
**गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् २०९**

गवेति । यदन्नं गवाघ्रातं घुष्टान्नं को भोक्ता इत्युपघुष्टान्नं सत्रादौ यदीयते । विशेषत इति भूरिदोषतया प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । गणान्नं शठब्राह्मणसंघान्नं गणिका वेश्या तस्या अन्नं तच्च न भुञ्जीत ॥

**स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।**
**दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥**

स्तेनेति । चौरगायनजीविनोस्तथा तक्षवृत्तिजीवनस्य वृद्धचुपजीविनश्चान्नं न भुञ्जीत । तथा यज्ञे दीक्षितस्य प्रागग्नीषोमीयात् । कदर्यस्य कृपणस्य । निगडस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । गोविन्दराजस्तु बद्धशब्दस्य बन्धनैर्विनाप्ययोनिगडैर्निगडितस्य दत्तायोनिगडस्येति व्याख्यातवान् ॥ २१० ॥

**अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।**
**शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥**

अभिशस्तस्येति । महापातकित्वेन संजातलोकविक्रोशस्य नपुंसकस्य पुंश्चल्या व्यभिचारिण्या अगणिकाया अपि दाम्भिकस्य छ-

ऋना धर्मचारिणो वैडालव्रतिकादेरन्नं न भुञ्जीत। शुक्तं यत्स्वभावतो मधुरं दध्यादिसंपर्कवशेन उदकादिना चाम्लादिभावं गतम्। पर्युषितं रात्र्यन्तरितं शूद्रस्यान्नं न भुञ्जीतेति संबन्धः। उच्छिष्टं च भुक्तावशिष्टान्नमविशेषात्कस्यापि न भुञ्जीत। गुरूच्छिष्टं च विहितत्वाद्भोज्यम्। गोविन्दराजस्तु शूद्रस्योच्छिष्टं तद्भुक्तावशिष्टं च स्थालीस्थमपि न भुञ्जीत इत्याह ॥ २११ ॥

**चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।**
**उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥२१२॥**

चिकित्सकस्येति। चिकित्साजीविनः मृगयोर्मांसविक्रयार्थं मृगादिपशुहन्तुः क्रूरस्यानृजुप्रकृतेः निषिद्धोच्छिष्टभोक्तुरन्नं न भुञ्जीत। उग्रो दारुणकर्मा तस्यान्नम्। गोविन्दराजो मञ्जर्यामुग्रं राजानमुक्तवान्। मनुवृत्तौ च शूद्रायां क्षत्रियोत्पन्नमभ्यधात्॥ भेदोक्तेर्याज्ञवल्क्ये नोग्रो राजेति वावदत्। आश्चर्यमिदमेतस्य स्वकीयहृदि भूषणम्॥ सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य यत्क्रियते तदन्नं तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम्। एकपङ्क्तिस्थानन्यानवमन्य यत्रान्ने भुज्यमाने केनचिदाचमनं क्रियते तत्पर्याचान्तम्। अनिर्दशं सूतिकान्नं वक्ष्यमाणत्वान्न भुञ्जीत॥ २१२ ॥

**अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।**
**द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥**

अनर्चितमिति। अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते वृथामांसं देवतादिमुद्दिश्य यन्न कृतं अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः शत्रुनगरपतितानां च उपरिकृतक्षुतं चान्नं न भुञ्जीत ॥ २१३ ॥

**पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा।**
**शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥**

पिशुनेति। पिशुनः परोक्षे परापवादभाषणपरः। अनृतीति। अतिशयेनानृतवादी कूटसाक्ष्यादिः क्रतुविक्रयकः मदीययागस्य फलं नव भवत्विमभिधाय यो धनं गृह्णाति। शैलूषो नटः। तुन्नवायः सौचिकः। कृतघ्नो यः कृतोपकारस्यापकारे प्रवर्तते तस्यान्नं न भुञ्जीत॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

कर्मारस्येति । कर्मारस्य लोहकारस्य निषादस्य दशमाध्यायोक्तस्य नटगायनव्यतिरिक्तस्य रङ्गावतरणजीविनः सुवर्णकारस्य वेणोर्भेदनेन यो जीवति वुरुड इति विश्वरूपः शस्त्रं लोहः तद्विक्रयिणश्चान्नं न भुञ्जीत ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

श्ववतामिति । आखेटकाद्यर्थं शुनः पोषकाणां मद्यविक्रयिणां वस्त्रधावकस्य कुसुम्भादिना वस्त्ररागकृतः निर्दयस्य यस्य चोपपतिर्गृहे जारश्च यस्याज्ञानतो गृहे स्थितस्तस्य गेहे नाद्यात् ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

मृष्यन्तीति । गृह इत्यनुषज्यते । गेहे ज्ञातं भार्याजारं ये सहन्ते तेषामन्नं न भुञ्जीत । तेन गृहान्निःसारिताया जारसहने एष दोषः । तथा सर्वकर्मसु स्त्रीपरतन्त्राणां अनिर्गताशौचं च सूतकान्नं अतुष्टिकरमेव च न भुञ्जीत ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

राजान्नमिति । राजान्नं तेजो नाशयति । इत एव दोषदर्शनात्तदन्नभक्षणनिषेधः कल्प्यते । एवमुत्तरत्रापि पूर्वमनिषिद्धस्य दोषदर्शनादेव निषेधकल्पनम् । नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नमिति निषेधिष्यति तदतिक्रमणफलकथनमिदम् । शूद्रस्य पक्वान्नमध्ययनादिनिमित्तं तेजो नाशयति । सुवर्णकारस्यान्नमायुः चर्मकारान्नं ख्यातिं नाशयति २१८

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति २१९

कारुकान्नमिति । कारुकस्य सूपकारादेरन्नं प्रजामपत्यं निहन्ति ।

चर्मकारादेः कारुकत्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पृथङ्निर्देशः । निर्णेजकस्यान्नं बलं हन्ति । गणगणिकयोरन्नं च कर्मान्तरार्जितेभ्यः स्वर्गादिलोकेभ्य आच्छिनत्ति ॥ २१९ ॥

**पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।**
**विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् २२०**

पूयमिति । चिकित्सकस्यान्नं पूयं पूयभक्षणसमदोषम् । एवं पुंश्चल्या अन्नमिन्द्रियं शुक्रम् । वार्धुषिकस्यान्नं पुरीषम् । लोहविक्रयिणोऽन्नं विष्ठाव्यतिरिक्तश्लेष्मादि । गोविन्दराजस्तु । चिकित्सकान्नभक्षणेन तथाविधायां जातौ जायते यत्र पूयभुग्भवतीत्याह ॥

**य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।**
**तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥२२१॥**

य एतेऽन्य इति । प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्यो येऽन्ये क्रमेणाभोज्यान्ना अस्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं तत्त्वगस्थिरोमाणि यास्तदीयास्त्वचः कीकशस्य रोम्णां च भुक्तानां यो दोषः स एव तदन्नस्यापि भुक्तस्य वोद्धव्यः ॥ २२१ ॥

**भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।**
**मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२॥**

भुक्त्वेति । एषां मध्येऽन्यतमसंबन्धान्नमज्ञानतो भुक्त्वा त्र्यहमुपवासः । ज्ञानतस्तु कृच्छ्रम् । एवं रेतोविण्मूत्रभोजनेऽपि एतच्चान्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशान्मत्तादिसंबन्धिनः परिग्रहदुष्टान्नस्यैव प्रायश्चित्तं न संसर्गदुष्टस्य केशकीटावपन्नादेः । नापि कालदुष्टस्य पर्युषितान्नादेः । नापि निमित्तदुष्टस्य घुष्टादेः । एकप्रकरणोपदेशश्चैषां स्नातकत्वज्ञापनार्थं प्रायश्चित्तं चैतेष्वेकादशे वक्ष्यति । यदि तु सर्वेष्वेवं प्रायश्चित्तं स्यात्तदा भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नं दुष्टमित्यभ्यधास्यत् न त्वन्यतमस्य तु भुक्त्वेति । तस्मादेकप्रकरणाद्यन्मेधातिथिरभ्यधात् । प्रायश्चित्तमिदं युक्तं शुक्तादौ तदसुंदरम् ॥ अप्रकरणे च प्रायश्चित्तस्याभिधानं लाघवार्थं तत्र क्रियमाणे मत्तादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २२२ ॥

**नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।**
**आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥**

नाद्यादिति । अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धं तस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते । अश्राद्धिनः श्राद्धादिपञ्चयज्ञशून्यस्य शूद्रस्य शास्त्रविद्विजः पक्वान्नं न भुञ्जीत किंत्वन्नान्तराभावे सति एकरात्रनिर्वाहोचितमाममेवान्नमस्माद्गृह्णीयान्न तु पक्वान्नम् ॥ २२३ ॥

**श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ।**
**मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥**

श्रोत्रियस्येति । एकोऽधीतवेदः कृपणश्च परो दाता वृद्धिजीवी च तयोरुभयोरपि गुणदोषवत्त्वं विचार्य देवास्तुल्यमन्नमनयोरिति निरूपितवन्तः । उभयोरपि गुणदोषसाम्यात् ॥ २२४ ॥

**तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम् ।**
**श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥**

तानिति । तान्देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच विषममन्नं मा समं कुरुत । विषमसमीकरणमनुचितं कः पुनरनयोर्विशेष इत्यपेक्षायां स एवावोचत् । दानशीलवार्धुषिकस्यापि श्रद्धयान्नं पवित्रं भवति । कृपणान्नं पुनरश्रद्धया हतं दूषितमधमं प्रागुभयप्रतिषेधेऽपि श्रद्धादत्तविद्वद्वार्धुषिकान्नविशुद्धिबोधनपरमिदम् ॥ २२५ ॥

अत एवाह—

**श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।**
**श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥**

श्रद्धयेति । इष्टमन्तर्वेदियज्ञादिकर्म पूर्तं ततोऽन्यत्पुष्करिणीकूपप्रपारामादि तदेवमनलसः सन्नित्यकाम्यस्वर्गादिफलरहितं श्रद्धया कुर्यात् । यस्मात्ते इष्टापूर्ते न्यायार्जितधनेन श्रद्धया कृते अक्षये मोक्षफले भवतः ॥ २२६ ॥

**दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।**
**परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥**

दानधर्ममिति । दानाख्यं धर्ममैष्टिकं पौर्तिकमन्तर्वेदिकं बहिर्वेदिकं च सर्वदा विद्यातपोयुक्तं ब्राह्मणमासाद्य परितोषाख्येनान्तःकरणयुक्तं यथाशक्ति कुर्यात् ॥ २२७॥

**यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ।**
**उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८॥**

यत्किंचिदिति । प्रार्थितेन परगुणामत्सरेणान्नमपि यथाशक्ति दातव्यं यस्मात्सर्वदा दानशीलस्य कदाचित्तादृशं पात्रमागमिष्यति तत्सर्वस्मान्नरकहेतोर्मोचयिष्यति ॥ २२८ ॥

**वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।**
**तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥**

वारिद इति । जलदः क्षुत्पिपासाविगमात्तृप्तिं अन्नदोऽत्यन्तसुखं तिलप्रद ईप्सितान्यपत्यादीनि दीपदो विप्रवेश्मादौ निर्दोषं चक्षुः प्राप्नोति॥

**भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।**
**गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् २३०**

भूमिद इति । भूमिदो भूमेराधिपत्यं सुवर्णदः चिरजीवित्वं गृहदः श्रेष्ठानि वेश्मानि रूप्यदः सकलजननयनमनोहरं रूपं लभते॥

**वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।**
**अनड्वदः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रह्मस्य विष्टपम्॥२३१॥**

वासोद इति । वस्त्रदश्चन्द्रसमानलोकान्प्राप्नोति । चन्द्रलोके चन्द्रसमविभूतिर्वसतीति । एवमेवाश्विलोकं घोटकदः बलीवर्दस्य दाता प्रचुरां श्रियं स्त्रीगवीप्रदः सूर्यलोकं प्राप्नोति ॥ २३१ ॥

**यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।**
**धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्२३२**

यानशय्येति । रथादियानस्य शय्यायाश्च दाता भार्यां अभयप्रदः प्राणिनामहिंसकः प्रभुत्वं धान्यदो व्रीहियवमाषमुद्गादिसस्यानां दाता चिरस्थायि सुखित्वं ब्रह्म वेदस्तत्प्रदो वेदस्याध्यापको व्याख्याता च ब्रह्मणः सार्ष्टितां समानगतितां तत्तुल्यतां प्राप्नोति ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

सर्वेषामिति । उदकान्नधेनुभूमिवस्त्रतिलसुवर्णघृतादीनां सर्वेषामेव यानि दानानि तेषां मध्ये वेददानं विशिष्यते प्रकृष्टफलदं भवति ॥ २३३ ॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

येन येनेति । अवधारणे तुशब्दः । येन येनैव भावेनाभिप्रायेण फलाभिसंधिकः स्वर्गो मे स्यादिति मुमुक्षुर्मोक्षाभिप्रायेण निष्कामो यद्यद्दानं ददाति तेनैव भावेनोपलक्षितस्तत्तद्दानफलद्वारेण जन्मान्तरे पूजितः सन्प्राप्नोति ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५॥

योऽर्चितमिति । योऽर्चापूर्वकमेव दाता ददाति यश्च प्रतिग्रहीतार्चापूर्वकमेव दत्तं प्रतिगृह्णाति तावुभौ स्वर्गं गच्छतोऽनर्चितदानप्रतिग्रहणे नरकं पुरुषार्थे तु प्रतिग्रहेऽनर्चितमेव मया गृहीतव्यं नान्यथेति नियमात्फललाभो न विरुद्धः ॥ २३५ ॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

न विस्मयेतेति । चान्द्रायणादितपसा कृतेन कथं ममेदं दुष्करमनुष्ठितमिति विस्मयं न कुर्यात् । यागं च कृत्वा नासत्यं वदेत् । कृतेऽपि पुरुषार्थतयानृतवदननिषेधे क्रत्वर्थोऽयं पुनर्निषेधः । ब्राह्मणैः पीडितोऽपि न तान्निन्दयेत् । गवादिकं च दत्वा मयेदं दत्तमिति परस्य न कथयेत् ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

यज्ञ इति । अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरति । सत्येनैव सफलं साधयेति एवं तपसि दाने च योज्यम् । विप्रनिन्दया चायुः क्षीयते २३७

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

धर्ममिति । सर्वप्राणिनां पीडां परिहरन्परलोकसहायार्थं यथाशक्ति शनैःशनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् । यथा पुत्तिकाः पिपीलिकाप्रभेदाः शनैःशनैर्महान्तं मृत्तिकाकूटं संचिन्वन्ति ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

नामुत्रेति । यस्मात्परलोके सहायकार्यसिद्ध्यर्थं न पितृमातृपत्नीज्ञातयस्तिष्ठन्ति किंतु धर्म एवैको द्वितीयभावेनोपकारार्थमवतिष्ठते तस्मात्पुत्रादिभ्योऽपि महोपकारकं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २३९ ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२४० ॥

एक इति । एक एव प्राण्युत्पद्यते न बान्धवैः सहितः । एक एव च म्रियते । सुकृतफलमपि स्वर्गादिकं च दुरितफलं च नरकादिकमेक एव भुङ्क्ते न मात्रादिभिः सह । तस्मान्मात्राद्यपेक्षयापि धर्मं न त्यजेत् ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥

मृतमिति । मृतं शरीरं मनःप्राणादित्यक्तं लोष्ठवदचेतनं भूमौ त्यक्त्वा पराङ्मुखा बान्धवा यान्ति न मृतं जीवमनुयान्ति धर्मस्तु तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

तस्मादिति । यस्माद्धर्मेण सहायेन दुस्तरं तमो नरकादिदुःखं तरति तस्माद्धर्मं सहायभावेन सततं शनैरनुतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३॥

धर्मप्रधानमिति । धर्मपरं पुरुषं दैवादुपजाते पापे प्राजापत्यादितपोरूपप्रायश्चित्तेन हतपापं दीप्तिमन्तं प्रकृतो धर्म एव शीघ्रं ब्रह्मस्वर्गादिरूपं परलोकं नयति । खं ब्रह्मेत्याद्युपनिषत्सु खशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगः खशरीरिणं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । यद्यपि लिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीव एव गच्छति तथापि ब्रह्मांशत्वाद्ब्रह्मस्वरूपमुपपन्नं धर्म एव चेत्परं लोकं नयति ततो धर्ममनुतिष्ठेत् । न हि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च । तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एकोऽनुगच्छति॥

**उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह ।**
**निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥**

उत्तमैरिति । कुलमुत्कर्षं नेतुमिच्छन्विद्याचारजन्मादिभिरुत्कृष्टैः सह सर्वदा कन्यादानादिसंबन्धानाचरेत् । अपकृष्टांस्तु संबन्धांस्त्यजेत् । उत्तमविधानादेवाधमपरित्यागे सिद्धे यत्पुनरधमांस्त्यजेदित्यभिधानं तदुत्तमासंभवे स्वतुल्याद्यनुज्ञानार्थम् ॥ २४४ ॥

**उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् ।**
**ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥**

उत्तमानिति । उत्तमान्गच्छन् तैः सह संबन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति । प्रत्यवायेन विपरीताचारेण हीनैः सह संबन्धे जातेरपकर्षतया शूद्रतुल्यतामेति ॥ २४५ ॥

**दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।**
**अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥**

दृढकारीति । प्रारब्धसंपादयिता मृदुरनिष्ठुरः । दमस्य पृथगुपादानाद्दान्त इति शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुर्गृहीतव्यः । क्रूराचारैः पुरुषैः संसर्गं परिहरन्परहिंसानिवृत्तः । तथाव्रत एव नियमदमेन्द्रियसंयमाख्येन च दानेन स्वर्गं प्राप्नोति ॥ २४६ ॥

**एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।**
**सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥**

एधोदकमिति । काष्ठजलफलमूलमधूनि अन्नं चाभ्युद्यतमयाचितो-

पनीतम् । अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विष इति याज्ञवल्क्यवचनात्कुलटादिवर्जं सर्वतः शूद्रादिभ्योऽपि प्रतिगृह्णीयात् ॥ २४७ ॥

**आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।**
**मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥**

आहृताभ्युद्यतामिति । आहृतां संप्रदानदेशमानीताम् । अभ्युद्यतामाभिमुख्येन स्थापिताम् । अप्रचोदितां प्रतिगृहीतां स्वयमन्यमुखेन वा पूर्वमयाचितां दाता च तुभ्यमिदं ददानीति पूर्वमकथितां हिरण्यादिभिक्षां न तु सिद्धान्नरूपामन्नमभ्युद्यतं चेत्युक्तत्वात्पापकारिणोऽपि पतितादिवर्जं ग्राह्यमिति विरिञ्चिरमन्यत ॥ २४८ ॥

**नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।**
**न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥**

नाश्नन्तीति । तेनोपकल्पितं श्राद्धेषु कव्यं पञ्चदश वर्षाणि पितरो न भुञ्जते । न च यज्ञेषु तेन दत्तं पुरोडाशादि हव्यमग्निर्वहति देवान्प्रापयति यस्तां भिक्षां न स्वीकरोति ॥ २४९ ॥

**शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।**
**धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत्२५०**

शय्यामिति । गन्धान्गन्धवन्ति कर्पूरादीनि धाना भ्रष्टतण्डुलान् पयः क्षीरं पूर्वमाहरणोपायनिबन्धेन गवादीनामप्रत्याख्यानमुक्तं शय्यादीनि त्वयाचिताहृतान्यपि दात्रा सुगृहस्थितानि अयाचितोपकल्पितानि न प्रत्याचक्षीत ॥ २५० ॥

**गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।**
**सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥**

गुरूनिति । मातापित्रादीन्गुरून्भृत्यांश्च भार्यादीनि क्षुधावसन्नानुद्धर्तुमिच्छन्पतितादिवर्जं सर्वतः शूद्रादेरसाधुभ्यश्च प्रतिगृह्णीयात् न तु तेन धनेन स्वयं वर्तेत ॥ २५१ ॥

**गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।**
**आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा २५२**

गुरुष्विति । मातापित्रादिषु मृतेषु तैर्वा जीवद्भिरपि स्वयोगावस्थितैर्विना गृहान्तरे वसन् आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् सर्वदा साधुभ्यो गृह्णीयादेव ॥ २५२ ॥

**आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।**
**एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् २५३**

आर्धिक इति । आर्धिकः कार्षिकः संबन्धिशब्दाचैते । यो यस्य कृषिं करोति स तस्य भोज्यान्नः एवं स्वकुलस्य मित्रं यो यस्य गोपालो यो यस्य नापितः कर्म करोति यो यस्मिन्नात्मानं निवेदयति दुर्गतिरहं त्वदीयसेवां कुर्वन्निति च त्वत्समीपे वसामीति यः शूद्रस्तस्य भोज्यान्नः॥

यथात्मनिवेदनं शूद्रेण कर्तव्यं तदाह—

**यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।**
**यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥**

यादृश इति । अस्य शूद्रस्य कुलशीलादिभिर्यादृश आत्मा स्वरूपं यच्चास्य कर्म कर्तुरीप्सितं यथा चानेन सेवा कर्तव्या तेन प्रकारेणात्मानं कथयेत् ॥ २५४ ॥

**योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।**
**स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥२५५॥**

योऽन्यथेति । य इति सामान्यनिर्देशात्प्रकृतशूद्रादन्योऽपि यः कश्चित्कुलादिभिरन्यथाभूतमात्मानमन्यथा साधुषु कथयति स लोकेऽतिशयेन पापकारी यस्मादात्मापहारकः । अन्यः स्तेनो द्रव्यान्तरमपहरति अयं तु सर्वप्रधानमात्मानमेवापहरेत् ॥ २५५ ॥

**वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।**
**तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २५६ ॥**

वाच्यर्था इति । सर्वेऽर्थाः शब्देषु नियता वाच्यत्वेन नियता वाङ्मूलाश्च शब्दास्तेषां प्रतिपत्तौ शब्देभ्य एव प्रतीयन्ते प्रतीतिद्वारेण शब्दमूलत्वं शब्देभ्य एवावगम्य चानुष्ठीयन्ते इति वाग्विनिर्गता इत्युच्यन्ते अत एव वेदशब्देभ्य एवादाविति ब्रह्मणोऽपि सृष्टि-

वेदशब्दमूलैवोक्ता अतो यस्तां वाचं स्तेनयेत्स्वार्थव्यभिचारिणीं वाचयति स नरः सर्वार्थस्तेयकृद्भवति ॥ २५६ ॥

**महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि ।**
**पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥२५७॥**

महर्षीति । गृहस्थस्यैव संन्यासप्रकारोऽयमुच्यते । महर्षीणां स्वाध्यायेन पितॄणां पुत्रोत्पादनेन देवतानां यज्ञैर्यथाशास्त्रमानृण्यं गत्वा यो पुत्रे सर्वं कुटुम्बचिन्ताभारमारोप्य माध्यस्थमाश्रितः पुत्रदारधनादौ त्यक्तममत्वो ब्रह्मबुद्ध्या सर्वत्र समदर्शनो गृह एव वसेत् ॥ २५७ ॥

**एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।**
**एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति २५८**

एकाकीति । काम्यकर्मणां धनार्जनस्य च कृतसंन्यासः षष्ठाध्याये वक्ष्यमाणः पुत्रोपकल्पितवृत्तिरेकाकी निर्जनदेशे आत्महितं जीवस्य ब्रह्मभावं वेदान्तोक्तं सर्वदा ध्यायेत् । यस्मात्तद्ध्यायन्ब्रह्मसाक्षात्कारेण परं श्रेयो मोक्षलक्षणं प्राप्नोति ॥ २५८ ॥

**एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।**
**स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥**

एषेति । अयमध्यायार्थोपसंहारः । एषा ऋतादिवृत्तिर्गृहस्थस्य ब्राह्मणस्योक्ता शाश्वती नित्या आपदि त्वनित्या वक्ष्यते । स्नातकव्रतविधिः सत्त्वगुणस्य वृद्धिकरणप्रशस्त उक्तः ॥ २५९ ॥

**अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।**
**व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥**

**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥**

अनेनेति । सर्वस्योक्तस्य फलकथनमिदं अनेन शास्त्रोक्ताचारेण वेदविद्ब्राह्मणो वर्तमानो नित्यकर्मानुष्ठानात्क्षीणपापः सन् ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण ब्रह्मैव लोकः तस्मिँल्लीनो महिमानं सर्वोत्कर्षं प्राप्नोति ॥२६०

इति कुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां चतुर्थोऽध्यायः ४

## अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

**श्रुत्वैतान्ऋषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।**
**इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥**

श्रुत्वैतानिति । ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्मान्श्रुत्वा महात्मानं परमार्थपरं भृगुमिदं वचनमब्रुवन् । यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये भृगुं नारदमेव चेति भृगुसृष्टिरपि मनुत एवोक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते । तथा च श्रुतिः । तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवत् यद्द्वितीयमासीद्भृगुरिति । अत एव अष्टाद्रेतस उत्पन्नत्वाद्भृगुः ॥ १ ॥

**एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।**
**कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥**

एवमिति । एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां वेदोदितायुषः पूर्वं कथं मृत्युः प्रभवति । आयुरल्पत्वहेतोरधर्माचरणस्याभावात् । सकलसंशयोच्छेदनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ २ ॥

**स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।**
**श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥**

स तानिति । स मनोः पुत्रो भृगुर्धर्मस्वभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान्हन्तुमिच्छति मृत्युः स दोषः श्रूयतामित्येवं तान्महर्षीन् जगाद ॥ ३ ॥

**अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।**
**आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥**

अनभ्यासेनेति । वेदानामनभ्यासात्स्वीयाचारपरित्यागात्सामर्थ्ये सत्यवश्यकर्तव्यकरणानुत्साहलक्षणादालस्यात् अदनीयदोषाच्च मृत्युर्विप्रान्हन्तुमिच्छति । एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वाद्वेदानभ्यासादेरुक्तत्वात् ॥ ४ ॥

अनुक्तमन्नदोषमाह—

**लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।**
**अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥ ५ ॥**

लशुनमिति । लशुनगृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि स्थूलकन्दशाकानि कवकं छत्राकममेध्यप्रभवानि विष्ठादिजातानि तन्दुलीयादीनि द्विजातीनामिति याज्ञवल्क्यवचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

**लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।**
**शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥**

लोहितानिति । लोहितवर्णान्वृक्षनिर्यासान्वृक्षान्निर्गतरस्तान्कठिनतां यातान्वृश्चनं छेदनं तत्प्रभवानलोहितानपि । तथा च तैत्तिरीयश्रुतिः । अथो खलु य एव लोहितो यो वा वृश्चनान्निर्येषवितस्यनाश्यकाममन्यस्येति । शेलुं बहुवारकफलं गोभवं पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरमग्निसंयोगात्कठिनं भवति एतान्यत्नतस्त्यजेत् । अनिर्दशाया गोः क्षीरमित्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धावधिकदोषत्वात्प्रायश्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः अत एव यत्नत इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

**वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।**
**अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥**

वृथाकृसरेति । देवताद्यनुद्देशेन आत्मार्थं यत्पच्यते तद्वृथा । कृसरस्तिलेन सह सिद्ध ओदनः । तथा च छन्दोगपरिशिष्टम् । तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते । संयावं श्रृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धस्तत्करिकेति प्रसिद्धः । क्षीरतण्डुलमिश्रः पायसः अपूपः पिष्टकः एतान्वृथापक्वान्विवर्जयेत् पशुयागादौ मन्त्रबहुलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्रहितः पशुरनुपाकृतस्तस्य मांसानि देवान्नानि नैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ्निवेदनाद्धवींषि च पुरोडाशादीनि होमात्प्राग्वर्जयेत् । अनुपाकृतमांसानीत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनादनर्चितं वृथामांसमिति सामान्यनिषेधो बलीवर्दन्यायेनानुपाकृतमांसेतरश्राद्धाद्यनुद्देशमांसभक्षणे पर्यवस्यति ॥ ७ ॥

**अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ॥**
**आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥**

अनिर्दशाया इति । प्रसूताया अनिर्दशाया गोर्दुग्धं गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थं तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः । तथा च यमः । अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च । तथोष्ट्रभवं अश्वाद्येकखुरसंबन्धि मेषभवं संधिनी या ऋतुमती वृषमिच्छन्ती तस्याः क्षीरम् । तथा च हारीतः । संधिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेदृतुमती भवति । विवत्सायाः मृतवत्सायाः असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत् । धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सग्रहणादेव गवि लब्धायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव न तु अजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् ॥८॥

**आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।**
**स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥**

आरण्यानामिति । मृगशब्दोऽत्र महिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः माहिषं क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपशूनां हस्त्यादीनां क्षीरं स्त्रीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि । स्वभावतो मधुराणि रसानि यानि कालवशेन उदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि । शुक्तं पर्युषितं चैवेति चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते ॥ ९ ॥

**दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।**
**यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥**

दधि भक्ष्यं चेति । शुक्तेषु मध्ये दधिसंभवं तक्रादि यानि तु पुष्पमूलफलैरुदकेन संधीयन्ते तानि भक्षणीयानि । शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः । तथा च बृहस्पतिः । कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न वर्जयेत् । अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ॥ १० ॥

**क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।**
**अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥**

क्रव्यादानिति । आमं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान्स-

वान्गृध्रादीन्पक्षिणो वर्जयेत् । तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्रुतौ केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः तथा चोष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य च मांसमश्नीयादिति । केचिच्चानिर्दिष्टा रासभादयः तेषां मांसं वर्जयेत् । येऽपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितास्तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा टिट्टिभाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत् ॥

**कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम् ।**
**सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥**

कलविङ्कमिति । कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासिन एव निषेधः । आरण्यस्याप्यभक्ष्यत्वार्थं जातिशब्देन निषेधः । प्लवाख्यं पक्षिणं तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुकसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत् । वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेनैव हंसचक्रवाकयोरपि निषेधसिद्धौ पृथङ्निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः । स च व्यवस्थितो विज्ञेयः । आपदि भक्ष्या न खनापदि । इच्छाविकल्पस्य रागत एव प्राप्तेः । ग्रामकुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाद्यनुज्ञानार्थं न त्वेतद्व्यतिरिक्तग्रामवासिविकल्पार्थम् । आपदर्थे गतप्रयोजनं भवति । वाक्यान्तरगतविशेषावधारणपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

**प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।**
**निमज्जतश्च मत्स्यादान् शौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥**

प्रतुदानिति । प्रतुदांश्चञ्चा ये भक्षयन्ति तान् दार्वाघाटादीन् जालपादानिति जालाकारपादान् शरारिप्रभृतीन्कोयष्ट्याख्यं पक्षिणं नखविष्किरान्नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तानभ्यनुज्ञातारण्यकुक्कुटादिव्यतिरिक्तान् श्येनादीन् तथा निमज्य ये मत्स्यान् खादन्ति तान्मद्गुरप्रभृतीन् शुनां मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं भक्ष्यमपि वल्लूरं शुष्कमांसं एतानि वर्जयेत् ॥ १३ ॥

**बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।**
**मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥**

बकं चैवेति । बकबलाकाद्रोणकाकखञ्जनान् तथा मत्स्यादान्प-

क्षिव्यतिरिक्तानपि नक्रादीन्विडुराहांश्च । विडिति विशेषणादारण्यसूकराद्यनुज्ञानार्थम् । मत्स्यांश्च सर्वान् वर्जयेत् ॥ १४ ॥

मत्स्यभक्षणनिन्दामाह—

**यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।**
**मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५**

यो यस्येति । यो यदीयं मांसं खादति स तन्मांसाद एव परमुपदिश्यते । यथा मार्जारो मूषिकादः मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यस्तस्मान्मत्स्यान्न खादेत् ॥१५॥

इदानीं भक्ष्यमत्स्यानाह—

**पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।**
**राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥**

पाठीनरोहिताविति । पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति समस्तवक्ष्यमाणभक्षणनिषिद्धोपलक्षणार्थं तेन प्राणात्ययादावदोषः । तथा राजीवाख्यान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्च सर्वान्वक्ष्यमाणलक्षणोपेतानद्यात् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पाठीनरोहितौ दैवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तावेवादनीयौ न त्वन्यदा । राजीवसिंहतुण्डसशल्कमत्स्यास्तु हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्षणीया इत्याचक्षतुः न तन्मनोहरम् । पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्तैव भक्षणीयौ न तु श्राद्धकर्त्रापि राजीवादयो हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात् । मुन्यन्तरैश्च रोहितपाठीनराजीवादीनां तुल्यत्वेनाभिधानात् । तथा च शङ्खः । राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च । पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः ॥ याज्ञवल्क्यः । भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्गोधाः कच्छपशल्यकाः । शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः । हारीतः । सशल्कान् मत्स्यान्यायोपपन्नान्भक्षयेत् । एवं च भोक्तैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ । राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसंमता ॥ १६ ॥

**न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।**
**भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥**

न भक्षयेदिति । ये एकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्पादयस्तानेकचरान् तथा ये अभियुक्तैरपि नामजातिभेदेनावधार्य विभागतश्च-मृगपक्षिणो न ज्ञायन्ते तान् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टानिति सामान्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपक्षिनिक्षिप्तान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टानिव तथा सर्वान् पञ्चनखान्वानरादीन् न भक्षयेत् ॥ १७ ॥

अत्र प्रतिप्रसवमाह—

**श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।**
**भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥**

श्वाविधमिति । श्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदकं शल्यकं तत्सदृशं स्थूललोमानं तथा गोधागण्डककच्छपशशान् पञ्चनखेषु भक्ष्यान्मन्वादयः प्राहुः । तथा उष्ट्रवर्जितान् एकदन्तषड्युपेतान् ॥ १८ ॥

**छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।**
**पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥१९॥**

छत्राकमिति । कवकं ग्रामसूकरलशुनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वकं गुरुप्रायश्चित्तोपदेशादभ्यासतो भक्षयित्वा द्विजातिः पतति । ततश्च पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् । गर्हितानां तथा जग्धिः सुरापानसमानि षडिति ॥ १९ ॥

**अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।**
**यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥**

अमत्येति । एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकमेव भक्षयित्वाऽभिधेयभक्षणस्य निमित्तत्वेन साहित्यस्याविवक्षितत्वात् । एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं सप्ताहसाध्यं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं चरेत् । एतद्व्यतिरिक्तेषु लोहितवृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं भक्षणादहोरात्रोपवासं कुर्यात । छत्राकादीनां च प्रायश्चित्तापकर्षो वर्जनार्थः । शेषेषूपवसेदहरिति लाघवार्थं तत्र हि क्रियमाणे लोहितनिर्यासग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २० ॥

**संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।**
**अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥**

संवत्सरस्येति । द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरं त्रयाणां प्रकृतत्वात् । एतदुक्तं द्विजातीनामित्युपसंहाराच्च द्विजातिः संवत्सरमध्ये एकमपि कृच्छ्रं प्रथमान्नानात्प्राजापत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपशमनार्थमनुतिष्ठेत् । ज्ञातस्य पुनः अभक्ष्यभक्षणदोषस्य विशेषतो यत्र यद्धितं तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । यत्तु त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यत इति तद्द्रव्यशुद्धिप्रकरणपठितप्रायश्चित्तव्यतिरिक्तद्रव्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ॥२१॥

इदानीं भक्षणप्रसंगेन यागाद्यर्थं हिंसामप्यनुजानाति—

**यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।**
**भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्यचरत्पुरा ॥ २२ ॥**

यज्ञार्थमिति । यथार्थमेव ब्राह्मणादिभिर्यागार्थं प्रशस्ताः शास्त्रविहिता मृगपक्षिणो वध्याः । भृत्यानां चावश्यभरणीयानां वृद्धमातापित्रादीनां संवर्धनार्थं यस्मादगस्त्यो मुनिः पूर्वं तथा कृतवान् । प्रकृतिरूपोऽयमनुवादः ॥ २२ ॥

**बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।**
**पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥**

बभूवुरिति । यस्मात्पुरातनेष्वपि ऋषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणां मृगपक्षिणां मांसेन पुरोडाशा अभवन् तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणो वध्याः ॥ २३ ॥

इदानीं पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह—

**यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।**
**तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥**

यत्किंचिदिति । यत्किंचित्खरविशदमभ्यवहार्यम् मोदकादि भोज्यं पायसादि अगर्हितं उपघातान्तररहितं तत्पर्युषितं रात्र्यन्तरितमपि तद्धृततैलदध्यादिसंयुक्तं कृत्वा भक्षणीयम् । ननु प्रागेव यत्स्नेहसंयुक्तं तत्पर्युषितं भक्षणीयमिति व्याख्येयं तथा च सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यंभावात् । यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तमित्यनेनैव भक्षणे सिद्धे हविःशेषं च यद्भवेदित्यनर्थकं स्यात् । स्मृत्यन्तरेऽपि भक्षणकाल एवाभिधारणमुपदिश्यते । तथा च यमः । मसूरमाषसंयुक्तं तथा प-

र्युषितं च यत् । तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिधारितम् । हविः-शेषं तु चरुपुरोडाशादि पर्युषितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव भक्षणीयं पृथगुपदेशात् ॥ २४ ॥

**चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।**
**यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥**

चिरस्थितमिति । अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि द्विजातिभिर्भक्षणीयाः ॥ २५ ॥

**एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।**
**मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥**

एतदुक्तमिति । एतद्द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमुक्तं अत ऊर्ध्वं मांसस्य भक्षणे वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

**प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।**
**यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७॥**

प्रोक्षितमिति । प्रोक्षितं भक्षयेदिति परिसंख्या वा स्यान्नियमविधिर्वा स्यात्तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यन्न भक्षणीयमिति वाक्यार्थः स्यात् । स चानुपाकृतमांसानीत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तस्तस्मान्मन्त्रकृत-प्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तयज्ञहुतपशुमांसभक्षणमिदं यज्ञाङ्गं विधीयते । अत एवासंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरित्यस्यानुवादं वक्ष्यति । ब्राह्मणानां च यदा कामना भवति तदावश्यं मांसं भोक्तव्यमिति तदापि नियमत एकवारं भक्षयेत् । सकृद्ब्राह्मणकाम्ययेति यमवचनात् । तथा श्राद्धे च मधुपर्के च सामांसो मधुपर्क इति गृह्यवचनान्नियुक्तेन नियमान्मांसं भक्षणीयमिति अत एव नियुक्तस्तु यथान्यायमित्यतिक्रमदोषं वक्ष्यति प्राणात्यये चाहारान्तराभावनिमित्तके व्याधिहेतुके वा नियमतो मांसं भक्षयेत् ॥ २७ ॥

प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह—

**प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।**
**स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥**

प्राणस्यान्नमिदमिति । प्राणितीति प्राणो जीवः शरीरान्तर्गतो भो

क्ता तस्यादनीयं सर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान् । किं तदाह । जंगमं पश्वादि स्थावरं व्रीहियवादि सर्वं तस्य भोजनं तस्मात्प्राणधारणार्थं जीवो मांसं भक्षयेत् ॥ २८ ॥

प्राणस्यार्थमिदं सर्वमित्येवं प्रपञ्चयति—

**चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।**
**अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥**

चराणामिति । जङ्गमानां हरिणादीनां अजङ्गमास्तृणादयः दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो हरिणादयः सहस्तानां मनुष्यादीनां अहस्ता मत्स्यादयः शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयोऽदनीया एतादृश्यां विधातुरेव सृष्टौ ॥ २९ ॥

**नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।**
**धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥**

नात्तेति । भक्षयित्वा भक्षणार्हान्प्राणिनः प्रत्यहमपि भक्षयन्न दोषं प्राप्नोति । यस्माद्विधात्रैव भक्षणार्हा भक्षयितारश्च निर्मिता इति त्रिभिः श्लोकैः प्राणात्यये मांसभक्षणस्तुतिरियम् ॥ ३० ॥

अथ प्रोक्षितभक्षणनियमार्थमाह—

**यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।**
**अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥**

यज्ञायेति । यज्ञसंपत्त्यर्थं तदङ्गभूतमांसस्य भक्षणं जग्धिरेतद्दैवमनुष्ठानं उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुं व्यापाद्य तन्मांसभक्षणेषु प्रवृत्तीराक्षसोचितमनुष्ठानमित्युत्तरार्धं वृथामांसभक्षणनिवृत्त्यनुवादः ॥ ३१ ॥

**क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।**
**देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥**

क्रीत्वेति । क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वा शेषं भक्षयन्न पापं प्राप्नोति अतः प्रोक्षितादिचतुष्टयभक्षणवन्नेदं नियतं भक्षणं न दुष्यतीत्यभिधानात् । वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन इत्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एवाविरोधात्

**नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।**
**जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३॥**

नाद्यादिति । मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चनविधानं विना न मांसं भक्षयेत् । यस्मादविधानेन यो मांसं खादति स मृतः सन् यन्मांसं तेन भक्षितं तैः प्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यत इति सर्वश्लोकानुवादः ॥ ३३ ॥

**न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।**
**यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥ ३४ ॥**

न तादृशमिति । मृगवधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्न तथाविधं पापं भवति यादृशमदेवपितृशेषभूतमांसानि खादतः परलोके भवतीति परानुवाद एव ॥ ३४ ॥

**नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।**
**स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५॥**

नियुक्तस्त्विति । श्राद्धे मधुपर्के च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन् यो मनुष्यो मांसं न खादति स मृतः सन्नेकविंशतिजन्मानि पशुर्भवति । यथाविधि नियुक्तस्त्वित्येतन्नियमातिक्रमफलविधानमिदम् ॥ ३५ ॥

**असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।**
**मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥३६॥**

असंस्कृतानिति । वेदविहितमन्त्रवत्प्रोक्षणादिसंस्कारशून्यान्पशून्विप्रादिः कदाचिन्नाश्नीयात् । शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयागादिविधिमास्थितो मन्त्रसंस्कृतानेवाश्नीयादिति । प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसमित्येतस्यानुवादार्थमेतत् ॥ ३६ ॥

**कुर्याद्धृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।**
**न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥**

कुर्यादिति । संगे आसक्तौ पशुभक्षणानुरागेण घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादयेत् न पुनर्देवताद्युद्देशं विनैव पशून्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

**यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।**
**वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥**

यावन्तीति । देवताद्युद्देशमन्तरेण आत्मार्थं यः पशून्हन्ति स वृथापशुघ्नो मृतः सन् यावत्संख्यानि पशुरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति तस्माद्वृथा पशुं न हन्यात् । तावत्कृत्व इति वत्वन्ताक्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् प्रत्ययः । इह हशब्द आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थे तु पशुवधे न दोष इत्याह—

**यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।**
**यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥**

यज्ञार्थं पशव इति । यज्ञसिद्ध्यर्थं प्रजापतिना आत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः । यज्ञश्चाग्नौ प्रास्ताहुतिन्यायात्सर्वस्यास्य जगतो विवृद्ध्यर्थः । तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव । वधजन्यदोषाभावात् ॥ ३९ ॥

**ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।**
**यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥**

किंच । ओषध्य इति । ओषध्यो व्रीहियवाद्या वृक्षा यूपाद्यर्थाः तिर्यञ्चः कूर्मादयः पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः यज्ञार्थं विनाशं गताः पुनर्जात्युत्कर्षं प्राप्नुवन्ति ॥ ४० ॥

**मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।**
**अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥**

मधुपर्के चेति । सामांसो मधुपर्क इति विधानान्मधुपर्के च यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ पित्र्ये दैवे च कर्मणि श्राद्धादौ पशवो हिंसनीयाः नान्यत्रेति मनुरभिहितवान् ॥ ४१ ॥

**एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः ।**
**आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२॥**

एष्वर्थेष्विति । एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पशून् हिंसन् आत्मानं पशुं उत्तमां गतिं स्वर्गाद्युपभोगयोग्यविलक्षणदेहदेशादिसंबन्धं प्राप-

यति । वेदतत्त्वार्थविदिति विद्वदधिकारबोधनार्थम् ॥ नन्वन्याधिकारित्वे कर्मणि कथमनधिकृतस्य पश्वादेरुत्तमगतिप्राप्तिः फलम् । उच्यते । शास्त्रप्रमाणकत्वात् । अस्यार्थस्य पित्रधिकारिकायां जातेष्टावनधिकारिणोऽपि पुत्रस्य फलप्राप्तिवदिहापि पश्वादिगतफलसंभवाद्यजमान एव कारुणिकतया पशुगतफलविशिष्टमेव फलं कामयिष्यति । अत एवात्मानं च पशूंश्चैवेत्यभिधानम् । यजमानव्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता ॥ ४२ ॥

**गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।**
**नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥**

गृहे गुरावरण्ये वेति । गृहे गृहाश्रमे ब्रह्मचर्याश्रमे वानप्रस्थाश्रमे च प्रशस्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत् ॥

कथं तर्हि हिंस्याद्वैदिकी दैक्षादिपशुहिंसा नाधर्मायेत्यत आह—

**या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।**
**अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥**

या वेदविहितेति । या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादिनियतास्मिन् जगति स्थावरजङ्गमात्मनि अहिंसामेव तां जानीयात् । हिंसाजन्याधर्मविरहाद्दैक्षपशुहननमधर्मः । प्राणिहननत्वात् ब्राह्मणहननवदित्याद्यनुमानं उपजीव्यशास्त्रबाधादेव न प्रवर्तते । दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहननस्याप्यधर्मत्वे शास्त्रमेवोपजीव्यं वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ यस्मादनन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः ४४

**योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।**
**स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥**

योऽहिंसकानीति । योऽनुपघातकान्प्राणिनः हरिणादीनात्मसुखेच्छया मारयति स इह लोके परलोके च न सुखेन वर्धते ॥ ४५ ॥

**यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।**
**स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥**

यो बन्धनेति । यो बन्धनमारणक्लेशादीन्प्राणिनां कर्तुं नेच्छति स सर्वहितप्राप्तीच्छुरनन्तसुखं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥

अन्यच्च । यद्ध्यायतीति । यच्चिन्तयति धर्मादिकमिदं मेऽस्त्विति सर्वश्रेयःसाधनं कर्म करोति यत्र च परमार्थध्यानादौ धृतिं बध्नाति तत्सर्वमक्लेशेन लभते । य उपघातनिमित्तं दंशमशकाद्यपि न व्यापादयति ॥ ४७ ॥

मांसभक्षणप्रसंगेन हिंसागुणदोषावभिधाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ४८

नाकृत्वेति । प्राणिहिंसाव्यतिरेकेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तं नरकहेतुरेव यावत्तस्मादविधिना मांसं न भक्षयेदिति ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

समुत्पत्तिं चेति । शुक्रशोणितपरिणामात्मिकां समुत्पत्तिं घृणाकरीं विज्ञाय प्राणिनो वधबन्धौ क्रूरकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसभक्षणादपि निवर्तेत किमुताविहितमांसभक्षणादिति अविधिना मांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ५०

न भक्षयतीति । उक्तविधिव्यतिरिक्तेन यो न मांसं भक्षयति पिशाचवदिति यथा पिशाचो भक्षयति तथा नेति व्यतिरेके दृष्टान्तः । स लोकस्य प्रियो भवति रोगैश्च न बाध्यते तस्मादवैधमांसभक्षणाद्व्याधयो भवन्तीति दर्शितम् ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

अनुमन्तेति । यदनुमतिव्यतिरेकेण हननं कर्तुं न शक्यते सोऽनुमन्ता विशसिता अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक् पृथक् करोति क्रयविक्रयी मांसस्य क्रेता विक्रेता च संस्कर्ता पाचकः खादको भक्षयिता । गोविन्दराजस्तु यः क्रीत्वा विक्रीणाति स क्रयविक्रयीत्येकमेवाह तदयुक्तम् । हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयकस्तथा । विक्रयी तु धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनादिति यमवचनेन पृथङ्निर्देशात् घातकत्ववचनं चेदमशास्त्रीयपशुवधेऽनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्येवंपरं विधिनिषेधपरत्वाच्छास्त्रस्य खादकादीनां पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

**स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।**
**अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ५२**

स्वमांसमिति । स्वशरीरमांसं परमांसेन देवपित्राद्यर्चनं विना यो वृद्धिं नेतुमिच्छति तस्मादपरो नापुण्यकर्तास्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ५२ ॥

इदानीमनियताप्रसिद्धमांसभक्षणस्य निवृत्तिर्धर्माय इत्येतद्दर्शयितुमाह—

**वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।**
**मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥५३॥**

वर्षे वर्ष इति । यो वर्षशतं यावत्प्रतिवर्षमश्वमेधेन यजेत यश्च यावज्जीवं मांसं न खादति तयोः पुण्यस्य फलं स्वर्गादि तुल्यम्५३

**फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।**
**न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥**

फलमूलाशनैरिति । पवित्रस्य फलमूलभक्षणैर्वानप्रस्थभोजनानां च नीवाराद्यन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवाप्नोति यच्छास्त्रनियमिताप्रसिद्धमांसवर्जनाल्लभते ॥ ५४ ॥

**मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।**
**एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५५॥**

मांसभक्षयितेति । इह लोके यस्य मांसमहमश्नामि परलोके मां

स भक्षयिष्यतीति एतन्मांसशब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति । इति मांसशब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षणपापफलकथनार्थम् ॥५५॥

**न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।**
**प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥**

न मांसभक्षण इति । ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रतिषिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषो यस्मात्प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः । वर्जनं पुनर्महाफलम् । अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुननिवृत्तेर्महाफलकथनार्थोऽयमुक्तस्यैव मांसवर्जनमहाफलकथनस्यानुवादः ॥ ५६ ॥

**प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।**
**चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥**

प्रेतशुद्धिमिति । ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि वर्णानां प्रेतेष्वपि पित्रादीनां शुद्धिं ब्राह्मणादिक्रमेण या यस्येति द्रव्यादीनां च तैजसादीनां शुद्धिमभिधास्यन् तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तन्निरूपणार्थमाह वक्ष्यमाणेन ॥ ५७ ॥

**दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।**
**अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥**

दन्तजात इति । दन्तजाते जातदन्त इत्यर्थः । वाहिताग्न्यादिष्वित्यनेन परनिपातः । अनुजाते जातदन्तानन्तरे कृतचूडाकरणे च चकारात्कृतोपनयने च संस्थिते मृते सति बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्चाशुद्धा भवन्तीत्युच्यते । वयोविभागे नोद्देशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकालभेदादिसुखावबोधनार्थम् ॥ ५८ ॥

**दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।**
**अर्वाक् संचयनादस्थां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥**

दशाहमिति । सप्तपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति । सपिण्डेषु शवनिमित्तमाशौचं दशाहोरात्रं ब्राह्मणस्योपदिश्यते । शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन इति वक्ष्यमाणत्वात् । अर्वाक् संचयनादस्थामिति चतुरहोपलक्षणम् । चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यादिति विष्णुवचना-

त्र्यहमेकाहोरात्रं वा । अहःशब्दोऽहोरात्रपरः अयं चाग्निवेदादिगुणापेक्षो व्यवस्थितविकल्पः । यथाह दक्षः । एकाहाच्छुद्ध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । हीने हीनं भवेच्चैव त्र्यहश्चतुरहस्तथा ॥ श्रौताग्निमतो मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिनः एकाहाशौचम् । तत्र श्रौताग्निवेदाध्ययनगुणयोरेकगुणरहितो हीनः तस्य त्र्यहः उभयगुणरहितस्तु हीनतरः केवलस्मार्ताग्निमांस्तस्य चतुरहः सकलगुणरहितस्य दशाहः । तदाह पराशरः । निर्गुणो दशभिर्दिनैरिति ५९

**सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।**
**समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥**

सपिण्डता त्विति । यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृपितामहप्रभृतीन् षट्पुरुषानतिक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वं निवर्तते । एवं पुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम् । पिण्डसंबन्धिनिबन्धना चेयं सपिण्डता । तथाहि पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानं प्रपितामहस्य पित्रादयस्त्रयः पिण्डलेपभुजश्च तत्पूर्वस्य तु सप्तमस्य पिण्डसंबन्धो नास्तीत्यसपिण्डता । यस्य चैते षट् पुरुषाः सपिण्डाः सोऽपि तेषां सपिण्डः पिण्डदातृत्वेन तत्पिण्डसंबन्धात् अतः साप्तपौरुषीयं सपिण्डता । तदुक्तं मत्स्यपुराणे । लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः । पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥ सगोत्रत्वे चेयं सपिण्डता अत एव शङ्खलिखितौ । सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी । तेन मातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेऽपि न सपिण्डता । समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुले अमुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्तते ॥ ६० ॥

**यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।**
**जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥**

यथेदमिति । यथेदं दशाहादिकं शवनिमित्तमाशौचं कर्मानर्हत्वलक्षणं सपिण्डेषु दशाहं शावमाशौचमित्यनेन विधीयते । प्रसवेऽपि सम्यक् शुद्धिमिच्छतां सपिण्डानां तादृशमेवाशौचं भवेत् ६१

अनिर्देशेन तुल्यतायां प्राप्तायां विशेषमाह—

**सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्**
**सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥**

सर्वेषामिति । मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम् । जननिमित्तं तु मातापित्रोरेव भवति तत्राप्ययं विशेषः जननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रं पिता तु स्नानात्स्पृश्यो भवति । अयमेव संबन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः । जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुद्ध्येदशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥ ६२ ॥

**निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।**
**बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥**

निरस्य त्विति । स्नानं मैथुनिनः स्मृतमिति मैथुने स्नानं विधास्यति तेन मैथुनं विनापि कामतो रेतःस्खलने स्नात्वा पुमान् शुद्धो भवति । अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते मूत्रवद्रेतस उत्सर्गे इत्यापस्तम्बोक्तेः स्नानं विनापि गृहस्थस्य शुद्धिः । ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारीत्यनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता । बैजिके तु संबन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ त्र्यहमाशौचं भवति । तथा च विष्णुः । परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम् । रेतःपातिन आशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसंगात्तदनुगुणतयोक्तं यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमुचितम् ॥ ६३ ॥

**अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।**
**शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥**

अह्ना चैकेनेति । एकेनाह्ना एकया च रात्र्या इत्यहोरात्रेण त्रिरात्रैस्त्रिभिरिति नवाहोरात्रैर्मिलित्वा दशाहेनेति वैदग्ध्येनोक्तम् । ननु दशाहेनेति वक्तव्ये किमर्थोऽयं वाग्विस्तारः । उच्यते । बृंहीयसीं लघिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः । न चावश्यत्वमेतेषां लघूक्त्यैव नियम्यते ॥ वृत्तस्वाध्यायगुणयोगेन ये सपिण्डा एकाहाद्यल्पाशौचयोगास्ते यदि स्नेहादिना शवस्पृशो भवन्ति तदा दशाहेनैव शुद्ध्यन्ति । उदकदायिनः पुनः समानोदकाख्यहेण । गोविन्दराजस्तु धनग्रहणपूर्वकशवनिर्हारकासंबन्धिब्राह्मणविषयमिदं दशाहाशौचमाह ॥

**गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।**
**प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥**

गुरोरिति । गुरोराचार्यादेरसपिण्डस्य मृतस्य शिष्योऽन्त्येष्टिं कृत्वा प्रेतनिर्हारकैर्गुरुसपिण्डैस्तुल्यो दशरात्रेण शुद्धो भवति ॥६५॥

**रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।**
**रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥**

रात्रिभिरिति । अत्र रात्रिभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्याविवक्षितत्वात् । तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्रावे गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यस्त्री विशुद्ध्यति । एतच्च षण्मासपर्यन्तम् । यथोक्तमादिपुराणे । षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदि । तदा मासमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ॥ मेधातिथिगोविन्दराजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्सप्तमासादर्वाग्गर्भस्रावे मासतुल्याहोरात्रैः स्त्रीणां विशुद्धिरित्यतिदिशन्ति । प्रथमद्वितीयमासीयगर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । यथाह हारीतः । गर्भस्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजोविशेषत्वात् । पित्रादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यः शौचम् । यथाह सुमन्तुः । गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्रवणे सद्यःशौचं वा भवति । गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं सद्यःशौचं वेति पित्रादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः । रजस्वला च स्त्री रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेनादृष्टार्थकल्पनयोग्या भवति । स्पर्शयोग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽहनि कृतस्नानेनैव शुद्धा भवति ॥ ६६ ॥

**नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।**
**निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥**

नृणामिति । अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धिर्भवति । कृतचूडानां तु मरणे प्रागुपनयनकालात्त्रिरात्रेण शुद्धिः ॥

**ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।**
**अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥**

ऊनद्विवार्षिकमिति । असंपूर्णद्विवर्षं बालं मृतमकृतचूडं मालादिभिरलंकृत्य ग्रामाद्बहिः कृत्वा विशुद्धायां भूमौ कालान्तरे शीर्णदेहतयाशक्यमस्थिसंचयनवर्जं बान्धवाः प्रक्षिपेयुः । विश्वरूपस्तु यस्यां भूमौ अन्यस्यास्थिसंचयनं न कृतं तस्यां निदध्युरिति व्याचक्षते ॥

**नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।**
**अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥**

नास्येति । अस्योनद्विवार्षिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः नाप्युदकक्रिया कर्तव्या । उदकदाननिषेधोऽयं श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः । किं त्वरण्ये काष्ठवत्परित्यज्य काष्ठवदिति शोकाभावोऽभिहितः । यथा अरण्ये काष्ठं परित्यज्य शोको न भवति एवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेत् त्र्यहाशौचं कुर्यात् । अयं चाकृतचूडस्य त्र्यहाशौचविधिः पूर्वोक्तैकाहाशौचविकल्पपरः स च व्यवस्थितो वृत्तस्वाध्यायादियुक्तस्यैकाहः तद्रहितस्य त्र्यहः । यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं विहितं तथाप्यूनद्विवार्षिकं निखनेदिति याज्ञवल्क्यवचनाद्विशुद्धभूमौ निखायैव त्यक्तव्यः ॥ ६९ ॥

**नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।**
**जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाग्निं वापि कृते सति ॥ ७० ॥**

नात्रिवर्षस्येति । अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुदकक्रिया न कर्तव्येति पूर्वत्र निषिद्धाप्युत्तरार्थमनूद्यते । जातदन्तस्य वा उदकदानं कर्तव्यं नामकरणे वा कृते उदकक्रियासाहचर्यादग्निसंस्कारोऽप्यनुज्ञामात्रं प्रेतपिण्डश्राद्धादिकं च यद्यप्यकरणसंभवे करणं क्लेशावहं तथापि करणाकरणयोरान्नानाज्जातदन्तकृतनाम्नोः करणे प्रेतोपकारो भवत्यकरणे प्रत्यवायाभाव इत्यवगम्यते ॥ ७० ॥

**सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।**
**जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥**

सब्रह्मचारिणीति । सहाध्यायिनि मृते एकरात्रमाशौचं कर्तव्यम् । समानोदकानां पुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण शुद्धिर्भवति । त्र्यहानुदकदायिन इति मरणविषयमुक्तम् ॥ ७१ ॥

**स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।**
**यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥**

स्त्रीणामिति । स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवाः भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुद्ध्यन्ति । वाग्दानं विना भर्तृसंबन्धाभावात्

अश्रुतमपि वाग्दानान्तपर्यन्तं बोद्धव्यम् । सनाभयः पितृपक्षाः वाग्दत्तानां विवाहादूर्ध्वं मरणे यथोक्तेनैव कल्पेनेत्येतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तेन त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यन्तीत्यर्थः । तदुक्तमादिपुराणे । आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते । सद्यःशौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥ ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि । अतः परं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः ॥ वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम् । पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि ॥ स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति नृणामकृतचूडानामित्येतदुक्तेन विधिना शुद्ध्यन्तीति व्याचक्षतुः । अत्र च व्याख्याने पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वं मरणे त्र्यहाशौचं स्यात् । तच्चादिपुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम् ॥ ७२ ॥

**अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् ।**
**मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥**

अक्षारेति । क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमश्नीयुः । त्रिरात्रं नद्यादौ स्नानमाचरेयुर्मांसं च न भक्षयेयुः । भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः ॥ ७३ ॥

**सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।**
**असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥**

सन्निधाविति । मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादहःपरिज्ञाने शावाशौचस्य विधिरयमुक्तश्च देशान्तरावस्थानादज्ञाने सत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः संबन्धिबान्धवैर्ज्ञातव्यः । संबन्धिनः सपिण्डाः समानोदका बान्धवाः ॥ ७४ ॥

**विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।**
**यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥**

विगतं त्विति । विगतं मृतं विदेशस्थं विप्रकृष्टदेशस्थं अनिर्दशमनिर्गतदशाह्याद्यशौचकालं यः शृणोति स यदवशिष्टं दशरात्राद्यशौचस्य तावत्कालमविशुद्धो भवति । विगतमित्युपलक्षणं जनने ऽप्येतदवगन्तव्यम् । तथा च बृहस्पतिः । अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च । अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ॥ ७५ ॥

**अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।**
**संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥**

अतिक्रान्त इति । नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपीति देवलवचनान्मरणविषयं वचनमिदम् । सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुद्धो भवति संवत्सरे पुनरतीते स्नात्वैव विशुद्ध्यति । एतच्चावशेषेणाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यविषयम् ॥ ७६ ॥

**निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।**
**सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥**

निर्दशमिति । दशाहाशौचव्यपगमे कर्मानर्हत्वलक्षणस्य त्र्यहाशौचस्योक्तत्वात्तदङ्गास्पर्शविषयम् । निर्गतदशाहं सपिण्डमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सचैलं स्नात्वा स्पृश्यो भवति ॥ ७७ ॥

**बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे च संस्थिते ।**
**सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥**

बाल इति । बाले अजातदन्ते मृते जातदंते नृणामकृतचूडानामिति एकाहोरात्राभिधानादेशान्तरस्थे च सपिण्डे मृत इत्येकाहाशौचविषयम् । पूर्वश्लोके दशाहाशौचिनस्त्र्यहविधानात्पृथक्पिण्डे समानोदके त्रिरात्रमुक्तं तत्र त्रिरात्रव्यपगमे सर्वेष्वेषु सचैलं स्नात्वा सद्यो विशुद्धो भवति ॥ ७८ ॥

**अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।**
**तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥**

अन्तर्दशाह इति । दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्पुनःशब्दात्सजातीयावगमात्तदा तावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात् । यावत्पूर्वजातदशाहाद्यशौचं नापगतं स्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमेनैव द्वितीयेऽपि मृतके सूतके च शुद्धिरित्यर्थः ॥७९॥

**त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।**
**तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ८०**

त्रिरात्रमिति । आचार्ये मृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौचं वदन्ति तत्पुत्रपत्न्योश्च मृतयोरहोरात्रमित्येषा शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

**श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।**
**मातुले पक्षिणीरात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१॥**

श्रोत्रिय इति। वेदशास्त्राध्यायिनि उपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिनि तद्गृहवासिनीत्यर्थः तस्मिन्मृते त्रिरात्रेण शुद्धो भवति। मातुलऋत्विक्शिष्यादिषु पक्षिणीरात्रिं व्याप्याशौचं द्वे अहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी ॥ ८१ ॥

**प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः।**
**अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥**

प्रेते राजनीति। यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितस्तस्मिन्राजनि कृताभिषेके क्षत्रिये मृते सज्योतिराशौचं स्यात्। सह ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः। यदि दिवा मृतस्तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदाशौचं यदि रात्रौ मृतस्तदा यावत्तारकाज्योतिस्तावदाशौचम्। श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तं अश्रोत्रिये पुनस्तद्गृहे मृते कृत्स्नं दिनमात्रमाशौचं न तु रात्रावपि। रात्रौ मृते रात्रावेवेत्यवगन्तव्यम्। साङ्गवेदाध्यायिनि स्वल्पं वा बहु वा यस्येत्येतन्निर्दिष्टे गुरावप्यहमात्रमेव ॥ ८२

**शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।**
**वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥**

शुद्ध्येदिति। उपनीतसपिण्डमरणे संपूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायादिरहितब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति। क्षत्रियो द्वादशाहेन। वैश्यः पञ्चदशाहेन। शूद्रो मासेन तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः ॥ ८३ ॥

**न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।**
**न च तत्कर्म कुर्वाणः स नाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ८४**

न वर्धयेदिति। यस्य तु वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया पूर्वमर्वाक् संचयनादस्थामित्याद्याशौचसंकोच उक्तः स निष्कर्मा सुखमासिष्ये इति बुद्ध्या नाशौचदिनानि दशाहादिरूपतया वर्धयेत्संकुचिताशौचदिनेष्वपि। अग्निष्विति बहुवचनाच्छ्रौताग्निषु ह्यग्निहोत्रहोमान्न विघातयेत्। स्वयं कुर्यादशक्तौ वा पुत्रादीन्कारयेत्। अत्रैव हेतुमाह।

यस्मात्तत्कर्माग्निहोत्ररूपं कुर्वाणः पुत्रादिः सपिण्डो नाशुचिर्भवति । तदाह पारस्करः । नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जं वैतानं श्रौतो होमः गार्हपत्यकुण्डस्थानग्नीनाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियते इति । तथा च शङ्खलिखितौ । अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः । जाबालोऽप्याह । जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते । शालाग्नौ केवलो होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः ॥ छन्दोगपरिशिष्टमपि । मृतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते । होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः ॥ तस्मादेकाहत्र्यहाद्याशौचसंकोचे संध्यादीनामेव परित्यागो न तु श्रौतहोमस्य । एकाहत्र्यहाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्ठेयम् । अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यामन्यथाप्यभिधायि एकाहत्र्यहाद्यशौचसंकोचोऽयं होमस्वाध्यायमात्रविषयः संध्योपासनादिकं तु तेनापि दशाहमेव न कर्तव्यमिति तन्निष्प्रमाणकम् । यत्तु गौतमेन । राज्ञां च कर्मविरोधात् ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम् । याज्ञवल्क्येन च । ऋत्विजां दीक्षितानां चेत्यादिना सद्यःशौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाद्यशौचिनामपि तत्तत्कर्मविषयम् । यानि तूभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुञ्जीत इत्यादीनि दशाहं तत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि तानि दशाहाशौचविषयाणीति न कश्चिद्विरोधः । तस्माद्धोमस्वाध्यायमात्रार्थं सगुणे अशौचलाघवं न संध्योपासनार्थमितीदं निष्प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

**दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।**
**शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥**

दिवेति । चांडालं रजस्वलां ब्रह्महादिकं प्रसूतां दशाहाभ्यन्तरे शवं शवस्पृष्टिनं च स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धो भवति । केचित्तु तत्स्पृष्टिनमिति चाण्डालोदक्यादिभिः सर्वैः संबन्धयन्ति गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवचनाच्छवस्पृष्टिनमेव तत्स्पृष्टिनमाह । नोदक्यादिस्पृष्टिनं तत्राचमनविधानात् । तदाह याज्ञवल्क्यः । उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् । उदक्याशुचिभिः स्पृष्टः स्नानं कुर्यात् । उदक्याशौचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचमेत् ॥ ८५ ॥

**आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।**
**सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥**

आचम्येति । श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः सन्प्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सति उदुत्यं जातवेदसमित्यादिसूर्यदैवतमंत्रान्यथासामर्थ्यं पावमानीश्च शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

**नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।**
**आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥८७॥**

नारमिति । मानुषास्थि स्नेहसंयुक्तं स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुद्ध्यति । स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वा आचम्य गोस्पर्शार्कावेक्षणयोरन्यतरत्कृत्वा विशुद्धो भवति ॥ ८७ ॥

**आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।**
**समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥**

आदिष्टीति । व्रतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीति ब्रह्मचारी स प्रेतोदकमाव्रतसमापनान्न कुर्यात् । उदकमिति पूरकपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्योपलक्षणम् । समाप्ते पुनर्ब्रह्मचर्ये प्रेतोदकं कृत्वा त्रिरात्रमशौचं कृत्वा विशुद्धो भवति । एतच्च मातापित्राचार्यव्यतिरिक्तविषयम् । तदाह वसिष्ठः । ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोर्गुरोर्वा शवकर्मणेति शवनिमित्तकेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वकपिण्डषोडशश्राद्धादिकर्मणा । वक्ष्यति च आचार्यं स्वमुपाध्यायमिति ॥ ८८ ॥

**वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।**
**आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८९॥**

वृथेति । जातशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । वृथा जातानां बाहुल्येन त्यक्तस्वधर्माणां संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषूत्पन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव्रज्यासु वर्तमानानामशास्त्रीयविषोद्बन्धनादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनामुदकादिक्रिया न कर्तव्या ॥ ८९ ॥

**पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।**
**गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥**

पाषण्डमिति । वेदबाह्यरक्तपटमौञ्जादिव्रतचर्या पाषण्डं तदनुति-

छन्तीनां स्वच्छन्दमेकानेकपुरुषगामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रिया और्ध्वदैहिकं निवर्तत इति पूर्वेण संबन्धः ॥ ९० ॥

**आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।**
**निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥**

आचार्यमिति । आचार्य उपनयनपूर्वकं संपूर्णशाखाध्यापयिता उपाध्यायो वेदैकदेशस्याङ्गस्य वा अध्यापकः वेदस्य वेदानां च एकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः । निर्हरणकत्वात्प्रेतकृत्यस्य निर्हृत्य इति दाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यस्य प्रदर्शनार्थमाचार्यादीन्पञ्च मृतान्निर्हृत्य ब्रह्मचारी न लुप्तव्रतो भवति । एवं चान्यान्निर्हृत्य व्रतलोपो भवतीति गम्यते । आचार्यं स्वमित्यभिधानाद्गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेदिति न्यायान्नाचार्याचार्यमपि ।स्वमिति सर्वत्र संबद्ध्यते तेनोपाध्यायोपाध्यायमपि निर्हृत्य व्रतलोप एव ९१

**दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।**
**पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥**

दक्षिणेनेति । अमाङ्गलिकत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानं शूद्रं मृतं दक्षिणपुरद्वारेण निर्हरेत् । द्विजातीन्पुनर्यथायोगं यथायुक्त्या अपकृष्टवैश्यक्षत्रियक्रमेणैव पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारेण निर्हरेत् ॥ ९२ ॥

**न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।**
**ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३॥**

न राज्ञामिति । राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां सपिण्डमरणादौ अशौचदोषो नास्ति यतो राजान ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषेकाख्यं आधिपत्यकारणं प्राप्ताः । व्रतिनो ब्रह्मचारिणश्चान्द्रायणादिव्रतकारिणश्च सत्रिणो यागप्रवृत्ताः यतो ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मैव निष्पापाः । अशौचाभावश्चायं कर्मविशेषे । तदाह विष्णुः । अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि ॥ ९३ ॥

**राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ।**
**प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चान्नकारणम् ॥ ९४ ॥**

राज्ञ इति । महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदाख्यं सर्वाधिपत्यलक्षणं महात्मैव प्रवीणपुण्यराज्यमासादयति तस्मिन्वर्तमानस्य सद्यःशौचमुपदिश्यते । न तु राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरप्यत्र जातिरविवक्षिता इत्यनेन श्लोकेन दर्शितम् । यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽन्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहोमादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमशौचाभावे च कारणं तच्चाक्षत्रियाणामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टमत एव सोमकार्यकारिणि चमसे सोमधर्मा अत एव व्रीहिधर्मान्विततया श्रुतमप्यवघातादितत्कार्यकारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे विकृतौ च नीवारादिषु संबद्ध्यत इति कर्ममीमांसायां तत्तदधिकरणेषु निरणायि ॥ ९४ ॥

**डिंवाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।**
**गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥**

डिंवाहव इति । डिंवाहवो नृपरहितयुद्धं तत्र हतानां विद्युता वज्रेण पार्थिवेन वधार्हेऽपराधे हते गोब्राह्मणरक्षणार्थं विनापि युद्धं जलाग्निव्याघ्रादिभिर्हतानां यस्य पुरोहितादेः स्वकार्याविघातार्थं नृपतिरशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम् ॥ ९५ ॥

**सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।**
**अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥**

सोमेति । चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापां च पत्योः कुबेरवरुणयोरेवमष्टानां लोकपालानां संबन्धि देहं राजा धारयति ९६

ततः किमत आह—

**लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।**
**शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥**

लोकेशेति । यतो लोकेशांशाक्रान्तो नृपतिरतो नास्याशौचमुपदिश्यते । यस्मान्मनुष्याणां यच्छौचमशौचं वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति च । अप्ययो विनाशः । एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

उद्यतैरिति । उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्न तु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते समाप्तिमेवेति तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः । तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति इयं शास्त्रे मर्यादा ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥९९॥

विप्र इति । अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यो ब्राह्मणः अपः स्पृष्ट्वेति जलस्पर्शमात्रं दक्षिणहस्तेन कृत्वा शुद्धो भवति न तु संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टैरद्भिर्विशुद्ध्यतीतिवत् । स्नात्वावाहनादिस्पर्शसाहचर्यात्स्पृष्ट्वेत्यस्य च सकृदुच्चरितस्यार्थभेदस्यान्याय्यत्वात्क्षत्रियो हस्त्यादिवाहनं खड्गाद्यस्त्रं च वैश्यो बलीवर्दादि तोदं लोहप्रोताग्रं योक्त्रं वा शूद्रो यष्टिं वंशदण्डिकाम् ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

एतदिति । भोद्विजश्रेष्ठा एतच्छौचं सपिण्डेषु प्रेतेषु युष्माकमुक्तं इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं शृणुत ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् १०१

असपिण्डमिति । असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत्स्नेहानुबन्धेन न त्वदृष्टबुद्ध्येत्यर्थादुक्तम् । मातुश्चाप्तान्सन्निकृष्टान्सहोदरभ्रातृभगिन्यादीन्बान्धवान्निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति ॥ १०१ ॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

यद्यन्नमिति । निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौचि-

नामन्नमश्नाति तदा तद्दशाहेनैव शुद्ध्यति न त्रिरात्रेण । अथ तेषामन्नं नाश्नाति गृहे च तेषां न वसति निर्हरति च तदाहोरात्रेणैव शुद्ध्यति । एवं च तद्गृहवासे सति तदन्नाभोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तं त्रिरात्रम् ॥ १०२ ॥

**अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।**
**स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति १०३**

अनुगम्येति । ज्ञातिमज्ञातिं वा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैलस्नानं च कृत्वा ततोऽग्निं स्पृष्ट्वा पश्चाद्घृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

**न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।**
**अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता १०४**

न विप्रमिति । ब्राह्मणादिमृतं समानजातीयेषु स्थितेषु न शूद्रेण पुत्रादिर्निर्हारयेत् । यस्मात्सा शरीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति । मृतं स्वर्गं न प्रापयतीत्यर्थः । स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यभिधानाद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रियेण तदभावे वैश्येन तदभावे शूद्रेणापि निर्हारयेदित्युक्तं यथापूर्वं श्रेष्ठत्वादस्वर्ग्यदोषश्च ब्राह्मणादिसद्भावे शूद्रेण निर्हरणे सति बोद्धव्यः । गोविन्दराजस्तु दोषनिर्देशात्स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यविवक्षितमित्याह तदयुक्तम् । संभवादनुपदद्वयोच्चारणवैयर्थ्यप्रसंगादपक्रमावगतेश्च वेदोदितन्यायेनानुबोध्यत्वाद्गुणभूतशुद्ध्यर्थबाधेन प्रधानभूताया जातेरुपेक्षायां गुणलोपे तु मुख्यस्येत्यपि न्यायेन बाध्येत तस्मात् स्वेषु तिष्ठत्स्विति पदद्वितयं न विवक्षितम् । इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञां नाद्रियामहे ॥ १०४ ॥

**ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपांजनम् ।**
**वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् १०५**

ज्ञानमिति । ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति तत्र ब्रह्मज्ञानं बुद्धिरूपान्तःकरणशुद्धेः साधनं यथा वक्ष्यति बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति । तपो यथा तपसा वेदवित्तमाः । अग्निर्यथा पुनः पाकेन मृन्मयम् । आहारो यथा हविष्येण यवाग्वा इति । मृद्वारिणी यथा मृद्वार्यादे-

यमर्थवदिति । मनो यथा मनःपूतं समाचरेदिति । संकल्पविकल्पात्मकं मनो निश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्ध्योर्भेदः । उपाञ्जनमुपलेपनं यथा मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म । कर्म यथा यजेद्वाऽश्वमेधेन इत्यादि । अर्को यथा गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा । कालो यथा शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन । वायोस्तु शुद्धिहेतुत्वं मनुनानुक्तमपि पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैरिति विष्ण्वादावुक्तं ग्राह्यम् ॥१०५॥

**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।**
**योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः१०६**

सर्वेषामेवेति । सर्वेषां मृद्वारिनिमित्तदेहशौचमनःशौचादीनां मेध्यादर्थशौचं अन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यत्नेनेच्छया तत्परं प्रकृष्टं मन्वादिभिः स्मृतं यस्माद्योऽर्थे शुद्धः स शुद्धो भवति । यः पुनर्मृद्वारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव ॥ १०६ ॥

**क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।**
**प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७॥**

क्षान्त्येति । परेणोपकारे कृते तस्मिन्प्रत्युपकारबुद्ध्यनुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुद्ध्यन्ति । यथा च वक्ष्यति । महायज्ञक्रियाः क्षमा । नाशयन्त्याशु पापानीति । अकार्यकारिणो दानेन । यथा वक्ष्यति । सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायेति अप्रख्यातपापा जप्येन । यथा वक्ष्यति । जपंस्तूपवसेद्दिनमिति । वेदवित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादितपोविदः तपसेत्येकादशाध्याये वक्ष्यमाणेन ॥ १०७ ॥

**मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति ।**
**रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः॥१०८॥**

मृत्तोयैरिति । मलाद्युपहतं शोधनीयं मृज्जलैः शोध्यते नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्यशुचिदूषितो वेगेन शुद्ध्यति स्त्री च परपुरुषमैथुनसंकल्पादिदूषितमानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुद्धा भवति । ब्राह्मणश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायाभिधेयेन पापाच्छुद्ध्यति ॥ १०८ ॥

**अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।**
**विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति १०९**

अद्भिरिति । स्वेदाद्युपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि शुद्ध्यन्ति मनश्च निषिद्धचिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन शुद्ध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीवात्मा ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति । शुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥

**एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।**
**नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ११०**

एष इति । अयं शरीरसंबन्धिनः शौचस्य युष्माकं निश्चय उक्तः इदानीं नानाप्रकारद्रव्याणां येन यच्छुद्ध्यति तस्य निर्णयं शृणुत ११०

**तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।**
**भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥१११॥**

तैजसेति । तैजसानां सुवर्णादीनां मरकतादिमणीनां पाषाणमयस्य च सर्वस्य भस्मना जलेन मृत्तिकया च मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता । निर्लेपस्य जलेनैवानन्तरं शुद्धेर्वक्ष्यमाणत्वादिदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम् । तत्र मृद्भस्मनोर्गन्धक्षयैककार्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तूभयत्र समुच्चीयन्ते ॥ १११ ॥

**निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।**
**अजमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥**

निर्लेपमिति । उच्छिष्टादिलेपरहितं सौवर्णभाण्डं जलभवं च शङ्खमुक्तादि पाषाणमयं च राजतमनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं तथाविधमलासंभवाज्जलेनैव भस्मादिरहितेन शुद्ध्यति ११२

**अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।**
**तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥११३॥**

अपामग्नेरिति । अग्निर्वै वरुणादीन् कामयत इत्यादि वेदे श्रूयते । तथाग्नेः सुवर्णमिन्द्रियं वरुणादीनां रजतमित्यादिश्रुतिष्वग्न्यापःसंयोगात्सुवर्णं रजतं चोद्भूतं यस्मादतस्तयोः स्वेन कारणेनैव जलेनात्यन्तोपघाते नाग्निना निर्णेकः शुद्धिहेतुः गुणवत्तरः प्रशस्ततरः ॥ ११३ ॥

**ताम्रायःकांसरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।**
**शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥११४॥**

ताम्राय इति । अयो लौहं रैति पित्तलं तद्भवं पात्रं रैत्यं त्रपु एषां भस्माम्लोदकैः शोधनं कर्तव्यम् । यथार्हं यस्य यदर्हति । अम्भसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुद्ध्यति भस्मना । अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनः पाकेन मृन्मयमिति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः ॥११४॥

**द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरापूवनं स्मृतम् ।**
**प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥११५॥**

द्रवाणां चेति । द्रवाणां घततैलानां काककीटाद्युपहतानां बौधायनादिवचनात्प्रसृतिमात्रप्रमाणानां प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यां उत्पूवनेन शुद्धिः । संहतानां च शय्यादीनामुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणं दारवाणां चात्यन्तोपघाते तक्षणेन ॥ ११५ ॥

**मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।**
**चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥**

मार्जनमिति । चमसानां ग्रहाणां चान्येषां यज्ञपात्राणां पूर्वं पाणिना मार्जनं कार्यं पश्चात्प्रक्षालनेन यज्ञे कर्तव्ये शुद्धिर्भवति ॥११६॥

**चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।**
**स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७॥**

चरूणामिति । स्नेहाक्तानां चरुस्रुचादीनामुष्णजलेन शुद्धिः । स्नेहाद्ययुक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम् ॥ ११७ ॥

**अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।**
**प्रक्षालनेन स्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८॥**

अद्भिस्त्विति । बहूनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन प्रोक्षणाच्छुद्धिः । बहुत्वं च पुरुषभारहार्याधिकत्वमिति व्याचक्षते । तदल्पानां तु प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिरुपदिश्यते ११८

**चेलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।**
**शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९॥**

चेलवदिति । स्पृश्यपशुचर्मणां वंशादिदलनिर्मितानां च वस्त्रवच्छुद्धिर्भवति शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिः ॥ ११९ ॥

**कौशेयाविकयोरूर्णैः कुतपानामरिष्टकैः ।**
**श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥**

कौशेयेति । कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेः ऊर्णैः क्षारमृत्तिकाभिः कुतपानां नेपालकम्बलानामरिष्टकैः अरिष्टचूर्णैः अंशुपट्टानां पट्टशाकानां विल्वफलैः क्षौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्वेतसर्षपप्रक्षालनाच्छुद्धिः १२०

**क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।**
**शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥**

क्षोमवदिति । शङ्खस्य पशुशृंगाणां स्पृश्यपश्वस्थिभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौमवत्पिष्टश्वेतसर्षपकल्केन गोमूत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा शुद्धिः कर्तव्या ॥ १२१ ॥

**प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।**
**मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥**

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं चेति । तृणकाष्ठं पलालं च चाण्डालादिस्पर्शदूषितं प्रोक्षणेन शुद्ध्यति । तृणपलालसाहचर्यादिदमिन्धनकाष्ठविषयम् । दारवाणां च तक्षणमिति निर्मितदारुमयगृहपात्रविषयम् । गृहमुदक्या निवासादिदूषितं मार्जनगोमयाद्युपलेपनेन । मृन्मयभाण्डमुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनः पाकेन शुद्ध्यति ॥ १२२ ॥

**मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।**
**संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥**

मद्यैरिति । मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टं मृन्मयपात्रं पुनः पाकेनाऽपि न शुद्ध्यति । ष्ठीवनं श्लेष्मा । पूयं शोणितविकारः ॥ १२३ ॥

**संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च**
**गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥**

संमार्जनेति । अवकरशोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदका-

दिसेकेन खात्वा काचिन्मृदपनयनेन गवामहोरात्रनिवासेन पञ्चभिरेकैकशो भूमिः शुद्ध्यति । एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचाण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पावबगन्तव्यौ ॥ १२४ ॥

**पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।**
**दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥**

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमिति । भक्ष्यपक्षिणा कश्चिद्भागो यस्य भक्षितः गवा यस्य घ्राणं कृतं पदा चावधूतमुपरि कृतक्षुतं केशकीटदूषितं जग्धशब्दलिङ्गादन्नमल्पं मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

**यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।**
**तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥**

यावदिति । विष्ठादिलिप्ताद्द्रव्याद्यावत्संबन्धिनौ गन्धलेपौ तिष्ठतः तावद्द्रव्यमुद्धृत्य मृद्वारि प्रक्षिप्त्वा गृहीतव्यं यत्र च सामान्यादौ मृदा शुद्धिस्तत्र मृत्सहितं जलग्रहणं कर्तव्यम् । यत्र कर्णमलादौ जलेनैव शुद्धिस्तत्र जलमात्रमित्यवगन्तव्यम् ॥ १२६ ॥

**त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।**
**अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥**

त्रीणि देवा इति । केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टं संजातोपघातशङ्कायां जलेन प्रक्षालितम् । तदाह हारीतः । यद्यन्मीमांसा स्यात्तत्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धिर्भवति । उपघातशङ्कायामेव पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवाः ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

**आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।**
**अन्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥**

आपः शुद्धा इति । यत्परिमाणास्वप्सु गोः पिपासाविच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यलिप्ता न भवन्ति तदा विशुद्धभूमिगता विशुद्धाः स्युः । विशुद्धभूमिगता इति भूमिसंबन्धप्रदर्शनाय न त्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

**नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।**
**ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः १२९**

नित्यं शुद्ध इति । कारोर्मालाकारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि माल्यादिग्रथने द्रव्यप्रयोजनाद्यपेक्षया शुद्धिविशेषाकरणेऽपि स्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः । तथा जननमरणयोरपि स्वव्यापारे शुद्धः । न त्वाशौचं कारूणां कारुकर्मणीति वचनात् । तथा यद्विक्रेतव्यं पण्यवीथिकायां प्रसारितं नापणनीयमन्नमश्नीयादिति शंखवचनात्सिद्धान्नव्यतिरिक्तं तदनेकक्रेतृकरस्पर्शेऽपि शुद्धमेव । तथा च ब्रह्मचर्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्तस्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि सर्वदा शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

**नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।**
**प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥१३०॥**

नित्यमास्यमिति । सर्वदा स्त्रीणां मुखं शुचि तथा काकादिपक्षिणां चञ्चूपघातपतितं फलं शुचि वत्समुखं च दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे शुचि श्वा च यदा मृगादीन् हन्तुं गृह्णाति तदा तत्र व्यापारे शुचिः तस्मात् ॥ १३० ॥

**श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।**
**क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः १३१**

श्वभिरिति । कुक्कुरैर्हतस्य मृगादेर्यन्मांसं तच्छुचि मनुरवोचत् तच्छ्राद्धाद्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम् । अन्यैश्चाममांसादिभिर्व्याघ्रश्येनादिभिश्च व्याधादिभिश्च मृगवधजीविभिर्हतस्य ॥ १३१ ॥

**ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।**
**यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः १३२**

ऊर्ध्वं नाभेरिति । यानि नाभेरुपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवित्राणि भवन्ति अतस्तेषां स्पर्शने नाशौचम् । यानि नाभेरधस्तान्यशुचीनि भवन्ति अधश्छिद्रेषु च । बहुवचनं व्यक्तिबहुत्वापेक्षया । वक्ष्यमाणाश्च वसादयो देहमला देहान्निःसृता अशुद्धा भवन्ति ॥ १३२ ॥

**मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।**
**रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् १३३**

मक्षिकेति । मक्षिका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि विप्रुषो मुखनिःसृता अल्पा जलकणाः छाया पतितादेर्हीनस्पर्शस्यापि गवादीनि चाग्निपर्यन्तानि चण्डालादिस्पृष्टानि स्पर्शे शुचीनि जानीयात् ॥ १३३ ॥

**विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।**
**दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥१३४॥**

विण्मूत्रेति । विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिस्तस्य शुद्ध्यर्थं मृद्वारि गृहीतव्यं अर्थवत्प्रयोजनवत् यावता गन्धलेपक्षयो भवति। तथा शारीराणां वसादिमलानां संबन्धिषु द्वादशस्वपि गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि ग्राह्यं तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वषट्के मृज्जलग्रहणमुत्तरषट्के जलमात्रग्रहणम् । तदाह बौधायनः । आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्ध्यति ॥ ततश्च द्वादशस्वपीति मानवं मृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थया मृद्वारिणोर्ग्रहणे सति न विरुद्ध्यते । गोविन्दराजस्तु मनुबौधायनवचनसंदर्शनादुत्तरषट्केऽपि विकल्पमाह स च व्यवस्थितो दैवपित्र्याद्यदृष्टकर्मप्रवृत्ते उत्तरेष्वपि मृदमाद्यान्नान्यदा ॥ १३४ ॥

**वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट् ।**
**श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः १३५**

वसेति । वसा कायस्नेहः शुक्रं रेतः असृक् रक्तं मज्जा शिरोमध्ये पिण्डितस्नेहः दूषिका अक्षिमलः स्वेदः श्रमादिना देहनिःसृतं जलं वसादयो द्वादश नराणां दैहिका मला भवन्ति ॥ १३५ ॥

**एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।**
**उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥१३६॥**

एका लिङ्ग इति । मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति शुद्धिमभीप्सता मृद्वार्यादेयमर्थवदित्युक्तत्वाज्जलसहिता मृदेका लिङ्गे दातव्या गुदे तिस्रो मृदः तथैकस्मिन् करे वामे । शौचविद्दक्षिणं हस्तं नाधःशौचे नियोजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेदिति देवलवच-

नात्तस्यैव बाधः । शौचसाधनत्वात्तत्रैव दश मृदो दातव्यास्तत उभयोः करयोः सप्त दातव्याः यदा तूक्तशौचेनापि गन्धलेपक्षयो न भवति तदा यावदपैत्यमेध्यात्तादिति वचनादधिकसंख्यापि मृद्दातव्या एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि । मृत्परिमाणमाह दक्षः । लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपूर्वी पूर्यते यया । द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता इति । यदा तूक्तसंख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयो भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्यात्संख्या पूरयितव्यैव ॥

**एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।**
**त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् १३७**

एतच्छौचमिति । एका लिङ्ग इत्यादि यच्छौचमुक्तं तद्गृहस्थानामेव ब्रह्मचारिणां द्विगुणं वानप्रस्थानां त्रिगुणं यतीनां पुनश्चतुर्गुणम् १३७

**कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा स्नान्याचान्त उपस्पृशेत् ।**
**वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥**

कृत्वेति । मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतयथोक्तशौचस्त्रिराचान्त इन्द्रियच्छिद्राणि शीर्षण्यन्यानि च स्पृशेत् । वेदाध्ययनं चिकीर्षन् अन्नं वाश्नन् । यत्तु द्वितीयाध्याये अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो निवेद्य गुरवे ऽश्नीयादाचम्येत्युभयमुक्तं तद्व्रताङ्गत्वार्थं इदं तु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः ॥ १३८ ॥

आचान्त इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह—

**त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।**
**शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत् १३९**

त्रिराचामेदिति । देहस्य शुद्धिमिच्छन् प्रथमं वारत्रयमपो भक्षयेत् । ततो द्विर्मुखं परिमृज्यात् । स्त्री शूद्रश्चैकवारमाचमनार्थमुदकं भक्षयेत् ॥ १३९ ॥

**शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।**
**वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् १४०**

शूद्राणामिति । शूद्राणां कार्यमिति कृत्यानां कर्तरि वेतिकर्तरि षष्ठी । यथाशास्त्रव्यवहारिभिर्द्विजशुश्रूषकैः शूद्रैर्मासि मासि

मुण्डनं कार्यं वैश्यवच्च मृतसूतकादौ शौचकल्पोऽनुष्ठातव्यः द्विजोच्छिष्टं च भोजनं भुज्यत इति भोजनं कार्यमिति ॥ १४० ॥

निष्ठीव्योक्तानृतानीति निष्ठीतवतामाचमनविधानाद्विदुषामपि मुखान्निःसरणं निष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौ शुद्ध्यर्थमपवादमाह—

**नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः ।**
**न श्मश्रूणि गतान्यास्यान्न दन्तान्तरधिष्ठितम् १४१**

नोच्छिष्टमिति । मुखभवा विप्रुषो या अङ्गे निपतन्ति ता उच्छिष्टं न कुर्वन्ति तथाश्मश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतां जनयन्ति दन्तावकाशस्थितं चान्नावयवादि नोच्छिष्टं कुरुते । अत्र गौतमीये विशेषः । दन्ताश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्षणात्प्राक् च्युतेरित्येके । च्युतेष्वाहारवद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ १४१ ॥

**स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।**
**भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥**

स्पृशन्तीति । अन्येषामाचमनार्थं जलं ददतां ये बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जंघादि विशुद्धभूमिष्ठोदकैस्तुल्यास्तेन नाचमनार्हो भवति । तदा तत्र च्यवनावस्थैरकृताचमनः शुद्ध्यति द्रव्यं च शुद्ध्यति १४२

**उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।**
**अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥**

उच्छिष्टेनेति । द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम् । आमणिबन्धात्पाणिं प्रक्षाल्येति द्रव्यहस्तस्याचमनासंभवात्स्कन्धादिस्थितद्रव्यो यद्युच्छिष्टेन संस्पृष्टो भवति तदा द्रव्यमनवस्थाप्यैव कृताचमनः शुद्ध्यति द्रव्यं च शुद्धं भवति ॥ १४३ ॥

**वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।**
**आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् १४४**

वान्त इति । कृतवमनः संजातविरेकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात् । दश विरेकान् विरिक्त इति गोविन्दराजः । यदि भुक्त्वा अनन्तरमेव वमति तदा आचमनमेव कुर्यान्न स्नानघृतप्राशने । मैथुनं च कृत्वा स्नायात् । इदं तु ऋतुमतीविषयम् ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तानृतानि च ।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् १४५

सुप्त्वेति । निद्राक्षुद्भोजनश्लेष्मनिरसनमृषावादजलपानादि कृत्वा अध्ययनं चिकीर्षुः शुचिरप्याचामेत् । यत्तु भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगिति तथा अध्येष्यमाणस्त्वाचान्त इति द्वितीयाध्यायोक्तं तद्व्रताङ्गत्वेन । इह तु भुक्त्वाचमनविधानं पुरुषार्थमध्ययनाङ्गतयाचमनविधानं गृहस्थादीनामपीति ॥ १४५ ॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥१४६॥

एष शौचविधिरिति । एष वर्णानां जननमरणादौ दशरात्रादिरशौचविधिः समग्रो द्रव्याणां तैजसादीनां चेलादीनां च जलादिना शुद्धिविधिर्युष्माकमुक्तः । इदानीं स्त्रीणामनुष्ठेयं धर्मं शृणुत १४६

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि १४७

बालया वेति । बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किंचित्सूक्ष्ममपि कार्यं भर्त्राद्यनुमतं न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यमिति किंतु १४७

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् १४८

बाल्ये पितुरिति । बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् । यौवने भर्तुः भर्तरि मृते पुत्राणां तदभावे । तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः । पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रियो मत इति नारदवचनात् । ज्ञातिराजादीनामायत्ता स्यात्कदाचिन्न स्वतन्त्रा भवेत् ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९॥

पित्रा भर्त्रेति । पित्रा पत्या पुत्रैर्वा नात्मनो विरहं कुर्यात् । यस्मादेषां वियोगेन स्त्री बन्धकीभावं गतापि पतिपितृकुले निन्दिते करोति ॥ १४९ ॥

**सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।**
**सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥**

सदा प्रहृष्टेति । सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधितकुण्डकटाहादिगृहभाण्डया व्यये चावहुप्रदया स्त्रिया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

**यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।**
**तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥**

यस्मै दद्यादिति । यस्मै पिता एनां दद्यात्पितुरनुमत्या भ्राता वा तं जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिक्रामेत् । व्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितया पारलौकिककृत्यखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

**मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।**
**प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥**

मङ्गलार्थमिति । यदासां स्वस्त्ययनशान्त्यनुमन्त्रवचनादिरूपं यश्चासां प्रजापतियागप्रजापत्युद्देशेनाज्यहोमात्मको विवाहेषु क्रियते तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्त्यर्थं कर्म । यत्पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम् । ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा तस्मात्तं श्रयेतेति पूर्वोक्तशेषः । यत्तु नवमे वक्ष्यते । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे इति तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः । यतः ॥ १५२ ॥

**अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।**
**सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥**

अनृतावृतुकाले इति । मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तत्कर्ता भर्ता ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज्यमिति गौतमवचनात् । ऋतुकाले अन्यदा च । नित्यमिह लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति । तस्मात् ॥ १५३ ॥

**विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।**
**उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥**

विशील इति । सदाचारशून्यः स्त्र्यन्तरानुरक्तो वा विद्यादिगुणहीनो वा तथापि साध्व्या स्त्रिया देववत्पतिराराधनीयः । यस्माच्च ॥

**नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।**
**पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥**

नास्ति स्त्रीणामिति । यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्या रजोयोगादिना अनुपस्थितावपि पत्न्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः तथा न स्त्रीणां भर्त्रा विना यज्ञसिद्धिः । नापि भर्तुरनुमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ किंतु भर्तृपरिचर्ययैव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते ॥ १५५ ॥

**पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।**
**पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥१५६॥**

पाणिग्राहस्येति । पत्या सह धर्माचरणेन योऽर्जितः स्वर्गादिलोकः तमिच्छन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा भर्तुर्न किंचिदप्रियमर्जयेत् । मृतस्याप्रियं व्यभिचारेण विहितश्राद्धखण्डनेन वृत्तिसंभवेऽपि ॥ १५६ ॥

**कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।**
**न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥**

कामं खिति । पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेत् । अल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात् । न च भर्तरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाप्युच्चारयेत् एवं च सति ॥ १५७ ॥

**आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।**
**यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥**

आसीतेति । क्षमायुक्ता नियमवती एकभर्तृकाणां यो धर्मः प्रकृष्टतमः तमिच्छन्ती मधुमांसमैथुनाकामा ब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत् । अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत यस्मात् १५८

**अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।**
**दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥१५९॥**

अनेकानीति । बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकवालखिल्यादीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्ध्यर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

**मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।**
**स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥१६०॥**

मृते भर्तरीति । साध्वाचारा स्त्री मृते भर्तरि अकृतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहितापि स्वर्गं गच्छति । यथा ते सनकवालखिल्यादयः पुत्रशून्याः स्वर्गं गताः ॥ १६० ॥

**अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।**
**सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१॥**

अपत्यलोभाद्या तु स्त्रीति । पुत्रो मे जायतां तेन स्वर्गं प्राप्स्यामीति लोभेन या स्त्री भर्तारमतिक्रम्य वर्तते व्यभिचरतीत्यर्थः । सेह लोके गर्हां प्राप्नोति । परलोकं च स्वर्गं तेन पुत्रेण न लभते १६१

अत्रैव हेतुमाह—

**नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।**
**न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥१६२॥**

नान्योत्पन्नेति । यस्माद्भर्तृव्यतिरिक्तेन पुरुषेण उत्पन्ना सा प्रजा तस्याः शास्त्रीया न भवति न चान्यपत्न्यामुत्पादिता उत्पादकस्य प्रजा भवति एतच्चानियोगोत्पादितविषयम् । बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः द्वितीयोऽपि भर्तैव । तस्मादन्योत्पादितत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याह न च लोके गर्हा प्रसिद्धावपि साध्वाचाराणां न क्वचिच्छास्त्रे द्वितीयोपभर्तोपदिश्यते । एवं च सति पुनर्भूत्वमपि प्रसिद्धम् ॥ १६२ ॥

**पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।**
**निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥**

पतिमिति । अपकृष्टं क्षत्रियादिकं स्वकीयं पतिं त्यक्त्वा उत्कृष्टं ब्राह्मणादिकं या आश्रयति सा लोके गर्हणीयैव भवति । परोऽन्यः पूर्वो भर्ता अस्या अभूदिति च लोकैरिष्यते ॥ १६३ ॥

व्यभिचारफलमाह—

**व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।**
**शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥१६४॥**

व्यभिचारादिति । परपुरुषोपभोगेन स्त्री इह लोके गर्हणीयतां लभते मृता च शृगालिर्भवति कुष्ठादिरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

**पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।**
**सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते १६५**

पतिमिति । मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानाद्या मनोवाग्देहैरेव भर्तारं न व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्ठमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्भर्त्रासहार्जितांल्लोकान्प्राप्नोति इह च शिष्टैः साध्वीत्युच्यते । वाङ्मनोभ्यामपि पतिं न व्यभिचरेदिति विधानार्थो दैहिकव्यभिचारनिवृत्तेरुक्ताया अप्यनुवादः ॥ १६५ ॥

**अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।**
**इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥१६६॥**

अनेनेति । अनेन स्त्रीधर्मप्रकारेण उक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्त्रव्यभिचारादिना मनोवाक्कायसंयता स्त्री इह लोके च प्रकृष्टां कीर्तिं परत्र पत्या सहार्जितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थोपसंहारः

**एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।**
**दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥**

एवंवृत्तामिति । द्विजातिः समानवर्णां यथोक्ताचारयुक्तां पूर्वमृतां श्रौतस्मार्ताग्निभिर्यज्ञपात्रैश्च दाहधर्मज्ञो दाहयेत् ॥ १६७ ॥

**भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।**
**पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥**

भार्येति । पूर्वमृतायै अन्त्यकर्मणि दाहनिमित्तमग्नीन्समर्प्य गृहस्थाश्रमनिमित्तमुत्पन्नपुत्रोऽनुत्पन्नपुत्रो वा पुनर्विवाहं कुर्यात् । स्मार्ताग्नीन् श्रौताग्नीन्वा आदध्यात् ॥ १६८ ॥

**अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।**
**द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥**
**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५॥**

अनेनेति । अनेन तृतीयाध्यायानुक्तविधिना प्रत्यहं पञ्चयज्ञान्न त्यजेत् । द्वितीयमायुर्भागं कृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थविहितान्धर्माननुतिष्ठेत् । गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः ॥ १६९ ॥

इति कुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

---

## अथ षष्ठोऽध्यायः ।

**एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।**
**वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥**

एवमिति । आश्रमसमुच्चयाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रकारेण यथाशास्त्रं गृहाश्रममनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हं विशेषेण जितेन्द्रियः परिपक्वकषाय इत्यर्थः । वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

**गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।**
**अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥**

गृहस्थस्त्विति । गृहस्थो यदात्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं केशधावल्यं पुत्रस्य पुत्रं पश्यति तथाविधवयोवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत् ॥ २ ॥

**संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।**
**पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥**

संत्यज्येत्यादि । ग्राम्यं व्रीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमनिच्छन्तीं भार्यां पुत्रेषु समर्प्य इच्छन्त्या सहैव वनं गच्छेत् ॥ ३ ॥

**अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।**
**ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥**

अग्निहोत्रमिति । श्रौताग्निमावसथ्यादींश्चाप्युपकरणं च स्रुक्स्रुवादीन् गृहीत्वा ग्रामादरण्यं निःसृत्य गत्वा संयतेन्द्रियः सन्निवसेत् ॥

**मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।**
**एतान्येव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥**

मुन्यन्नैरिति । मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वारण्योद्भवैरेतानेवेति गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

**वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।**
**जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥**

वसीत इति । मृगादिचर्म वृक्षवल्कलं वाच्छादयेत् । हारीतेन तु वल्कलशाली चर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासा इति विदधता वल्कलादिकमप्यनुज्ञातम् । सायंप्रातः स्नायात् जटाश्मश्रुलोमनखानि नित्यं धारयेत् ॥ ६ ॥

**यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।**
**अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥**

यद्भक्ष्यमिति । यद्भुञ्जीत ततो यथाशक्ति बलिं भिक्षां च दद्यात् बलिमिति तु वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम् । एतावानेव महायज्ञानिति विहितत्वादाश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादान्तो मैत्रः समाहितः ।**
**दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥**

स्वाध्यायेति । वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात् । शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान् भवेत् ॥ ८ ॥

**वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।**
**दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥**

वैतानिकमिति । गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारे वितानं तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । दर्शपौर्णमासं च पर्वेति औनरमार्तदर्शपौर्णमासौ योगतः स्वीकं अन्वन्दयन् आपरिक्षजन् भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामपि भार्यायामेतेषामनुष्ठानमुचितम् । विशेषाश्रयणात् ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
उत्तरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

ऋक्षेति । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः आग्रायणं नवसस्येष्टिः ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चेति समाहारद्वन्द्वः तथा चातुर्मास्योत्तरायणदाक्षायणानि औनकर्माणि क्रमेण कुर्यात् । अत्र केचित्सर्वमेतच्छ्रौतं दर्शपौर्णमासादि कर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थमुच्यते न त्वस्यानुष्ठेयं ग्राम्यव्रीह्यादिसाध्यत्वादेषां च । न च स्मृतिः श्रौताङ्गबाधने शक्ता तदसत् । यागेनशारदैरित्युत्तरश्लोके मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः वानप्रस्थविषयतया स्पष्टत्वेन चरुपुरोडाशादिविधेर्बाधनस्यानित्यत्वात् । गोविन्दराजस्तु व्रीह्यादिभिरेव कथंचिदरण्यजातैरेतान्निर्वर्तयिष्यत इत्याह ॥ १० ॥

वासंतशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

वासन्तेत्यादि । वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मेध्यैर्यागाङ्गभूतैर्मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्चरून्यथाशास्त्रं तत्तद्यागादिसिद्धये संपादयेत् ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

देवताभ्य इत्यादि । तद्धनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हं हविर्देवताभ्य उपकल्प्य शेषान्नमुपभुञ्जीत । आत्मना च कृतं लवणमपरलवणान्युपभुञ्जी ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

स्थलजेति । स्थलजलोद्भवशाकानि आरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानि इङ्गुद्यादिफलोद्भवांश्च स्नेहानद्यात् ॥ १३ ॥

**वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।**
**भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥**

वर्जयेदित्यादि । माक्षिकं मांसं भौमानीति प्रसिद्धदर्शनार्थं भौमानि कवकानि छत्राकारान् भूस्तृणं मालवदेशे प्रसिद्धं शाकं शिग्रुकं वाहीकेषु प्रसिद्धं शाकं श्लेष्मातकफलानि वर्जयेत् । गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीति अन्यव्यवच्छेदकं विशेषणमिच्छन् भौमानां कवकानां निषेधः वार्क्षाणां तु भक्षणमाह तदयुक्तं मनुनैव द्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वनस्थगोचरतया नियमातिशयस्योचितत्वात् । यमस्तु । भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये । ब्रह्महणांस्तान्विजानीयाद्ब्रह्महादिषु गर्हितानिति विशेषेण वृक्षजस्यापि निषेधमाह । मेधातिथिस्तु भौमानीति स्वतन्त्रं पदं वदन् गोजिह्विका नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं निषेधमाह तदपि बहुष्वभिधानकोशादिष्वप्रसिद्धं न श्रद्दधीमहि । कवकानां द्विजातिविशेषे पाञ्चमिके निषेधे सत्यपि पुनर्निषेधो भूस्तृणादीनां निषेधेऽपि च समप्रायश्चित्तविधानार्थः ॥ १४ ॥

**त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।**
**जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥१५॥**

त्यजेदिति । सर्वमेव संचयपक्षे पूर्वसंचितनीवाराद्यन्नं जीर्णानि च वासांसि शाकमूलफलानि च आश्विने मासि त्यजेत् ॥ १५ ॥

**न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।**
**न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च १६**

न फाल इति । फालकृष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि व्रीह्यादि नाद्यात् । तथा ग्रामजातान्यफालकृष्टभूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि न भक्षयेत् ॥ १६ ॥

**अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।**
**अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥१७॥**

अग्नीति । अग्निपक्वं वन्यमन्नं कालपक्वं वा फलादि यद्वा नोलूखल-मुसलाभ्यां किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्यापक्वमेवाद्यात् । दन्ता एवोलूखलस्थानानि यस्य तथाविधो वा भवेत् ॥ १७ ॥

**सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्मासंचयिकोऽपि वा ।**
**षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥१८॥**

सद्य इत्यादि । एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्मासंवत्सरनिर्वाहसमर्थं वा नीवारादिकं संचिनुयात् । यथापूर्वनियमातिशयः । मासवृत्तियोग्यसंचयो मासंसंचयः सोऽस्यास्तीति अत इनिठनाविति ठन्प्रत्ययेन मासंसंचयिक इति रूपम् ॥ १८ ॥

**नक्तं चान्नं समश्नीयादिवा वाहृत्य शक्तितः ।**
**चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥१९॥**

नक्तमित्यादि । यथासामर्थ्यमन्नमाहृत्य प्रदोषे भुञ्जीत अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात्सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितमिति विहितं तत्रैकस्मिन्नहनि उपोष्यापरेद्युः सायं भुञ्जीत । अष्टमकालिको वा भवेत् । त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याह्नो रात्रौ भुञ्जीत॥१९॥

**चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।**
**पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥**

चान्द्रायणेति । शुक्लकृष्णयोरेकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च वर्धयेदित्यादिनैकादशाध्यायें च वक्ष्यमाणैश्चान्द्रायणैर्वा वर्तयेत् । पक्षान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र श्रृतां यवागूं वाप्यश्नीयात्सकृदिति सायं प्रातर्वा ॥ २० ॥

**पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।**
**कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥**

पुष्पमूलेत्यादि । पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः स्वयंपतितैर्जीवेत् । वैखानसो वानप्रस्थः तद्धर्मप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितस्तेनैतदुक्तमन्यदपि वैखानसशास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

**भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।**
**स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥**

भूमावित्यादि । केवलयां भूमौ लुठन् गतागतानि कुर्यात् । स्थानासनादावुपविशेत् । उत्तिष्ठेत्पर्यटेदित्यर्थः । आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः । एवमुत्तरत्रापि पादाभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कंचित्कालं स्थित एव स्यात् कंचिच्चोपविष्ट एव न त्वंतरा पर्यटेत्सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात्। यत्तु सायं प्रगे तथेत्युक्तं तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः ॥ २२ ॥

**ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।**
**आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥**

ग्रीष्म इत्यादि । आत्मतपोविवृद्ध्यर्थं ग्रीष्मे चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं चादित्यतेजसा आत्मानं तापयेत् । वर्षास्वभ्रावकाशमाश्रयेत्। यत्र देशे देवो वर्षति तत्र छत्राद्यावरणरहितस्तिष्ठेदित्यर्थः । हेमन्ते चार्द्रवासा भवेत् । ऋतुत्रयसंवत्सरावलम्बेनायं सांवत्सरिक एव नियमः ॥ २३ ॥

**उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।**
**तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥**

उपेति । विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमनूद्यते। प्रातर्मध्यंदिनं सायं सवनेषु त्रिष्वपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन् अन्यदपि पक्षमासोपमासादिकं तीव्रव्रतं तपोऽनुतिष्ठन्यथोक्तयमेन पक्षोपवासिनः केचिन्मासोपवासिनः इति स्वशरीरं शोषयेत् ॥२४॥

**अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।**
**अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥**

अग्नीनित्यादि । श्रौतानग्नीन्वैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिना आत्मनि समारोप्य लौकिकाग्निगृहशून्यो यथा वक्ष्यति वृक्षमूलनिकेतन इति मुनिर्मौनव्रतचारी फलमूलाशन एव स्यात् । नीवाराद्यपि नाश्नीयात् । एतच्चोर्ध्वं षण्मासेभ्योऽप्युपरि अनग्निरनिकेतन इति वसिष्ठवचनात् । षण्मासोपर्यनग्निलमनिकेतत्वं च ॥ २५ ॥

**अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।**
**शरण्येष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥**

अप्रयत्नेति । सुखप्रयोजनेषु स्वादुफलभक्षणशीतातपपरिहारादिषु प्रयत्नशून्य अस्त्रीसंभोगी भूशायी च निवासस्थानेषु ममत्वरहितो वृक्षमूलवासी स्यात्फलमूलासंभवे च ॥ २६ ॥

**तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।**
**गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥**

तापसेष्विति । वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितं भैक्ष्यमाहरेत् । तदभावे चान्येभ्यो वनवासिभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यस्तस्याप्यसंभवे ॥ २७ ॥

**ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ।**
**प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥**

ग्रामेति । ग्रामादानीय ग्रामस्यान्नस्याष्टौ ग्रासान् पर्णशरावादिखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा वानप्रस्थो भुञ्जीत ॥ २८ ॥

**एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।**
**विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥**

एताश्चेति । वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमानन्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत् । औपनिषदीश्च श्रुतीः उपनिषत्पठिता ब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि विविधान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत् ॥ २९ ॥

**ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।**
**विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥**

ऋषिभिरिति । यस्मादुक्तमृषिभिर्ब्रह्मदर्शिभिः परिव्राजकैर्गृहस्थैश्च वानप्रस्थैर्ब्रह्माद्वैतज्ञानधर्मयोर्विवृद्ध्यर्थं उपनिषच्छ्रुतयः सेवितास्तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

**अपराजितां वास्थाय व्रजेदिशमजिह्मगः ।**
**आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥**

अपरेति । अचिकित्सितव्याध्याद्युद्भवे अपराजितामैशानीं दिश-

माश्रित्याकुटिलगतिर्युक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशनः आशरीरनिपाताद्गच्छेत् । महाप्रस्थानस्य शास्त्रे विहितं चेदं प्रस्थानं मरणं तेन न पुरापुषः स्वकामी न प्रेयादिति श्रुत्यापि न विरोधः । यतः स्वकामिशब्दप्रयोगात् अवैधं मरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम् ॥

**आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् ।**
**वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥**

आसामित्यादि । एषां पूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वा अपगतदुःखभयो ब्रह्मैव लोकस्तत्र पूजां लभते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । केवलकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष इति चेन्न । विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धये श्रुतीरित्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसंभवात् । यस्य तु मरणाभावस्तस्मात् ॥ ३२ ॥

**वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।**
**चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥**

वनेष्वित्यादि । अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात्तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थं अतएव शङ्खलिखितौ वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः परिव्राज्यमित्याचख्यतुः । एवं वनेषु विहृत्यैवं विधिवदुश्चरतपोऽनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमनाय कथितकालमनुष्ठानाय चतुर्थस्यायुषो भागमिति शेषायुःकाले सर्वथा विषयसंगान् त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

**आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।**
**भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥**

आश्रमादिति । पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद्गृहाश्रमं ततो वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायेत्यर्थः । यथाशक्ति गताश्रमहुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिदानचिरसेवया श्रान्तः परिव्रज्याश्रममनुनिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाद्ब्रह्मभूत ऋद्ध्यतिशयं प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

**ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।**
**अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥**

ऋणानीत्यादि । आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीणि ऋणानि संशोध्य मोक्षे मोक्षान्तरङ्गे परिव्रज्याश्रमे मनो नियोजयेत् । तानि ऋणानि त्वसंशोध्य मोक्षं चतुर्थाश्रममनुतिष्ठन्नरकं व्रजति ॥ ३५ ॥

तान्येव ऋणानि दर्शयति—

**अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।**
**इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥**

अधीत्येति । जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्य इति श्रुतेः । अतो यथाशास्त्रं वेदानधीत्य पर्ववर्जनादिधर्मेण च पुत्रानुत्पाद्य यथासामर्थ्यं ज्योतिष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरङ्गे चतुर्थाश्रमे मनो नियोजयेत् ॥

**अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।**
**अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥**

अनधीत्येति । वेदाध्ययनमकृत्वा पुत्रमनुत्पाद्य यज्ञांश्चाननुष्ठाय मोक्षमिच्छन्नरकं व्रजति ॥ ३७ ॥

**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।**
**आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥ ३८ ॥**

प्राजापत्यामिति । यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तां सर्वस्वदक्षिणां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैवात्मन्यग्नीन्समारोप्य गृहादित्यभिधानाद्वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत् । एतेन मनुना चातुराश्रमस्य समुच्चयोऽपि दर्शितः । श्रुतिसिद्धाश्च एकद्वित्रिचतुराश्रमाणां समुच्चया विकल्पिताः । तथा जाबालश्रुतिः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ॥ ३८ ॥

**यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।**
**तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥**

य इत्यादि । यः सर्वेभ्यो भूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयं दत्त्वा गृहाश्रमात्प्रव्रजति तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्ठस्य सूर्याद्या-

लोकरहितहिरण्यगर्भादेर्लोकाः तत्तेजसैव प्रकाशा भवन्ति तानाप्नोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**यस्मादणुवपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।**
**तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥**

यस्मादित्यादि । यस्माद्विजात्सूक्ष्ममपि भयं भूतानां न भवति तस्य देहाद्विमुक्तस्य देहनाशे कस्मादपि भयं न भवति ॥ ४० ॥

**आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।**
**समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥**

आगारादिति । गृहान्निर्गतः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादियुक्तो मुनिर्मौनी समुपोढेषु कामेषु केनचित्सम्यक् समीपं प्रापितेषु स्वाद्वन्नादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत् । मेधातिथिस्तु पवित्रैर्मन्त्रजपैरथवा पावनैः कृच्छ्रैर्युक्त इति व्याचष्टे ॥ ४१ ॥

**एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।**
**सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥**

एक इत्यादि । एकस्य सर्वसंगविरहिणो मोक्षावाप्तिर्भवतीति जानन्नेक एव सर्वदापि मोक्षार्थं चरेत् । एक एवेत्यनेन पूर्वपरिचितपुत्रादित्याग उच्यते असहायवान् इत्युत्तरस्यापि एकाकी यदि चरति स किंचिन्न त्यजति न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति नापि केनापि त्यज्यते न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनुभाव्यते ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखदुःखे मुक्तिमाप्नोति ॥ ४२ ॥

**अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।**
**उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥**

अनग्निरित्यादि । अनग्निर्लौकिकाग्निसंयोगरहितः श्रौतीयाग्निं समारोप्य पूर्वमुक्तत्वादनिकेतो गृहशून्यः उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे तत्प्रतीकाररहितः अशंकुसुकः स्थिरमतिः असंचयिक इति अन्ये पठन्ति । मुनिर्ब्रह्ममननान्मौनस्य पूर्वोक्तत्वात् । भावेन ब्रह्मणि समाहितः तदेकतानमनाः अरण्ये च दिवारात्रौ वसन् भिक्षार्थमेव ग्रामं प्रविशेत् ॥ ४३ ॥

**कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।**
**समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥**

कपालमित्यादि । मृन्मयकर्परादिभिक्षापात्रं वासार्थं वृक्षमूलानि स्थूलजीर्णवस्त्रं कौपीनकन्था सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या शत्रुमित्राभावः एतन्मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य लिङ्गम् ॥ ४४ ॥

**नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।**
**कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥**

नेत्यादि । मरणं जीवनं च द्वयमपि न कामयेत्किंतु स्वकर्माधीनं मरणकालमेव प्रतीक्षेत । निर्दिश्यते इति निर्देशो भृतिस्तत्परिशोधनकालमिव भृतकः ॥ ४५ ॥

**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।**
**सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥४६॥**

दृष्टिपूतमित्यादि । केशास्थ्यादिपरिहारार्थं दृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत् । जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिबेत् सत्यपवित्रां वाचं वदेत् । ततश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्पः प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रात्मा स्यात् ॥ ४६ ॥

**अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।**
**न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥**

अतिवादानित्यादि । अतिक्रमवादान्परोक्तान्सहेत न कंचित्परिभवेत् नेमं देहमस्थिरं व्याध्यायतनमाश्रित्य तदर्थं केनचित्सह वैरं कुर्यात् ॥ ४७ ॥

**क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।**
**सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥**

क्रुद्ध्यन्तमित्यादि । संजातक्रोधाय कस्मैचित्प्रतिक्रोधं न कुर्यात् निन्दितश्चान्येन वाचं भद्रां वदेत् न तु निन्देत् । सप्तद्वारावकीर्णामिति । चक्षुरादीनि पञ्च बहिर्बुद्धीन्द्रियाणि मनोबुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयं वेदान्तदर्शने एतैर्गृहीतेषु स्वेषु वाचा प्रवृत्तेरेतानि सप्त द्वाराणी-

त्युच्यन्ते एतैरवकीर्णां निक्षिप्तां तद्गृहीतार्थविषयां वाचं न वदेत्किंतु ब्रह्ममात्रविषयां वदेत् । ननु मनसैव ब्रह्म उपास्यते ब्रह्मविषयवागुच्चारणमपि मनोव्यापारस्तत्कथं सप्तद्वारावकीर्णत्वविशेषेऽपि ब्रह्मविषयां वदेदिति अन्यविषयां न वदेदिति लभ्यते । उच्यते । अत एवानृतामिति विशेषयति स्म अनृतमसत्यं विनाशीति यावत्तद्विषया वागप्यनृतोच्यते तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोच्चारयेत् अविनाशिब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादिरूपां वदेत् । गोविन्दराजस्तु धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मकामौ धर्मार्थकामा इति एतानि सप्त वाग्विषयतया वाक्प्रवृत्तेर्द्वाराणि तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्यासत्वात्तद्विषयां असत्यरूपां वाचं न वदेत् । अन्येतु सप्त भुवनान्येव वाग्विषयत्वात्सप्त द्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशित्वाच्च असत्यतया तद्विषयां वाचमसत्यां न वदेत्केवलं ब्रह्मविषयां वदेत् ॥४८॥

**अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।**
**आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥**

अध्यात्मेति । आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्मध्यानपर आसीन इति स्वस्तिकादियोगासननिष्ठः निरपेक्षो दण्डकमण्डल्वादिष्वपि विशेषापेक्षाशून्यः निरामिषः आमिषं विषयास्तदभिलाषरहितः आत्मनो देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थीह संसारे विचरेत् ॥ ४९ ॥

**न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।**
**नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ५०**

नेत्यादि । भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेन अद्याश्विनीहस्तरेखादेरीदृशं फलमिति नक्षत्राङ्गविद्यया ईदृशो नीतिमार्ग इत्थं वर्तितव्यं अनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचिन्न भिक्षां लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

**न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।**
**आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥**

न तापसैरित्यादि । वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः पक्षिभिः कुक्कुरैर्वा व्याप्तं गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥५१ ॥

**क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।**
**विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥**

क्लृप्तेत्यादि । क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्भिक्षापात्रवान् दण्डी कुसुम्भः कमण्डलुस्तद्युक्तः सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिभ्रमेत् ॥ ५२ ॥

**अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।**
**तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥**

अतैजसेति । सौवर्णादिवर्जितानि निश्छिद्राणि भिक्षोर्भिक्षापात्राणि भवेयुः । तथा यमः । सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च । गृह्णन् भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत् ॥ तेषां च यतिपात्राणां जलेनैव तु शुद्धिः यज्ञे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

तान्येव दर्शयति—

**अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।**
**एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥५४॥**

अलाबुमित्यादि । अलाबुदारुमृत्तिकावंशादिखण्डनिर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि स्वायंभुवो मनुरवदत् । वैदलं तरुत्वक्निर्मितमिति गोविन्दराजः ॥ ५४ ॥

**एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।**
**भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥**

एककालमिति । एकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत् तत्रापि प्रचुरभिक्षाप्रसंगं न कुर्यात् । यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तो यतिः प्रधानधातुवृद्ध्या रुयादिविषयेष्वपि प्रसज्जते ॥ ५५ ॥

**विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।**
**वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥**

विधूम इत्यादि । विगतपाकधूमे निवृत्तावहननमुसले निर्वाणपाकाङ्गारे गृहस्थपर्यन्तभुक्तवज्जने उत्सृष्टशरावेषु त्यक्तेषु सर्वदा यतिर्भिक्षां चरेत् । एतच्च दिनशेषमुहूर्तत्रयरूपसामान्योपलक्षणम् । तथाह याज्ञवल्क्यः । अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्ने नाभिसंधितः ॥५६॥

**अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।**
**प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥**

अलाभेष्वित्यादि । भिक्षादेरलाभे न विषीदेदिति । लाभे च हर्षं न कुर्यात् । प्राणस्थितिमात्रोपचितान्नभोजनपरः स्यात् । दण्डकमण्डलुमात्रास्वपि इदमशोभनं त्यजामि इदं रुचिरं गृह्णामि इत्यादिप्रसंगं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

**अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।**
**अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥**

अभीत्यादि । पूजापूर्वकभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देत् न स्वीकुर्यादित्यर्थः । यस्मात्पूजापूर्वकलाभस्वीकारे दातृगोचरस्नेहममत्वादिभिः आसन्नमुक्तिरपि यतिर्जन्मबंधाँल्लभते ॥ ५८ ॥

**अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।**
**ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥**

अल्पेत्यादि । आहारलाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैराकृष्यमाणानींन्द्रियाणि निवर्तयेत् । यस्मात् ॥ ५९ ॥

**इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।**
**अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥**

इन्द्रियाणामित्यादि । इन्द्रियाणां निग्रहेण रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयोग्यो भवति ॥ ६० ॥

इदानीं मिन्द्रियनियमोपायं विषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनमुपदिशति—

**अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।**
**निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥**

अवेक्षेतेत्यादि । विहिताकरणनिन्दिताचरणरूपकर्मदोषजन्या मनुष्याणां पश्वादिदेहप्राप्तिं नरकेषु पतनं यमलोके नरकस्थस्य निशितनिस्त्रिंशच्छेदनादिभवास्तीव्रवेदनाः श्रुतिपुराणादिषूक्ताश्चिन्तयेत् ६१

**विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाप्रियैः ।**
**जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥**

दह्यन्त इति । धातूनां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रव्याणि दह्यन्ते एवं मनसो रागादयश्चक्षुरादेश्च विषयप्रवणत्वादयो दोषाः प्राणायामेन विषयानभिध्यानाद्दह्यन्ते । एवं सति ॥ ७१ ॥

**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।**
**प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥७२॥**

प्राणायामैरित्यादि । अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामै रागादिदोषान् दहेत् । अपेक्षितदेशे परब्रह्मादौ यन्मनसो धारणं सा धारणा तया पापं नाशयेत् । प्रत्याहारेण विषयेभ्यः इन्द्रियाकर्षणैर्विषयसंपर्कान् वारयेत् । ब्रह्मध्यानेनेति सोऽहमस्मीति सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेण अनीश्वरान्गुणान् ईश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवन्ति क्रोधलोभमोहादयः ॥ ७२ ॥

**उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।**
**ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥**

उच्चावचेष्वित्यादि । अस्य जीवस्य उत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिषु जन्मप्राप्तिमकृतात्मभिः शास्त्रैरसंस्कृतान्तःकरणैर्दुर्ज्ञेयां ध्यानाभ्यासेन सम्यक् सकारणकं जानीयात् । ततश्चाविद्याकाम्यनिषिद्धकर्मनिर्मितेयं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः ॥७३॥

**सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।**
**दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥**

ततश्च सम्यग्दर्शनेति । ब्रह्मसाक्षात्कारवान्कर्मभिर्न निबध्यते कर्मणि तस्य पुनर्जन्मानि न भवन्ति पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । तथाच श्रुतिः । तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदहे प्रदूयत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवतीति श्रुत्या । तथा । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर इति विशेषश्रुत्या पुण्यसंबन्धोऽपि बोध्यते उत्तरकाले च दैवात्पापे कर्मणि प्रकृतेऽपि न पापसंश्लेषः । तथा च श्रुतिः । पुष्करपलाशमापो न श्लिष्यन्त एवमेव देहे पापकर्म न श्लिष्यत इति देहारम्भकपापपुण्यसंबन्धः परं नश्यति । अयमेव चार्थो ब्रह्ममीमांसायां तदधिगम उत्तरपूर्वार्थ-

योरश्लेषविनाशौ तस्योपदेशादिति सूत्रैर्बादरायणेन निरणायि । ब्रह्मसाक्षात्कारशून्यस्तु जन्ममरणप्रबन्धं लभते ॥ ७४ ॥

**अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।**
**तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥**

अहिंसयेति । निषिद्धहिंसावर्जनेन इन्द्रियाणां च विषयसंगपरिहारेण वैदिकैर्नित्यैः कर्मभिः काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वात् । उक्तं च । काम्यकर्मता न प्रशस्तेति तपश्च यथासंभवमुपवासकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरनुष्ठानैरिह लोके तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणं प्राप्नुवन्ति पूर्वश्लोकेन ब्रह्मदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं अनेन तत्पदसहकारितया कर्मणोऽभिहितम् ॥ ७५ ॥

इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्वरूपमाह श्लोकद्वयेन—

**अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।**
**चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥**

अस्थीत्यादि । जरेत्यादि च । अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तं अस्थिस्थूणं स्नायुरज्जुभिरावद्धं मांसरुधिराद्युपलिप्तं चर्मोच्छादितं मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमत एव दुर्गन्धि ॥ ७६ ॥

**जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।**
**रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥**

जरेति । जरोपतापाभ्यामाक्रान्तं विविधव्याधीनामाश्रयं आतुरं क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकातरं प्रायेण रजोगुणयुक्तं विनश्वरस्वभावं च आवासो गृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासं देहमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं त्यजेत् । यथा पुनर्देहसंबन्धो न भवेत्तथा कुर्यात् ॥

गृहसाम्यमेवाह—

**नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।**
**तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥**

नदीकूलमिति । ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः आरब्धदेहस्य कर्मणो भोगेनैव नाशात्तत्र देहत्यक्तुर्द्वैविध्यमाह । यः कर्माधीनं

देहपातमवेक्ष्यते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानन्नेव नदीरयेण पात्यते तथा देहं त्यजन्यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाद्भीष्मादिवत्स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षं स्वेच्छया त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसारकष्टाद्ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

**प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।**
**विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥**

प्रियेष्वित्यादि । ब्रह्मविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतं अप्रियेष्वहितकारिषु दुष्कृतं निःक्षिप्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मणि लीयते । तथा च श्रुतिः । तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यमित्यपरा श्रुतिः । ततस्तेषु सुकृतदुष्कृतेषु तु ते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपपद्येरन्नप्रिया दुष्कृतमिति एवमादीन्येव वाक्यान्युदाहृत्य सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमात्रश्रवणेऽप्युपासनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायां हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुपगायनमित्युक्तमित्यादिसूत्रैर्बादरायणेन निरणायि ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयोः कथं परत्र संक्रान्तिः । उच्यते । धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणं संक्रामोऽपि तयोः शास्त्रप्रमाणक एव । अतः शास्त्रात्संक्रमेण योग्यावेतौ सिद्ध्यतः । अतः शास्त्रेण बाधान्न प्रतिपक्षानुमानोदयः शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खादिवदितिवत् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव तत्र कारणत्वेनारोप्य एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेषु आत्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धृत्य तत्संपादयितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्त्वा नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मस्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते तन्न। विसृज्येति क्रियायां सुकृतं दुष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्संपादयितारावित्यश्रुतकर्माध्याहारात् कर्मद्वये च श्रुतक्रियात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुतक्रियाध्याहारात् । किंच । व्यासव्याख्यातवेदार्थमेवमस्या मनुस्मृतेः । मन्ये न कल्पितं गर्वादर्वाचीनं विचक्षणैः ॥ ७९ ॥

**यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।**
**तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८०॥**

यदेति । यदा परमार्थतो विषयदोषभावेन सर्वविषयेषु निरभिलाषो भवति तदेह लोके संतोषजन्यसुखं परलोके च मोक्षसुखं अविनाशि प्राप्नोति ॥ ८० ॥

**अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ।**
**सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥**

अनेनेति । पुत्रकलत्रक्षेत्रादिषु ममत्वरूपान्क्रमेण संगान् सर्वान् त्यक्त्वा द्वन्द्वैर्मानापमानादिभिर्निर्मुक्तोऽनेन यथोक्तेन ज्ञानकर्मानुष्ठानेन ब्रह्मण्येवात्यन्तिकं लयमाप्नोति ॥ ८१ ॥

**ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।**

ध्यानिकमिति । यदेतदित्यत्यन्तसन्निधानं पूर्वश्लोकोदितं परामृष्यते यदेतदुक्तं पुत्रादिममत्वत्यागो मानापमानादिहानिर्ब्रह्मण्येवावस्थानं सर्वमेवैतद्ध्यानिकं आत्मनः परमात्मत्वेन ध्याने सति भवति यदात्मानं परमात्मेति जानाति तदा सर्वसङ्गान्न विशिष्यते तस्य कुत्रचिन्ममत्वं मानापमानादिकं वा न भवति तथाविधज्ञानात् ब्रह्मात्मत्वं च जायते ध्यानिकविशेषात् ॥

ध्येयविशेषलाभे परमात्मध्यानार्थमाह—

**न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥**

न ह्यनध्यात्मविदिति । यस्मादात्मानं जीवमधिकृत्य यदुक्तं तस्य परमात्मत्वं तद्येन जानाति न ध्यायति स प्रकृतध्यानक्रियाफलं ममत्वत्यागमानापमानादिहानिं मोक्षं च न प्राप्नोति ॥ ८२ ॥

**अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।**
**आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥**

अधियज्ञमिति । पूर्वं ब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तं इदानीं तदङ्गतया वेदजपं विधत्ते । तथा च श्रुतिः । तमेतं वेदान्तवचनेन विविदिषन्तीति विद्याङ्गतया वेदजपमुपदिशति । अधियज्ञमिति यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्म वेदं तथा देवतामधिकृत्य प्रवृत्तं तथा जीवमधिकृत्य तथा वेदान्तेषूक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादिब्रह्मप्रतिपादकं सर्वदा जपेत् ॥

**इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।**
**इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥८४॥**

इदमिति । इदं वेदाख्यं ब्रह्म तदर्थानभिज्ञानामपि शरणं गतिः पाठमात्रेणापि पापक्षये हेतुत्वात्सुतरां तज्जानतां तदर्थाभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गं च इच्छतामिदमेव शरणं तदुपायोपदेशकत्वेन प्राप्ति-हेतुत्वात् ॥ ८४ ॥

**अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।**
**स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥**

अनेनेति । अनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रव्रज्याश्रममाश्रयति स इह लोके पापं विसृज्य परं ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मसाक्षात्कारेण उपा-धिशरीरनाशाद्ब्रह्मणैक्यं गच्छति ॥ ८५ ॥

**एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।**
**वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६॥**

एष धर्म इति । एषः यतीनां यतात्मनां चतुर्णामेव कुटीचकब-हूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वो युष्माकमुक्तः इदानीं यतिवि-शेषाणां कुटीचकाख्यानां वेदविहितादिकर्मयोगिनामसाधारणं वक्ष्य-माणं पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेदिति कर्मसंबन्धं शृणुत । भारते चतुर्धा भिक्षव उक्ताः । चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युः कुटीचकबहूदकौ । हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तम इति । कुटीचकस्यायं पुत्रभिक्षाचरणरूपासा-धारणकर्मोपदेशः । गोविन्दराजस्तु गृहस्थविशेषमेव वेदोदिताग्नि-होत्रादिकर्मत्यागिनं ज्ञानमात्रसंपादितवैदिककर्माणं वेदसंन्यासिक-माह तत्र गृहस्थस्याहिताग्नेरन्त्येष्टौ विनियोगः चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मनि समारोपः शास्त्रेणोच्यते तदुभयाभावे सत्येवमेवाग्नीनां त्यागः स्यात् । गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन् । एवमेवाहिताग्नी-नां त्यागमर्थादुपेतवान् । वेदसंन्यासिकं मेधातिथिः प्राह निराश्रमम् । तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः ॥ ८६ ॥

इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रज्ञातकर्मत्यागानन्तरं वक्तुमुचितमपि वेदसंन्यासिकः पञ्चमाश्रमी निराश्रमी वा चत्वार एवाश्रमा नियता इति दर्शयितुमुक्तानाश्रमाननुवदति—

**ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।**
**एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥**

ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमा उक्ता एते चत्वार एव गृहस्थजन्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

**सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।**
**यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥**

सर्वेऽपीत्यादि । एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः । अपिशब्दात्त्रयो द्वावेकोऽपि यथोक्तानुष्ठातारं विप्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति ॥ ८८ ॥

प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्ये वा संवक्ष्यति तदर्थं गृहस्थोत्कर्षमाह—

**सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।**
**गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥**

सर्वेषामिति । सर्वेषामेतेषां ब्रह्मचर्यादीनां मध्ये गृहस्थस्याश्रयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादिविधानाद्गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते । तथा यस्माद्ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः । यथोक्तम् । यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहमिति ॥ ८९ ॥

**यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।**
**तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥**

यथेत्यादि । यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाशोणाद्याः समुद्रे अवस्थितिं लभन्ते एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तदधीनजीवनत्वाद्गृहस्थसमीपे अवस्थितिं लभन्ते ॥ ९० ॥

**चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।**
**दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥**

चतुर्भिरित्यादि । एतैर्ब्रह्मचार्यादिभिराश्रमिभिश्चतुर्भिरपि द्विजातिभिर्वक्ष्यमाणो दशविधस्वरूपो धर्मः प्रयत्नतः सततमनुष्ठेयः ॥९१॥

तमेव स्वरूपतः संख्यादिभिश्च दर्शयति—

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।**
**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥**

धृतिरित्यादि । संतोषो धृतिः परेणापकारे कृते तस्य प्रत्युपकाराचरणं क्षमा विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमनं दम इति सनन्दनवचनात् । शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः । अन्यायेन धनादिग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयं यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं विषयेभ्यश्चक्षुरादिधारणमिन्द्रियनिग्रहः शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः आत्मज्ञानं विद्या यथार्थाभिधानं सत्यं क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥ ९२ ॥

**दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।**
**अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥**

दश लक्षणानीति । ये विप्रा एतानि दशविधकर्मरूपाणि पठन्ति पठित्वा चात्मज्ञानसाचिव्येनानुतिष्ठन्ते ते ब्रह्मज्ञानसमुत्कर्षात्परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नुवन्ति ॥ ९३ ॥

**दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।**
**वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा सन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥**

दशलक्षणकमिति । उक्तं दशलक्षणकं धर्मं संयतमनाः सन्ननुतिष्ठन् उपनिषदाद्यर्थं गृहस्थावस्थायां यथोक्ताध्ययनधर्मान्गुरुमुखादवगम्य परिशोधितदेवादिऋणत्रयः संन्यासमनुतिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

**संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।**
**नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥**

संन्यस्येति । सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्य अज्ञातजन्तुवधादिकर्मजनितपापानि च प्राणायामादिना नाशयन्नियतेन्द्रिय उपनिषदो ग्रंथतोऽर्थतश्चाभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छादनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत् । अयमेवासाधारणो धर्मः कुटीचकस्योक्तः इदमेव वक्तुं वेदसंन्यासिनां लिति पूर्वमुक्तम् ॥ ९५ ॥

**एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।**
**संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥**

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण वर्तमानोऽग्निहोत्रादिगृहस्थकर्माणि परित्यज्यात्मसाक्षात्कारस्वरूपस्वकार्यप्रधानः स्वर्गादावपि बन्धहेतुतया निःस्पृहः प्रव्रज्यया पापानि विनाश्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति ॥ ९६ ॥

**एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।**
**पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥**

**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥**

एष इति । ऋषीन्संबोध्य उच्यते एष युष्माकं ब्राह्मणस्य संबंधी क्रियाकलापो धर्मस्तस्यैव ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफल उक्तः । इदानीं राजसंबन्धिनं धर्मं शृणुत । अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्रम्योपदेशाद्ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानात् ॥ ९७ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां षष्ठोऽध्यायः ६

---

## अथ सप्तमोऽध्यायः ।

**राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।**
**संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥**

राजधर्मानिति । धर्मशब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः याज्ञवल्क्यादेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः किंत्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः । अत एवाह यथावृत्तो भवेन्नृपः यथावदाचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि यथा येन प्रकारेण वा राजानमसृजत्प्रभुः इत्यादिना तस्योत्पत्तिः यथा च दृष्टादृष्टफलसंपत्तिः तदपि वक्ष्यामि ॥ १ ॥

**ब्राह्मं ग्राहेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।**
**सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥**

ब्राह्ममित्यादि । ब्रह्म वेदस्तत्प्राप्त्यर्थतया उपनयनसंस्कारस्तं य-

थाशास्त्रं प्राप्नुवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रिय एव नान्यो राज्याधिकारीति दर्शितम् । अतएव शास्त्रार्थतत्त्वं क्षत्रियस्य जीवनार्थं तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति ब्राह्मणस्य ह्यापदि जीवेत्क्षत्रियधर्मेणेत्यभिधास्यति वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्मं शूद्रस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः । न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् । वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥ उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हिते ॥ रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणमिति । सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्ष्यत इति च वक्ष्यमाणत्वाद्रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणात् दृष्टार्थमपि यो रक्षन् बलिमादत्त इति नरकपातं वक्ष्यति ॥ २ ॥

**अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।**
**रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥**

अराजक इति । यस्मादराजके जगति बलवद्भयात्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षायै राजानं सृष्टवांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥ ३ ॥

कथं सृष्टवानित्याह—

**इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।**
**चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥**

इन्द्रानिलयमार्काणामित्यादि । इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुवेराणां मात्रा अंशान् सारभूतान् आकृष्य राजानमसृजत् ॥ ४ ॥

**यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।**
**तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥**

यस्मादिति । यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेष सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते ॥ ५ ॥

**तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।**
**न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥**

तपतीत्यादि । अयं च राजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च संतापयति न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते ॥ ६ ॥

**सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।**
**स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥**

स इत्यादि । एवं चाग्न्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्च पर्याप्तमुक्तं तेजस्वीत्यादिना नवमाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् स राजा शक्त्यतिशयेनाग्न्यादिरूपो भवति । ततश्च ॥ ७ ॥

**बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।**
**महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥**

बाल इत्यादि । मनुष्य इति बुद्ध्या बालोऽपि राजा नावमन्तव्यः यस्मान्महतीयं काचिद्देवता मानुषरूपेणावतिष्ठते एतेन देवतावज्ञाया-मधर्मोदयोऽदृष्टदोषा उक्ताः ॥ ८ ॥

संप्रति दृष्टदोषमाह—

**एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।**
**कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥**

एकेत्यादि । योऽग्नेरतिसमीपं अनभिहितः सन् उपसर्पति स दुरुपसर्पिणमेकमेवाग्निर्दहति न तत्पुत्रादिकम् । क्रुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरूपं कुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसंचयसहितं सापराधं निहन्ति ॥ ९ ॥

**कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।**
**कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनःपुनः ॥ १० ॥**

कार्यमित्यादि । स राजा प्रयोजनापेक्षया स्वशक्तिं देशकालौ चावेक्ष्य कार्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति जातिविवक्षया बहुष्वेकवचनम् । अशक्तिदशायां क्षमते शक्तिं प्राप्योन्मूलयति एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रो वा उदासीनो वा भवति ततो राजवल्लभोऽहमिति बुद्ध्या नावज्ञेयः ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥

यस्येत्यादि । पद्माशब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवक्षयाऽत्र प्रयुक्तः । यस्य प्रसादान्महती श्रीर्भवति अतः श्रीकामेन सेव्यः यस्य शत्रवः सन्ति तानपि संतोषितो हन्ति तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीयः । यस्मै क्रुद्ध्यति तस्य मृत्युं करोति तस्माज्जीवनार्थिना न क्रोधनीयः । यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमादीनां तेजो बिभर्ति ॥

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

तमित्यादि । तं राजानमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स निश्चितं क्रोधान्नश्यति यस्मात्तस्य विनाशाय शीघ्रं राजा मनो नियुङ्क्ते ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

यस्मादित्यादि । यतः सर्वतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्रानुष्ठेयं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्य व्यवस्थापयति । अनपेक्षितेषु चानिष्टं नियमं नातिक्रामेत् ॥ १३ ॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

तस्यार्थ इति । तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितं न पाञ्चभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान् ॥ १४ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥

तस्येत्यादि । तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनः भोगं कर्तुं समर्था भवन्ति अन्यथा बलवता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्ष्य बलिनेति कस्यापि भोगो न सिद्ध्येत् वृक्षादीनां

स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः तथा सतामपि नित्यनैमित्तिकस्वधर्मानुष्ठानाकरणे याम्ययातनाभयाच्चेति ॥ १५ ॥

**तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।**
**यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥**

तमित्यादि । तं दण्डं देशकालौ दण्डस्य च शक्तिं विद्यादिकं यस्मिन्नपराधे यो दण्डोऽर्हति इत्यादिकं शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत् ॥ १६ ॥

**स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।**
**चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७॥**

स इत्यादि । स एव दण्डो वस्तुतो राजा तस्मिन् सति राजशक्तियोगात्स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तद्विधेयत्वात् । स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते स एव शासिता उदाहृतत्वात् स एव चतुर्णामप्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य संपादने प्रतिभूरिव प्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः ॥ १७ ॥

**दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।**
**दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥**

दण्डः शास्तीति । यस्मादण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति तस्मात्साधूक्तं शासितेति ज्ञेयम् । यस्मात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तं राजेति निद्राणेष्वपि रक्षिषु । दण्ड एव जागर्ति तद्भयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः । दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति कारणे कार्योपचारः । ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात् ॥ १८ ॥

**समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।**
**असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९॥**

समीक्ष्येत्यादि । स दण्डः शास्त्रतः सम्यङ्निरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति । अविचार्य तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति । सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः ॥ १९ ॥

**यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।**
**शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥**

यदीत्यादि । यदि राजाऽनलसो भूत्वा दण्डप्रणयनं न कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तो दुर्बलानपक्ष्यन् । लृङन्तस्य पचिधातो रूपमिदम् । बलिनोऽल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः । शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्नित्येष मेधातिथिगोविन्दराजलिखितः पाठः । जले मत्स्यानिवाहिंस्युरिति च पाठान्तरम् । अत्र बलवन्तो दुर्बलान् हिंस्युरिति मत्स्यन्याय एव स्यादित्युक्तम् ॥ २० ॥

**अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ।**
**स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥२१॥**

अद्यादित्यादि । यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमखादिष्यत् । तथा कुक्कुरः पायसादि हविरलेक्ष्यत् । न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत् । ततो बलिना तद्ग्रहणाद्ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये यदवरं शूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत ॥ २१ ॥

**सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।**
**दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२॥**

सर्व इति । सर्वोऽयं लोकः दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते तथा सर्वमिदं जगद्दण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति ॥२२॥

उक्तमपि दण्डस्य भोगसंपादकत्वं दार्ढ्यार्थं पुनरुच्यते—

**देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।**
**तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः॥२३॥**

देवेति । इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसर्पा अपि जगदीश्वरपरमार्थभयपीडिता एव वर्षदानाद्युपकाराय प्रवर्तन्ते । तथा च श्रुतिः । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

दुष्येयुरिति । दण्डस्यानाचरणात् अनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन् सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफला उत्सीदेयुः । चौर्यसाहसादिना च परस्यापकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्च जायेत ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यंति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥

यत्रेति । यत्र देशे शास्त्रप्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितवर्णाधिष्ठातृदेवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति । दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यक् जानाति ॥ २५ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

तस्येत्यादि । तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारं अभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

तमिति । तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धर्मार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः स प्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते ॥ २७ ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

दण्ड इति । यतो दण्डः प्रकृष्टतेजःस्वरूपः स्वशास्त्रैरसंस्कृतात्मभिः दुःखेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अंतरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

तत इति । दोषाद्यनपेक्षया यो दण्डः क्रियते स बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्व्यादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं हविःप्रदानजीवना देवा इति श्रुत्या हविःप्रदानाभावे अन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥ २९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

स इत्यादि । स दण्डो मन्त्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृतबुद्धिपरेण नृपतिना शास्त्रतो न प्रणेतुं शक्यते॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

शुचिनेति । अर्थादिशौचयुक्तेन सत्यप्रतिज्ञेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वज्ञेन कर्तुं शक्यत इति पूर्वोक्तदोषप्रतिपक्षे गुणा अनेन श्लोकेनोक्ताः ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्दृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

स्वराष्ट्र इति । आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारी स्यात् शत्रुविषयेषु तीक्ष्णदण्डो भवेत् । निसर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकुटिलः स्यान्न कार्यमित्रेषु । ब्राह्मणेषु च कृतात्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत् ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३॥

एवमित्यादि । शिलोञ्छेनेति क्षीणकोशत्वं विवक्षितं क्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिं लोके विस्तारयति ॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अत इति । उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतविन्दुरिव कीर्तिः संकोचयति ॥ ३४ ॥

**स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।**
**वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥**

स्वे स्वे इत्यादि । क्रमेण स्वधर्मानुष्ठातॄणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचार्याद्याश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टस्तस्मात्तेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः । स्वधर्मविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

**तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।**
**तत्तद्धोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥**

तेनेत्यादि । वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः । तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि ॥

**ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।**
**त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥**

ब्राह्मणानिति । प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणान् ऋग्यजुःसामाख्यविद्यात्रयग्रन्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञा कुर्यात् ।

**वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।**
**वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥**

वृद्धानित्यादि । तांश्च ब्राह्मणान् वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतो ग्रन्थतश्च वेदज्ञान्वहिरन्तश्चार्थदानादिना शुचीन्नित्यं सेवेत । यस्माद्वृद्धसेवी सततं हिंस्रैराक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते सुतरां मनुष्यैः ॥ ३८ ॥

**तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।**
**विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥**

तेभ्य इत्यादि । सहजप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् । यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥ ३९ ॥

**बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।**
**वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥**

बहव इत्यादि । करितुरगकोशादिपरिच्छदयुक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः बहवश्च वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्नुवन् ॥ ४० ॥

उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टांतमाह—

**वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।**
**सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥**

वेन इत्यादि । वेनो नहुषश्च राजापि यवनस्य च पुत्रः सुदासो-नाम सुमुखो निमिश्चाविनयादनश्यन् ॥ ४१ ॥

**पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।**
**कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥**

पृथुरिति । पृथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः । कुबेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं लेभे । गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः सन् तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान् । राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यप्राप्तिरप्रस्तुतापि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता । ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लभते ॥ ४२ ॥

**त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।**
**आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ४३**

त्रैविद्येभ्य इति । त्रिवेदीरूपविद्याविन्द्यस्त्रिवेदीमर्थतो ग्रन्थतश्चाभ्यासेन ब्रह्मचर्यदशायामेव वेदग्रहणात्समावृत्तस्य च राज्याधिकारात् । अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपां अनुयोगक्षेमोपदेशिनीं पारंपर्यागतत्वेन नित्यां तद्विद्योऽधिगच्छेत् । तथा आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रयुक्तयुपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुं शिक्षेत् । कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्तां तदारंभान्धनोपायार्थांस्तदभिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत् ॥४३॥

**इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।**
**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ४४**

इन्द्रियाणामित्यादि । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकालं यत्नं कुर्यात् । यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति न तु विषयोपभोगव्यग्रः । ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषार्थ उपादेयतया अभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमनन्तरवक्ष्यमाण-व्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः ॥ ४४ ॥

**दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।**
**व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥**

दशेत्यादि । दश कामसंभवानि अष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत् । दुरन्तानि दुःखावसानानि आदौ सुखयन्ति अन्ते दुःखानि कुर्वन्ति । यद्वा दुर्लभोऽन्तो येषां तानि दुरन्तानि न हि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥ ४५ ॥

वर्जनप्रयोजनमाह—

**कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।**
**वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥**

कामजेष्विति । यस्मात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थाभ्यां हीयते क्रोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपादेहनाशं प्राप्नोति ॥

तानि व्यसनानि नामतो दर्शयति—

**मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।**
**तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ४७**

मृगयेत्यादि । आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया अक्षादिक्रीडा सकलकार्यविघातिनी दिवानिद्रा परदोषकथनं स्त्रीसंभोगो मद्यपानजनितो मदः तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि वृथाभ्रमणं एष दशपरिणामो दशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः ॥ ४७ ॥

**पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यास्यार्थदूषणम् ।**
**वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ४८**

पैशुन्यमिति । पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः द्रोहश्छद्मवधः ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च वाक्-

पारुष्यमाक्रोशादि दण्डपारुष्यं ताडनादि एषोऽष्टपरिमाणो व्यसनगणः क्रोधाद्भवति ॥ ४८ ॥

**द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।**
**तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥**

द्वयोरिति । एतयोर्द्वयोरपि कामक्रोधजव्यसनसंचयोः कारणं स्मृतिकारा जानन्ति तं यत्नतो लोभं त्यजेत् । यस्मादेतद्गणद्वयं लोभाज्जायते क्वचिद्धनलोभतः क्वचित्प्रकारान्तरलोभेन प्रवृत्तेः ॥ ४९ ॥

**पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।**
**एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥**

पानमिति । मद्यपानमक्षैः क्रीडा स्त्रीसंभोगो मृगया चेति क्रमपठितमेतच्चतुष्कं कामजव्यसनमध्ये बहुदोषत्वादतिशयेन दुःखहेतुं जानीयात् ॥ ५० ॥

**दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।**
**क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥**

दण्डस्येत्यादि । दण्डपातनं वाक्पारुष्यं अर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबहुलत्वादतिशयितदुःखसाधनं मन्येत् ॥ ५१ ॥

**सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।**
**पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥**

सप्तकस्येति । अस्य पानादेः कामक्रोधसंभवस्य सप्तपरिमाणस्य व्यसनवर्गस्य सर्वस्मिन्नेव राजमण्डले प्रायेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरात्कष्टतरं प्रशस्तात्मा जानीयात् । तथा हि । द्यूतात्मानं कष्टतरं मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्यथेष्टचेष्टया देहधनादिविरोध इत्यादयो दोषाः । द्यूते तु पाक्षिकी धनावाप्तिरप्यस्ति स्त्रीव्यसनात् द्यूतं दुष्टं द्यूते हि वैरोद्भवादयो नीतिशास्त्रोक्ता दोषाः मूत्रपुरीषवेगधारणाच्च व्याध्युत्पत्तिः स्त्रीव्यसने पुनः अपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगोऽप्यस्ति मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसनं दुष्टं तत्रादर्शनकार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयो दोषाः मृगयायां तु व्यायामेनारोग्यादिगुणयोगोऽप्यस्तीत्येवं कामजचतुष्कस्य पूर्वगुणदोषं क्रोधजेष्वपि

त्रिषु वाक्पारुष्याद्दण्डपारुष्यं दुष्टं अङ्गच्छेदादेरशक्यसमाधानत्वात् । वाक्पारुष्ये तु कोपानलो दानमानपानीयसेकैर्न शक्यः शमयितुम् । अर्थदूषणाद्वाक्पारुष्यं दोषवन्मर्मपीडाकरं वाक्प्रहारस्य दुश्चिकित्स्यत्वात् । तदुक्तं न संरोहयति वाक्कृतं अर्थदूषणं तु प्रचुरतरार्थदानाच्छक्यसमाधानं एवं क्रोधजत्रिकस्यापि पूर्वपूर्वं दुष्टतरं यत्नतस्त्यजेत् ॥

**व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।**
**व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥**

व्यसनस्येति । यद्यपि मृत्युव्यसने द्वे अपीह लोके संज्ञाप्रणाशादिदुःखहेतुतया शास्त्रानुष्ठानविरोधितया च तुल्ये तथापि व्यसनं कष्टतरं परत्रापि नरकपातहेतुत्वात् । तदाह व्यसन्यधोऽधो व्रजति बहून्नरकान् गच्छतीत्यर्थः । अव्यसनी तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रतिपक्षव्यसनाभावात्स्वर्गं गच्छति । एतेनातिसक्तिर्व्यसनेषु निषिध्यते न तु तस्य सेवनमपि ॥ ५३ ॥

**मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।**
**सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥**

मौलानिति । मौलानपीह पितामहक्रमेण सेवकान् तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचारात् । दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञान्विक्रान्तान् लब्धलक्षान् लक्षादप्रच्युतशरीरशल्यादीन् । आयुधविद इत्यर्थः । विशुद्धकुलभवान् देवतास्पर्शादिनियतान् अमात्यान्सप्ताष्टौ वा मन्त्रादौ कुर्वीत । यस्मात् ॥ ५४ ॥

**अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।**
**विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥**

अपीत्यादि । सुखेनापि यत्क्रियते कर्म तदप्येकेन दुष्करं भवति विशेषतो यन्महाफलं तत्कथमसहायेन क्रियते ॥ ५५ ॥

**तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।**
**स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥**

तैरित्यादि । तैः सचिवैः सह सामान्यं मन्त्रेष्वगोपनीयं संधिविग्रहादि तन्निरूपयेत्तथा तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्म-

कं चतुर्विधं चिन्तयेत् । दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो हस्त्यश्वरथपादातयः तेषां पोषणं रक्षणादि तच्चिन्त्यं कोशोऽर्थनिचयस्तस्यायव्ययादि पुरस्य रक्षणादि राष्ट्रं देशस्तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत् । तथा समुदयंत्युत्पद्यन्तेऽस्मादर्था इति समुदयो धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तन्निरूपयेत् । तथा गुप्तिं रक्षामात्मगतां राष्ट्रगतां च स्वपरीक्षितमन्नाद्यमद्यात्परीक्षिताः स्त्रियश्चैवमित्यादिनात्मरक्षणं राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यमित्यादिना राष्ट्ररक्षां च वक्ष्यति । लब्धस्य च धनस्य प्रशमनानि सत्पात्रे प्रतिपादनादीनि चिन्तयेत् । तथा च वक्ष्यति । जित्वा संपूजयेद्देवानित्यादि ॥ ५६ ॥

**तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।**
**समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥**

तेषामिति । तेषां सचिवानां रहसि निष्प्रतिपक्षतया हृदयगतभावज्ञानसंभवात्प्रत्येकमभिप्रायं समस्तानामपि युगपदभिप्रायं बुध्वा कार्ये यदात्मनो हितं तत्कुर्यात् ॥ ५७ ॥

**सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।**
**मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥**

सर्वेषामिति । एषामेव सर्वेषां सचिवानां मध्यादन्यतमेन धार्मिकत्वादिना विशिष्टेन विदुषा ब्राह्मणेन सह संधिविग्रहादिवक्ष्यमाणगुणषट्कोपेतं प्रकृष्टं मन्त्रं निरूपयेत् ॥ ५८ ॥

**नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।**
**तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥**

नित्यमिति । सर्वदा तस्मिन्ब्राह्मणे संजातविश्वासो भूत्वा यानि कुर्यात्तानि सर्वकार्याणि समर्पयेत् । तेन सह निश्चित्य सर्वं कर्मारभेत् ॥ ५९ ॥

**अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।**
**सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥**

अन्यानित्यादि । अन्यानपि अर्थदानादिना शुचीन् प्रज्ञाशालिनः सम्यग्धनार्जनशीलान्धर्मादिना परीक्षितान्कर्मसचिवान् कुर्यात् ६०

**निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।**
**तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ६१**

निर्वर्तेतेति । अस्य राज्ञो यत्संख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं संपद्यते तत्संख्याकान्मनुष्यानालस्यशून्यान् क्रियासु सोत्साहान् तत्कर्मज्ञान् तत्र कुर्यात् ॥ ६१ ॥

**तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।**
**शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥**

तेषामिति । तेषां सचिवानां मध्ये विक्रान्तांश्चतुरान् कुलाङ्कुशनियमितान् शुचीन् अर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्थाने नियुञ्जीत अस्यैवोदाहरणं आकरकर्मान्त इति । आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु कर्मान्तेषु च इक्षुधान्यादिसंग्रहस्थानेषु अन्तर्निवेशने भोजनशयनगृहान्तःपुरादौ भीरून्नियुञ्जीत । शूरा हि तत्र राजानं प्रायेणैकाकिनं स्त्रीवृतं वा कदाचिच्छत्रूपजापदूषिता हन्युरपि ॥ ६२ ॥

**दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।**
**इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥**

दूतमिति । दूतं च दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञं इङ्गितज्ञमभिप्रायसूचकं वचनस्वरादि आकारो देहधर्मादिमुखप्रसादवैवर्ण्यादिरूपः पीत्यप्रीतिसूचकः चेष्टा करास्फालनादिक्रिया कोपादिसूचिका तदीयतत्त्वज्ञं अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकं शौचयुक्तं चतुरं कुलीनं कुर्यात् । यस्मात् ॥ ६३ ॥

**अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।**
**वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥**

अनुरक्त इति । जनेषु अनुरागवान् तेन प्रतिराजादेरपि अद्वेषविषयः अर्थस्त्रीशौचयुक्तः तेन धनस्त्रीदानादिनाऽभेद्यः दक्षश्चतुरः तेन कार्यकालं नातिक्रामति स्मृतिमान् तेन संदेशं न विस्मरति देशकालज्ञः तेन देशकालौ ज्ञात्वा अन्यदपि संदिष्टं देशकालोचितमन्यथा कथयति सुरूपः तेनादेयवचनः विगतभयः तेनाप्रियसंदेशस्यापि वक्ता वाग्मी तेन संस्कृताद्युक्तिक्षमः एवंविधो दूतो राज्ञः प्रशस्यो भवति ॥ ६४ ॥

**अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।**
**नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥**

अमात्य इति । अमात्ये सेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाताद्यात्मको दण्ड आयत्तः तदिच्छया तस्य कार्येषु प्रवृत्तेः । विनययोगाद्वैनयिकी यो विनयः स दण्ड आयत्तः । नृपतावर्थसंचयस्थानदेशावायत्तौ राज्ञापराधीनौ न कर्तव्यौ स्वयमेव चिन्तनीयं धनं ग्रामश्च । दूते संधिविग्रहावायत्तौ तदिच्छया तत्प्रवृत्तेः ॥ ६५ ॥

**दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।**
**दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥ ६६ ॥**

दूत एवेति । यस्माद्दूत एव हि भिन्नानां संधिसंपादने क्षमः संहतानां च भेदने तथा परदेशे दूतः तत्कर्म करोति येन संहता भिद्यन्ते तस्माद्दूते संधिविग्रहौ विपर्ययावायत्ताविति यदुक्तं तस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ ६६ ॥

दूतस्य कार्यान्तरमाह—

**स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।**
**आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥**

स विद्यादिति । स दूतोऽस्य प्रतिराजस्य कर्त्तव्ये आकारेङ्गितचेष्टां जानीयात् । निगूढा अनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैव परिजनास्तस्मिन् युक्तास्तत्सन्निधावपि तेषामिङ्गितचेष्टितैः भृत्येषु च क्षुब्धलुब्धापमानितेषु प्रतिराजस्य कर्तुमीप्सितं जानीयात् ॥ ६७ ॥

**बुध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।**
**तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥**

बुध्वा चेति । उक्तलक्षणदूतद्वारेण प्रतिपक्षराजस्य कर्तुमिष्टं सर्वं तत्त्वतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात् । यथात्मनः पीडा न भवति ६८

**जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।**
**रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥**

जाङ्गलमिति । अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः । स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः । प्रचुरधार्मिकजनं रोगोपसर्गाद्यै-

रनाकुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीपवास्तव्याटविकादिजनं सुलभकृषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

**धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।**
**नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥**

धनुर्दुर्गमिति । धनुर्दुर्गं मरुवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकं महीदुर्गं पाषाणेन इष्टकेन वा विस्ताराद्द्विगुण्योच्छ्रायेण द्वादशहस्तादुच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितं जलदुर्गं अगाधोदकेन सर्वतः परिवृतं वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलताद्याचितं नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि हस्त्यश्वरथयुक्तबहुपादातरक्षितं गिरिदुर्गं सर्वतःपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्रवणाद्युदकयुक्तं बहुसस्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितं एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमं दुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत् ॥ ७० ॥

**सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।**
**एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥**

सर्वेणेति । यस्मादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमतिरिच्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत् । गिरिदुर्गे शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्पप्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्यव्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः ॥ ७१ ॥

**त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।**
**त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥**

त्रीणीति । एषां दुर्गाणां मध्यात्प्रथमोक्तानि त्रीणि दुर्गाणि मृगादय आश्रिताः तत्र धनुर्दुर्गं मृगैराश्रितं महीदुर्गं गर्ताश्रितैर्मूषिकादिभिः अब्दुर्गं जलचरैर्नक्रादिभिः इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय आश्रितास्तत्र वृक्षदुर्गं वानरैराश्रितं नृदुर्गं मानुषैर्गिरिदुर्गं देवैः ॥ ७२ ॥

**यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।**
**तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥**

यथेत्यादि । यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन् व्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥ ७३ ॥

**एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।**
**शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥**

एक इति । यस्मादेको धानुष्कः प्राकारस्थः शत्रूणां शतं योधयति प्राकारस्थं धानुष्कशतं च शत्रूणां दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं कर्तुमुपदिश्यते ॥ ७४ ॥

**तं स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ।**
**ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥**

तमित्यादि । तं दुर्गं खड्गाद्यायुधसुवर्णादिधनधान्यकरितुरगादिवाहनब्राह्मणभक्ष्यादिशिल्पियन्त्राढ्यं सोदकसमृद्धं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

**तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ।**
**गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥**

तस्येत्यादि । तस्य दुर्गस्य मध्ये पर्याप्तं पृथक् पृथक् स्त्रीगृहदेवागारायुधागाराग्निशालादियुक्तं परिखाप्राकाराद्यैर्गुप्तं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधवलितं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनो गृहं कारयेत् ॥ ७६ ॥

**तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।**
**कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥**

तदित्यादि । तद्गृहमाश्रित्य समानवर्णां शुभसूचकलक्षणोपेतां महाकुलप्रसूतां मनोहारिणीं सुरूपां गुणवतीं भार्यामुद्वहेत् ॥ ७७ ॥

**पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।**
**तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥**

पुरोहितमिति । पुरोहितं चाप्याथर्वणविधिना कुर्वीत ऋत्विजं च कर्माणि कर्तुं वृणुयात्ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥ ७८ ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥७९॥

यजेतेति । राजा नानाप्रकारान् बहुदक्षिणान् अश्वमेधादियज्ञान् कुर्यात् । ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन् भोगान् सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

सांवत्सरिकमिति । राजासक्तैरमात्यैर्वर्षग्राह्यं धान्यादिभागमानाययेत् लोके च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्यात् स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्नेहादिना वर्तेत ॥ ८० ॥

अध्यक्षान् विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१॥

अध्यक्षानिति । तत्र तत्र हस्त्यश्वरथपादाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितॄन् विविधान् पृथक्पृथक् विपश्चितः कर्मकुशलान् कुर्यात् । ते अस्य राज्ञस्तेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक् कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

आवृत्तानामिति । गुरुकुलान्निवृत्तानां अधीतवेदानां ब्राह्मणानां गार्हस्थ्यार्थिनां नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात् । यस्माद्योऽयं ब्राह्मो ब्राह्मणेषु स्थापितधनधान्यादिनिधिरिव निधिः अक्षयो ब्रह्मफलत्वात् अविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोपदिश्यते । अत एव ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ८३

न तमिति । तं ब्राह्मणस्थापितनिधिं न चौरो नापि शत्रवो हरन्ति अन्यनिधिवद्भूम्यादिस्थापितः स्थानभ्रान्त्या वाऽदर्शनमुपैति ।

तस्माद्योऽयमक्षयोऽनन्तफलो निधिरिव निधिः धनौघः स राज्ञा ब्राह्मणेषु निधातव्यः तेभ्यो देय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

**न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।**
**वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥**

नेत्यादि । अग्नौ यद्धविर्हूयेत तत्कदाचित् स्कन्दते स्रवत्यधः पतति कदाचिद्व्यथते शुष्यति कदाचिद्दाहादिना नश्यति ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृत इति ब्राह्मणहस्तदत्तमित्यर्थः । तस्य नोक्ता दोषाः तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः ॥

**सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।**
**प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥**

सममित्यादि । ब्राह्मणेतरक्षत्रादिविषये यद्दानं तत्समफलं श्रुतं ततो नाधिकं न च न्यूनं भवति । यो ब्राह्मणः क्रियारहित आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स ब्राह्मणब्रुवस्तद्विषयदानं पूर्वापेक्षया द्विगुणफलम् । एवं प्राधीते प्रक्रान्ताध्ययने ब्राह्मणे लक्षगुणं फलं समस्तशाखाध्यायिन्यनन्तफलं सहस्रगुणमाचार्य इति वा तृतीयपादस्य पाठः ॥८५॥

**पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।**
**अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ८६**

पात्रस्येति । विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यमपेक्ष्य शास्त्रे तथेति प्रत्ययरूपायाः श्रद्धायास्तारतम्यपात्रमासाद्य दानस्याल्पं महाफलं परलोके लभ्यते ॥ ८६ ॥

**समोत्तमाधमै राजा सहूतः पालयन् प्रजाः ।**
**न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥**

समोत्तमाधमैरिति । समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमाहूतो राजा रक्षणं कुर्वन् युद्धान्न निवर्तेत क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावश्यं योद्धव्यमिति क्षात्रं धर्मं स्मरन् । यस्मात् ॥ ८७ ॥

**संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।**
**शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥**

संग्रामेष्विति । युद्धेष्वपराङ्मुखत्वं प्रजानां च रक्षणं ब्राह्मणपरिचर्या एतद्राज्ञामतिशयितं स्वर्गादिश्रेयःस्थानं अत एव ॥ ८८ ॥

**आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।**
**युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ८९**

आहवेष्विति । राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिच्छन्तः प्रकृष्टया शक्त्या संमुखीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छंति यद्यपि शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापराङ्मुखत्वनियमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः ॥ ८९ ॥

**न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।**
**न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥**

नेत्यादि । कूटान्यायुधानि बहिःकाष्ठादिमयानि अन्तर्गुप्तनिशितशस्त्राणि एतैः समरे युद्ध्यमानः शत्रून्न हन्यात् नापि कर्ण्याकारफलकैर्बाणैः नापि विषाक्तैः नाप्यग्निदीप्तफलकैः ॥ ९० ॥

**न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।**
**न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥**

न चेति । स्वयं रथस्थो रथं त्यक्त्वा स्थलारूढं न हन्यात् । तथा नपुंसकं बद्धाञ्जलिं मुक्तकेशमुपविष्टं त्वदीयोऽहमित्येवं वादिनं न हन्यात् ॥ ९१ ॥

**न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।**
**नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥**

न सुप्तमिति । न सुप्तं मुक्तसन्नाहं विवस्त्रं अनायुधमयुध्यमानं प्रेक्षकमन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात् ॥ ९२ ॥

**नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।**
**न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥**

नेत्यादि । भग्नखड्गाद्यायुधं पुत्रशोकादिना आर्तं बहुप्रहाराकुलं भीतं युद्धपराङ्मुखं शिष्टक्षत्रियाणां धर्मं स्मरन् न हन्यात् ॥ ९३ ॥

**यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।**
**भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥**

यस्त्विति । यस्तु योधो भीतः पराङ्मुखः सन् युद्धे शत्रुभिर्हन्यते स पोषणकर्तुः प्रभोर्दुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्नोति । शास्त्रप्रमाणके च सुकृतदुष्कृते यथाशास्त्रं संक्रमयोग्ये एव सिद्ध्यतः । अत एवोपजीव्यशास्त्रेण बाधनान्न प्रतिपक्षानुमानोदयोऽपि । एतच्च षष्ठे प्रियेषु सुकृतमित्यत्राविष्कृतमस्माभिः । पराङ्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम् । न त्वत्र प्रभुपापं स्यादिति गोविन्दराजकः ॥ मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन् । मन्ये नैतद्वयं युक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात् ॥ अन्यदीयपुण्यपापे अन्यत्र संक्रमेते इति शास्त्रप्रामाण्याद्बादरायणेन निर्णीतोऽयमर्थ इति यथोक्तमेव रमणीयम् ॥ ९४ ॥

**यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।**
**भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥**

यच्चेत्यादि । पराङ्मुखहतस्य यत्किंचित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितं अनेनास्ति तत्सर्वं प्रभुर्लभते ॥ ९५ ॥

राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह—

**रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।**
**सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ९६**

रथाश्वमित्यादि । रथाश्वहस्तिछत्रवस्त्रादि धनधान्यगवादि स्त्रियः सर्वाणि द्रव्याणि गुडलवणादीनि कुप्यं च सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनं यः पृथग्जित्वा सततमानयति तस्यैव तद्भवति सुवर्णरजतभूमिरत्नाद्यनपकृष्टधनं तु राज्ञ एव समर्पणीयं एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम् ॥ ९६ ॥

अत एवाह—

**राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।**
**राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥**

राज्ञ इत्यादि । उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः । उद्ध्रियत इत्युद्धारः जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे समर्पणीयं करितुरगादि

वाहनमपि राज्ञे देयम् । वाहनं च राज्ञ उद्धारं चेति गोतमवचनाम् । उद्धारदाने च श्रुतिः । इन्द्रो वै वृत्रं हत्वेत्युपक्रम्य स महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं समुद्धरतेति । राज्ञा चाप्रथग्जितं सह जितं सर्वयोधेभ्यो यथापौरुषं संविभजनीयम् ॥ ९७ ॥

**एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।**
**अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥९८॥**

एष इत्यादि । अविगर्हित एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो योधधर्म उक्तः । युद्धे शत्रून् हिंसन् क्षत्रिय एतं धर्मं न त्यजेत् । युद्धाधिकारित्वात्क्षत्रियग्रहणम् । अन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत् ॥

**अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।**
**रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥**

अलब्धमिति । अजितं भूमिहिरण्यादि जेतुमिच्छेत् जितं प्रयत्नतो रक्षेत् । रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्धयेत् । वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ ९९ ॥

**एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।**
**अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥**

एतदिति । एतच्चतुःप्रकारं पुरुषार्थो यः स्वर्गादिस्तत्प्रयोजनं यस्मादेवंरूपं जानीयात् अतोऽनलसः सन्सर्वदा अनुष्ठानं कुर्यात् ॥

**अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।**
**रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ॥ १०१॥**

अलब्धमिति । अलब्धं यद्धस्त्यश्वरथपादातात्मकेन दण्डेण जेतुमिच्छेत् । जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत् । रक्षितं च वृद्ध्युपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्धयेत् । वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ १०१ ॥

**नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।**
**नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥**

नित्यमिति । नित्यं हस्त्यश्वादियुद्धादिशिक्षाभ्यासो दण्डो यस्य स

तथा स्यात् । नित्यं च प्रकाशीकृतमन्त्रविद्यादिना पौरुषं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं संवृतं संवरणीयं मन्त्राचारचेष्टादिकं यस्य स तथा स्यात् । नित्यं च शत्रोर्व्यसनादिरूपच्छिद्रानुसंधानं तत्परः स्यात् ॥

**नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।**
**तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥१०३॥**

नित्यमिति । यस्मान्नित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति तस्मात्सर्वप्राणिनो दण्डेनैवात्मसात्कुर्यात् ॥ १०३ ॥

**अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।**
**बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥**

अमाययेति । मायया छद्मतया अमात्यादिषु न वर्तेत तथासति सर्वेषामविश्वसनीयः स्यात् । धर्मरक्षार्थं यथा तत्त्वेनैव व्यवहरेत् । यत्नकृतात्मपक्षरक्षश्च शत्रुकृतां प्रकृतिभेदरूपां मायां चारद्वारेण जानीयात् ॥ १०४ ॥

**नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।**
**गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥**

नेत्यादि । तथा यत्नं कुर्याद्यथास्य प्रकृतिभेदादि छिद्रं शत्रुर्न जानाति । शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकं चारैर्जानीयात् । कूर्मो यथा मुखचरणादीनि आत्मदेहे गोपयत्येवं राज्याङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिना आत्मसात्कुर्यात् । दैवाच्च प्रकृतिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारं कुर्यात् ॥ १०५ ॥

**बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।**
**वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥**

बकवदिति । यथा बको जले मीनमतिचञ्चलस्वभावमपि मत्स्यग्रहणादेकतानान्तःकरणश्चिन्तयत्येवं रहसि सुविहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशग्रहणादीनर्थांश्चिन्तयेत् । यथा च सिंहः प्रबलमतिस्थूलमपि दन्तिबलं हन्तुमाक्रमत्येवं अल्पबलो बलवतोपक्रान्तः संश्रयाद्युपायान्तरासंभवे सर्वशक्त्या शत्रुं हन्तुमाक्रमेत् । यथा च वृकः पालकृतरक्षणमपि पशुं दैवात्पालानवधानमासाद्य व्यापादयत्येवं दुर्गाद्य-

वस्थितमपि रिपुं कथंचित्प्रमादमासाद्य व्यापादयेत् । यथा शशः वधोद्धुरविविधव्याधमध्यगतोऽपि कुटिलगतिरुत्प्लुत्य पलायते एवं स्वयमबलो बलवदरिपरिवृतोऽपि कथं चिदरिव्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवान्तरं संश्रयितुमुपसर्पेत् ॥ १०६ ॥

**एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।**
**तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥**

एवमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेः ये विजयविरोधिनो भवेयुस्तान्सर्वान् सामदानभेददण्डैरुपायैर्वशमानयेत् ॥

**यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।**
**दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥**

यदीत्यादि । ते च विजयविरोधिनो यद्याद्यैस्त्रिभिरुपायैर्न निवर्तन्ते तदा बलादेशोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुदण्डक्रमेण दण्डेन वशीकुर्यात् ॥ १०८ ॥

**सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।**
**सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥**

सामादीनामिति । चतुर्णामपि समादीनामुपायानां मध्यात्सामदण्डावेव राष्ट्रवृद्ध्यर्थं पण्डिताः प्रशंसन्ति । साम्नि प्रयासधनव्ययसैन्यक्षयादिदोषाभावात् दण्डे तु तत्सद्भावेऽपि कार्यसिद्ध्यतिशयात् ॥ १०९ ॥

**यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।**
**तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥**

यथेत्यादि । यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरपि धान्यानि लवनकर्ता रक्षति तृणादिकं चोद्धरति एवं नृपतिः राष्ट्रे दुष्टान् हन्यान्नत्वदुष्टान् तदीयसहजान्भ्रातॄनपि निर्दातृदृष्टान्तादवसीयते शिष्टसहितं च राष्ट्रं रक्षेत् ॥ ११० ॥

**मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।**
**सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ११११**

मोहादित्यादि । यो राजा अनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीयजनान् शास्त्रीयधनग्रहणमारणादिकष्टेन पीडयति स शीघ्रमेव जनपदवैराख्यप्रकृतिकोपाधर्मै राजा राज्याज्जीविताच्च पुत्रादिसहितो भ्रश्यते ॥ १११ ॥

**शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।**
**तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ११२**

शरीरकर्षणेति । यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात् प्राणाः क्षीयन्ते एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति । तस्मात्स्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम् ॥

**राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।**
**सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥**

राष्ट्रस्येत्यादि । राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत् । यस्मात्संरक्षितराष्ट्रो राजा अनायासेन वर्धते ॥ ११३ ॥

**द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।**
**तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥**

द्वयोरिति । द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये त्रयाणां वा ग्रामाणां पञ्चानां वा शतानां गुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहं सत्यप्रधानपुरुषाधिष्ठितं राष्ट्रस्य संग्रहं रक्षास्थानं कुर्यात् । अस्य लाघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः ११४

**ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।**
**विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥**

ग्रामस्येति । एकग्रामदशग्रामाद्यधिपतीन्कुर्यात् ॥ ११५ ॥

**ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।**
**शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥**
**विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।**
**शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥**

ग्राम इति । विंशतीश इति । ग्रामाधिपतिश्चौरादिदोषान् ग्रामे

संजातान् आत्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयं दशग्रामाधिपतये कथयेत् । एवं दशग्रामादिपतयो विंशतिग्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः । तथा च सति सम्यक् चौरादिकण्टकोद्धारो भवति ॥११६॥

एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह—

**यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।**
**अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ११८**

यानीति । यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहं राज्ञे देयानि न त्वन्दकरं धान्यानामष्टमो भाग इत्यादिकं तानि ग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं गृह्णीयात् ॥ ११८ ॥

**दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च ।**
**ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥११९॥**

दशी कुलमिति । अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् । चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनामिति हारीतस्मरणात् षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते तत्कुलमिति वदति तद्दशग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं भुञ्जीत । एवं विंशत्यधिपतिः पञ्च कुलानि शताधिपतिर्मध्यमं ग्रामं सहस्राधिपतिर्मध्यमं पुरम् ॥११९॥

**तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।**
**राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः १२०**

तेषामित्यादि । तेषां ग्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि ग्रामभवानि कार्याणि कृताकृतानि च पृथक्कार्याणि तान्यन्यो राज्ञ उचितकृत्तन्नियुक्तोऽनलसः कुर्वीत ॥ १२० ॥

**नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।**
**उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥**

नगर इति । प्रतिनगरमेकैकमुच्चैःस्थानं कुलादिना महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्यश्वादिसामग्र्या भयजनकं नक्षत्रादिमध्ये भार्गवादिग्रहमिव तेजस्विनं कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिं कुर्यात् ॥ १२१ ॥

**स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।**
**तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥**

स इत्यादि । स नगराधिकृतस्तान्सर्वान् ग्रामाधिपत्यादीन् असति प्रयोजने सर्वदा स्वयं स्वबलेनानुगच्छेत्तेषां च नगराधिकृतपर्यन्तानां सर्वेषामेव यद्राष्ट्रे स्वचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक् प्रजाः परिणयेदवगच्छेत् ॥ १२२ ॥

**राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।**
**भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः १२३**

राज्ञो हीत्यादि । यस्माद्ये राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीला वञ्चकाश्च भवन्ति तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रक्षेत् ॥ १२३ ॥

**ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।**
**तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥**

य इत्यादि । ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनग्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात् ॥ १२४ ॥

**राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।**
**प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥**

राजेत्यादि । राजोपयुक्तकर्मनियुक्तानां स्त्रीणां दास्यादीनां कर्मकरजनस्य च उत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानुरूपेण प्रत्यहं कर्मानुरूपेण वृत्तिं कुर्यात् ॥ १२५ ॥

तामेव दर्शयति—

**पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।**
**षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः १२६**

पण इति । अवकृष्टस्य गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वक्ष्यमाणलक्षणः पणो भृतिरूपः प्रत्यहं दातव्यः षाण्मासिकश्चाच्छादो वस्त्रयुगं दातव्यम् । अष्टमुष्टिर्भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ च पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद्द्रोण इति गणनया धान्यद्रोणश्च प्रतिमासं देयः । उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाश्च षट् पणा देयाः । अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षट्

वस्त्रयुगानि प्रतिमासं षाण्मास्या द्रोणा देयाः । अनयैवातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयं भृतिरूपं दातव्यं षाण्मासिकं च वस्त्रयुगत्रयं मासिकं च धान्यं द्रोणत्रयं देयम् ॥ १२६ ॥

**क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।**
**योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥**

क्रयविक्रयमित्यादि । कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्त्रं लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियल्लभ्यते कियद्दूरादानीतं किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेन लग्नं किमस्यारण्यादौ चौरादिभ्यो रक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतं कोऽस्य इदानीं लाभयोग इत्येतदवेक्ष्य वणिजः करान् दापयेत् ॥ १२७ ॥

**यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।**
**तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८॥**

यथेति । यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन यथा च वार्षिकवणिगादयः कृषिवाणिज्यादिकर्मणां फलेन संबध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वदा राष्ट्रे करान् गृह्णीयात् ॥ १२८ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

**यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।**
**तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः १२९**

यथेत्यादि । यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोकस्तोकानि रक्तक्षीरमधूनि अदन्त्येवं राज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताऽल्पो राष्ट्रादब्दिकः करो ग्राह्यः ॥ १२९ ॥

तमाह—

**पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।**
**धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा १३०**

पञ्चाशद्भाग इत्यादि । मूलादधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागो राज्ञा ग्रहीतव्यः एवं धान्यानां षष्ठोऽष्टमो द्वादशो वा भागो राज्ञा ग्राह्यः । भूम्युत्कर्षापेक्षया कर्षणादिक्लेशलाघवगौरवापेक्षश्चायं बह्वल्पग्रहणविकल्पः ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च १३२

आददीतेत्यादि । पत्रशाकतृणानामित्यादि । द्रुशब्दोऽत्र वृक्षवाचकः । वृक्षादीनां सप्तदशानामश्ममयानां षष्ठो भागो लाभाद्गृहीतव्यः ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्१३३

म्रियमाण इति । क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणात्करं न गृह्णीयात् । न च तदीयदेशे वसन् श्रोत्रियः बुभुक्षया अवसादं गच्छेत् ॥ १३३ ॥

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

यस्येत्यादि । यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति यत एवमतः ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

श्रुतेति । शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य तदनुरूपां धर्मादनपेतां जीविकामुपकल्पयेत् । चौरादिभ्यश्चैनं औरसं पुत्रमिव पिता रक्षेत् । यस्मात् ॥ १३५ ॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञायं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

संरक्ष्यमाण इत्यादि । स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्मम् प्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते ॥१३६॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥

यदिति। राजा स्वदेशे शाकपर्णादिस्वल्पवस्तुक्रयविक्रयादिना जीवन्तं निकृष्टजनं स्वल्पकराख्यं वर्षेण दापयेत् ॥ १३७ ॥

**कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।**
**एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥**

कारुकानिति। कारुकान् सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान् शिल्पिनश्च लोहकारादीन् शूद्रांश्च देहक्लेशोपजीविनो भारिकादीन् मासिमास्येकं दिनं कर्म कारयेत् ॥ १३८ ॥

**नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।**
**उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥**

नोच्छिन्द्यादिति। प्रजास्नेहात्करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः अतिप्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः एतदुभयं न कुर्यात् आत्मनो मूलमुच्छिद्य कोशक्षयादात्मानं पीडयेत्। पूर्वार्धात्परेषां चेत्यपि संबध्यते। परेषां मूलमुच्छिद्य तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

**तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।**
**तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥**

तीक्ष्ण इति। विशेषमवगम्य क्वचित्कार्ये तीक्ष्णः क्वचिन्मृदुश्च भवेत् न त्वैकरूपमालम्बेत् यस्मादुक्तरूपो राजा सर्वेषामभिमतो भवति ॥ १४० ॥

**अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।**
**स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्यक्षणे नृणाम् १४१**

अमात्येति। स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यं धर्मविदं प्राज्ञं जितेन्द्रियं कुलीनं तस्मिन्कार्यदर्शनस्थाने नियुञ्जीत ॥ १४१ ॥

**एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।**
**युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥**

एवमित्यादि। एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातं संपाद्योद्युक्तः प्रमादरहित आत्मीयाः प्रजा रक्षेत् ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३॥

विक्रोशन्त्य इति । यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यत एव राष्ट्रादाक्रोशन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरपि ह्रियन्ते स मृत एव न तु जीवति जीवनकार्याभावाज्जीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः ॥१४३॥

तस्मादप्रमत्तः प्रजा रक्षेदिति पूर्वोक्तशेषं तदेव द्रढयति ।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४॥

क्षत्रियस्येति । धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठं क्षत्रियस्य प्रजारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः यस्माद्यथोक्तलक्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते।

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् १४५

उत्थायेति । स भूपः रात्रेः पश्चिमयाम उत्थाय कृतमूत्रपुरीषोत्सर्गादिशौचोऽनन्यमनाः कृताग्निहोत्रावसथ्यहोमो ब्राह्मणान् पूजयित्वा वास्तुलक्षणाद्युपेतां सभाममात्यादिदर्शनगृहं प्रविशेत् १४५

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः १४६

तत्रेति । तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषणदर्शनादिभिः प्रतिनन्द्य प्रस्थापयेत् । ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह संधिविग्रहादि चिन्तयेत् ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७॥

गिरिपृष्ठमिति । पर्वतपृष्ठमारुह्य निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते मन्त्रभेदकारिभिरनुपलक्षितः । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गं मन्त्रं चिन्तयेत् ॥ १४७ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः १४८

यस्येति । यस्य राज्ञो मन्त्रिभ्यः पृथगन्ये जना मिलित्वाऽस्य मन्त्रं न जानन्ति स क्षीणकोशोऽपि सर्वां पृथिवीं भुनक्ति १४८

जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् १४९

जडान्धबधिरानिति । बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकलान् तिर्यग्योनिभवांश्च शुकसारिकादीन् अतिवृद्धस्त्रीम्लेच्छरोग्यङ्गहीनांश्च मन्त्रसमये अपसारयेत् । यस्मात् ॥ १४९ ॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

भिन्दन्तीत्यादि । एते जडादयोऽपि प्राचीनदुष्कृतवशेन प्राप्तजडादिभावा अधार्मिकतयैवावमानिता मन्त्रभेदं कुर्वन्ति । तथा शुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषेणास्थिरबुद्धितया मन्त्रं भिन्दन्ति तस्मात्तदपसारणे यत्नवान् स्यात् ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥

मध्यंदिन इति । दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्लेशरहितश्च मन्त्रिभिः सह एकाकी वा धर्मार्थकामाननुष्ठातुं चिन्तयेत् ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१५२॥

परस्परेति । तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायं चिन्तयेत् । दुहितॄणां च दानं स्वकार्यसिद्ध्यर्थं निरूपयेत् । कुमाराणां च पुत्राणां विनयाधाननीतिशिक्षार्थं रक्षणं चिन्तयेत् ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥

दूतेति । दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थानं चिन्तयेत् । तथा प्रारब्धकार्यशेषं समापयितुं चिन्तयेत् । स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात् । तथाहि । शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान । विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजमित्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थं चान्तःपुरस्त्रीणां चेष्टितं सखीदास्यादिना निरूपयेत् । चराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चरान्तरैश्चेष्टितमवधारयेत्

**कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।**
**अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥**

कृत्स्नमिति । अष्टविधं कर्म समग्रं चिन्तयेत् । तच्चोशनसोक्तम् । आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः । अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥ तत्रादानं करादीनां विसर्गो भृत्यादिभ्यो धनदानं प्रैषोऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेन निषेधो दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियासु अर्थवचनं कार्यसंदेहे राजाज्ञयैव तत्र नियमात् व्यवहारस्येक्षणं प्रजानामृणादिविप्रतिपत्तौ दण्डः पराजितानां शास्त्रोक्तधनग्रहणं शुद्धिः पापे कर्मणि जाते तत्र प्रायश्चित्तसंपादनम् । मेधातिथिस्तु । अकृतारम्भकृतानुष्ठानमनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहस्तथा सामदानदण्डभेदा एतदष्टविधं कर्म । अथवा वणिक्पथ उदकसेतुबन्धनं दुर्गकरणं कृतस्य संस्कारनिर्णयः हस्तिबन्धनं खनिखननं शून्यनिवेशनं दारुवनच्छेदनं चेत्याह ॥ तथा कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशब्दवाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत् । तत्र परमर्मज्ञः प्रगल्भच्छात्रः कपटव्यवहारित्वात्कापटिकस्तं वृत्त्यर्थिनमर्थमानाभ्यामुपगृह्य रहसि राजा ब्रूयात् । यस्य दुर्वृत्तं पश्यसि तत्तदानीमेव मयि वक्तव्यमिति । प्रव्रज्यारूढपतित उदास्थितः तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौचयुक्तं वृत्त्यर्थिनं कृत्वा रहसि राजा पूर्ववद् ब्रूयात् । बहूत्पत्तिकमठे स्थापयेत्प्रचुरसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वृत्त्यर्थमुपकल्पयेत् स चान्येषामपि प्रव्रजितानां राजचारकर्मकारिणां ग्रासाच्छादनादिकं दद्यात् । कर्षकः क्षीणवृत्तिः प्रज्ञाशौचगुप्तो गृहपतिव्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्त्वा स्वभूमौ कृषिकर्म कारयेत् । वाणिजकः क्षीणवृत्तिः वैदेहिकव्यञ्जनस्तं पूर्व-

वद्धुल्का धनमानाभ्यामात्मीकृत्य वाणिज्यं कारयेत् । मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सोऽपि क्वचिदाश्रमे वसन् वहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिष्यगणवृतो गुप्तराजोपकल्पितवृत्तिस्तामस्यं कुर्यात् । मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं वदरादिमुष्टिमश्नीयात् रहसि च राजोपकल्पितमाहारं कल्पयेत् । शिष्याश्चास्यातीतानागतज्ञानादिकं ख्यापयेयुः । ते च वहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात्सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छन्ति अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयन्त्येवंरूपं पञ्चवर्गं यथावच्चिन्तयेत् । एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजस्यात्मीयानां चामात्यादीनां च अनुरागविरागौ ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत् । वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारं कः संध्यर्थी को वा विग्रहार्थीत्यादिकं चिन्तयेत् । तं च ज्ञात्वा तदनुगुणं चिन्तयेत् ॥

**मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।**
**उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥**

मध्यमस्येति । अरिविजिगीषोर्यो भूम्यनन्तरः संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोः समर्थः स मध्यमस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । तथा प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत् । तथा विजिगीषुमध्यमानां संहतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानां समर्थः । उदासीनस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्य अकृत्रिमस्य भूम्यनन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत् ॥ १५५ ॥

**एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।**
**अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥**

एता इत्यादि । एता मध्यमाद्याश्चतस्रः प्रकृतयः संक्षेपेण मण्डलमूलं अपरासामभिधास्यमानप्रकृतीनामाद्याः प्रस्तुता मूलमित्युच्यते अन्याश्चाष्टौ समाख्याताः । तद्यथा । अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रं अरिमित्रमित्रं चेति । एवं चतस्रः प्रकृतयो भवन्ति पश्चाच्च पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासारः आक्रन्दासार इति चतस्रः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति पूर्वोक्ताभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिः मूलप्रकृतिभिः सह द्वादशैताः प्रकृतयः स्मृताः ॥

**अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।**
**प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥**

अमात्येति । आसां मूलप्रकृतीनां चतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुक्तानां एकैकस्याः प्रकृतेः अमात्यदेशदुर्गकोशदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति । एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति । तथा मूलप्रकृतिभिश्चतसृभिः शाखाप्रकृतिभिश्चाष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः ॥ १५७ ॥

**अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।**
**अरेरनन्तरं मित्रमुदासिनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥**

अनन्तरमिति । विजिगीषोर्नृपस्यान्तरितं चतुर्दिशमप्यरिप्रकृतिं विजानीयात् । तथा तत्सेविनमपि अरिमेव विद्यात् । अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरं मित्रप्रकृतिं विद्यात्तयोश्चारिमित्रयोः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकृतिं विद्यात् । आसामेव प्रकृतीनामग्रपश्चाद्भावभेदेन व्यपदेशभेदः । अत्राग्रवर्तिनोऽरिव्यपदेश एव पश्चाद्वर्तिनस्त्वरित्वेऽपि पार्ष्णिग्राहव्यपदेशः ॥ १५८ ॥

**तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।**
**व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥**

तानिति । तान्सर्वान्नृपतीन्सामभेददानदण्डैरुपायैर्यथासंभवं व्यस्तैः समस्तैर्वशीकुर्यात् । अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साम्नैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात् । तथा चोक्तम् । सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १५९ ॥

**संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।**
**द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥**

संधिमिति । तत्रोभयानुग्रहार्थं हस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावाभ्यामन्योन्यस्योपकर्तव्यमिति नियमबन्धः संधिः । वैरं विग्रहाचरणाद्याधिक्येन यानं शत्रुं प्रतिगमनमुपेक्षणमासनं स्वार्थसिद्धये बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावः शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजान्तराश्र-

यणं संश्रयः एतान्गुणानुपकारकान् सर्वदा चिन्तयेत् । यद्गुणाश्रयणे सत्यात्मन उपचयः परस्यापचयस्तं गुणमाश्रयेत् ॥ १६० ॥

**आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।**
**कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥**

आसनमिति । संध्यादिगुणानां नैरपेक्ष्येणानुष्ठानमनन्तरमुक्तं तदुचितानुष्ठानार्थोऽयमारम्भः । आत्मसमृद्धिपरहान्यादिकं कार्यं वीक्ष्य संधायासनं विगृह्य वा यानं द्वैधीभावसंश्रये च केनचित्संधिं केनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत् ॥ १६१ ॥

**संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।**
**उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥१६२॥**

संधिं त्विति । संध्यादीन् षडेव गुणान् द्विप्रकारान जानीयात् इत्यविवक्षार्थम् ॥ १६२ ॥

**समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।**
**तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३॥**

समानेति । तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थं वा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादि कर्म क्रियते स समानयानकर्मा संधिः । यः पुनस्त्वमत्र याहि अहमत्र यास्यामि इति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थितयैव क्रियते सोऽसमानयानकर्मेत्येवं द्विप्रकारसंधिर्ज्ञातव्यः ॥ १६३ ॥

**स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।**
**मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥**

स्वयमित्यादि । शत्रुजयरूपप्रयोजनार्थं शत्रोर्व्यसनादिकमाकलय्य वक्ष्यमाणमार्गशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल एव वा स्वयं कृत इति एको विग्रहः । अपकृतमपकारः मित्रस्यापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरो विग्रह इत्येवं द्विविधो विग्रहः । गोविन्दराजेन तु मित्रेण चैवापकृत इति पठितं व्याख्यातं च । यः परस्य शत्रुः स विजिगीषोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमाणे व्यसनिनि शत्राविति । तस्माल्लिखितपाठार्थौ वृद्धैर्गोविन्दराजतः । मेधातिथिप्रभृतिभिर्लिखितौ स्वीकृतौ मया ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

एकाकिन इत्यादि । आत्ययिकं कार्यं शत्रोर्व्यसनादिकं तस्मिन् अकस्माज्जाते शक्तस्यैकाकिनो यानमशक्तस्य मित्रसहितस्य इत्येवं यानं द्विविधमभिधीयते ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

क्षीणस्येति । प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेन ऐहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः क्षीणहस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धस्यापि वा मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवं द्विविधमासनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

बलस्येति । साध्यस्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं बलस्य हस्त्यश्वादेः सेनाधिपत्याधिष्ठितस्य एकत्र शत्रुनृपोपद्रववारणार्थमवस्थानमन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिचिद्बलाधिष्ठितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणषट्कोपकारज्ञैः द्विविधं द्वैधं कीर्त्यते ॥ १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥१६८॥

अर्थेति । शत्रुभिः पीड्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्ताख्यप्रयोजनसिद्ध्यर्थमसत्यामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयं महाबलं नृपतिमाश्रित इति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थम् । बलवन्तमुपाश्रयणमेवं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत्१६९

यदेत्यादि । यदोत्तरकाले निश्चितमात्मन आधिक्यं जानीयात्तदा त्वेतत्काले अल्पधनाद्युपक्षयः तदा त्वल्पमङ्गीकृत्यापि संधिमाश्रयेत्॥

**यदा प्रकृष्टा मन्यत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।**
**अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् १७०**

यदेति । यदामात्यादिकाः सर्वाः प्रकृतीः दानसंमानाद्यैरतीव तुष्टा मन्येत आत्मानं च हस्त्यश्वकोशाद्यैः शक्तित्रयेण उपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत् ॥ १७० ॥

**यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।**
**परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥**

यदेत्यादि । यदात्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो जानीयात् । शत्रोश्चामात्यादिबलं विपरीतं तदा तं लक्षीकृत्य यायात् ॥ १७१ ॥

**यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।**
**तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥**

यदेत्यादि । यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादिविपत्त्यादिपरिक्षीणो भवेत्तदा सामोपदानप्रदानादिना शत्रून् प्रसान्त्वयन् प्रयत्नेनासनमाश्रयेत् ॥ १७२ ॥

**मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।**
**तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥१७३॥**

मन्येतेति । यदा यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शत्रुं बुद्ध्येत्तदा कतिचिद्बलसहितः स्वयं दुर्गमाश्रयेत् । बलैकदेशेन च शत्रुविरोधमाचरेत् । एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यं साधयेत् ॥ १७३ ॥

**यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।**
**तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१७४॥**

यदेति । यदा तु सैन्यानाममात्यादिप्रकृतिदोषादिनातिशयेन ग्राह्यो भवति बलं द्वैधं विधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीघ्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजानमाश्रयेत् ॥ १७४ ॥

कीदृशं तं बलवन्तमित्याह—

**निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।**
**उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥**

निग्रहमिति । यासां दोषेणासौ गमनीयतमो जातस्तासां प्रकृतीनां यस्माच्च शत्रुबलादस्य भयमुत्पन्नं तयोर्द्वयोरपि यः संश्रितो निग्रहक्षमस्तं नृपं सर्वयत्नैर्गुरुमिव नित्यं सेवेत ॥ १७५ ॥

**यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।**
**सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥**

यदीति । अगतिका हि गतिः संश्रयो नाम तत्रापि यदि संश्रयकृतं दोषं पश्येत्तदा निःसंशयो भूत्वा शोभनमेव युद्धं तस्मिन्काले समाचरेत् । दुर्बलेनापि बलवतो जयदर्शनान्निहतस्य च स्वर्गप्राप्तिः ॥

**सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।**
**यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः १७७**

सर्वोपायैरिति । सर्वैः सामादिभिरुपायैर्नीतिज्ञो राजा तथा यतेत । यथास्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिका न भवन्ति । आधिक्ये हि तेषामसौ ग्राह्यो भवति । धनलोभेन मित्रस्यापि शात्रवापत्तेः १७७

**आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।**
**अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥**

आयतिमिति । सर्वेषां कार्याणामल्पानामपि आयतिमुत्तरकाले गुणं दोषं विचारयेत् । वर्तमानकालं च शीघ्रसंपादनाद्यर्थं विचारयेत् । अतीतानां च सर्वकार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विघटितं वा किं वाऽवशिष्टमित्येवं यथावद्विचारयेत् । यस्मात् ॥ १७८ ॥

**आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।**
**अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥**

आयत्यामिति । यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः स गुणवत्कार्यमारभते दोषवत्परित्यजति । यश्च वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्य कार्यं करोति अतीते कार्ये यः कार्यशेषज्ञः स तत्कार्यसमाप्तौ तत्फ-

लं लभते यस्मादेवंविधकालत्रयसावधानत्वान्न कदाचिच्छत्रुभिरभिभूयते ॥ १७९ ॥

किं बहुना—

**यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।**
**तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥१८०॥**

यथेत्यादि । यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरन् तथा सर्वसंविधानं कुर्यात् । इत्येष सांक्षेपिको नयो नीतिः ॥ १८० ॥

**यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।**
**तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥**

यदेति । यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणो गच्छेत् ॥ १८१ ॥

**मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।**
**फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् १८२**

मार्गशीर्ष इति । यश्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथादिगमनविलम्बेन विलम्बितप्रयाणस्तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय शोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात् । यः पुनश्चलप्रायो नृपतिः शीघ्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं परराष्ट्रं यियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासे स्वबलयोग्यकालानतिक्रमेण यायात् । अत एवमन्वर्थव्यापारपरं संक्षेपेण याज्ञवल्क्यवचनम् । यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ॥ १८२ ॥

**अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् ।**
**तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥१८३॥**

अन्येष्विति । उक्तकालव्यतिरिक्तेषु यदात्मनो निश्चितं जयमवगच्छेत्तदा स्ववलयोग्यकाले ग्रीष्मादावपि हस्त्यश्वादिबलप्रायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात् । शत्रोश्चामात्यादिप्रकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिव्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्प्रकृतावपि उक्तकालादन्यत्रापि यायात् ॥

**कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।**
**उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८४॥**

**संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।**
**सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥**

कृत्वेत्यादि । संशोध्येति । मूले स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णिग्राहसंविधानं प्रधानपुरुषाधिष्ठितरक्षार्थं सैन्यैकदेशस्थापनरूपं प्रतिविधानं कृत्वा यात्रोपयोगि च वाहनायुधवर्मयात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा परमण्डलगतस्य च येनास्यावस्थानं भवति तदुपगृह्य तदीयान् भृत्यपक्षानात्मसात्कृत्वा चारांश्च कापटिकादीन् शत्रुदेशवार्ताज्ञापनार्थं प्रस्थाप्य सम्यक्तया जाङ्गलानूपाटविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधिततरुगुल्मादिच्छेदनिम्नोन्नतादिसमीकरणादिना संशोध्य तथा हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बलं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य सांपरायिकं संपरायः संग्रामस्तदुपचितविधिना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत् ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

**शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।**
**गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥**

शत्रुसेविनीति । यन्मित्रं गूढं कृत्वा शत्रुं सेवते यश्च भृत्यादिः पूर्वं विरागाद्गतः पश्चादागतस्तयोः सावधानो भवेत् । यस्मात्तावतिशयेन दुर्निग्रहो रिपुः ॥ १८६ ॥

**दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।**
**वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥**

दण्डेति । दण्डाकृतिव्यूहरचनादि दण्डव्यूहः एवं शकटादिव्यूहा अपि तत्राग्रे बलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनापतिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तत्समीपे घोटकास्ततः पदातय इत्येवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः समविन्यासो दण्डव्यूहस्तेन तद्यातव्यं मार्गं सर्वतो भये सति यायात् । सूच्याकाराग्रः पश्चात्पृथुलः शकटव्यूहस्तेन पृष्टतो भये सति गच्छेत् । सूक्ष्ममुखपश्चाद्भागः पृथुमध्यो वराहव्यूहः एष एव पृथुतरमध्यो गरुडव्यूहस्ताभ्यां पार्श्वयोर्भये सति व्रजेत् । वराहविपर्ययेण मकरव्यूहस्तेनाग्रे पश्चाच्च उभयत्र भये सति गच्छेत् । पिपीलिकापङ्क्तिरिव अग्रपश्चाद्भावेन संहतरूपतया यत्र यत्र सैनिकावस्थानं स शीघ्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्तेनाग्रतो भये सति यायात् १८७

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥१८८॥

यत इत्यादि । यस्या दिशः शत्रुभयमाशङ्केत्तस्यामेव बलं विस्तारयेत्समविस्तृतपरिमण्डलो मध्योपविष्टजिगीषुः पद्मव्यूहस्तेन पुरान्निर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात् ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१८९॥

सेनापतीति । हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः स च पत्तिक उच्यते । पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते । तद्दशकस्यैकः सेनानायकः स एव च बलाध्यक्षः सेनापतिबलाध्यक्षौ समस्तासु दिक्षु संवर्षयुद्धार्थं नियोजयेत् । यस्याश्च दिशो यदा भयमाशङ्केत्तदा तामग्रे दिशं कुर्यात् ॥ १८९ ॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समंततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥

गुल्मानित्यादि । गुल्मान्सैन्यैकदेशान् आप्तपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरणयुद्धार्थं कृतभेरीपटहशङ्खादिसंकेतान् अवस्थानयुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयान् अव्यभिचारिणः सेनापतिबलाध्यक्षान् दूरतः सर्वदिक्षु पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रुचेष्टापरिज्ञानाय च नियोजयेत् ॥१९०॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् १९१

संहतानिति । अल्पान् योधान् संहतान्कृत्वा बहून्पुनर्यथेष्टं विस्तारयेत् । सूच्या पूर्वोक्तया वज्राख्येन व्यूहेन त्रिधा व्यवस्थितबलेन रचयित्वा योधान् योधयेत् ॥ १९१ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

स्यन्दनाश्वैरित्यादि । समभूभागे रथाश्वेन युद्ध्येत । तत्र तेन युद्धसामर्थ्यात्तदानुगतोदके नौकाहस्तिभिः । तरुगुल्मावृते धन्विभिर्गर्तकण्टकपाषाणादिरहितस्थले खड्गफलककुन्ताद्यैरायुधैर्युद्ध्येत ॥ १९२

**कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् ।**
**दीर्घोल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥**

कुरुक्षेत्रानिति । कुरुक्षेत्रभवान्मत्स्यान् विराटदेशनिवासिनः पञ्चालान् कान्यकुब्जाहिच्छत्रोद्भवान् शूरसेनजान् माथुरान् प्रायेण पृथुशरीरशौर्याहंकारयोगान्सेनाग्रे योजयेत् । तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहान्मनुष्यान् युद्धाभिमानिनः सेनाग्र एव योजयेत् १९३

**प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।**
**चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १९४॥**

प्रहर्षयेदित्यादि । बलं रचयित्वा जये धर्मलाभः अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनं च इत्याद्यर्थवादैः युद्धार्थं प्रोत्साहयेत् । तांश्च योधान् केनाभिप्रायेण हृष्यन्ति कुप्यन्ति वेति परीक्षयेत् । तथा योधानामरिभिः सह युद्ध्यमानानामपि सोपध्यनुपधिचेष्टा बुद्ध्येत ॥ १९४ ॥

**उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।**
**दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५॥**

उपेत्यादि । दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयगतं रिपुमयुद्ध्यमानमप्यावेष्ट्यासीत । अस्य च देशमुत्सादयेत् । तथा घासान्नोदकेन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमिश्रणादिना दूषयेत् ॥ १९५ ॥

**भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।**
**समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥**

भिन्द्यादित्यादि । शत्रोरुपजीव्यानि तडागादीनि नाशयेत् तथा दुर्गप्राकारादीन् भिन्द्यात् तत्परिखाश्च भेदेन पूरणादिना निरुदकाः कुर्यात् । एवं च शत्रूनशङ्कितमेव सम्यगवस्कन्दयेत्तथा शक्तिं गृह्णीयात् रात्रौ च ढक्काकाहलिकादिशब्देन वित्रासयेत्तदानीं च १९६

**उपजप्यानुपजपेद्बुद्ध्येतैव च तत्कृतम् ।**
**युक्ते च दैवे युद्ध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७॥**

उपेत्यादि । उपजापार्हान् रिपुवंश्यान् राज्यार्थिनः क्षुद्धानमात्या-

दींश्च भेदयेत् । उपजपेनात्मीयकृतां च तेषां चेष्टां जानीयात् । शुभग्रहदशादिना शुभफलयुक्ते दैवेऽवगते निर्भयो जयेप्सुर्युद्धयेत् ॥

**साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।**
**विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥**

साम्नेत्यादि । प्रीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्ना हस्त्यश्वरथहिरण्यादीनां च दानेन तत्प्रकृतीनां तदनुयायिनां च राज्यार्थिनां भेदेन । एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथासामर्थ्यमरीन् जेतुं यत्नं कुर्यात् न पुनः कदाचिद्युद्धेन ॥ १९८ ॥

**अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युद्ध्यमानयोः ।**
**पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥**

अनित्य इति । यस्माद्युद्ध्यमानयोर्बहुबलत्वाद्यल्पबलत्वाद्यनपेक्षमेवानियमेन जयपराजयौ दृश्येते तस्मात्सत्युपायान्तरे युद्धं परिहरेत् ॥ १९९ ॥

**त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।**
**तथा युद्धयेत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥**

त्रयाणामित्यादि । पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सति जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवान् सम्यग्युद्धयेत । तथा शत्रून् जयेत् यतो जयेऽर्थलाभोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः निःसंदिग्धे तु पराजये युद्धादपसरणं साधीयः । यथा च वक्ष्यति । आत्मा तु सर्वदा रक्ष्य इति मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ २०० ॥

**जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।**
**प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥**

जित्वेति । परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान् धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान् भूमिसुवर्णादिदानसंमानादिभिः पूजयेत् । जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदं पूजनम् । तदाह याज्ञवल्क्यः । नातः परतरो धर्मो नृपाणां यदुपार्जितम् । विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ तथा देवब्राह्मणार्थं मयैतदत्तमिति तद्देशवासिनां परिहारान् दद्यात् ।

तथा स्वामिभक्त्या यैरस्माकमपकृतं तेषां मया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुखं स्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्विति अभयानि ख्यापयेत् ॥

**सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।**
**स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥**

सर्वेषामिति । एषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मिन् राष्ट्रे बलनिहतराजवंश्यमेव राज्येऽभिषेचयेत् । इदं कार्यं त्वया इदं नेति तस्य तदमात्यानां च नियमं कुर्यात् ॥२०२॥

**प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ।**
**रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥**

प्रमाणानीति । तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानाचारान् देशधर्मतया शास्त्रेणाभ्युपेतान् प्रमाणीकुर्यात् । एनं चाभिषिक्तममात्यादिभिः सह रत्नादिदानेन पूजयेत् । यस्मात् ॥ २०३ ॥

**आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।**
**अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥**

आदानमिति । यद्यप्यभिलषितानां द्रव्याणां ग्रहणमप्रियकरं दानं च प्रियकारकमित्युत्सर्गस्तथापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्यते तस्मात्तस्मिन् काल एवं पूजयेत् ॥ २०४ ॥

**सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।**
**तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥**

सर्वमित्यादि । यत्किञ्चित्संपाद्यं तत्प्राग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतरूपे कर्मणि दैवशब्दाभिधेये तथेह लोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये व्यापारे आयत्तं तयोर्मध्ये दैवं चिन्तयितुमशक्यम् । मानुषे तु पर्यालोचनमस्ति अतो मानुषद्वारेणैव कार्यसिद्धये यतितव्यम् ॥ २०५ ॥

**सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।**
**मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् २०६**

सहेत्यादि । एवमुपक्रमणीयेन शत्रुणा युद्धं कार्यं यदि वा स एव

मित्रं तेन च दत्तं हिरण्यं भूम्येकदेशो वार्पितं एतत्त्रयं यात्राफलम् । तेन सह संधिं कृत्वा यत्नवान् व्रजेत् ॥ २०६ ॥

**पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।**
**मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२०७॥**

पार्ष्णिग्राहमित्यादि । विजिगीषोरारिं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपतिः देशाक्रमणाद्याचरति स पार्ष्णिग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यानन्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातव्यम् । मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलं गृह्णीयात्तावनपेक्ष्य गृह्णन् कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ॥ २०७ ॥

**हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।**
**यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् २०८**

हिरण्यभूमीति । सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृशमप्यागामिकाले वृद्धियुतं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते २०८

**धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।**
**अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥**

धर्मज्ञमिति । धर्मज्ञं कृतोपकारस्य स्मर्तृ सानुरागमनुरक्तं स्थिरकार्यारम्भं प्रीतिमत्प्रकृतिकं यत्तन्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥ २०९ ॥

**प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।**
**कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुरिरिं बुधाः ॥ २१० ॥**

प्राज्ञमित्यादि । विद्वांसं महाकुलं विक्रान्तं चतुरं दातारं उपकारस्मर्तारं सुखदुःखयोरेकरूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति तेनैवंविधशत्रुणा सह संधातव्यम् ॥ २१० ॥

**आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।**
**स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥**

आर्यतेत्यादि । साधुत्वं पुरुषविशेषज्ञता विक्रान्तत्वं कृपालुत्वं सर्वदा च स्थौललक्ष्यं बहुप्रदत्वमत एव । स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे इत्याभिधानिकाः। स्थौललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु

मेधातिथिगोविन्दराजयोः पदार्थकथनमनागमं एतदुदासीनगुणसामर्थ्यं तस्मादेवंविधमुदासीनमाश्रित्य उक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम् ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

क्षेम्यामिति । अनामयादिकल्याणक्षमामपि नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि प्रचुरतृणादियोगात्पशुवृद्धिकरीमपि भूमिमात्मरक्षार्थमविलम्बमानो राजा निजरक्षाप्रकारान्तराभावात्परित्यजेत् १२

यस्मात्सर्वविषयोऽयं धर्मः स्मर्यते—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

आपदर्थमित्यादि । आपन्निवारणार्थं धनं रक्षणीयं धनपरित्यागेनापि दारान् रक्षेत् । आत्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत् । सर्वत एवात्मानं गोपायेतमिति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरेकेणात्मरक्षा इत्युपदेशात् ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्ताश्च वियुक्ताश्च सर्वोपायान् सृजेद्बुधः २१४

सहेत्यादि । कोशक्षयप्रकृतिकोशमित्रस्य व्यसनादिकाः सर्वा आपदो युगपदतिशयेन उत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयात् । अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायान् शास्त्रज्ञः संप्रयुञ्जीत ॥ २१४॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

उपेतारमिति । उपेतारमात्मानं उपेयं प्राप्तव्यं उपायाः सामादयः सर्वे ते च परिपूर्णा एतत्त्रयमवलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्धये यत्नं कुर्यात् ॥ २१५ ॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् २१६

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मन्त्रिभिः सह विचार्य अनन्तरमायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्ने स्नानादिकं माध्याह्निकं कृत्यं निर्वाह्य भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

तत्रेति । तत्रान्तःपुरे आत्मतुल्यैर्भोजनकालवेदिभिरभेद्यैः सूपकारादिभिः कृतं सुष्ठु च परीक्षितं चकोरादिदर्शनेन । सविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते भवतः । विषापहैर्मन्त्रैर्जपितमन्नमद्यात् २१७

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥२१८॥

विषघ्नैरिति । विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयेत् । विषहरणानि च रत्नानि यत्नवान् सर्वदा धारयेत् ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

परीक्षिता इति । स्त्रियश्च गूढचारद्वारेण कृतपरीक्षा गुप्तायुधग्रहणविषलिप्ताभरणशङ्कया निरूपितवेषाभरणा अनन्यमनसः चामरस्नानपानाद्युदकधूपनैः एवं राजानं परिचरेयुः ॥ २१९ ॥

एवं प्रयतं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥

एवमिति । एवंविधपरीक्षादिप्रयत्नं वाहनशय्यासनाशनस्नानानुलेपनेषु सर्वेषु चालंकरणार्थेषु कुर्यात् ॥ २२० ॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् २२१

भुक्तवानिति । कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह क्रीडेत् । कालानतिक्रमेण च सप्तमे दिवसस्य भागे तत्र विहृत्याष्टमे भागे पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च २२२

अलंकृत इति । कृतालंकारः सन्नायुधजीविनं वाहनानि हस्त्यश्वादीनि सर्वाणि च शस्त्राणि खड्गादीनि अलंकाररचनादीनि पश्येत् ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् २२३
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४॥

संध्येति । गत्वेति । ततः संध्योपासनं कृत्वा तस्मात्प्रदेशात्कक्षान्तरं विविक्तप्रकोष्ठावकाशमन्यद्गत्वा गृहाभ्यन्तरे धृतशस्त्रो रहस्याभिधायिनां चराणां स्वव्यापारं शृणुयात्ततस्तं चरं संप्रेष्य परिचारिकस्त्रीवृतः पुनर्भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २२३ ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

तत्रेत्यादि । तत्रान्तःपुरे वादित्रशब्दैः श्रुतिसुखैः प्रहर्षितः पुनः किंचिद्भुक्त्वा नातितृप्तः कालानतिक्रमेण गतार्धप्रहरायां रात्रौ स्वप्यात् । ततो रात्रेः पश्चिमयामे च विश्रान्तः सन्नुत्तिष्ठेत् ॥ २२५ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

एतदिति । एतद्यथोक्तप्रकारप्रजारक्षणादि नीरोगो राजा स्वयमनुतिष्ठेत् । अस्वस्थः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्ठामात्येषु समर्पयेत् ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां सप्तमोऽध्यायः ७

## अथाष्टमोऽध्यायः ।

**व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।**
**मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥**

व्यवहारानिति । एवंविधविपक्षमहीक्षिद्भ्यः प्रजानां रक्षणादवाप्तवृत्तिस्तासामेवेतरेतरविवादजपीडापरिहारार्थं ऋणादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थार्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहारः । तदाह कात्यायनः । विनानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते । नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः ॥ तान्व्यवहारान्द्रष्टुमिच्छन् पृथिवीपतिर्वक्ष्यमाणैरमात्यैश्च सप्तमाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमन्त्रैः सह विनीतो वाक्पाणिपादचापलविरहादनुद्धतः अविनीते हि नृपे वादिप्रतिवादिनां प्रतिभाक्षयादसम्यगभिधाने तत्त्वनिर्णयो न स्यात् तादृशो वक्ष्यमाणां सभां प्रविशेत् । व्यवहारदर्शनं चेदं प्रजानामितरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णये रक्षणार्थं वक्ष्यमाणदृष्टादृष्टात्मककरणफलेनैव फलवत् ॥ १ ॥

**तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।**
**विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥**

तत्रेत्यादि । तस्यां च सभायां कार्यगौरवापेक्षायामुपविष्टो लघुनि कार्ये उत्थितोऽपि वा पाणिशब्दो बाहुपरः दक्षिणपाणिमुद्यम्य अनुद्धतवेषालंकारः पूर्वत्राङ्गेन्द्रियानौद्धत्ययुक्तं तादृशः कार्याणि विचारयेत् ॥

**प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।**
**अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥**

प्रत्यहमित्यादि । तानि च ऋणादानादीनि कार्याणि अष्टादशसु व्यवहारमार्गेषु विषयेषु पठितानि देशजातिकुलव्यवहारगतैः शास्त्रावगतैः साक्षिद्रव्यादिभिर्हेतुभिः पृथक् पृथक् प्रत्यहं विचारयेत् ॥ ३ ॥

तान्येवाष्टादश गणयति—

**तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।**
**संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥**

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थितावि ह ॥ ७ ॥

तेषामिति । वेतनस्यैव चेति । सीमेति । स्त्रीपुंसेति । तेषामष्टादशानां मध्ये आदाविह ऋणादानं विचार्यते । तस्य स्वरूपमुक्तं नारदेन । ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथाचरेत् । दानग्रहणधर्माश्च तदृणादानमुच्यते ॥ ततश्च स्वधनस्यान्यस्मिन्नर्पणरूपो निक्षेपः । अस्वामिना च कृतो विक्रयः । संभूय वणिगादीनां क्रियानुष्ठानम् । दत्तस्य धनस्यापात्रबुद्ध्या क्रोधादिना वा ग्रहणम् । कर्मकरस्य भृतेरदानम् । कृतव्यवस्थातिक्रमः । क्रयविक्रये च कृते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः । स्वामिपशुपालयोर्विवादः । ग्रामादिसीमाविप्रतिपत्तिः । वाक्पारुष्यमाक्रोशनादि । दण्डपारुष्यं ताडनादि । स्तेयं निह्नवेन धनग्रहणम् । साहसं प्रसह्य धनहरणादि । स्त्रियाश्च परपुरुषसंपर्कः । स्त्रीसहितस्य पुंसो धर्मः व्यवस्था । पैतृकादिधनस्य च विभागः । अक्षादिक्रीडाधर्मव्यवस्थापनपूर्वकं पक्षिमेषादिप्राणियोधनम् । इत्येवं अष्टादश । एतानि व्यवहारप्रवृत्तेः स्थानानि समाह्वयस्य प्राणिद्यूतरूपत्वेन द्यूतावान्तरशेषत्वात् अष्टादशसंख्योपपत्तिः ॥ ४ । ५ । ६ । ७ ॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

एष्वित्यादि । एषु ऋणादानादिषु व्यवहारस्थानेषु बाहुल्येन विवादं कुर्वतां मनुष्याणां अनादिपारंपर्यागतत्वेन नित्यं धर्ममवलम्ब्य कार्यनिर्णयं कुर्यात् । भूयिष्ठशब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति सूचयति । तानि च प्रकीर्णकशब्देन नारदाद्युक्तानि । अत एव नारदः । न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकमिति ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

यदेत्यादि । यदा कार्यान्तराकुलतया रोगादिना वा राजा स्वयं कार्यदर्शनं न कुर्यात्तदा तद्दर्शनार्थं कार्यदर्शनाभिज्ञं ब्राह्मणं नियुञ्जीत ॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥

सोऽस्येति । स ब्राह्मणोऽस्य राज्ञो द्रष्टव्यानि कार्याणि त्रिभिर्ब्राह्मणैः सभायां साधुभिर्धार्मिकैः कार्यदर्शनाभिज्ञैर्वृतस्तामेव सभां प्रविश्योपविश्य स्थितो वा न तु चंक्रम्यमाणस्तस्य चित्तव्याक्षेपसंभवात्तादृशकृणादानादीनि कार्याणि पश्येत् ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् स्थाने ऋग्यजुःसामवेदिनस्त्रयोऽपि ब्राह्मणा अवतिष्ठन्ते राज्ञाधिकृतश्च विद्वान् ब्राह्मण एव प्रकृतत्वादवतिष्ठते तां सभां चतुर्मुखसभामिव मन्यते ॥ ११ ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः १२

धर्म इति । भाः प्रकाशस्तया सह वर्तत इति विद्वत्संहतिरेवात्र सभाशब्देनाभिमता । यत्र देशे सभां विद्वत्संहतिरूपां धर्मः सत्याभिधानजन्योऽनृताभिधानजन्येनाधर्मेण पीडित आगच्छति अर्थिप्रत्यर्थिनोर्मध्ये एकस्य सत्याभिधानादपरस्य मृषावादात्तेन सभासदोऽस्य धर्मस्य पीडाकरत्वाच्छल्यमिवाधर्मं नोद्धरन्ति तदा ते एव तेनाधर्मशल्येन विद्धा भवन्ति । यत एवमतः ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

सभामिति । सभामवगम्य व्यवहारार्थं तत्प्रवेशो न कर्तव्यः । पृष्टश्चेत्तदा सत्यमेव वक्तव्यम् । अन्यथा तूष्णीमवतिष्ठमानो मृषा

वदन् उभयथापि सद्यः पापी भवति । मेधातिथिना तु । सभा वा न प्रवेष्टव्या इति ऋग्वेदपठितम् ॥ १३ ॥

**यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।**
**हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥**

यत्रेत्यादि । यस्यां सभायामर्थिप्रत्यर्थिभ्यामधर्मेण धर्मो न दृश्यते । यत्र च साक्षिभिः सत्यमनृतेन नाश्यते सभासदां प्रेक्षमाणानां तानवाहत्य ते प्रतीकारक्षमा न भवन्तीत्यर्थः । षष्ठी चानादर इत्यनेन षष्ठी । तत्र त एव सभासदस्तेन पापेन हता भवन्ति १४

**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।**
**तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥**

धर्म इत्यादि । यस्माद्धर्म एवातिक्रान्त इष्टानिष्टाभ्यां सह नाशयति नार्थिप्रत्यर्थ्यादि । स एव नातिक्रान्तस्ताभ्यां सह रक्षति तस्माद्धर्मो नातिक्रमणीयः । माऽस्मान् त्वत्सहितान् अतिक्रान्तो धर्मोऽवधीदिति सभ्यानामुत्पथप्रवृत्तस्य प्राड्विवाकस्य संबोधनमिदम् १५

**वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।**
**वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥**

वृष इत्यादि । कामान् वर्षयतीति वृषः वृषशब्देन धर्म एवाभिधीयत इति । अलंशब्दो वारणार्थः यस्माद्धर्मस्य यो वारणं करोति तं देवा वृषलं जानन्ति न जातिवृषलं तस्माद्धर्मं नोच्छिद्यादिति । धर्मव्यतिक्रमखण्डनार्थं वृषलशब्दार्थनिर्वचनम् ॥ १६ ॥

**एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।**
**शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥॥१७ ॥**

एक इत्यादि । धर्म एवैको मित्रं यो मरणेऽपि अभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति यस्मादन्यत्सर्वं भार्यापुत्रादि शरीरेणैव सहादर्शनं गच्छति । तस्मात्पुत्रादिस्नेहापेक्षयापि धर्मो न हातव्यः ॥ १७ ॥

**पादो धर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।**
**पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥१८॥**

पाद इत्यादि । दुर्व्यवहारदर्शनादधर्मसंबन्धी चतुर्थभागोऽर्थिनमधर्मकर्तारं प्रत्यर्थिनं वा गच्छति परश्चतुर्थभागः साक्षिणमसत्यवादिनम् । अन्यपादः सभासदः सर्वान् अधर्मप्रवृत्त्यनिवारकान् व्याप्नोति । पादश्च राजानं व्रजति । सर्वेषां पापसंबन्धो भवतीत्यत्र विवक्षितम् ॥ १८ ॥

**राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।**
**एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥१९॥**

राजेत्यादि । यस्यां पुनः सभायामसत्यवादी निन्दार्होऽर्थी प्रत्यर्थी वा सम्यक् न्यायदर्शनेन निन्द्यते तत्र राजा निष्पापो भवति सभासदश्च पापेन न संबद्ध्यन्ते अभ्यर्थादिकमेव कर्तारमुपैति ॥१९॥

**जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ।**
**धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥**

जातिमात्रेति । ब्राह्मणजातिमात्रं यस्य विद्यते न तु ब्राह्मणकर्मानुष्ठानं वणिगादिवत्साक्ष्यादिद्वारेण स्फुटन्यायान्यायनिरूपणक्षमो ब्राह्मणजातिरपि वा यस्य संदिग्धार्थानां ब्राह्मणं ब्रवीति स वरम् । उक्तयोग्यब्राह्मणाभावे च क्वचित्कार्यदर्शने नृपतेर्भवेन्न तु धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः । ब्राह्मणो धर्मप्रवक्तेति विधानादेव शूद्रनिवृत्तिः सिद्धा पुनर्न तु शूद्र इति शूद्रनिषेधो योग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थः । अत एव कात्यायनः । यत्र विप्रो न विद्वान् स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् । यस्मात् ॥ २० ॥

**यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।**
**तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥**

यस्येत्यादि । यस्य राज्ञो धर्मविवेचनं शूद्रः कुरुते तस्य पश्यत एव पङ्के गौरिव तद्राष्ट्रमवसन्नं भवति ॥ २१ ॥

**यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।**
**विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥२२॥**

यदित्यादि । यद्राष्ट्रं शूद्रबहुलं बहुलपरलोकाभाववाद्याक्रान्तं

द्विजशून्यं तत्सर्वं दुर्भिक्षरोगपीडितं सच्छीघ्रं विनश्यति । अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगित्यस्याभावेन वृष्टिविरहात् उपजातदुर्भिक्षरोगाद्युपजातशान्त्यर्थकर्माभावाच्च ॥ २२ ॥

**धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।**
**प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥**

धर्मासनमिति । धर्मदर्शनार्थमासन उपविश्य आच्छादितदेहो ऽनन्यमना लोकपालेभ्यः प्रणामं कृत्वा कार्यदर्शनमनुतिष्ठेत् ॥२३॥

**अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।**
**वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२४॥**

अर्थानिति । प्रजारक्षणोच्छेदाद्यात्मकावैहिकावर्थानर्थौ बुद्ध्वा परलोकार्थं धर्माधर्मौ केवलावनुरुध्य यथा विरोधो न भवति तथा कार्यार्थिनां कार्याणि पश्येत् । बहुवर्णमेलके ब्राह्मणादिक्रमेण पश्येत् ॥

**बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।**
**स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥**

बाह्यैरिति । बाह्यैः स्वरादिलिङ्गैरित्यभिधानादेवावधारितव्यापारैः अर्थिप्रत्यर्थिनामन्तर्गतमभिप्रायं निरूपयेत् । स्वरो गद्गदादिः वर्णः स्वाभाविकवर्णादन्यादृशो मुखकालिमादिः इङ्गितमधोनिरीक्षणादिः आकारो देहभवस्वेदरोमाञ्चादिः चेष्टा हस्तस्फालनादिः । यस्मात् २५

**आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।**
**नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥**

आकारैरिति । आकारादिभिः पूर्वोक्तैः गत्या स्खलत्पादादिकया अन्तर्गतमनोबुद्धिरूपेण परिणतमवधार्यते ॥ २६ ॥

**बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।**
**यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥**

बालदायेति । अनाथबालस्वामिकं पितृव्यादिभिरन्यायेन गृह्यमाणं तावद्राजा रक्षेत् । यावदसौ षट्त्रिंशदब्दादिकं ब्रह्मचर्यमित्याद्युक्तेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तो न भवति तादृशस्यावश्यकवा-

ल्यविगमात् । यस्त्वशक्त्यादिना बाल एव समावर्तते सोऽपि यावदतीव बालो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत् । बाल्यं च षोडशवर्षं पर्यन्तम् । बाल आषोडशाद्वर्षादिति नारदवचनात् ॥ २७ ॥

**वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।**
**पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥**

वशेत्यादि । वशासु वन्ध्यासु कृतदारान्तरपरिग्रहः स्वामी निर्वाहार्थोपकल्पितधनोपायासु निरपेक्षः । अपुत्रासु च स्त्रीषु प्रोषितभर्तृकासु निष्कुलासु सपिण्डरहितासु साध्वीषु च स्त्रीषु विधवासु रोगिणीषु च यद्धनं तस्यापि बालधनस्येव राज्ञा रक्षणं कर्तव्यम् । अत्र चानेकशब्दोपादाने गोवलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरिहारः २८

**जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।**
**ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२९॥**

जीवन्तीनामिति । वयमत्रानन्तराधिकारिणो रक्ष्याम इदं धनमित्यादिव्याजेन ये बान्धवास्तासां जीवन्तीनां तद्धनं गृह्णन्ति तान् वक्ष्यमाणचौरदण्डेन धार्मिको राजा दण्डयेत् ॥ २९ ॥

**प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।**
**अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३०॥**

प्रणष्टेति । अज्ञातस्वामिकधनं राजा कस्य किं प्रणष्टमित्येवं पटहादिना उद्घोष्य राजद्वारादौ रक्षितं वर्षत्रयं स्थापयेत् । वर्षत्रयमध्ये यदि धनस्वाम्यागच्छति तदा स एव गृह्णीयात् । तदूर्ध्वं तु नृपतिर्विनियुञ्जीत ॥ ३० ॥

**ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।**
**संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१ ॥**

ममेदमित्यादि । मदीयं धनमिति यो वदति स किंरूपं किंसंख्याकं कुत्र प्रणष्टं तद्धनमित्यादिविधानेन प्रष्टव्यः । ततो यदि रूपसंख्यादीन् सत्यान् वदति तदा स तत्र धनस्वामी तद्धनं गृहीतुमर्हति ॥ ३१ ॥

**अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।**
**वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥**

अवेदयान इत्यादि । नष्टद्रव्यस्य देशकालौ अस्मिन्देशे अस्मिन्काले नष्टमिति तथा वर्णं शुक्लाद्याकारकटकत्वादि परिमाणं च यथावदजानन्नष्टद्रव्यसमदण्डमर्हति । देशकालादिसंवादे पुनः ३२

**आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।**
**दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥**

आददीतेति । यदेतद्राज्ञा प्रणष्टद्रव्यं प्राप्तं तस्मात् षड्भागं दशमं द्वादशं वा रक्षादिनिमित्तं पूर्वेषां साधूनामयं धर्म इति जानन् राजा गृह्णीयात् । धनस्वामिनो निर्गुणत्वापेक्षश्चायं षड्भागादिग्रहणविकल्पः । अवशिष्टं स्वामिने समर्पयेत् ॥ ३३ ॥

**प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।**
**यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ३४**

प्रणष्टेति । यद्द्रव्यं कस्यापि प्रणष्टं सत् राजपुरुषैः प्राप्तं रक्षायुक्तैः रक्षितं कृत्वा स्थाप्यं तस्मिंश्च द्रव्ये यांश्चौरान् गृह्णीयात्तान् हस्तिना घातयेत् । गोविन्दराजस्तु शताभ्यधिके वध इति दर्शनात् । अत्रापि शतसुवर्णस्य मौल्यादिकत्रयहरणे वधमाह तन्न । तत्र संधिं कृत्वा यच्चौर्यमिति यत्स्वाम्येऽपि प्रणष्टराजरक्षितद्रव्यहरणेनैव विशेषेण वधविधानात् । शतादभ्यधिके वध इत्यस्य विशेषोपदिष्टवधेतरविषयत्वात् ॥ ३४ ॥

**ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।**
**तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥**

ममायमिति । यो मानुषः स्वयं निधिं लब्ध्वा अन्येन वा निधौ प्राप्ते ममायं निधिरिति वदति सत्येन प्रमाणेन च स्वसंबन्धं बोधयति तस्य पुरुषस्य निर्गुणत्वसगुणत्वापेक्षया ततो निधानादष्टभागं द्वादशभागं वा राजा गृह्णीयात् । अवशिष्टं तस्यार्पयेत् ॥ ३५ ॥

**अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।**
**तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ३६**

अनृतमिति । अस्वीयं स्वीयमिति ब्रुवन् स्वधनस्याष्टमं भागं दण्ड्यः । यद्वा तस्यैव निधेरत्यन्ताल्पभागं गणयित्वा येनावसादं न गच्छति न विषयश्च लभते तद्दण्ड्यः । अल्पीयसीमितीयसुन्नन्तनिर्देशात्पूर्वस्मादन्योऽयं दण्डः विकल्पश्च निर्गुणसगुणापेक्षः ॥ ३६ ॥

**विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।**
**अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥**

विद्वानित्यादि । विद्वान्पुनर्ब्राह्मणः पूर्वमुपहितं निधिं दृष्ट्वा सर्वं गृह्णीयात् । न षड्भागं दद्यात् । यस्मात्सर्वस्य धनजातस्य प्रभुः अत एवोक्तम् । सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदमिति । तस्मात्परनिहितविषयमेतद्वचनम् । तथा च नारदः । परेण निहितं लब्ध्वा राजा ह्यपहरेन्निधिम्। राजा स्वामी निधेः सर्वं सर्वेषां ब्राह्मणादृते ॥ याज्ञवल्क्योऽप्याह । राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः । विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां ममायमिति यो ब्रूयादित्युक्तं राजदेयार्थनिरासार्थं पित्रादिनिहितविषयत्वमेवास्य व्याख्यातं तदनार्षम् । नारदादिमुनिव्याख्याविपरीतं स्वकल्पितं न मेधातिथिगोविन्दराजव्याख्यानमाद्रिये ॥ ३७ ॥

**यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।**
**तस्माद्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥**

यं त्विति । यं पुनरस्वामिकं पुरातनं भूम्यन्तर्गतं निधिं राजा लभते तस्माद्ब्राह्मणेभ्योऽर्धं दत्त्वार्धमात्मीयधनागारे च प्रवेशयेत् ॥

**निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।**
**अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥**

निधीनामिति । निधीनां पुरातनानां अस्वकीयानां विद्वद्ब्राह्मणेतरलब्धानां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां चार्धहरो राजा यस्मादसौ रक्षति भूमेश्च प्रभुः ॥ ३९ ॥

**दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।**
**राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥**

दातव्यमिति । यद्धनं चौरैर्लोकानामपहृतं तद्राज्ञा चौरेभ्य आहृत्य धनस्वामिभ्यो देयं तद्धनं राजा स्वयमुपयुञ्जानश्चौरस्य पापं प्राप्नोति ॥

**जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।**
**समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥**

जातीति । धर्मान् ब्राह्मणादिजातिनियतान् याजनादीन् जानपदांश्च नियतं देशव्यवस्थितान् आत्मीयाविरुद्धान् । देशजातिकुलधर्मांश्च आम्नायैरप्रतिषिद्धाः प्रमाणमिति गोतमस्मरणात् । श्रेणीधर्मांश्च वणिगादिधर्मान् प्रतिनियतकुलव्यवस्थितान् ज्ञात्वा तदविरुद्धान् राजा व्यवहारेषु तद्धर्मान् व्यवस्थापयेत् । यस्मात् ॥ ४१ ॥

**स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।**
**प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ४२**

स्वानीत्यादि । जातिदेशकुलधर्मादीन्यात्मीयकर्माणि अनुतिष्ठन्तः स्वे स्वे च नित्यनैमित्तिकादौ कर्मणि वर्तमानाः दूरेऽपि सन्तः सान्निध्यनिबन्धनस्नेहाभावेऽपि लोकस्य प्रिया भवन्ति ॥ ४२ ॥

प्रासंगिकमिदमभिधाय पुनः प्रकृतमाह—

**नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।**
**न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥**

नोत्पादयेदिति । राजा राजनियुक्तो वा धनलोभादिना कार्यमृणादिविवादं नोत्पादयेत् । तदाह कात्यायनः । न राजा तु वशिस्थेन धनलोभेन वा पुनः । स्वयं कर्माणि कुर्वीत नराणामविवादिनाम् ॥ न चार्थिना प्रत्यर्थिना वा आवेदितं विवादं धनादिलोभेनोपेक्षेत् ४३

**यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।**
**नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥**

यथेत्यादि । यथा मृगस्य शस्त्रहतस्य रुधिरपातैः व्याधः पदं स्थानं प्राप्नोति तथानुमानेन इष्टप्रमाणेन वा धर्मस्य तत्त्वं निश्चिनुयात् ॥

**सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।**
**देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥**

सत्यमित्यादि । व्यवहारदर्शनप्रवृत्तो राजा छलमपहाय सत्यं पश्येत् तथार्थं च । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् । अर्थवन्तं गोहिरण्यादिधनविषयस्थं व्यवहारं पश्येत् न लहमनेनाक्षिनिकोचनोपह-

सित इत्यादिस्वल्पापराधमात्मानं च तत्त्वनिर्णये स्वर्गादिफलभागिनं साक्षिणः सत्यवादिनः देशं कालं च देशकालोचितं स्वरूपं व्यवहारस्वरूपं गुरुलघुतादिकं पश्येत् ॥ ४५ ॥

**सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।**
**तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥**

सद्भिरित्यादि । विद्वद्भिर्धर्मप्रधानैर्द्विजातिभिर्यदृश्यमानशास्त्रमनुष्ठितं तद्देशकुलजात्यविरुद्धमादाय व्यवहारनिर्णयं प्रकल्पयेत् । एतत्सकलव्यवहारसाधारणं परिभाषात्मकमुक्तम् ॥ ४६ ॥

संप्रति ऋणादानमधिकृत्याह—

**अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।**
**दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥**

अधमर्णार्थेति । अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तधनसिद्ध्यर्थं धनस्वामिना राजा बोधितो वक्ष्यमाणलेख्यादिप्रमाणप्रतिपादितं धनमुत्तमर्णस्याधमर्णं प्रदापयेत् । अधमर्णादुत्तमर्णाय दापयेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

कथं दापयेदित्याह—

**यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।**
**तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥**

यैर्यैरिति । यैर्वक्ष्यमाणैरुपायैः संप्रयुक्तमर्थमुत्तमर्णो लभते तैस्तैरुपायैर्वशीकृतमर्थं दापयेत् ॥ ४८ ॥

तानुपायानाह—

**धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।**
**प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥**

धर्मेणेत्यादि । धर्मादिना प्रयुक्तमर्थं साधयेत् । तत्र धर्मानाह बृहस्पतिः । सुहृत्संबन्धिसंदिष्टैः साम्ना चानुगमेन च । प्रायेण वा ऋणी दाप्यो धर्म एष उदाहृतः ॥ देये धनेऽधमर्णस्याविप्रतिपत्तौ व्यवहारेण । तथा च वक्ष्यति । अर्थेऽपव्ययमानं त्विति । मेधातिथिस्तु निःस्वो यः स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यत्कर्मोपकरणं धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं त-

स्मात्तु गृह्णीयादित्याह । छलादीनि त्रीण्याह बृहस्पतिः । छद्मना याचितं चार्थमानीय ऋणिकाद्बली । अन्याहृतादि वाहृत्य दाप्यते तत्र सोपधिः ॥ दारपुत्रपशून् हत्वा कृत्वा द्वारोपवेशनम् । यत्रार्थी दाप्यतेऽर्थं स्वं तदाचरितमुच्यते ॥ बध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः । ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥ ४९ ॥

**यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।**
**न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥५०॥**

य इत्यादि । य उत्तमर्णः संप्रतिपन्नमर्थमधमर्णात्स्वयं बलादिना साधयति स स्वीयं धनं सम्यक् साधयन् अस्मास्वनिवेद्य किमिति बलादिकं कृतवानसीति न राज्ञा निषेद्धव्यः ॥ ५० ॥

**अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।**
**दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥**

अर्थ इति । नाहमस्मै धारयामीति धनविषये अपह्नवानमधमर्णं करणेन लेख्यसाक्षिदिव्यादिना प्रतिपादितमर्थमुत्तमर्णस्य राजा प्रदापयेत् । दण्डलेशं च अपह्नवे तु द्विगुणमिति वक्ष्यमाणदशभागदण्डान्न्यूनमपि दण्डं पुरुषशक्त्या दापयेत् ॥ ५१ ॥

**अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।**
**अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥**

अपेति । उत्तमर्णस्य धनं देहीति सभायां प्राड्विवाकेन उक्तस्याधमर्णस्य नास्मै धारयामीति अपलापे सति अभियोक्ताऽर्थी देश्यं धनप्रयोगदेशवर्तिसाक्षिणं निर्दिशेत् । प्रायेण साक्षिभिरेव स्त्रीमूर्खादिसाधारणनिर्णयात् प्राक्साक्ष्युपन्यासः । अन्यद्वा करणं पत्रादि कथयेत् ॥ ५२ ॥

**अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।**
**यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुद्ध्यते ॥ ५३ ॥**
**अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।**
**सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥**

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

अदेश्यमिति । अपदिश्येति । असंभाष्ये इति । ब्रूहीत्यादि । अदेश्यं यत्र देशे अधमर्णस्य ऋणग्रहणकाले सर्वदावस्थानं न संभवतीति । निर्दिश्य चादेशादिकं नैतन्मया निर्दिष्टमिति अपनयति । यश्च पूर्वोक्तानर्थान् स्वार्थान् स्वोक्तान् विरुद्धान् वावगच्छति । यश्च मम हस्तात्सुवर्णस्य पलमनेन गृहीतमिति निर्दिष्टं निर्दिश्य मत्पुत्रहस्ताद्गृहीतमिति एवमादिना यः पुनरपसरति यश्च सम्यक् प्रतिज्ञातमर्थं कस्मात्त्वया रात्रावसाक्षिकं दत्तमित्येवमादि प्राड्विवाकेन पृष्टः सन्न समाधत्ते । यश्च संभाषणानर्हनिर्जनादिदेशे साक्षिभिः सहान्योन्यं संभाषते । यश्च भाषार्थस्थिरीकरणाय नितरामुच्यमानं प्राड्विवाकेन प्रश्नं नेच्छेत् । यश्च निष्पतेत् उक्तांश्च व्यवहारान् पुराऽनाख्याय यथास्थानात् स्थानान्तरं गच्छेत् । यश्च ब्रूहीत्युक्तो न किञ्चिद्ब्रवीति । उक्तं साध्यं न प्रमाणेन प्रतिपादयति । पूर्वं साधनं अपरं साध्यं तद्यो न जानाति । असाधनमेव साधनत्वेन निर्दिशति । असाध्यमेव मानेन शशशृङ्गगतं धनुर्ज्ञेयमित्यादिसाध्यत्वेन निर्दिशति । स तस्मात्साध्यादर्थाद्धीयते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्ता दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

साक्षिण इति । सक्षिणो मम विद्यन्त इत्युक्त्वा तान्निर्दिशेत्युक्तो यो न निर्दिशति तं पूर्वोक्तैरेभिः कारणैर्धर्मस्थः प्राड्विवाकः पराजितं कथयेत् । ज्ञातारः सन्ति मेत्युक्त्वा इति वा पाठः । अत्र छान्दसमिकारस्य पररूपत्वम् ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्ध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

अभियोक्तेति । योऽर्थी सन् राजस्थाने निवेद्य भाषायां न

ब्रूयात्तदा विषयगौरवापेक्षया वक्ष्यो लघुनि विषये दण्ड्यश्च धर्मतः स्यात्प्रत्यर्थी । पुनर्यदि पक्षत्रयमध्ये न ब्रूयात्तदा धर्मत एव पराजितः स्यात् न तु छलेन ॥ ५८ ॥

**यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।**
**तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥**

य इति । यः प्रत्यर्थी यत्परिमाणधनमपनयति अर्थी वा यत्परिमाणधने मिथ्या वदति तावधार्मिकौ अपह्नुतमिथ्योक्तधनाद्द्विगुणं दण्डरूपं दापनीयौ । अधर्मज्ञाविति वचनात् ज्ञानपूर्वापह्नवमिथ्योक्तिविषयमिदम् । प्रमादादिनापलापमिथ्यानियोगापह्नवे द्विगुणमिति शतदशमभागं वक्ष्यति ॥ ५९ ॥

**पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।**
**त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥**

पृष्ट इति । धनार्थिनोत्तमर्णेन राजपुरुषापकर्षं कृताह्वानः प्राड्विवाकेन पृष्टः सन् यदा न धारयामीत्यपह्नवानो भवति तदा नृपत्यधिकृतब्राह्मणसमक्षं त्र्यवरैः साक्षिभिस्त्रयोऽवरा न्यूना येषां तैरर्थिना भावनीयः ॥ ६० ॥

**यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।**
**तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥**

यादृशा इति । धनिभिरुत्तमर्णादिभिः ऋणादानादिव्यवहारेषु यथाविधाः साक्षिणः कर्तव्यास्तथाविधान् वदिष्यामि । यथा च तैरपि वक्तव्यं तमपि प्रकारं वक्ष्यामि ॥ ६१ ॥

**गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।**
**अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥६२॥**

गृहिण इति । कृतदारपरिग्रहाः पुत्रवन्तस्तद्देशजाः क्षत्रियशूद्रवैश्यजातीयाः अर्थिनिर्दिष्टाः सन्तः साक्षित्वयोग्या भवन्ति । ते हि कृतपरिकरपुत्रभयात्तद्देशवासिनां विरोधाच्च नान्यथा वदन्ति न तु ये केचिदृणादानादिव्यवहारेषु साक्षिणः स्युः । आपदि तु वाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणादिषूक्तव्यतिरिक्ताः साक्षिणो भवन्ति ॥ ६२ ॥

**आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।**
**सर्वधर्मविदो लुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥**

आप्ता इत्यादि । क्षत्रविट्शूद्रयोनय इत्युक्तत्वात्ततो ब्राह्मणपरिग्रहार्थं सर्वेषु वर्णेषु इत्यभिधानम् । सर्ववर्णेषु मध्ये ये यथार्थावगतवादिनः सर्वधर्मज्ञानोत्तरसहितास्ते साक्षिणः कर्तव्याः उक्तविपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

**नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।**
**न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ६४**

नार्थसंबन्धिन इत्यादि । ऋणाद्यर्थसंबन्धिनोऽधमर्णाद्याः । आप्तानि मित्राणि सहायास्तत्परिचारकाः शत्रवः स्थानान्तरावगतकौटसाक्ष्याः रोगपीडिता महापातकादिदूषिताः साक्षिणो न कर्तव्याः । लोभरागद्वेषस्मृतिभ्रंशादीनामन्यथाभिधानहेतूनां संभवात् ॥ ६४ ॥

**न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।**
**न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ६५**

न साक्षीति । प्रभुत्वात्साक्षिधर्मेण प्रष्टुमयोग्यत्वान्न राजा साक्षी कार्यः । कारुः सूपकारादिः कुशीलवो नटादिः तयोः स्वकर्मव्यग्रत्वात् । प्रायेण धनलोभवत्त्वाच्चासाक्षित्वम् । श्रोत्रियोऽप्यध्ययनाग्निहोत्रादिकर्मव्यग्रतया न साक्षी । लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी संगनिर्गतः परिव्राजकस्तयोरपि स्वकर्मव्यग्रत्वाद्ब्रह्मनिष्ठत्वाच्चासाक्षित्वम् । श्रोत्रियग्रहणादध्ययनाग्निहोत्रादिव्यग्रेतरब्राह्मणस्यानिषेधः ॥ ६५ ॥

**नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।**
**न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥६६॥**

नाध्यधीन इति । आध्यधीनोऽत्यन्तपरतन्त्रो गर्भदासो न वक्तव्यो विहितकर्मत्यागाल्लोकविगर्हितः दस्युः क्रूरकर्मा न चौरो नापि तस्कर इति वक्ष्यमाणत्वात् । विकर्मकृत् निषिद्धकर्मकारी एतेषां रागद्वेषादिसंभवात् । न वृद्धः प्रायेण स्मृतिभ्रंशसंभवात् । न बालोऽप्राप्तव्यवहारत्वात् । नैको विनाशप्रवासशङ्कया तस्य त्र्यवरैरिति विधानात् । अर्थप्रतिषेधसिद्धौ कस्यांचिदवस्थायां द्वयोरभ्यनुज्ञानार्थं

निषेधवचनम् । अन्त्यश्चाण्डालादिः । कर्मानभिज्ञातत्वात् । विकलेन्द्रिय उपलब्धिवैकल्यान्न साक्षी कार्यः ॥ ६६ ॥

**नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।**
**न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ६७**

नार्त इति । आर्तो बन्धुविनाशादिना । मत्तो मद्यादिना । उन्मत्त उत्क्षेपभूतावेशादिना । क्षुधापिपासादिना पीडितः । श्रमार्तः वर्त्मगमनादिना खिन्नः । कामार्त उत्पन्नक्रोधश्चौरश्च न साक्षी कार्य इति सर्वत्र संबध्यते । तत्रार्तादिर्बुद्धिवैकल्यात् चौरस्त्वधार्मिकत्वात् ॥

**स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।**
**शूद्राश्च संतः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥**

स्त्रीणामित्यादि । स्त्रीणामन्योन्यव्यवहारे ऋणादानादौ स्त्रियः साक्षिण्यो भवन्ति । द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां सदृशाः सजातीयाः साक्षिणः स्युः । एवं शूद्राः साधवः शूद्राणां चाण्डालादीनां चाण्डालादयः साक्षिणो भवेयुः । एतच्च सजातीयसाक्ष्यभिधानमुक्तलक्षणसजातीयसाक्ष्यसंभवे विजातीया अपि साक्षिणो भवन्ति । अत एव याज्ञवल्क्यः । यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६८ ॥

**अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।**
**अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥**

अनुभावीति । गृहाभ्यन्तरेऽरण्यादौ वा चौरादिकृतोपद्रवे देहोपघाते वाततात्र्यादिकृते यः कश्चिदुपलभ्यते स वादिनोरेव साक्षी भवति । न तु ऋणादानादिवदुक्तलक्षणोपेतः ॥ ६९ ॥

तदेवोदाहरणात्स्पष्टयति—

**स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।**
**शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥**

स्त्रियापीति । अन्तर्वेश्मादावुक्तसाक्ष्यभावे सति स्त्रीबालवृद्धशिष्यबन्धुदासकर्मकरा अपि साक्षिणः स्युः ॥ ७० ॥

नन्वस्थिरबुद्धित्वादिना स्त्रीबालादीनां कथमत्रापि साक्षित्वमित्यत्राह—

**बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।**
**जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥**

बालवृद्धेति । बालवृद्धव्याधितानामुपप्लुतमनसां च साक्ष्ये अनृतं वदतां अस्थिरा वाग्भवति अतस्तामनुमानेन जानीयात् । यथोक्तम् । वाग्भिर्विभावयेल्लिङ्गैरिति ॥ ७१ ॥

**साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।**
**वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥**

साहसेष्विति । गृहदारादिषु साहसेष्वाचार्यस्त्रीसंग्रहणे वाग्दण्डपारुष्ये च गृहिण इत्युक्तसाक्षिपरीक्षा न कार्या । स्त्रियाप्यसंभवे कार्यमित्यस्यैवायमुदाहरणप्रपञ्चः ॥ ७२ ॥

**बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।**
**समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥**

बहुत्वमित्यादि । साक्षिणां परस्परविरुद्धानां बहुभिर्यदुक्तं तदेव निर्णयार्थत्वेन राजा गृह्णीयात् । समेषु तु विरुद्धार्थाभिधायिषु गुणवतः प्रमाणीकुर्यात् । गुणवतामेव विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान् द्विजेषु ये उत्तमाः क्रियावन्त इत्यर्थः । अत एव बृहस्पतिः । गुणिद्वैधे क्रियायुक्ता इति । गोविन्दराजस्तु गुणवतां विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान् ब्राह्मणान् प्रमाणीकुर्यादित्याह ॥ ७३ ॥

**समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।**
**तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥**

समक्षेति । चक्षुर्ग्राह्ये साक्षाद्दर्शनात् श्रोत्रग्राह्ये श्रवणात् साक्ष्यं सिद्ध्यति । तत्र साक्षी सत्यं वदन् धर्मार्थाभ्यां न मुच्यते । सत्यवचनेन धर्मोपपत्तेर्दण्डाभावेऽर्थहान्यभावात् ॥ ७४ ॥

**साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्ब्रुवन्नार्यसंसदि ।**
**अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥**

साक्षीत्यादि । साक्षी दृष्टश्रुतादन्यादृशं साधुसभायां वदन् अधोमुखो नरकं गच्छति । परलोके च कर्मान्तरजन्यस्वर्गरूपफलादनेन पापेन हीयते ॥ ७५ ॥

**यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ।**
**दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥**

यत्रेत्यादि । त्वमस्मिन् विषये साक्षी भव इत्येवमकृतोऽपि यत्किंचिद्दृणादानादि पश्यति वाक्पारुष्यादिकं शृणोति तत्रापि साक्षी स पृष्टः सन् यथोपलब्धं कथयेत् । अयं त्वकृतसाक्षी सामान्येन मनुनोक्तः । अस्य ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा चेत्यादिना नारदादिभिः षाड्विध्यमुक्तम् ॥ ७६ ॥

**एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्वयः शुच्योऽपि न स्त्रियः।**
**स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७॥**

एक इत्यादि । एकोऽलुब्ध इत्यत्राकारप्रश्लेषो द्रष्टव्यः । एकोऽपि साक्षी लोभादिरहितः स्यात् । अत एव व्यासः । शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् । प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः ॥ मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यामेको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यादिति पठितं व्याख्यातं च । लोभात्मकः एकः साक्षी न भवति एवं चालुब्धो गुणवान् कस्यांचिदवस्थायामेकोऽपि भवतीति । स्त्रियः पुनरात्मशौचादियुक्ता बह्वयोऽप्यस्थिरबुद्धित्वादृणादानाद्यैः पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिण्यो न भवन्ति । अपर्यालोचिते तु स्तेयवाग्दण्डपारुष्यादौ स्त्रियाप्यसंभवे कार्यमिति साक्षित्वमुक्तम् । अन्येऽपि ये स्तेयादिदोषैर्व्याप्तास्तेऽपि पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिणो न स्युः ॥७७॥

**स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।**
**अतो यदन्यद्ब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥**

स्वभावेनेति । यत्साक्षिणो भयादिव्यतिरेकेण स्वभावाद्यद्ब्रूयुस्तद्व्यवहारनिर्णयार्थं ग्राह्यम् । यत्पुनः स्वाभाविकादन्यत्कुतोऽपि कारणाद्वदन्ति तद्धर्मविषये निष्प्रयोजनं तन्न ग्राह्यम् ॥ ७८ ॥

**सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।**
**प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन्॥७९॥**

सभान्तरित्यादि । सभामध्यं साक्षिणः संप्रातान् अर्थिप्रत्यर्थिसमक्षं राजाधिकृतो ब्राह्मणः प्रियोक्तिं रचयन् वक्ष्यमाणप्रकारेण पृच्छेत् ॥ ७९ ॥

**यद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।**
**तद्भूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥**

यद्वयोरिति । यद्वयोरर्थिप्रत्यर्थिनोरनयोः परस्परमस्मिन्कार्ये चेष्टितं जानीथ तत्सर्वं सत्येन कथयत । यतो युष्माकमत्र साक्षित्वम् ॥

**सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।**
**इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥**

सत्यमिति । साक्षी साक्ष्ये कर्मणि सत्यं वदन्सन् उत्कृष्टान् ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति । पुष्कलानिह लोकेषु चात्युत्कृष्टां ख्यातिं लभते । यस्मादेषा सत्यात्मिका वाक् चतुर्मुखेन पूजिता ॥ ८१ ॥

**साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।**
**विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥**

साक्ष्य इत्यादि । यस्मात्साक्षी मृषा वाचं कथयन् वरुणसंबन्धिभिः पाशैः सपरज्जुभिः जलोदरेण परतन्त्रीकृतः शतं जन्मानि यावत् अत्यर्थं पीड्यते । तस्मात्साक्ष्ये सत्यं ब्रूयात् ॥ ८२ ॥

**सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।**
**तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥**

सत्येनेत्यादि । यस्मात्सत्येन पूर्वार्जितादपि पापात्साक्षी मुच्यते धर्मश्चास्य सत्याभिधानेन वृद्धिमेति तस्मात्सर्ववर्णविषये साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् ॥ ८३ ॥

**आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।**
**मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥**

आत्मैवेति । यस्माच्छुभाशुकर्मप्रतिष्ठा आत्मैवात्मनः शरणं तस्मादेवं स्वमात्मानं नराणां मध्यमादुत्तमं साक्षिणं मृषाभिज्ञानेनावज्ञासीः ॥ ८४ ॥

**मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।**
**तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥**

मन्यन्त इति । पापकारिण एवं मन्यन्ते अस्मानधर्मप्रवृत्तान्न कश्चित्पश्यतीति तान्पुनर्वक्ष्यमाणा देवाः पश्यन्ति स्वस्यान्तरपुरुषः पश्यति ॥ ८५ ॥

**द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।**
**रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥८६॥**

द्यौरित्यादि । द्युलोकपृथिवीजलहृदयस्थजीवचन्द्रादित्याग्नियमवायुरात्रिसंध्याद्वयधर्माः सर्वशरीरिणां शुभाशुभधर्मज्ञाः । दिवादीनां चाधिष्ठातृदेवतास्ति सा च शरीरिण्यैकत्रावस्थापिता तत्सर्वं जानातीति आगमप्रामाण्याद्वेदान्तदर्शनं तदङ्गीकृत्येदमुक्तम् ॥ ८६ ॥

**देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।**
**उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ८७**

देवब्राह्मणेति । प्रतिमादेवताब्राह्मणसन्निधाने शुचीन् द्विजातिप्रभृतीन् प्राङ्मुखान् उदङ्मुखान् वा स्वयं प्रयतः प्राङ्विवाकः पूर्वाह्णे काले याथातथ्यं साक्ष्यं पृच्छेत् ॥ ८७ ॥

**ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।**
**गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥**

ब्रूहीत्यादि । ब्रूहीत्येवं शब्दमुच्चार्य ब्राह्मणं पृच्छेत् । सत्यं ब्रूहीति पार्थिवं क्षत्रियं पृच्छेत् । गोबीजसुवर्णापहारे यत्पापं तद्भवतोऽनृताभिधाने स्यादित्येवं वैश्यम् । शूद्रं पुनः सर्वैर्वक्ष्यमाणपापैः संबध्य यदि मृषा वदसीति पृच्छेत् ॥ ८८ ॥

**ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।**
**मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥**

ब्रह्मघ्न इति । ब्राह्मणहन्तुः स्त्रीघातिनो बालघातिनश्च ये नरकादिलोका ऋषिभिः स्मृताः येच मित्रद्रोहादिकारिणः ये चोपकर्तुरपकारिणस्ते तव मिथ्यावदतो भवेयुः ॥ ८९ ॥

**जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ॥**
**तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥**

जन्मप्रभृतीत्यादि । हेशुभाधार यत्त्वया जन्मत आरभ्य किञ्चित्सुकृतं कृतं तत्सर्वं त्वदीयं कुक्कुरादिकं संक्रामति यदि त्वमसत्यं ब्रवीषि ॥ ९० ॥

**एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।**
**नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥**

एकोऽहमित्यादि । हेभद्र एक एवाहमस्मि जीवात्मक इति यदात्मानं मन्यसे मैवं मंस्थाः । यस्मादेवं पापानां पुण्यानां च द्रष्टा मननान्मुनिः सर्वज्ञस्तव हृदये परमात्मा नित्यमवस्थितः । तथा च श्रुतिः । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ९१ ॥

**यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।**
**तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥९२॥**

यम इति । सर्वसंयमनाद्यमः परमात्मा वैवस्वत इति दण्डधारित्वात् देवनाद्देवः यस्तवैष हृदि तिष्ठति तेन सह यथार्थकथनेन यदि तवाविवादः यदा त्वन्मनोगतमसावन्यज्जानाति त्वं चान्यथा कथयसि तदान्तर्यामिणा सह विप्रतिपत्तिः स्यात् । एवं चात्र सत्याभिधानेनैव निःपापः कृतकृत्योऽसि पापनिर्हरणार्थं मा गङ्गां मा च कुरुक्षेत्रं यासीः । मनूक्तमेवात्र गङ्गाकुरुक्षेत्रयोः साम्यं मत्स्यपुराणे व्यासेन स्फुटीकृतम् । कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहितेति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु विवस्वतः पुत्रो यो यमो दक्षिणदिक्पतिर्लोकतः कर्णगोचरीभूतत्वात्तव हृदये परिस्फुरति तेन सह यदि तवाधर्मकारित्वाद्विवादो नास्ति तदा मा गङ्गां मा कुरुक्षेत्रं यासीरिति व्याचक्षाते ॥ ९२ ॥

**नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।**
**अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥**

नग्न इति । यः साक्ष्यं असत्यं वदेत् स नग्नः कृतमुण्डनपरिभा-

वोऽन्धः कर्परेणोपलक्षितः भिक्षार्थी शत्रुकुलं गच्छेत् ॥ ९३ ॥

**अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।**
**यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥**

अवागिति । यो धर्मनिश्चयनिमित्तं पृष्टः सन् असत्यं ब्रूयात्स पापवान् अधोमुखो महान्धकारे यो नरकस्तं गच्छति ॥ ९४ ॥

**अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।**
**यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥**

अन्ध इति । यः सभां प्राप्तस्तत्त्वार्थस्यायथार्थस्याभिप्रायं अनुपलब्धमुत्कोचादिसुखलेशेन कथयति स नरोऽन्ध इव सकण्टकान्मत्स्यान् भक्षयति सुखबुद्ध्या प्रवृत्तो दुःखमेव महल्लभते ॥ ९५ ॥

**यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।**
**तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥**

यस्येति । यस्य वदतः सर्वज्ञोऽन्तर्यामी किमयं सत्यं वदत्युतानृतमिति न शङ्केत किंतु सत्यमेवायं वदति निर्विशङ्कः संपद्यते । तस्मादन्यं प्रशस्ततरं पुरुषं देवा न जानन्ति ॥ ९६ ॥

**यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।**
**तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः॥९७॥**

यावत इति । यस्मिंस्तथानिमित्ते साक्ष्ये यत्संख्याकान् पित्रादिवान्धवान् नरके योजयति तत्संख्याकान् क्रमेण परिगणनया मयोच्यमानान्साधो शृणु । अथवा यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति यावतां बान्धवानां हननफलं प्राप्नोति तावत्संख्याकान् शृणु पक्षद्वयेऽप्यनृतनिन्दार्थमिदम् ॥ ९७ ॥

**पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।**
**शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥**

पञ्चेति । पशुविषयेऽनृते पञ्च बान्धवान् नरके योजयति पञ्चानां बान्धवानां हननफलं प्राप्नोति । एवं दश गोविषये संख्यागौरवं चेदं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ९८ ॥

**हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।**
**सर्वं भूम्यनृते हन्ति मास्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥**

हन्तीति । हिरण्यार्थे अनृतं वदन् जातान् अजातांश्च पुत्रप्रभृतीन् नरके योजयति एषां हननफलं प्राप्नोति । भूमिविषये चानृतं वदन् सर्वप्राणिनां हननफलं प्राप्नोति तस्माद्भूमिविषयेऽनृतं मावदीरिति विशिष्याभिधानम् ॥ ९९ ॥

वैदूर्यादिषु अनृतं वदतः भूमिवद्दोषमाह—

**अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।**
**अञ्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥**

अप्स्विति । तडागकूपप्राह्योदकविषयेऽनृते स्त्रीणां च मैथुनाख्योपभोगविषये अञ्जेषु च रत्नेषु च मुक्तादिषु पाषाणमयेषु वैदूर्यादिषु अनृते भूमिवद्दोषमाहुः ॥ १०० ॥

**एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।**
**यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥**

एतानिति । एनानसत्यभाषणदोषानधिगम्य दृष्टश्रुतानतिक्रमेण सर्वमेवाञ्जसा तत्त्वतो ब्रूहि ॥ १०१ ॥

**गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।**
**प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥१०२॥**

गोरक्षकानित्यादि । गोरक्षणजीविनो वाणिज्यजीविनः सूपकारादिकारुकर्मजीविनः दासकर्मजीविनः प्रतिषिद्धजीविनो ब्राह्मणान् प्रकृतसाक्ष्यदर्शने शूद्रवत् पृच्छेत् ॥ १०२ ॥

**तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।**
**न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् १०३**

तद्वदन्निति । तदेतत्साक्ष्यमन्यथापि जानन्मनुष्यो धर्मेण दयादिना व्यवहारेष्वन्यथा वदन्स्वर्गलोकान्न भ्रश्यति यस्माद्यदेतन्निमित्तविशेषेणासत्याभिधानं तां देवसंबन्धिनीं वाचं मन्वादयो वदन्ति ॥

क्व पुनस्तदसत्यं वक्तव्यमित्यत आह—

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रतोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

शूद्रेति । यस्मिन् व्यवहारे सत्याभिधाने सति शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां वधः संपद्यते तत्रासत्यं वक्तव्यम् । यस्मात् यस्मिन् विषये अनृतं यत्तत्प्राणरक्षणेन सत्याद्विशिष्यते । एतच्च प्रमादस्खलिताधर्मविषयत्वेन सत्यन्ताधार्मिकसंधिकारस्तेनादिविषये । तथा गोतमः । नानृतवदने दोषो यज्जीवनं चेत्तदधीनं न तु पापीयसो जीवनमिति । न च । न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितमिति मनुनैव वक्ष्यमाणत्वान्न ब्राह्मणवधप्रसक्तिरिति वाच्यम् । उग्रदण्डत्वाद्राज्ञः कथंचित्संभवात् । अत्र वचने शूद्रादिक्रमेणाभिधानं वधस्यामङ्गलत्वात् ॥

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥

वाग्दैवत्यैरिति । ते साक्षिणोऽनृताभिधायिनो वाग्देवताकैश्चरुभिः सरस्वतीं यजेरन् । तस्यानृताभिधानजनितपापस्य प्रकृष्टां शुद्धिं कुर्वाणाः । साक्षिबहुत्वापेक्षं चेदम् । न त्वेकस्येव साक्षिणः कपिञ्जलन्यायेन चरुत्रयम् । यद्यपि वाग्देवताके चरौ वाक्शब्देनैव देवतात्वं न सरस्वतीशब्देन विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यादिति न्यायात्तथापि वाग्वै सरस्वतीति श्रुतेर्वाक्सरस्वत्योरेकार्थत्वात्सरस्वतीमित्युपसंहारः । अत्र प्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थम् । तत्र क्रियमाणे शूद्रविट्क्षत्रियब्राह्मवधविषयानृतवादिन इत्यपि वक्तव्यं स्यात् ॥ १०५ ॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या त्र्यृचेनाब्दैवतेन वा ॥१०६॥

कूष्माण्डैरिति । कूष्माण्डमन्त्रा यजुर्वेदिका यद्देवा देवहेडनमित्येवमादयस्तैर्मन्त्रदेवतायै घृतमग्नौ जुहुयात् । यथाविधि परिस्तरणादि त्वात्मधर्मेण स्वगृह्योक्तेन । उदुत्तमं वरुणपाशमित्येतया वरुणदेवताकया आपोहिष्ठा इति त्र्यृचेन वाब्देवताकेन जुहुयात् । घृतमग्नाविति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

त्रिपक्षादिति । अव्याधितः साक्षी ऋणादानादिव्यवहारे त्रिपक्षपर्यन्तं यदि साक्ष्यं न वदेत्तद्विवादास्पदं सर्वमृणमुत्तमर्णस्य दद्यात्तस्य च सर्वस्य ऋणस्य दशमं भागं राज्ञो दण्डं दद्यात् ॥ १०७ ॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

यस्येति । यस्य साक्षिणः उक्तसाक्ष्यस्य सप्ताहमध्ये व्याध्यग्निदाहसन्निहितपुत्रादिज्ञातिमरणानामन्यतमं भवति दैवसूचितमिथ्याभिदोषत्वादृणमुत्तमर्णस्य दण्डं च राज्ञा दाप्यः ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु सर्वेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दन्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

असाक्षिकेष्विति । अविद्यमानेषु साक्षिकेषु व्यवहारेषु परस्परं विवदमानयोस्तद्बलाबलादिव्यतिरेकेण सत्यमलभमानः प्राड्विवाकेन वक्ष्यमाणेन शपथेनोन्नयेत् ॥ १०९ ॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे वै यवने नृपे ॥ ११० ॥

महर्षिभिश्चेति । सप्तर्षिभिर्देवैश्च इन्द्रादिभिः संदिग्धकार्यनिर्णयार्थं शपथाः कृताः । वसिष्ठोऽप्यनेन पुत्रशतं भक्षितमिति विश्वामित्रेणाक्रुष्टः स्वपरिशुद्धयेऽपि यवनापत्ये सुदास्नि राजनि शपथं चकार । अनेकार्थत्वाद्धातूनां शपिरपि करोत्यर्थः ॥ ११०

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

न वृथेति । स्वल्पेऽपि कार्ये न वृथा शपथं पण्डितः कुर्यात् । वृथा शपथं कुर्वन् परलोके इह लोके च नाशं प्राप्नोति ॥ १११ ॥

वृथाशपथप्रतिप्रसवार्थमाह—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ११२

कामिनीष्विति । बहुभार्यस्य नान्यामहं कामये त्वमेव मत्प्रेयसीति एवंविशिष्टः सुरतलाभार्थं कामिनीविषये विवाहविषये च मया अन्या न वोढव्येत्यादौ । गवार्थं घासाद्युपहारे च अग्नौ होमार्थमिन्धनाद्युपहारे ब्राह्मणरक्षार्थमङ्गीकृतधनादौ वृथा शपथे पापं न भवति ॥ ११२ ॥

**सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।**
**गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥**

सत्येनेति । ब्राह्मणं सत्यशब्दोच्चारणेन शापयेत् । क्षत्रियं वाहनायुधं मम निष्फलं स्यादित्येवम् । वैश्यं गोबीजकाञ्चनानि च मम निष्फलानि स्युः । शूद्रं च सर्वाणि मे पातकानि स्युरित्येवं शापयेत्कार्यगौरवलाघवापेक्षया ॥ ११३ ॥

**अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।**
**पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥**

अग्निमिति । अग्निसन्निभं पञ्चाशत्पलिकमष्टाङ्गुलमयःपिण्डं हस्तद्वयविन्यस्तसप्ताश्वत्थपत्रं शूद्रादिकं सप्त पदानि पितामहाद्युक्तविधानादाहारयेत् । जलौकादिरहितजले चैनं निमज्जयेत् । अशेषेतिकर्तव्यता स्मृत्यन्तरे ज्ञेया । पुत्राणां दाराणां च पृथक् शिरसि एनं स्पर्शयेत् ॥ ११४ ॥

**यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।**
**न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ११५**

यमिति । यं प्रदीप्तोऽग्निर्न दहति आपश्च यं नोर्ध्वं नयन्ति न चार्तिमेव महतीं प्राप्नोति स शपथे विशुद्धो ज्ञेयः ॥ ११५ ॥

अत्र प्रकृतमर्थवादमाह—

**वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।**
**नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ॥११६॥**

वत्सस्येति । यस्मात्पूर्वकाले वत्सनाम्न ऋषेर्न त्वं ब्राह्मणः शूद्रापत्योऽसीत्येवं कनीयसा वैमात्रेयेणाभिक्रुष्टस्य नैतदेवमिति स यथार्थमग्निं प्रविष्टस्याग्निः सर्वस्य जगतः शुभाशुभकर्तव्ये चारुभूतः सत्येन हेतुनारोमैकमपि वह्निर्न दग्धवान् ॥ ११६ ॥

**यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।**
**तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥**

यस्मिन्निति । यस्मिन् यस्मिन् व्यवहारे साक्षिभिरनृतमुक्तमिति निश्चितं भवेत्तत्कार्यं समाप्तं प्राड्विवाकः पुनरपि निवर्तयेत् । यदपि च दण्डसमाप्तिपर्यन्ततां नीतं तदपि पुनः परीक्षेत् ॥ ११७ ॥

वक्ष्यमाणविशेषार्थं लोभादीन्पृथक् निर्दिशति—

**लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामाक्रोधात्तथैव च ।**
**अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥**

लोभादिति । लोभेन विपरीतज्ञानेन भयेन स्नेहेन कामेन क्रोधेनाज्ञानेनानवधानेन साक्ष्यमसत्यमुच्यते ॥ ११८ ॥

**एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।**
**तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥**

एषामिति । एषां लोभादीनां मध्यादन्यतमस्मिन्निमित्ते सति यो मिथ्या साक्ष्यं कथयेत् तस्य दण्डविशेषाणि क्रमशो वदिष्यामि ॥

**लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।**
**भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥**

लोभादिति । लोभेन मिथ्याभिधाने सति वक्ष्यमाणानां सहस्रं दण्ड्यः । मोहेन प्रथमं साहसं वक्ष्यमाणं भयेन च वक्ष्यमाणौ मध्यमसाहसौ मैत्रात्प्रथमसाहसं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

**कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।**
**अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥**

कामादिति । स्त्रीसंभोगरूपकामानुरोधेन मिथ्या वदन् प्रथमसाहसं दशगुणं दण्ड्यः । क्रोधेन तु परं मध्यमसाहसं त्रिगुणं वक्ष्यमाणं आज्ञानाद्द्वे शते बालिश्यादनवधानात्पणशतमेव दण्ड्य इति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १२१ ॥

**एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।**
**धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥**

एतानिति । सत्यरूपधर्मस्यापरिलोपार्थमसत्यरूपाधर्मस्य च वारणार्थमेतान्कौटसाक्ष्यविषये पूर्वैर्मुनिभिरुक्तान् दण्डान्मन्वादय आहुः। एतच्च सर्वकौटसाक्ष्ये भूयोभूयः कौटसाक्ष्यकरणेषु च ॥ १२२ ॥

**कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान्स्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।**
**प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३॥**

कौटसाक्ष्यमिति । क्षत्रियादीन् त्रीन्वर्णान् कौटसाक्ष्यात्पूर्वोक्तेन दण्डयित्वा धार्मिको राजा स्वराष्ट्राद्विवासयेत् । ब्राह्मणं तु धनदण्डव्यतिरिक्तेन स्वराष्ट्रान्निःसारयेत् । न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतमिति धनसहितनिर्वासनस्याभिधास्यमानत्वात् । गोविन्दराजस्तु पूर्वं दण्डेन दण्डयित्वा नग्नं कुर्यादिति व्याचष्टे । मेधातिथिस्तु ब्राह्मणस्य विवासस्त्वं वासोऽपहरणं गृहभङ्गो वेत्याचष्टे ॥ १२३

**दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।**
**त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्॥१२४॥**

दशेति । हैरण्यगर्भो मनुर्दश दण्डस्थानान्युक्तवान् । यानि क्षत्रियादिवर्णत्रयविषये भवन्ति । ब्राह्मणः पुनर्महत्यपराधे अक्षतशरीरो देशान्निःसार्यते ॥ १२४ ॥

**उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।**
**चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५॥**

उपस्थमिति । लिङ्गादीन्येतानि दश दण्डस्थानानि अतस्तदङ्गेनापराधे सति प्रतिषेधगौरवापेक्षया तदङ्गताडनवेदनादि कर्तव्यम् । अल्पापराधे यथाश्रुतं धनदण्डः । देहदण्डो मारणं महापातकादौ ॥

**अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।**
**सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डेषु पातयेत् १२६**

अनुबन्धमिति । पुनःपुनरिच्छातोऽपराधकरणमपेक्ष्य ग्रामारण्यादिनाऽवस्थानं रात्र्यादिकं वा अपराधस्यापेक्ष्य सारं चापराधकारिणो धनशरीरादिसामर्थ्यमपराधं च गुरुलघुभावेन चालोक्य दण्डनीयेषु दण्डं कुर्यात् । एतच्चाभिहिताभिधास्यमानदण्डशेषभूतम् ॥

**अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।**
**अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७॥**

अधर्मेति । जीवतः ख्यातिर्यशः मृतस्य ख्यातिः कीर्तिः यस्मादनुबन्धाद्यनपेक्ष्य दण्डनमिह यशोनाशनं मृतस्य च कीर्तिनाशनं परलोके च धर्मान्तरार्जितस्वर्गप्रतिबन्धकं तस्मात्तत्परित्यजेत् १२७

**अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।**
**अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥**

अदण्ड्यानिति । राजा दण्डानर्हान् धनलोभादिना दण्डयन् दण्डार्हांश्चानुरोधादिना उत्सृजन् महतीमख्यातिं प्राप्नोति ॥१२८॥

**वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।**
**तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥**

वाग्दण्डमिति । न साधु कृतवानसि मैवं भूयः कार्षीरित्येवं वाङ्मिर्भर्त्सनं प्रथमापराधे गुणवतः कुर्यात् । तथापि यदि नोपश्याम्यति तदा धिक् जन्म मा जीवहानिस्ते पापस्य भूयादित्येवमादि तस्य कार्यम् । तदापि यद्यसन्मार्गान्न निवर्तते तदा धनदण्डमस्य तृतीयं कुर्यात् । एवमपि चेन्नावतिष्ठते तदातःपरं वधदण्डं ताडनाद्यङ्गच्छेदरूपं तस्य कुर्यान्न मारणम् । यतो वक्ष्यति वधेनापि यदा त्वेतानिति ॥

**वधेनापि यदा ह्येतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।**
**तदेषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३०॥**

वधेनेति । व्यस्तेनाङ्गच्छेदेनापि दण्ड्यान् वशे कर्तुं न शक्नुयात्तदा एतेषु सर्वं वाग्दण्डादिचतुष्टयं कुर्यात् ॥ १३० ॥

**लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।**
**ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥**

लोकेति । ताम्ररूप्यसुवर्णानां याः पणादिसंज्ञाः क्रयविक्रयादिलोकव्यवहारार्थं पृथिव्यां प्रसिद्धास्ता दण्डाद्युपयोगार्थं साकल्येन कथयिष्यामि ॥ १३१ ॥

कल्पौ विकल्पेताम् । अत्र मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पूर्ववृद्ध्या निर्वोढासंभवे द्विकशतपरिग्रह इति व्याचक्षाते । इदं तु वदामः संबन्धकेष्वशीतिभागग्रहणं बन्धकरहिते तु द्विकशतवृद्धिपरिग्रहः । तदाह याज्ञवल्क्यः । अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके । वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा । वेदान्तोद्गीतमहसो मुनेर्व्याख्यानमाद्रिये । तद्विरुद्धं स्वबुद्ध्या च निबद्धमधुनातनैः १४२

**न सेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।**
**न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः १४३**

नेति । भूमिगोधनादौ भोगार्थं बन्धके दत्ते धनप्रयोगभवामनन्तरोक्तां वृद्धिमुत्तमर्णो न लभते । कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानाद्द्विगुणीभूतमूलधनप्रवेशेऽपि न निसर्गोऽन्यस्मै दानं न वान्यतो विक्रयः । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु आधेश्चिरकालावस्थानेऽपि न निसर्गो नान्यत्र बन्धकेनार्पणमिति व्याचक्षाते । अत्र तु सर्वदेशीयशिष्टाचारविरोधः बन्धकीकृतभूम्यादेरन्यत्राधीकरणसमाचारात् ॥

**न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।**
**मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१४४॥**

न भोक्तव्य इति । गोप्याधिविषयं वचनमिदं वस्त्रालंकारादिर्गोप्याधिर्बलान्न भोक्तव्यः भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्प्राङ्मूल्येनात्रैनं तोषयेत्। यद्वा भोगेनासारतामाधौ नीते सारावस्थाधिमूल्यदानेन स्वामिनं तोषयेदन्यथा बन्धकचौरः स्यात् ॥ १४४ ॥

**आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।**
**अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५॥**

आधिश्चेति । आधिर्बन्धकः उपनिधीयत इत्युपनिधिः प्रीत्या भोगार्थमर्पितं द्रव्यम् । नारदस्मृतिलक्षितौ च निक्षेपोपनिधी तावेवात्रोपनिधिशब्देन गृह्येते । एतावाद्यूपनिधी चिरकालावस्थितावपि न कालात्ययमर्हतः । यदैव स्वामिना प्रार्थितौ तदैव तस्यावहार्यौ समर्पणीयावित्यर्थः ॥ १४५ ॥

**संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।**
**धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥**

संप्रीत्येति । यत्किंचिद्दश वर्षाणीत्यनन्तरं भोगेन स्वत्वहानिं वक्ष्यति तदपवादार्थमिदम् । दृश्यमाना गौरुष्ट्रोऽश्वश्च वहन् दमनार्थं च प्रयुक्तो बलीवर्दादिः एते प्रीत्या अन्येन तु भुज्यमानाः कदाचिदपि स्वामिनो न नश्यन्ति । प्रदर्शनार्थमिदं प्रीत्योपभुज्यमानं न नश्यतीति विवक्षितम् । सामान्योपक्रमं चेदं विशेषाभिधानमिति नपुंसकलिङ्गता।

**यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।**
**भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥**

यत्किञ्चिदिति । यत्किञ्चिद्धनजातं समक्षमेव प्रीत्यादिव्यतिरेकेण परैर्दश वर्षाणि भुज्यमानं स्वामी प्रेक्षते मा भुङ्क्ष्वेत्यादिप्रतिषेधोक्तिं न रचयति । नासौ तल्लब्धुं योग्यो भवति तस्य तत्र स्वाम्यं निवर्तत इति भावः ॥ १४७ ॥

**अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।**
**भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥**

अजड इति । जडो बुद्धिविकलः न्यूनषोडशवर्षः पौगण्डः । तथा च नारदः । बाल आषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चापि शब्दितः । स धनस्वामी यदि जडः पौगण्डश्च न भवति तदीयदर्शनविषये च तद्धनं भुज्यते तदा स्वामिनो व्यवहारेण नष्टं ततो भोक्तुरेव तद्धनं भवति ॥ १४८ ॥

**आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ।**
**राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति॥१४९॥**

आधिरिति । बन्धो ग्रामादिमर्यादा बालधनं निक्षेपः । वासनस्थमनाख्याय समुद्रं यन्निधीयत इति नारदोक्त उपनिधिलक्षणः दास्यादिस्त्रियो राजश्रोत्रियधनानि उक्तेन दशवर्षभोगेन न स्वामिनो नश्यन्ति न भोक्तुः स्वत्वं भजन्ते ॥ १४९ ॥

**यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।**
**तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः १५०**

यः स्वामिनेति । यो वृद्ध्या दत्तं बन्धं स्वाम्यनुज्ञाव्यतिरेकेण मूर्खो निह्नवेन भुङ्क्ते तेन तस्य भोगस्य संशुद्ध्यर्थमर्धवृद्धिर्मोक्तव्या ।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति १५७

समुद्रेति । स्थलपथजलपथयाने निपुणः । इयद्देशपर्यन्तं इयत्कालपर्यन्तं ऊह्यमाने सति एतावाँल्लाभो गृहीतुं युक्त इत्येवं देशलाभधनज्ञा वणिगादयो यां वृद्धिं तथाविषये चावस्थापयन्ति सैव तत्र व्यवस्था तत्राधिगमं धनप्राप्तिं प्रति प्रमाणम् ॥ १५७ ॥

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

यो यस्येति । यो मनुष्यो यस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेत् धनदानकाले ममायमधमर्णो दर्शनीय इति स तं तस्मिन्काल उत्तमर्णस्यादर्शयन् तद्धनं दातुं यतेत् ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥

प्रातिभाव्यमिति । प्रतिभूत्वेन यद्देयं धनं तत्प्रातिभाव्यं वृथादानं परिहासनिमित्तं पण्डादिभ्यो देयत्वेन पित्राङ्गीकृतं द्यूतनिमित्तं सुरानिमित्तं च दण्डं यद्देयं दण्डं शुल्कं घट्टादिदेयं तदवशेषं च पितृसंबन्धिनं पितरि मृते पुत्रो दातुं नार्हति ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

दर्शनेति । सुरानिमित्तं च यद्देयं दण्डं प्रातिभाव्यं न पुत्रो दातुमर्हतीति योऽयं पूर्वोपदेशः स दर्शनप्रतिभुवः पितुर्देयो ज्ञेयः । दानप्रतिभुवि तु पितरि मृते पुत्रं ऋणं दापयेत् ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

अदातरीति । अदातरि दानप्रतिभुवोऽन्यस्मिन्दर्शनप्रतिभुवि प्रत्ययप्रतिभुवि वा विज्ञातप्रातिभाव्यकारणमूलशोधनोचितधनग्रहणं यस्य तस्मिन्मृते दातोत्तमर्णः पश्चात्केन हेतुना धनं प्राप्तुमिच्छेत् १६१

प्रतिभुवो मृतत्वात्तत्पुत्रस्य चादानप्रतिभूत्वेनादातृत्वादित्याशंक्याह—

**निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।**
**स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२॥**

निरादिष्टेति । असौ दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा यदि निरादिष्टधनः अधमर्णेन निसृष्टधनः यावता धनेनासौ प्रतिभूस्तच्छोधनपर्याप्तधनस्तदात्मधनादेव तद्धनं निरादिष्टोऽत्र निरादिष्टधनपुत्रो लक्षणयोच्यते । ऋणमुत्तमर्णाय दद्यादिति शास्त्रसंप्रदायः ॥१६२॥

**मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।**
**असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥**

मत्तोन्मत्तेति । मद्यादिना मत्तः उन्मत्तो व्याध्यादिपीडितोऽपहृतास्वतन्त्रबालवृद्धैरस्वतन्त्रत्वेन पितृभ्रातृनियुक्तादिव्यतिरेकेण कृत ऋणादानव्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥

**सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।**
**बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४॥**

सत्येति । इदं मयानुष्ठेयमित्येवमादिका या भाषा लेख्यादिना स्थिरीकृतापि यदि शास्त्रीयधर्मात्पारंपर्यात्सव्यवहाराच्च बहिर्भाष्यते सा सत्या न भवति तदर्थो नानुष्ठेयः ॥ १६४ ॥

**योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।**
**यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥**

योगाधमनेति । योगशब्दश्छलवाची छलेन ये बन्धकविक्रयदानप्रतिग्रहाः क्रियन्ते न तत्त्वतोऽन्यत्रापि निक्षेपादौ यत्र छद्म जानीयात् । वस्तुतो निक्षेपादि न कृतं तत्सर्वं निवर्तते ॥ १६५ ॥

**ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः ।**
**दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥**

ग्रहीतेति । ऋणग्रहीता यदि मृतः स्यात्तेन पूर्वविभक्ताविभक्तसर्वभ्रातृकुटुम्बसंवर्धनार्थं तदृणव्ययः कृतस्तदा तदृणं विभक्तैरविभक्तैश्च स्वधनाद्दातव्यम् ॥ १६६ ॥

**कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।**
**समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥१७७॥**

कर्मणापीति । समानजातिरपकृष्टजातिश्चाधमर्णो धनाभावे सति स्वजात्यनुरूपकर्मकरणेनापि समं कुर्यात् । निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेशतया धनिकसममात्मानं कुर्यात् । समजातिरत्र ब्राह्मणेतरः कर्मणा क्षत्रविट्शूद्रान्समानजातीयान्हीनांस्तु दापयेदिति कात्यायनेन विशेषितत्वात् । श्रेयान्पुनरुत्कृष्टजातिर्न कर्म कारयितव्यः किंतु शनैःशनैः यथासंभवं तद्धनं दद्यात् ॥ १७७ ॥

**अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।**
**साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् १७८**

अनेनेति । अनेन प्रोक्तप्रकारेण परस्परं विवदमानानामर्थिनां साक्ष्यादिप्रमाणेन निर्णीतार्थानि कार्याणि विप्रतिपत्तिखण्डनेन राजा समीकुर्यात् ॥ १७८ ॥

**कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।**
**महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥१७९ ॥**

कुलज इति । सत्कुलप्रसूते सदाचारवति धर्मवादिनि सत्याभिधायिनि बहुपुत्रादिपरिजने ऋजुकृतौ मनुष्ये व्यभिचाराभावान्निक्षेपं स्थापयेत् ॥ १७९ ॥

**यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।**
**स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१८०॥**

यो यथेति । यो मनुष्यो येन प्रकारेण मुद्रासहितं समुद्रं वा ससाक्षिकं यमर्थं सुवर्णादि यस्य हस्ते निक्षिपेत्सोऽर्थस्तेन निक्षेप्त्रा तथैव ग्राह्यो यस्माद्येन प्रकारेण समर्पणं तेनैव प्रकारेण ग्रहणं न्याय्यम् । समुद्रस्थापितसुवर्णादेर्निक्षेप्ता स्वयमेव मुद्रां भित्त्वा यदा वदति ममेदं तुलयित्वा समर्पयेत्यभिधानं दण्डाद्यर्थम् ॥ १८० ॥

**यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।**
**स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥१८१॥**

यो निक्षेपमिति । यः पुरुषो देहि मे निक्षिप्तं हिरण्यादि द्रव्यमित्येवं निक्षेप्त्रा प्रार्थ्यमानस्तस्य यदा न समर्पयति तदा निक्षेप्त्रा ज्ञापितेन प्राड्विवाकेन तस्य निक्षेप्तुरसन्निधौ याचनीयः ॥ १८१ ॥

किं कृत्वा किं याचनीय इत्याह—

**साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।**
**अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥**

साक्ष्येति । प्रथमनिक्षेपे साक्ष्यभावे स्वकीयसभ्यैश्चारपुरुषैः अतिक्रान्तबाल्यैः सौम्यादिभिर्नृपोपद्रवादिव्याजाभिदायिभिर्हिरण्यानि तत्त्वेन तत्र निक्षेपयित्वा तैरेव चारपुरुषैः स निक्षेपधारी प्राड्विवाकेन चारपुरुषनिक्षिप्तसुवर्णं याच्यः ॥ १८२ ॥

**स यदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् ।**
**न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥**

स यदीति । स निक्षेपधारी यथा न्यस्तं समुद्रं वा यथा कृतं कटकमुकुटाकारेण रचितं यदि तथैव प्रतिपद्येत सत्यमस्ति गृह्यतामिति तदा परेण पूर्वनिक्षेप्त्रा प्राड्विवाके वेदिना यन्निक्षिप्तमित्यभिप्रयुज्यते तत्र न किञ्चिदस्तीति ज्ञातव्यम् ॥ १८३ ॥

**तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।**
**उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा १८४**

तेषामिति। तेषां चारपुरुषाणां यन्निक्षिप्तं हिरण्यं यथा न्यस्तं यदि तन्न दद्यात्तदा द्वावपि निक्षेपौ ज्ञापितचारसंबन्धिनौ संपीड्य दापनीयः स्यादित्येवंरूपो धर्मनिश्चयः । यो निक्षेपमित्यादिश्लोकचतुष्टयस्य चेदृश एव पाठक्रमो मेधातिथिभोजदेवादिभिर्निश्चितः । गोविन्दराजस्तु साक्ष्यभावे प्रणिधिभिरिति श्लोकोऽन्त एव पठितस्तदा च नार्थसंगतिः न वा वृद्धाम्नायादरः ॥ १८४ ॥

**निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।**
**नश्यतो विनिपाते तावनिपाते स्वनाशिनौ ॥१८५॥**

निक्षेपेति । निक्षिप्यत इति निक्षेपः मुद्राङ्कितमगणितं वा यन्नि-

धीयते स उपनिधिः ब्राह्मणपरिव्राजकवदुपदेशभेदः तौ निक्षेपोपनिधी निक्षेप्तरि उपनिधातरि जीवति प्रत्यनन्तरे तदीयपुत्रादौ तदनन्तरे त्वनधिकारिणि कदाचिन्न देयौ । यतस्तस्य पुत्रादेरपि पितुरसमर्पणविनाशे तौ निक्षेपोपनिधी नश्यतः । निक्षेपधारिणा च देयौ स्यातां पुत्रादेः पितुश्च पुनरविनाशे कदाचिदविनाशिनौ स्यातां तस्मादनर्थसंदेहान्न देयौ ॥ १८५ ॥

**स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।**
**न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः १८६**

स्वयमेवेति । निक्षेप्तुर्मृतस्य निक्षेपधारी तद्धनाधिकारिणि पुत्रादौ तदनभ्यर्थितः स्वयमेव यः समर्पयति स राज्ञा निक्षेप्तुः पुत्रादिभिर्वान्यदपि त्वयि निक्षिप्तमस्तीति नाक्षेप्तव्यः । यदि कथंचिद्भ्रान्तिः स्यात्तदा ॥ १८६ ॥

**अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।**
**विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥**

अच्छलेनैवेति । तत्रस्थे धनान्तरसद्भावलक्षणवाक्यं सामादिपरिहारेणैव प्रीतिपूर्वकं निश्चिनुयान्न तु झटिति दिव्यादिदानेन निक्षेपधारिणः शीलमवेक्ष्य धार्मिकोऽयमिति ज्ञत्वा सामप्रयोगे निश्चिनुयात् ॥ १८७ ॥

**निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्त्वरिसाधने ।**
**समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥**

निक्षेपेष्विति । सर्वेषु निक्षेपेषु अपक्रियमाणेषु एष साक्ष्यभावेत्यादिपूर्वोक्तविधिर्निर्णयसिद्धौ स्यात् । मुद्रितादौ पुनस्तस्य निक्षेपधारी यदि भ्रममुद्रादिना न किमप्यपहरेत्तदा तस्मिन्नपि तेन किं दूषणं प्राप्नुयात् ॥ १८८ ॥

**चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।**
**न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥**

चौरैरिति । चौरैर्मुषितं उदकेन देशान्तरं प्रापितं अग्निना वा दग्धं निक्षेपं निक्षेपधारी न दद्यात् । यदि स्वयं तस्मान्न किञ्चिदप्यपहरति ॥ १८९ ॥

**निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।**
**सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥**

निक्षेपस्येति । निक्षेपस्यापह्नोतारमनिक्षिप्य याचितारं सर्वैः सामादिभिरुपायैर्वैदिकैश्च शपथैरभिहरणादिभिर्नृपो निरूपयेत् १९०

**यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।**
**तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् १९१**

यो निक्षेपमिति । निक्षिप्तधनं यो न समर्पयति यश्चानिक्षिप्तं प्रार्थयति तौ द्वौ सुवर्णमुक्तादौ महति विषये चौरवद्दण्ड्यौ । स्वल्पविषये ताम्रादौ तत्समं दण्डनीयौ ॥ १९१ ॥

**निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् ।**
**तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥**

निक्षेपस्येति । निक्षेपापहारिणं निक्षिप्तसमधनं दण्डयेत् । समशिष्टत्वात् अनिक्षिप्य याचितारमपि । न च पुनरुक्तिः । महत्यपराधे ब्राह्मणेतरस्य चौरवदिति पूर्वश्लोकेन शारीरदण्डस्यापि प्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमिदम् । दापयेदिति धनदण्डनियमात् । न चानेन पूर्वश्लोकवैयर्थ्यम् । अस्य प्रथमापराधविषयत्वात्पूर्वोक्ते चाभ्यासे चौरोक्तमहासाहसादिधनदण्डावरोधकत्वात् । उपनिधिर्मुद्रादिविहितं निहितधनं तस्यापहर्तारं कथितविशेषणं राजा दण्डयेत् ॥ १९२ ॥

**उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।**
**ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥१९३॥**

उपधाभिरिति । राजा त्वयि रुष्टस्तस्मात्त्वां रक्षामि मम धनं देहि धनकन्यालाभोपकरणं वाऽनृतमतिर्यः परद्रव्यं गृह्णाति स च्छद्मधनसहकारिसहितो बहुजनसमक्षं करचरणशिरश्छेदादिभिर्नानाप्रकारैर्वधोपायै राज्ञा हन्तव्यः ॥ १९३ ॥

**निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।**
**तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥**

निक्षेप इति । यः सुवर्णादिर्यावत्परिमितो येन साक्षिसमक्षं निक्षेपः कृतस्तत्र परिमाणादिविप्रतिपत्तौ साक्षिवचनात्तावानेव विज्ञा-

तव्यः । विप्रतिपत्तिं कुर्वन्नप्येतदुक्तानुसारेण दण्डं दाप्यः १९४

**मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।**
**मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१९५॥**

मिथो दाय इति । रहसि येन निक्षेपोऽर्पितो निक्षेपधारिणा च रहस्येव प्रत्यर्पणीयः न प्रत्यर्पणे साक्ष्यपेक्षा । यस्माद्येनैव प्रकारेण दानं तेनैव प्रकारेण प्रत्यर्पणं दातव्यमिति श्रवणान्निक्षेपधारिणोऽयं नियमविधिः । यो यथा निक्षिपेद्धस्तु इति तु निक्षेप्तुर्नियमार्थं ग्रहीतव्य इति श्रवणात् । अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ १९५ ॥

**निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।**
**राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम्॥१९६॥**

निक्षिप्तस्येति । राज्ञा निक्षिप्तस्य धनस्यामुद्रस्य मुद्रादियुतस्य वा उपनिधिरूपस्य तथा प्रीत्या कतिचित्कालं भोगार्थमर्पितस्यानेनोक्तप्रकारेण न्यस्तधनधारिणमपीडयन् निर्णयं कुर्यात् ॥ १९६ ॥

**विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।**
**न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥**

विक्रीणीत इति । अस्वामी यः स्वामिना चाननुमतः परकीयं द्रव्यं विक्रीणीते वस्तुतश्चौरमचौरमात्मानं मन्यमानं तं साक्षित्वं न कारयेन्न कुत्रचिदपि प्रमाणीकुर्यादित्यर्थः ॥ १९७ ॥

**अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।**
**निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥१९८॥**

अवहार्य इति । एष परस्वविक्रयी यदि स्वामिनो भ्रात्रादिपरत्वेन सान्वयः संबन्धी भवति तदा षट् पणशतानि अवहार्यो दण्डनीयः । यदि पुनः स्वामिनः संबन्धी न भवति अपसरश्च न स्यात् अपसरत्यनेनास्मात्सकाशाद्धनमित्यपसरः प्रतिग्रहक्रयादिः स यस्य स्वामिसंबन्धिपुत्रादेः सकाशान्नास्ति तदा चौरसंबन्धि पापं प्राप्नोति दण्डनीय इत्यर्थः ॥ १९८ ॥

**अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।**
**अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः १९९**

अस्वामिनेति । अस्वामिना यत् कृतं यद्दत्तं विक्रीतं वा तदकृतमेव बोद्धयम् । व्यवहारे यथा मर्यादा तथा कृतं न भवतीत्यर्थः ॥

**संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।**
**आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः २००**

संभोग इति । यस्मिन् वस्तुनि संभोगो विद्यते क्रयादिरूपस्त्वागमो नास्ति तत्रागम एव प्रमाणं न संभोग इति शास्त्रमर्यादा॥२००॥

**विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद्गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।**
**क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम्॥२०१॥**

विक्रयादिति । विक्रीयतेऽस्मिन्निति विक्रयदेशो विक्रयः ततो यः क्रेयधनं किञ्चिद्व्यवहर्तृसमूहसमक्षं क्रियते क्रयेणेति क्रयो मूल्यं तेन यस्माद्गृह्णीयात् । अतो न्यायत एवास्वामिविक्रेतृसकाशात्क्रयणाद्विशुद्धं धनं लभते ॥ २०१ ॥

**अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।**
**अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्२०२**

अथेति । अथ मूलमस्वामी विक्रेता मरणादेशान्तरादिगमनादिना हर्तुं न शक्यते प्रकाशक्रयणे चासौ निश्चितः तदा दण्डार्ह एव क्रेता राज्ञा मुच्यते । नष्टधनस्वामी च यदस्वामिना विक्रीतं द्रव्यं तत्क्रेतुर्हस्ताल्लभ्यते । अत्र च विषयेऽर्धमूल्यं क्रेतुर्दत्त्वा स्वधनं स्वामिना ग्राह्यम् । तदाह बृहस्पतिः । वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषैः । अविज्ञाताश्रयाक्रीतं विक्रेता यत्र वा मृतः ॥ स्वामी दत्त्वार्धमूल्यं तु प्रगृह्णीयात्स्वकं धनम् । अर्धं द्वयोरपहृतं तत्र स्याद्व्यवहारतः ॥

**नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।**
**न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥२०३॥**

नान्यदिति । कुङ्कुमादि द्रव्यं कुसुम्भादिना मिश्रीकृत्य न विक्रेतव्यं न चासारं सारमित्यभिधाय न च तुलादिना न्यूनं न परोक्षावस्थितं न रोगादिना स्थगितरूपम् । अत्रास्वामिविक्रयसाहश्याद्स्वामिविक्रये दण्ड एव स्यात् ॥ २०३ ॥

**अन्यां चेदर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।**
**उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥**

अन्यामिति । शुल्कदेयां शुल्कव्यवस्थाकाले निरवद्यां दर्शयित्वा यदि सावद्या वराय दीयते तदा द्वे अपि कन्ये तेनैवैकेन शुल्केनासौ वरः परिणयत इति मनुराह । शुल्कग्रहणपूर्वककन्याया दानस्य विक्रयरूपत्वादर्थक्रयविक्रयसाधर्म्येणास्यात्राभिधानम् ॥ २०४ ॥

**नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।**
**पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥**

नोन्मत्ताया इति । उन्मत्तायास्तथा कुष्ठवत्या या चानुभूतमैथुना तस्या ब्राह्मणादिर्विवाहात्पूर्वमुन्मादादीन्दोषान्वरस्य कथयित्वा दण्डार्हो न भवति । तेनाकथने दण्ड इति गम्यते । यस्तु दोषवतीं कन्यामिति वक्ष्यति ॥ २०५ ॥

अथ संभूयसमुत्थानमाह—

**ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।**
**तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥**

ऋत्विगिति । यज्ञे कृतवरण ऋत्विक् यदि किञ्चित्कर्म कृत्वा व्याध्यादिना कर्म त्यजति तदा तस्येतरऋत्विग्भिः पर्यालोच्य कृतानुसारेण दक्षिणांशो देयः ॥ २०६ ॥

**दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।**
**कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥**

दक्षिणास्विति । माध्यंदिनसवनादौ दक्षिणाकाले दक्षिणासु दत्तासु व्याध्यादिना कर्म परित्यजन्न तु शाठ्यात् । कृत्स्नमेव दक्षिणाभागं लभेत्कर्मशेषं प्रकृतमन्येन कारयेत् ॥ २०७ ॥

**यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः ।**
**स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥**

यस्मिन्निति । यस्मिन्कर्मण्याधानादौ अङ्गमङ्गं प्रति या दक्षिणा यत्संबन्धेन श्रुताः स्युः स एव ता आददीत न तत्तद्भागमात्रं सर्वे विभज्य गृह्णीरन्निति संशयः ॥ २०८ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह—

**रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।**
**होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९॥**

रथमिति । केषांचिच्छाखिनामाधानेऽध्वर्यवे रथो देयत्वेनाम्नायते ब्रह्मणे चाश्वः उद्गात्रे सोमक्रयवहनशकटमतो व्यवस्थाज्ञानसामर्थ्याद्या दक्षिणा यत्संबन्धत्वेन श्रूयते स एव तामाददीत ॥२०९॥

संप्रतिपत्तिविधाने दक्षिणाविभागमाह—

**सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।**
**तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१०॥**

सर्वेषामिति । तं शतेन दीक्षयतीति श्रूयते तत्र सर्वेषां षोडशानां ऋत्विजां मध्ये ये मुख्या ऋत्विजः होत्रध्वर्युब्रह्मोद्गातारः समग्रदक्षिणायास्ते अर्धहराः अष्टचत्वारिंशद्भोभाजो भवन्ति । अत एव कात्यायनेन यद्द्वादशाद्येभ्य इति प्रत्येकं द्वादशगोदानं विहितम् । यद्यपि तस्यार्धं पञ्चाशद्भवति तथापीह न्यूनार्धग्रहणेनापि इमे अर्धिन उच्यन्ते । सामीप्यादपरे मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्ते मुख्यर्त्विग्गृहीतदक्षिणार्धग्रहणेनार्धिन उच्यन्ते । तृतीयिनोऽच्छावाकनेष्टाग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य तृतीयमंशं लभन्ते । पादिनस्तु ग्रावस्तुदुन्नेतृपोतृसुब्रह्मण्या एते मुख्यर्त्विग्गृहीतस्य चतुर्थमंशं लभन्ते । एतच्च षड् द्वितीयेभ्यश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्रश्चतुर्थेभ्य इति सूत्रयता कात्यायनेन स्फुटीकृतम् ॥ २१० ॥

**संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।**
**अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥**

संभूयेति । मिलित्वा गृहनिर्माणादीनि स्वकर्माणि लोके स्थपतिसूत्रधार्यादिभिश्च मनुष्यैः कुर्वद्भिरनेन यज्ञदक्षिणाविधिना अयनेन व्यापाराद्यपेक्षया भागकल्पना कार्या ॥ २११ ॥

इदानीं दत्तानपकर्माह—

**धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।**
**पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्॥२१२॥**

धर्मार्थमिति । येन यागादिकर्मार्थं कस्मैचिद्याचमानाय धनं दत्तं प्रतिश्रुतं वा पश्चाच्च तद्धनमसौ यागार्थं न विनियुञ्जीत तदा तद्दत्तमपि ग्राह्यं प्रतिश्रुतं च न देयम् । यदाह गौतमः । प्रतिश्रुत्याग्रेऽधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् ॥ २१२ ॥

**यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।**
**राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः२१३**

यदीति । यदि तद्दत्तमसौ गृहीत्वा लोभादहंकाराद्वा न त्यजति प्रतिश्रुतं वा धनं बलेन गृह्णाति तदा तस्य चौरप्रायस्य संशुद्ध्यर्थं राज्ञा स्वर्णं दण्डं दापनीयो भवति ॥ २१३ ॥

**दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥२१४॥**

दत्तस्येति । एतद्दत्तस्याप्रतिपादनं धर्मादनपेतं तदुक्तम् । अतोऽनन्तरं भृतेरसमर्पणादिकं वक्ष्यामि ॥ २१४ ॥

**भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।**
**स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्२१५**

भृत इति । यो भृतिपरिक्रीतो व्याध्यपीडितो यथानिरूपितं कर्माहंकारान्न कुर्यात् । कर्मानुरूपेण सुवर्णादिकृष्णलान्यष्टौ दण्डनीयः वेतनं चास्य न देयम् ॥ २१५ ॥

**आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।**
**स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६॥**

आर्त इत्यादि । यदा व्याध्यादिपीडया कर्म न करोति यादृग्भाषितं तादृक्कर्म कुर्याद्वेतनं च चिरकालादपि लभेतैव ॥ २१६ ॥

**यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।**
**न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥**

यथोक्तमिति । यत्कर्म यथाभाषितं पीडितोऽन्येन न कारयेत्सुस्थो वा न कुर्यान्नापि कारयेत् । तस्य किञ्चिच्छेषस्य कृतस्य कर्मणो वेतनं न देयम् ॥ २१७ ॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८॥

एष धर्म इति । एषा व्यवस्था वेतनादानाख्यकर्मणो निःशेषेणोक्ता अतोऽनन्तरं संविव्यतिक्रमकारिणां दण्डादिव्यवस्थां वदिष्यामि॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

य इति । ग्रामदेशशब्दाभ्यां तद्वासिनो लक्ष्यन्ते । संघो वणिगादिसमूहः इदमस्माभिः कर्तव्यं परिहार्यतामित्येवं रूपं संकेतं सत्यादिशपथेन कृत्वा तन्मध्ये यो नरो लोभादिना निष्क्रामेत्तं राजा राष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुःसुवर्णान् षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम्२२०

निगृह्येति । अथ चैनं संविव्यतिक्रमकारिणं निबोध्य चतुरः सुवर्णान् षण्निष्कान् प्रत्येकं चतुःसुवर्णपरिमितान् राजतं च शतमानं विंशत्यधिकरक्तिकाशतत्रयपरिमाणं त्रयमेतद्विषयलाववगौरवापेक्षया समन्वितं व्यस्तं वा राजा दण्डं दापयेत् ॥ २२० ॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

एतदिति । ग्रामेषु ब्राह्मणजातिसमूहेषु संविव्यतिक्रमकारिणामेतद्दण्डविधिं धर्मप्रधानो राजानुतिष्ठेत् ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च॥ २२२ ॥

क्रीत्वेति । क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्द्रव्यं विनश्वररूपं स्थिरार्घं भूमितास्रादि यस्य लोके पश्चात्तापो जायते न साधु मया क्रीतमिति स क्रीतं दशाहमध्ये प्रत्यर्पयेत् । विक्रीतं वा गृह्णीयात् ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् २२३

परेणेति । दशाहादूर्ध्वं क्रीतं न त्यजेन्नापि विक्रीतं विक्रयिको बलेन दापयेत् । विक्रीतं बलेन गृह्णन् परित्यजन् राज्ञा पट् शतानि दण्ड्यः ॥ २२३ ॥

**यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।**
**तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं पण्णवतिं पणान् २२४**

यस्त्विति । नोन्मत्तायाः इति सामान्येनोक्तं दण्डविशेषाभिधानार्थमिदमुन्मादादिदोषानकथयित्वा दोषवतीं कन्यां वराय यः प्रयच्छति तस्य राजा स्वयमादरेण पण्णवतिं पणान् दण्डं कुर्यात् । अनुशयप्रसंगेनैतत्कन्यागतमुच्यते ॥ २२४ ॥

**अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः ।**
**स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥**

अकन्येति । नेयं कन्या क्षतयोनिरियमिति यो मनुष्यो द्वेषेण ब्रूयात्तस्या उक्तदोषमविभावयन् पणशतं राजा दण्डं प्रकल्पयेत् । युक्तश्चास्याकन्येति वादिनो दण्डः । यस्मात् ॥ २२५ ॥

**पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।**
**नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः २२६**

पाणीति । अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षतेत्येवमादयो वैदिका मनुष्याणां मन्त्राः कन्याशब्दश्रवणात्कन्यास्वेव व्यवस्थिता नाकन्याविषये । क्वचिच्छास्त्रे धर्मविवाहसिद्धये व्यवस्था असमवेतार्था स्यादत एवाह । ताः क्षतयोनयो वैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति नासौ धर्म्यो विवाह इत्यर्थः । न तु क्षतयोनेर्वैवाहिकमन्त्रहोमादिनिषेधकमिदम् । या गर्भिणी संस्क्रियते तथा वोढुः कन्यासमुद्भवमिति क्षतयोनेरपि मनुनैव विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाणत्वात् । देवलेन तु । गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः । कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिक इति गान्धर्वेषु विवाहेषु होममन्त्रादिविधिरुक्तः । गान्धर्वश्चोपगमनपूर्वकोऽपि भवति । तस्य क्षत्रियविषये सुधर्मत्वं मनुनोक्तम् । अतः सामान्यविशेषन्यायादितरविषयोऽयं क्षतयोनिविवाहस्याधर्मत्वोपदेशः ॥ २२६ ॥

**पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।**
**तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥ २२७॥**

पाणिग्रहणिका इति । वैवाहिका मन्त्रा नियतं निश्चितं भार्यात्वे निमित्तम् । मन्त्रैर्यथाशास्त्रप्रयुक्तैर्भार्यात्वेन निष्पत्तेः । तेषां तु मन्त्राणां सप्ता सप्तपदी भवेति मन्त्रेण कल्पनया सप्तमे दत्ते पदे भार्यात्वनिष्पत्तेः शास्त्रज्ञैर्निष्पत्तिर्विज्ञेया । एवं च सप्तपदीदानात्प्राग्भार्यात्वानिष्पत्तेः सत्यनुशये जह्यान्नोर्ध्वम् ॥ २२७ ॥

**यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।**
**तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥**

यस्मिन्निति । न केवलं क्रय एव अन्यत्रापि यस्मिन् यस्मिन्संबन्धित्वेनादौ कार्ये यस्य पश्चात्तापो जायते तमनेन दशाहविधिना धर्मादनपेते मार्गे नृपः स्थापयेत् ॥ २२८ ॥

**पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।**
**विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥ २२९ ॥**

पशुष्विति । गवादिपशुविषये स्वामिनां पालानां व्यतिक्रमे जाते विवादं सम्यग्धर्म्यं यथा तथा व्यवस्थया वक्ष्यामि ॥ २२९ ॥

**दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।**
**योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् २३०**

दिवेति । दिवा पशूनां पालहस्तन्यस्तानां योगक्षेमविषये पालस्य गर्हणीयता । रात्रौ पुनः पालप्रत्यर्पितानां स्वामिगृहस्थितानां स्वामिनो दोषोऽन्यथा तु यदि रात्रावपि पालहस्तगता भवन्ति तत्र दोष उत्पन्ने पाल एव गर्हणीयतां प्राप्नोति ॥ २३० ॥

**गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।**
**गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः२३१**

गोप इति । यो गोपालाख्यो भृत्यः क्षीरेण न भक्तादिना स्वस्वाम्यनुज्ञया धर्षितो गोभ्यः श्रेष्ठामेकां गां भृत्यर्थं दुह्यात्सा भक्तादिरहिते गोपाले भृतिः स्यात् । एवं चैकगवीक्षीरदानेन दश गाः पालयेदित्युक्तम् ॥ २३१ ॥

**नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।**
**हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥**

नष्टमिति । नष्टं दृष्टिपथातीतं कृमिभिर्नाशितं श्वभिः खादितं हतं विवरादिपातमृतं प्रदर्शनं चैतत्पालसंबन्धिरक्षकाख्यपुरुषव्यापाररहितं मृतं पलायितं गवादि पशुपाल एव तु स्वामिने दद्यात् ॥

**विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।**
**यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति २३३**

विघुष्येति । चौरैः पुनः पटहादि विघुष्य हृतं पालो दातुं नार्हति । विघुष्येति चौराणां बहुत्वं प्रबलत्वकथनपरम् । सन्निहिते देशे हरणकालानन्तरमेवात्मीयस्वामिनः कथयति ॥ २३३ ॥

**कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।**
**पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥२३४॥**

कर्णाविति । स्वयं मृतेषु पशुषु कर्णचर्मलाङ्गूलवालान्नाभेरधोभागस्नायुरोचनाः स्वामिनां दद्यात् । अन्यानि च चिह्नानि शृङ्गखुरादीनि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

**अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले सनायति ।**
**यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् २३५**

अजाविक इति । अजाश्च अविकाश्च अजाविकं गवाश्वप्रभृतीनि चेति द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्मिन्नजाविके वृकैः परिवृते सति पालेऽनागच्छति यामजामेडकां वा वने वृको हन्यात्स पालस्य दोषः स्यात् ॥

**तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।**
**यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी २३६**

तासामिति । तासामजाविकानां पालेन नियमितानां यत्नाद्यदि कश्चित्कुतश्चिदुत्प्लुत्यालक्षितो यां कांचिद्धन्यान्न पालस्तत्र दोषभाक् ॥

**धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।**
**शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥**

धनुःशतमिति । चतुर्हस्तो धनुः शम्या यष्टिस्तस्याः पातः प्रक्षेपो

ग्रामसमीपे सर्वासु दिक्षु चत्वारि हस्तशतानि त्रीन्वा यष्टिप्रक्षेपान् यावत्पशुप्रचारार्थं सस्यवपनादिसंरोधपरिहारः कार्यः । नगरसमीपे पुनरयं त्रिगुणः कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

**तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।**
**न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥**

तत्रापरिवृतमिति । तस्मिन्परिहारस्थाने यदि केनचिददत्तावृतिकं धान्यमुप्यते तच्चेत्पशवो भक्षेयुस्तत्र पशुपालानां नृपो दण्डं न कुर्यात्॥

**वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।**
**छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥**

वृतिमिति । तत्र परिहारस्थाने क्षेत्रे वृतिं कण्टकादिमयीं तथाविधामुच्छ्रितां कुर्यात् । यामपरपार्श्वे उष्ट्रो न विलोकयेत्तस्यां च यत्किञ्चिच्छिद्रं श्वसूकरमुखप्रवेशयोग्यं तत्सर्वमावृणुयात् ॥ २३९॥

**पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।**
**सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥२४०॥**

पथीति । वर्त्मसमीपग्रामसमीपवर्तिनि वा परिहारस्थे क्षेत्रे दत्तवृतौ सपालः पशुः पालान्निवारितो द्वारादिना कथंचित्प्रविष्टो यदा भक्षयति तदा पणशतं दण्ड्यः । पशोश्च दण्डासंभवात्पाल एव दण्ड्यः । विपालान्पुनर्भक्षणप्रवृत्तान् क्षेत्ररक्षको निवारयेत् २४०

**क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।**
**सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥**

क्षेत्रेष्विति । वर्त्मग्रामान्तव्यतिरिक्तेषु पशुर्भक्षयन् सपादं पणं दण्डमर्हति । अत्रापि पाल एव दण्ड्यः । सर्वत्र क्षेत्रे पशुभक्षिते फलं स्वामिने पालेन स्वामिना वा यथापराधं दातव्यमिति निश्चयः ॥ २४१ ॥

**अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा ।**
**सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत्२४२**

अनिर्दशाहामिति । प्रसूतामनिर्गतदशाहां तथा च चक्रशूलाङ्कि-

तोत्सृष्टवृषान् हरिहरादिप्रतिमासंबन्धिपशून् पालरहितान्वा सस्यभक्षणप्रवृत्तान्मनुरदण्ड्यानाह । उत्सृष्टवृषाणामपि गर्भार्थं गोकुले पालैर्धारणात्सपालत्वसंभवः ॥ २४२ ॥

**क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।**
**ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥२४३॥**

क्षेत्रियस्येति । क्षेत्रकर्तुरेव पशुसस्यभक्षणे अयथाकालं वपनादौ वापराधे सति यावतो राजभागस्य तेन हानिः कृता ततो दशगुणदण्डः स्यात् । क्षेत्रिकाविदिते भृत्यानामुक्तापराधे क्षेत्रिकस्यैव दशगुणार्धदण्डः । क्षेत्रसस्यप्रसंगाच्चेदमुक्तम् ॥ २४३ ॥

**एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।**
**स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे २४४**

एतदिति । स्वामिनां पालानां चारक्षणादपराधे पशूनां च सस्यभक्षणरूपे धर्मप्रधानो भूपतिरेतत्पूर्वोक्तं कर्तव्यमनुतिष्ठेत् ॥२४४॥

**सीमांप्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।**
**ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥**

सीमामिति । द्वयोर्ग्रामयोर्मर्यादां प्रति विप्रतिपत्तावुत्पन्नायां ज्येष्ठे मासि ग्रीष्मरवितापसंशुष्कतृणात्प्रकटीभूतेषु सीमालिङ्गेषु राजा सीमां निश्चिनुयात् ॥ २४५ ॥

**सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।**
**शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् २४६**

सीमावृक्षानिति । न्यग्रोधादीन्वृक्षान् क्षीरिण उदुम्बरादीन् चिरस्थायित्वात्सीमालिङ्गभूतान्कुर्वीत ॥ २४६ ॥

**गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।**
**शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥**

गुल्मानिति । गुल्मान् प्रकाण्डरहितान्वेणूंश्च प्रचुरकण्टकत्वाल्पकण्टकत्वादिभेदेन नानाप्रकारान्सीमावृक्षान्वल्ल्यो लताः स्थानानि कृत्रिमोन्नतभूभागान् शरान् कुब्जकगुल्मांश्च प्रचुरालपभोगत्वेनादरार्थं पृथङ्निर्दिष्टान्सीमालिङ्गभूतान् कुर्यात् । एवं कृते सीमा न नश्यति ॥

**तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।**
**सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८॥**

तडागानीति । तडागकूपदीर्घिकाजलनिर्गममार्गदेवगृहाणि सीमारूपेण ग्रामद्वयसंधिस्थानेषु कर्तव्यानि । एतेषु सीमानिर्णयाय विख्याप्य कृतेषु उदकाद्यर्थिजना अपि श्रुतिपरंपरया चिरकालेऽपि साक्षिणो भवन्ति ॥ २४८ ॥

**उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।**
**सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्२४९**

उपच्छन्नानीत्यादि । सीमानिर्णये सर्वदास्मिन् लोके मनुष्याणां विभ्रममज्ञानं दृष्ट्वाभिहितव्यतिरिक्तानि गूढानि वक्ष्यमाणानि सीमाचिह्नानि कारयेत् ॥ २४९ ॥

**अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः ।**
**करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा ॥ २५० ॥**
**यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।**
**तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् २५१**

अश्मन इति । यानीति । प्रस्तरास्थिगोवालतुषभस्मकर्पटिकाशुष्कगोमयपक्वेष्टकाङ्गारपाषाणकर्परसिकता अन्यान्यप्येवंप्रकाराणि कालाञ्जनकार्पासास्थिप्रभृतीनि यानि चिरकालेनापि भूमिरात्मसान्न करोति तानि ग्रामयोः संधिषु सीमायां प्रक्षिप्य कुम्भेष्वेतानि सीमान्तेषु निधापयेदिति बृहस्पतिवचनात्स्थूलपाषाणव्यतिरिक्तानि कुम्भेषु कृत्वा प्रच्छन्नानि भूमौ निखाय धारयेत् ॥ २५० ॥ २५१ ॥

**एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।**
**पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥**

एतैरिति । विवदमानयोर्ग्रामयोः प्रागुक्तैरेतैरुक्तचिह्नै राजा सीमामुन्नयेत् । वसतोः पुनरविच्छिन्नया भुक्त्या सीमानिर्णयो न तु त्रिपुरुषादिकतया । तस्याधिः सीमेति पर्युदस्तत्वात् । ग्रामद्वयसंधिस्थनद्यादिप्रवाहेण च पारावारग्रामयोः सीमां निश्चिनुयात् ॥ २५२ ॥

**यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।**
**साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३॥**

यदीति । यदि प्रच्छन्नप्रकाशलिङ्गदर्शनेऽपि प्रच्छन्नाङ्गारादितुषा अमी स्थानान्तरं नीत्वा निखाता नायं सीमातरुर्न्यग्रोधः इत्यादि समस्त एव यदि संदेहः स्यात्तदा साक्षिप्रमाण एव सीमाविवादनिश्चयो भवेत् ॥ २५३ ॥

**ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।**
**प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥२५४॥**

ग्रामीयकेति । ग्रामिकजनसमूहानां ग्रामद्वयस्थनियुक्तयोर्वादिप्रतिवादिनोश्च समक्षं सीमाविषये सीमालिङ्गसंदेहे लिङ्गानि साक्षिणः प्रष्टव्याः ॥ २५४ ॥

**ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।**
**निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः॥२५५॥**

ते इति । ते पृष्टाः साक्षिणः समस्ता द्वैधेन सीमाविषयेन येन प्रकारेण निश्चयं ब्रूयुस्तेन प्रकारेणाविस्मरणार्थं पत्रे सीमां लिखेत् । तांश्च सर्वानेव साक्षिणो नामविभागतो लिखेत् ॥ २५५ ॥

**शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं सस्रिवणो रक्तवाससः ।**
**सुकृतैः शापिताः स्वैस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥**

शिरोभिरिति । ते साक्षिण इति सामान्यश्रवणेऽपि रक्तस्रग्वाससः सीमां नयेयुरिति याज्ञवल्क्यवचनाद्रक्तपुष्पमालाधारिणो लोहितवाससो मस्तके मृल्लोष्टानि गृहीत्वा यदस्माकं सुकृतं तन्निष्फलं स्यादित्येवमात्मीयैः सुकृतैः शापिताः सन्तस्तां सीमां यथाशक्ति निर्णयेयुः ॥ २५६ ॥

**यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।**
**विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम्॥२५७॥**

यथोक्तेनेति । ते सत्यप्रधानाः साक्षिणः शास्त्रोक्तेन विधानेन निर्णयस्था निष्पापा भवन्ति । अतथ्येन तु निश्चिन्वन्तः प्रत्येकं पणशतद्वयं दण्डं दाप्या भवेयुः ॥ २५७ ॥

**साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।**
**सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८॥**

साक्ष्यभाव इति । तत्र संधिविवादसाक्ष्यभावे चतुर्दिशं समन्तभवाः सामन्तास्तु स्वामिनश्चत्वारो ग्रामवासिनः साक्षिधर्मेण राजसमक्षं सीमानिर्णयं कुर्युः ॥ २५८ ॥

**सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।**
**इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥**

सामन्तानामिति । साक्षिधर्मेण राजसमक्षमनुभवेन निर्णयमकुर्वतां ग्रामवासिनां ग्रामनिर्माणकालादारभ्य मौलानां पुरुषक्रमेण तद्ग्रामस्थानां सीमासाक्षिणामभावे इमान्वक्ष्यमाणान्सन्निहितवनचारिणः पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

**व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।**
**व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६०॥**

व्याधानिति । लुब्धकान् पक्षिवधजीविनः गोपालान्मत्स्यजीविनो मूलोत्पाटनजीविनः सर्पग्राहिणः शिलोञ्छवृत्तीनन्यांश्च फलपुष्पेन्धनाद्यर्थं वनव्यवहारिणः पृच्छेत् । एते हि स्वप्रयोजनार्थं तेन ग्रामेण सर्वदा वनं गच्छेयुस्तद्ग्रामसीमाभिज्ञाः संभवन्ति ॥ २६० ॥

**ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम् ।**
**तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१॥**

ते पृष्टा इति । ते व्याधादयः पृष्टाः| सीमारूपेषु ग्रामसंधिषु येन प्रकारेण चिह्नं ब्रूयुस्तत्तेनैव प्रकारेण राजा द्वयोर्ग्रामयोः सीमां व्यवस्थापयेत् ॥ २६१ ॥

**क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च**
**सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥**

क्षेत्रेति । एकग्रामेऽपि क्षेत्रकूपतडागगृहाणां सीमासेतुविवादे समस्तदेशवासिसाक्षिप्रमाणक एव मर्यादाचिह्ननिश्चयो विज्ञेयो न व्याधादिप्रमाणकः ॥ २६२ ॥

**सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।**
**सर्वे पृथक् पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् २६३**

सामन्ता इति । सीमाचिह्ननिमित्तं विवदमानानां मनुष्याणां यदि सामन्ता देशवासिनो मिथ्या ब्रूयुस्तदा ते सर्वे प्रत्येकं राज्ञा मध्यमसाहसं दण्डनीयाः । एवं चासामन्तरूपाणां पूर्वोक्तद्विशतो दमो ज्ञेयः ॥ २६३ ॥

**गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।**
**शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः २६४**

गृहमिति । गृहतडागोद्यानक्षेत्राणामन्यतमं मारणं बन्धनादिभयकथनपूर्वमाक्रम्य हरणे पञ्च पणशतानि दण्डनीयः स्यात्स्वातन्त्र्यात्त्रिशतो दमः ॥ २६४ ॥

**सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।**
**प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५॥**

सीमायामिति । लिङ्गसाक्ष्यभावे सीमायां परिच्छेत्तुमशक्यायां राजैव धर्मज्ञः पक्षपातरहितो ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादविषयां भूमिं येषामेव ग्रामवासिनामुपकारातिशयो भवति तद्व्यतिरेकेण च महान्विवादस्तेषामेव दद्यादिति शास्त्रव्यवस्था ॥ २६५ ॥

**एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम्॥२६६॥**

एष इति । एष सीमानिश्चयो धर्मो निःशेषेणोक्तः । अत ऊर्ध्वं वाक्पारुष्यं वक्ष्यामि । दण्डपारुष्याद्वाक्पारुष्यप्रवृत्तेः पूर्वमभिधानम् । अनुक्रमश्रुत्यां तु पारुष्ये दण्डवाचिके इति दण्डशब्दस्यान्यायव्यवहारत्वात्पूर्वनिर्देशः ॥ २६६ ॥

**शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।**
**वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥**

शतमिति । द्विजस्य चौरेत्याक्षेपरूपं परुषमुक्त्वा क्षत्रियः पणशतं दण्डमर्हति । एवं सार्धशतं द्वे वा शते लाघवगौरवापेक्षया वैश्यः । शूद्रोऽप्येवं ब्राह्मणाक्रोशे ताडनादिरूपं वधमर्हति॥२६७॥

पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

पञ्चाशदिति । ब्राह्मणः क्षत्रियस्योक्तरूपाक्षेपे कृते पञ्चाशत्पणान्दण्ड्यः । वैश्ये शूद्रे च यथोक्ताक्रोशे कृते पञ्चविंशतिर्द्वादश पणाः क्रमेण ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात् ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

समेति । द्विजातीनां समानजातिविषये यथोक्ताक्रोशे कृते द्वादशपणो दण्डः । अवचनीयेषु पुनराक्रोशवादेषु मातृभगिन्याद्यश्लीलरूपेषु तदेवेति नपुंसकनिर्देशाच्छतं ब्राह्मणमाक्रुश्येत्यादि यदुक्तं तदेव द्विगुणं दण्डरूपं भवेत् ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

एकेति । शूद्रो द्विजातीन्पातकादिना वाचाक्रुश्य जिह्वाच्छेदं लभेत् । यस्मादसौ पादाख्यान्निकृष्टाङ्गाज्जातः ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥

नामेति । अभिद्रोह आक्रोशः ब्राह्मणादीनां रे त्वं यज्ञदत्त ब्राह्मणापसद इत्याक्रोशेन नामजात्यादिग्रहणं कुर्वतो लोहकीलोऽग्निना प्रदीप्तो दशाङ्गुलो मुखेषु क्षेप्तव्यः ॥ २७१ ॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

धर्मेति । कथंचिद्धर्मलेशमवगम्यायं ते धर्मोऽनुष्ठेय इति ब्राह्मणस्याहंकारादुपदिशतोऽस्य शूद्रस्य मुखे कर्णयोश्च ज्वलत्तैलं राजा प्रक्षेपयेत् ॥ २७२ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

श्रुतमिति । समानजातिविषयमिदं दण्डलाघवान्न तु शूद्रस्य द्विजात्याक्षेपविषयम् । न खयैतच्छ्रुतं न भवान् तद्देशजातो न तवेयं जातिर्न तव शरीरसंस्कारमुपनयनादिकर्म कृतमित्यहंकारेण मिथ्या ब्रुवन् द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यात् । वितथेनेति तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति तृतीया ॥ २७३ ॥

**काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ।**
**तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् २७४**

काणमिति । एकाक्षिविकलं पादविकलमन्यमपि वा तथाविधं हस्ताद्यङ्गविकलं सत्येनापि काणादिशब्देन ब्रुवन् अत्यन्ताल्पं तदा कार्षापणं दण्डं दाप्यः ॥ २७४ ॥

**मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।**
**आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥२७५॥**

मातरमिति । अक्षारितः क्षारितोऽभिशप्त इत्याभिधानिकाः । मात्रादीन्पातकादिनाऽभिशपन् गुरोश्च पन्थानमत्यजन् दण्ड्यः । अत्राह । भार्यादीनां गुरुपापाभिशापेन दण्डसाम्यं समाधेयम् । मेधातिथिस्तु आक्षारणं भेदनमित्युक्त्वा मातृपुत्रपित्रादीनां परस्परभेदनकर्तुरयं दण्डविधिरिति व्याख्यातवान् ॥ २७५ ॥

**ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।**

ब्राह्मणेति । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्परं पतनीयाक्रोशे कृते दण्डशास्त्रज्ञेन राज्ञा दण्डः कार्यः ॥

दण्डमेव विशेषेणाह—

**ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये खेव मध्यमः ॥ २७६॥**

ब्राह्मणे इति । ब्राह्मणे क्षत्रियाक्रोशिनि प्रथमसाहसः कार्यो ब्राह्मणाक्रोशिनि पुनः क्षत्रिये मध्यमसाहसः ॥ २७६ ॥

**विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।**
**छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥**

विडिति । वैश्यशूद्रयोरन्योन्यजातिं प्रति पतनीयाक्रोशे ब्राह्मणक्षत्रियवद्वैश्ये शूद्राक्रोशिनि प्रथमसाहसः । शूद्रे वैश्याक्रोशिनि मध्यमसाहस इत्येवंरूपं दण्डस्य प्रणयनं जिह्वाच्छेदरहितं यथाव-

त्कर्तव्यमिति शास्त्रनिश्चयः । एवं चैकजातिर्द्विजातींस्त्विति प्रागुक्तजिह्वाच्छेदो वैश्ये निवारितो ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशविषय एवावतिष्ठते॥

**एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८॥**

एष इति । एषोऽनन्तरोक्तो वाक्पारुष्यस्य यथावद्दण्डविधिरुक्तोऽनन्तरं ताडनादेर्दण्डपारुष्यस्य निर्णयं वक्ष्यामि ॥ २७८ ॥

**येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।**
**छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥**

येनेति । अन्त्यजः शूद्रो येन केनचित्करचरणादिनाङ्गेन साक्षाद्दण्डादिनाऽव्यवहितेन द्विजातिप्रहारे तदेवाङ्गमस्य छेत्तव्यमित्ययं मनोरुपदेशः । मनुग्रहणमादरार्थम् । अस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्चः ॥२७९॥

**पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।**
**पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥**

पाणिमिति । प्रहर्तुं पाणिं दण्डं वोद्यम्य पाणिच्छेदं लभते । पादेन कोपात्प्रहरणे पादच्छेदं प्राप्नोति ॥ २८० ॥

**सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।**
**कट्या कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥**

सहेति । ब्राह्मणेन सहासनोपविष्टः शूद्रः कट्यां तप्तलोहकृतचिह्नोऽपदेशो निर्वासनीयः स्फिचं वास्य यथा न म्रियेत तथा छेदयेत् ॥

**अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।**
**अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥**

अवेति । दर्पेण श्लेष्मणा ब्राह्मणानपमानयतः शूद्रस्य राजा द्वावोष्ठौ छेदयेत् । मूत्रप्रक्षेपेणापमानयतो मेढ्रं शर्धनं कुत्सितो गुदशब्दस्तेनावमानयतो दर्पान्न प्रमादाद्गुदं छेदयेत् ॥ २८२ ॥

**केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।**
**पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३॥**

केशेष्विति । दर्पादित्यनुवर्तते । अहंकारेण केशेषु गृह्णतः शूद्रस्य पीडास्य जाता न जातेत्यविचारयन् हस्तौ छेदयेत् । पादयोः श्मश्रुणि च ग्रीवायां वृषणे हिंसार्थं गृह्णतो हस्तद्वयच्छेदमेव कुर्यात् २८३

**त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।**
**मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः २८४**

त्वग्भेदक इति । चर्ममात्रभेदकृत्समानजातिर्न शूद्रः ब्राह्मणस्य दण्डलाघवं पणशतं दण्डनीयः । तथा रक्तोत्पादकोऽपि शतमेव दण्ड्यः । मांसभेदी षण्निष्कान् देयोऽस्थिभेदकस्तु देशान्निर्वास्यः ॥

**वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा ।**
**तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा २८५**

वनस्पतीनामिति । वृक्षाद्युद्भिदां सर्वेषां येन येन प्रकारेण उपभोगः फलपुष्पपत्रादिना उत्तममध्यमरूपो भवति तथातथा हिंसायामप्युत्तमसाहसादिर्दण्डो विधेय इति निश्चयः । तथा च विष्णुः । फलोपभोगद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसं पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमं वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतं तृणच्छेद्येकं कार्षापणं च पण एव मनुनाप्युक्तो वेदितव्यः ॥ २८५ ॥

**मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।**
**यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥ २८६ ॥**

मनुष्याणामिति । मनुष्याणां पशूनां पीडोत्पादनार्थं प्रहारे कृते सति यथायथा पीडाधिक्यं तथातथा दण्डमप्यधिकं कुर्यात् । एवं मर्मस्थानादौ त्वग्भेदनादिषु कृतेषु त्वग्भेदकः शतं दण्ड्य इत्युक्तोऽप्यधिको दुःखविशेषापेक्षया कर्तव्यः ॥ २८६ ॥

**अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।**
**समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥**

अङ्गेति । अङ्गानां करचरणादीनां व्रणशोणितयोश्च पीडनायां सत्यां समुत्थानव्ययं यावता कालेन पूर्वावस्थाप्राप्तिः समुत्थानसंबन्धो भवति तावत्कालेन पथ्यौषधादिना यावान् व्ययो भवति तमसौ दापनीयः । अथ तं व्ययं पीडोत्पादको न दातुमिच्छति तदा यः समुत्थानव्ययो यश्च दण्डस्तमेनं दण्डत्वेन राज्ञा दाप्यः ॥ २८७ ॥

**द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।**
**स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम्॥२८८॥**

द्रव्येति । द्रव्याण्युक्तविशेषदण्डानि कटकानि ताम्रघटादीनि यो यस्य ज्ञानादज्ञानाद्वा नाशयेत्स तस्य द्रव्यान्तरादिना तुष्टिमुत्पादयेद्राज्ञश्च विनाशितद्रव्यसमं दण्डं दद्यात् ॥ २८८ ॥

**चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च ।**
**मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥**

चर्मेति । चर्मणि चर्मघटितवस्त्रादौ चर्मकाष्ठमृत्तिकानिर्मितेषु च भाण्डेषु पुष्पमूलफलेषु परस्य नाशितेषु मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डो राज्ञो देयः स्वामिनश्च तुष्टिरुत्पादनीयैव ॥ २८९ ॥

**यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।**
**दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९०॥**

यानस्येति । यानस्य रथादेर्यातुः सारथ्यादेर्यानस्वामिनश्च यस्य तद्यानं तेषां छिन्ननास्यादीनि दश निमित्तानि दण्डमतिक्रम्य वर्तन्ते । एषु निमित्तेषु सत्सु प्राणिमारणे द्रव्यनाशे च प्रकृते यानस्वामिनां दण्डो न भवतीति मन्वादय आहुः । एतद्व्यतिरिक्तनिमित्ते च पुनर्दण्डोऽनुष्ठीयते ॥ २९० ॥

**छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।**
**अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥**
**छेदने चैव यन्त्राणां योक्ररश्म्योस्तथैव च ।**
**आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२९२॥**

छिन्नेति । छेदन इति । नासायां भवं नास्यं शरीरावयवत्वाद्यत् । सा चेह बलीवर्दनासासंबन्धिनी रज्जुः छिन्ननास्यरज्जौ बलीवर्दादिके भग्नयुगाख्ये काष्ठे रथादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनं वा गते तथा चक्रान्तःप्रविष्टाक्षकाष्ठभङ्गे यन्त्राणां चर्मबन्धनानां छेदने योक्त्रस्य पशुग्रीवारज्जो रश्मेः प्रहरणस्य च छेदने अपसरापसरेत्युच्चैः शब्दे सारथ्यादिना कृते च यानेन प्राणिहिंसाद्रव्यविनाशयोः कृतयोः सारथ्यादेर्दण्डो नास्तीति मनुराह ॥ २९१ ॥ २९२ ॥

**यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।**
**तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् २९३**

यत्रेति । यत्र सारथेरकौशलाद्यानमन्यथा व्रजति तत्र हिंसायामशिक्षितसारथ्यनियोगस्वामी द्विशतं दाप्यः स्यात् ॥ २९३ ॥

**प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।**
**युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥**

प्राजक इति । यदि सारथिः कुशलः स्यात्तदा सारथिरेवोक्तद्विशतं दमं वक्ष्यमाणं च मनुष्यमारण इत्यादिकं दण्डमर्हति न स्वामी । अकुशले तु तस्मिन्सारथिस्वामिव्यतिरिक्ता अन्येऽपि यानारूढा अकुशलसारथिकयानारोहणात्सर्वे प्रत्येकं शतं शतं दण्ड्याः ॥

**स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।**
**प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥**

स चेदिति । स चेत्प्राजकः संमुखागतैः प्रचुरगवादिभी रथान्तरेण वा संरुद्धः स्वरथगमनानवधानात्प्रत्यक्सर्पणाक्षमः संकटेऽपि स्वरथतुरगान् प्रेरयन् तुरगै रथेन वा रथावयवैर्वा प्राणिनो व्यापादयति तत्राविचारितो दण्डः कर्तव्य एव ॥ २९५ ॥

सकृदपराधे कीदृश इत्याह—

**मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।**
**प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥**

मनुष्येति । तत्र मनुष्यमारणे प्राजकस्यानवधानाद्यानेन कृत एव चौरदण्डवदुत्तमसाहसो भवेन्न तु मारणरूपः । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धमिति श्रवणाद्गोगजादिषु महत्सु प्राणिषु मारितेषु उत्तमसाहसस्यार्धं पञ्चशतदण्डो भवेत् ॥ २९६ ॥

**क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।**
**पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥**

क्षुद्रेति । क्षुद्रकाणां पशूनां जातिविशेषोपदिष्टभवानां बालादीनां वयसा च किशोरादीनां मारणे द्विशतो दण्डः स्यात् । शु-

मेषु मृगेषु रुरुपृषतादिषु पक्षिषु च शुकहंससारसादिषु पक्षिषु हतेषु पञ्चाशद्दण्डो भवेत् ॥ २९७ ॥

**गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।**
**माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥**

गर्दभेति । गर्दभच्छागेडकादीनां पुनर्मारणे पञ्चरूप्यमाषकपरिमाणो दण्डः स्यात् । न चात्र हैरण्यमाषग्रहणं उत्तरोत्तरलघुदण्डाभिधानात् । श्वसूकरमारणेषु पुना रौप्यमाषपरिमाणो दण्डः स्यात् ॥

**भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।**
**प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा२९९**

भार्येति । भार्यापुत्रादयः कृतापराधा रज्ज्वा वातिलघुवेणुशलाकया ताड्या भवेयुः । शिक्षार्थं ताडनविधानादत्र दण्डात्मवादः२९९

**पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन ।**
**अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्३००**

पृष्ठत इति । रज्ज्वादिभिरपि देहस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः न तु शिरसि । उक्तव्यतिरेकेण प्रहरणो वाग्दण्डधनदण्डरूपं चौरदण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३०० ॥

**एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।**
**स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥३०१॥**

एष इति । एष दण्डरूपस्य निर्णयो निःशेषेणोक्तः अत ऊर्ध्वं चौरदण्डविनिर्णये विधानं वक्ष्यामि ॥ ३०१ ॥

**परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।**
**स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥**

परममिति । चौराणां नियमने राजा परममुत्कृष्टं यत्नं कुर्यात् । यस्माच्चौरनिग्रहाद्राज्ञः ख्यातिं निरुपद्रवतया राष्ट्रं वृद्धिमेति॥३०२॥

**अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।**
**सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥**

अभयस्येति । हिरवधारणे । चौराणां नियमनेन यो नृपतिः

साधूनामभयं ददाति स एव पूज्यः पूर्वेषां श्राध्यो भवति । सत्रं गवायनादिक्रतुविशेषं यद्यस्मात्सत्रमिव सत्रं तदभयदानाच्चौरनिग्रहरूपाभयदक्षिणं सर्वदैव तस्य वृद्धिमेति । अन्यद्धि नियतकालीनं नियतदक्षिणं चैतत्सर्वकालीनमभयदक्षिणं चेति वाक्यं व्यतिरेककल्पनालंकारः ॥ ३०३ ॥

**सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।**
**अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥**

सर्वत । इति । प्रजा रक्षतो राज्ञः सर्वस्य भृतिदातुर्वणिगादेर्भृत्यदातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धर्मषड्भागो भवति । अरक्षतश्चाधर्मादपि लोकेन कृतात्षड्भागः स्यात् । तस्माद्यत्नतः स्तेननिग्रहेण राजा रक्षणं कुर्यात् । न च भृतिक्रीतत्वाद्राज्ञो धर्मषड्भागो न युक्त इति वाच्यम् । भृत्या धर्मषड्भागेन च परिक्रीतस्य शास्त्रीयत्वात् ॥ ३०४ ॥

**यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।**
**तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥**

यदिति । यः कश्चिज्जपयागदानदेवतार्चादीनि करोति तस्य राजा पालनेन षड्भागं प्राप्नोति ॥ ३०५ ॥

**रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।**
**यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥**

रक्षन्निति । भूतानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमादीनि यथाशास्त्रं दण्डप्रणयनरूपेण धर्मेण रक्षन् वध्यांश्च स्तेनादीन् ताडयन् प्रत्यहं लक्षदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते तज्जन्यं पुण्यं प्राप्नोतीति भावः ॥ ३०६ ॥

**योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।**
**प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥३०७॥**

योऽरक्षन्निति । यो राजा रक्षामकुर्वन् बलिं धान्यादेः षड्भागं ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं शुल्कं स्थलजलपथादिना वाणिज्याकारितेभ्यो नियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानमिति प्रसिद्धं प्रतिभागं फलकुसुमशाकतृणाद्युपायनं प्रतिदिनग्राह्यं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति स मृतः सन् सद्य एव नरकं याति ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

अरक्षितारमिति । यो राजा न रक्षति अथ च धान्यादिषड्भागं बलिरूपं गृह्णाति तं सर्वलोकानां सकलपापहारिणं जानीयात्॥३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

अनपेक्षितेति । लङ्घितशास्त्रमर्यादं परलोकाभावशालिनमनुचितदण्डादिना धनग्राहिणं रक्षणरहितं करं धान्यादेर्भक्षितारं राजानं नरकगामिनं जानीयात् ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

अधार्मिकमिति । अधार्मिकं चोरादिकमपराधापेक्षया त्रिभिरुपायैः प्रयत्नेन नियमयेत् । तानाह । कारागारप्रवेशनेन निगडादिबंधनेन करचरणच्छेदनादिनानाप्रकारहिंसनेन ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥

निग्रहेणेति । पापशालिनां निग्रहेण साधूनां संग्रहेण द्विजातय इव महायज्ञादिभिः सर्वकालं नृपतयः पवित्रीकुर्वन्ति । तस्मादधार्मिकान् निगृह्णीयात्साधूंश्चानुगृह्णीयात् ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

क्षन्तव्यमिति । कार्याथिप्रत्यर्थिनां दुःखेनाक्षेपोक्तिं रचयतां तथा बालवृद्धव्याधितानां वक्ष्यमाणमात्मीयमुपकारमिच्छता प्रभुणा क्षमणीयम् ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

यः क्षिप्त इति । दुःखितैराक्षिप्तः सहते यस्तेन स्वर्गलोके पूजां लभते । प्रभुत्वदर्शनान्न सहते यस्तेन नरकं गच्छति ॥ ३१३ ॥

**राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।**
**आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ३१४**
**स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।**
**शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥३१५॥**

राजेति । स्कन्धेनेति । यद्यपि सुवर्णस्तेयकृद्विप्र इत्यादिना प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यति तथापि सुवर्णस्तेयं प्रति राजरूपदण्डतामस्य दण्डप्रकरणे दर्शयितुं पाठः । ब्राह्मणसुवर्णस्य चौरेण मुक्तकेशेन वेगाद्गच्छता मया ब्राह्मणसुवर्णमपहृतमिति संख्यापयता मुसलाख्यमायुधं खादिरमयं वा दण्डमुभयतस्तीक्ष्णां शक्तिं लोहमयं वा दण्डं स्कन्धे गृहीत्वा राजसमीपं गच्छेत्ततो ब्राह्मणसुवर्णहार्यहमतोऽनेन मुसलादिना मां व्यापादयेत्येवं राज्ञे वक्तव्यम् ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥

**शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।**
**अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥**

शासनादिति । सकृन्मुसलादिप्रहारेण प्राणपरित्याजनान्मृतकल्पस्य जीवतोऽपि परित्यागाद्वा स चौरस्तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । अत एव याज्ञवल्क्यः । मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यतीति । पुनस्तेन करुणादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तद्राजा प्राप्नोति ३१६

**अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।**
**गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ३१७**

अन्नाद इति । ब्रह्महा यस्तत्संबन्धि योऽन्नमत्ति तस्मिन्नसौ स्वपापं संक्रामयति भ्रूणहान्नभोक्तुः पापं भवतीत्येतदत्र विवक्षितं न तु ब्रह्मघ्नः पापं नश्यति । तथा भार्या व्यभिचारिणी जारपतिं क्षममाणे भर्तरि पापं संश्लेषयति । शिष्यश्च संध्याग्निकार्याद्यकरणजन्यं पापं गुरौ सहमाने न्यस्यति । याज्यश्च विधिमतिक्रामन् याजके क्षममाणे पापं निक्षिपति । स्तेनश्च राजन्युपेक्षमाणे पापं समर्पयति । तस्माद्राज्ञा स्तेनो निगृहीतव्यः ॥ ३१७ ॥

**राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।**
**निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ३१८**

राजेति । सुवर्णस्तेयादीनि पापानि कृत्वा पश्चाद्राजभिर्विहितदण्डा मनुष्याः सन्तः प्रतिबन्धकदुरितभावात्पूर्वार्जितपुण्यवशेन साधवः सुकृतकारिण इव स्वर्गं गच्छन्ति । एवं प्रायश्चित्तवद्दण्डस्यापि पापक्षयहेतुत्वमुक्तम् ॥ ३१८ ॥

**यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम् ।**
**स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१९॥**

यस्त्विति । कूपसमीपे रज्जुघटयोर्जलोर्ध्वधारणाय धृतयो रज्जुं घटं वा हरेत् यो वा पानीयदानगृहं विदारयेत्स सौवर्णं माषं दण्डं प्राप्नुयात् । यन्निर्दिष्टं तु सौवर्णं माषं तत्र प्रकल्पयेदिति कात्यायनवचनात् । तच्च रज्ज्वादि तस्मिन्कूपे समर्पयेत् ॥ ३१९ ॥

**धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।**
**शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥३२०॥**

धान्यमिति । द्विपलशतं द्रोणो विंशतिद्रोणश्च कुम्भः दशसंख्येभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकं धान्यं हरतो वधः । स च हर्तृस्वामिगुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्गच्छेदमारणाख्यो ज्ञेयः । शेषे पुनरेकस्मादारभ्य दश कुम्भपर्यंतहरणे निह्नुतैकादशगुणं दाप्यः । स्वामिनश्चापहृतं दाप्यः ॥ ३२० ॥

**तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।**
**सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥**

तथेति । यथा धान्येन वध उक्तस्तथा तुलापरिच्छेद्यानां सुवर्णरजतादीनामुत्कृष्टानां च वाससां पश्वादीनां पशुशताधिके वधः कर्तव्य एव । विपयसमीकरणं चात्र देशकालापहर्तृजातिगुणापेक्षया परिहरणीयम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥ ३२१ ॥

**पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।**
**शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥**

पञ्चाशत इति । पूर्वोक्तानां पञ्चाशदूर्ध्वं यावदपहारे कृते हस्तच्छेदनं मन्वादिभिरभिहितम् । शेषेष्वेकपलादारभ्य पञ्चाशत्पलपर्यन्तापहारे अपहृतगुणादेकादशगुणं दण्डं दाप्यः ॥ ३२२ ॥

**पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।**
**मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥**

पुरुषाणामिति । महाकुलजातानां मनुष्याणां विशेषेण स्त्रीणां महाकुलप्रसूतानां श्रेष्ठानां च रत्नानां वज्रवैदूर्यादीनां अपहारे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

**महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।**
**कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ३२४**

महापशूनामिति । महतां पशूनां हस्त्यश्वादिगोमहिष्यादीनां तथा खड्गादीनां शस्त्राणां कल्याणघृतादेश्चौषधस्य च दुर्भिक्षादिरूपं कालं कार्यं प्रयोजनं च सदसद्विनियोगरूपं निरूप्य राजा ताडनाङ्गच्छेदरूपं दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

**गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।**
**पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥३२५॥**

गोष्विति । ब्राह्मणसम्बन्धिनीनां गवामपहारे वन्ध्यायाश्च गोर्वीहनार्थं नासाच्छेदने पशूनां चाजैडकानां दण्डभूयस्त्वाद्यागाद्यर्थानां हरणेऽनन्तरमेव छिन्नार्धपादिकः कार्यः ॥ ३२५ ॥

**सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।**
**दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥३२६॥**
**वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।**
**मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७॥**
**मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।**
**मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥**
**अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च ।**
**पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः॥३२९॥**

सूत्रेति । वेणुवैदलेति । मत्स्यानाति । अन्येषामिति । ऊर्णादिसूत्रकार्पासिकस्य च किण्वस्य सुरावीजद्रव्यस्य च स्थूलवेणुखण्डनिर्मितजलाहरणभाण्डादीनां यदप्यन्यत्पशुसंभवमृगचर्मखड्गशृङ्गादि। अन्येषामप्येवंविधानामसारप्रायाणां मनःशिलादीनां पक्वान्नानामोदनव्यतिरिक्तानामप्यपूपमोदकादीनां च कार्पासादिशब्दार्थानां प्रसिद्धानां चापहारे कृते मूल्याद्द्विगुणो दण्डः कार्यः ॥३२६ । २७।२८।२९॥

**पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।**
**अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥**

पुष्पेष्विति । पुष्पेषु हरिते क्षेत्रस्थे धान्ये गुल्मलतावृक्षेष्वपरिपूतेषु अनपावृतवृक्षेषु वक्ष्यमाणश्लोके धान्यादिषु निर्देशात्परिपवनसंभवाच्च धान्येषु अन्येषु समर्थपुरुषभारहार्येषु हृतेषु देशकालाद्यपेक्षया सुवर्णस्य रौप्यस्य वा पञ्चकृष्णलमाषपरिमाणो दण्डः स्यात् ॥

**परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।**
**निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥**

परीति । उपासितेषु वृक्षेषु धान्येषु शाकादिषु चापहृतेष्वन्वयो द्रव्यस्वामिनां संबन्धः येन सह कश्चिदपि संबन्धो नास्ति एकग्रामवासादिस्तत्र शतं दड्यः । सान्वये तु पञ्चाशत्पणो देयः । खलस्थेषु च धान्येष्वयं दण्डस्तत्र हि परिपूयते । गृहेष्वेकादशगुणो दण्डः प्रागुक्तः ॥ ३३१ ॥

**स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।**
**निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥**

स्यादिति । यद्धान्यापहारादिकं कर्म द्रव्यस्वामिसमक्षं बलाद्धृतं तत्साहसं स्यात्सहो बलं तद्भवं साहसम् । अत इह स्तेयदण्डो न कार्यः । एतदर्थः स्तेयप्रकरणस्य पाठः । यत्पुनः स्वामिपरोक्षापहृतं तत्स्तेयं भवेत् । यच्च हृत्वा अपह्नुते तदपि स्तेयमेव ॥ ३३२ ॥

**यस्त्वेतान्युपकृष्टानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।**
**तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥३३३॥**

यस्त्वेतानीति । यः पुनरेतानि सूत्रादिद्रव्याण्युपभोगार्थं कृतसंस्काराणि मनुष्यश्चोरयेत् । यश्च त्रेताग्निं चाग्निगृहाच्चोरयेत्तं राजा

प्रथमं साहसं दण्डयेत् । अग्निस्वामिनश्चाधानोपक्षयो दातव्यः । गोविन्दराजस्तु लौकिकाग्निं चोरयतो दण्ड इत्याह तदयुक्तम् । अल्पापराधे गुरुदण्डस्यान्याय्यत्वात् ॥ ३३३ ॥

**येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।**
**तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥**

येनेति । येन येनाङ्गेन हस्तपादादिना येन प्रकारेण संधिच्छेदादिना चौरो मनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादिकं चेष्टते तस्य तदेवाङ्गं प्रसङ्गनिवारणाय राजा छेदयेत् । तत्र धनस्वाम्युत्कर्षापेक्षयाऽयमङ्गच्छेदः ॥

**पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।**
**नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ३३५**

पितेति । पिताचार्यमित्रभ्रातृमातृपत्नीपुत्रपुरोहितानां मध्यात्स्वधर्मे यो नावतिष्ठते स राज्ञोऽदण्डनीयो नास्ति अपि तु दण्डनीय एव ॥

**कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।**
**तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥**

कार्षापणमिति । यत्रापराधे राजव्यतिरिक्तो जनः कार्षापणं दण्डनीयो भवेत्तस्मिन्नपराधे राजा पणसहस्रं दण्डनीय इति निश्चयः । स्वार्थदण्डं तु अप्सु प्रवेशयेद्ब्राह्मणेभ्यो वा दद्यात् । ईशोदण्डस्य वारुण इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३३६ ॥

**अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।**
**षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७॥**
**ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।**
**द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥**

अष्टापाद्यमिति । ब्राह्मणस्येति । तद्दोषगुणविद्धि स इति सर्वत्र संबध्यते । यस्मिन् स्तेये यो दण्ड उक्तः स स्तेयगुणदोषज्ञस्य शूद्रस्याष्टभिरापाद्यते गुण्यते इति अष्टगुणः कर्तव्यः । षोडशगुणो गुणदोषज्ञस्य वैश्यस्य द्वात्रिंशद्गुणस्तथाविधक्षत्रियस्य चतुःषष्टिगुणो गुणदोषविदुषो ब्राह्मणस्य शतगुणो वा अष्टाविंशत्यधिकशतगुणो वा गुणातिशयापेक्षया ब्राह्मणस्यैव ॥ ३३७ ॥ ३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥३३९॥

वानस्पत्यमिति । अविरुद्धवनस्पतीनां पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानामिति गोतमवचनात् । अपरिवृतवानस्पत्यादीनां मूलफलं होमीयाग्न्यर्थं च दारु गोग्रासार्थं च तृणं परकीयमस्तेयं मनुराह । तस्मान्न दण्डो नाप्यधर्मः ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥

य इति । अदत्तादायिनश्चौरस्य हस्ताद्यो ब्राह्मणो याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरपि परकीयधनं ज्ञात्वा लब्धुमिच्छेत्स चौरवच्चौरतुल्यो ज्ञेयः अतः स इव दण्ड्यः ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

द्विज इति । द्विजातिः पथिकः क्षीणपाथेयः द्वाविक्षुदण्डौ द्वे वा मूलके परकीयक्षेत्राद्गृह्णन् दण्डदानयोग्यो न भवति ॥ ३४१ ॥

असंधितानां संधाता संधितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम्॥३४२॥

असंधितानामिति । अबद्धानामश्वादीनां परकीयानां यो दर्पेण बन्धयिता बद्धानां मन्दुरादौ मोचयिता । यो दासाश्वरथापहारी स चौरदण्डं प्राप्नुयात्स च गुरुलघ्वपराधानुसारेण मारणाङ्गच्छेदनधनाद्यपहाररूपो बोद्धव्यः ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ३४३

अनेनेति । अनेनोक्तविधानेन राजा चौरनियमनं कुर्वाण इह लोके ख्यातिं परलोके चोत्कृष्टसुखं प्राप्नुयात् ॥ ३४३ ॥

इदानीं साहसमाह—

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

ऐन्द्रमिति । सर्वाधिपत्यलक्षणं पदं ख्यातिं चाविनाशिनीमनुपक्षयां चातिशयेन प्राप्तुमिच्छन् राजा बलेन गृहदाहधनग्रहणकारिणं मनुष्यं क्षणमपि नोपेक्षेत ॥ ३४४ ॥

**वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।**
**साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५॥**

वागिति । वाक्पारुष्यकृताच्चोराच्च दण्डपारुष्यकारिणश्च मनुष्यात्साहसकृन्मनुष्योऽतिशयेन पापकारी बोद्धव्यः ॥ ३४५ ॥

**साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।**
**स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति॥३४६॥**

साहस इति । यो राजा साहसे प्रवर्तमानं क्षमते स पापकृतामुपेक्षणादधर्मबुद्ध्या विनश्यति । उपक्रम्यमाणे राष्ट्रे तथा स जनविद्वेषं च गच्छति ॥ ३४६ ॥

**न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।**
**समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥**

न मित्रेति । मित्रवाक्येन बहुधनप्राप्त्या वा सर्वभूतभयजनकान्साहसिकान् राजा न त्यजेत् ॥ ३४७ ॥

**शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।**
**द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥३४८॥**
**आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।**
**स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥**

शस्त्रमिति । आत्मनश्चेति । ब्राह्मणादिभिस्त्रिभिर्वर्णैः खड्गाद्यायुधं शस्त्रम् । यस्मिन् काले वर्णानामाश्रमिणां च साहसकारादिभिर्गृहीतव्यं न दीयते । तथा त्रैवर्णिकानामराजकेषु राष्ट्रेषु परचक्राधर्मैः कर्तुं बलजनिते स्त्रीसंगरादौ प्राप्ते तथात्मरक्षार्थं दक्षिणाधनगगमनादिकार्थं मित्ते च संग्रामे स्त्रीब्राह्मणरक्षार्थं च धर्मयुद्धेनानन्यगवाद्यपहारिनि हिंसन्न दोषभागी भवति । परमारणेऽप्यत्र साहसतिकतया परान् यः ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥ दण्डो न कार्यः

**गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।**
**आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥**

गुरुं वेति । गुरुबालवृद्धबहुश्रुतब्राह्मणानामन्यतमं वधोद्यतमागच्छन्तं विद्यावित्तादिभिरुत्कृष्टं पलायनादिभिरपि स्वनिस्तरणाशक्तौ निर्विचारं हन्यात् । अत एवोशनाः । गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः । कात्यायनश्च भृगुशब्दोल्लेखेन मनूक्तश्लोकमेव व्यक्तं व्याख्यातवान् । आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः । वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापं हीने वधो भृगुः ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यतीति पूर्वस्यायमनुवादः । गुर्वादिकमपि हन्यात्किमुतान्यमपीति व्याचक्षाते ॥ ३५० ॥

**नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।**
**प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ३५१**

नेति । जनसमक्षं रहसि वा वधोद्यतस्य मारणे हन्तुर्न कश्चिदप्यधर्मदण्डः प्रायश्चित्ताख्यो दोषो भवति । यस्माद्धन्तृगतो मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता हन्यमानगतं क्रोधं विवर्धयति । साहसे चापराधगौरवापेक्षया मारणाङ्गच्छेदनधनग्रहणादयो दण्डाः कार्याः॥

इदानीं स्त्रीसंग्रहणमाह—

**परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नृन्महीपतिः ।**
**उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥**

परदारेति । परदारसंभोगाय प्रवृत्तान्मनुष्यगणानुद्वेजनकरैर्दण्डैर्नासौष्ठकर्तनादिभिरङ्गयित्वा देशान्निःसारयेत् ॥ ३५२ ॥

**तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।**
**येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥**

तदिति । यस्मात्परदाराभिगमनात्संभूतो वर्णस्य संकरः संपद्यते । येन वर्णसंकरेण विशुद्धपत्नीकयजमानाभावात् । अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठत्यस्याभावे सति वृष्ट्याख्यजगन्मूलविनाशोऽधर्मो जगन्नाशाय संपद्यते ॥ ३५३ ॥

**परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।**
**पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥**

परस्येति । तत्स्त्रीप्रार्थनादिदोषैः पूर्वमुत्पन्नाभिरपवादप्रार्थनाभिशापादिभिः पुरुष उचितकारणव्यतिरेकेण परभार्यया संभाषणं कुर्वन्प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३५४ ॥

**यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।**
**न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ३५५**

यस्त्विति । यः पुनः पूर्वं तत्स्त्रीप्रार्थनाभिशापरहितः केनचित्कारणेन जनसमक्षमभिभाषणं कुर्यान्न स पुनर्दण्ड्यत्वादिदोषं प्राप्नुयात्तस्मान्न कश्चित्तस्यापराधोऽस्ति ॥ ३५५ ॥

**परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।**
**नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥**

परेति । तीर्थाद्यरण्यवनादिकनिर्जनदेशोपलक्षणमात्रम् । यः पुरुषः परस्त्रियमुदकभरणमार्गेऽरण्ये ग्रामाद्बहिर्गुल्मलताकीर्णे निर्जने देशे वने बहुवृक्षसंतते नदीनां संगमे पूर्वमनाक्षारितोऽपि कारणादपि संभाषेत्स संग्रहणं सहस्रकरणं दण्डं वक्ष्यमाणं प्राप्नुयात् । सम्यग्गृह्यते ज्ञायते येन परस्त्रीसंभोगाभिलाष इति संग्रहणम् ॥३५६ ॥

**उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।**
**सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥**

उपचारेति । स्रग्गन्धानुलेपनप्रेषणाद्युपचारकरणं केलिः परिहासालिङ्गनादिः अलंकारवस्त्राणां स्पर्शनमेकखट्वासनमित्येतत्सर्वं संग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

**स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।**
**परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥**

स्त्रियमिति । यः स्प्रष्टुमनुचिते स्तनजघनादिदेशे स्त्रियं स्पृशेत्तया वा वृषलादिके स्पृष्टः क्षमते तदाऽन्योन्याङ्गीकरणे सर्वं संग्रहणं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

**अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।**
**चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥**

अब्राह्मण इति । अब्राह्मणोऽत्र शूद्रः दण्डभूयस्त्वात् । ब्राह्मण्यामनिच्छन्त्यामुत्तमं संग्रहणं प्राणान्तं दण्डं प्राप्नोति । चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनां वर्णानां धनपुत्रादीनामतिशयेन दाराः सर्वदा रक्षणीयाः । तेन प्रसंगनिवृत्त्यर्थमुत्कृष्टसंग्रहणादपि सर्ववर्णैर्भार्या रक्षणीया ३५९

**भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।**
**संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥**

भिक्षुका इति । भिक्षाजीविनः स्तुतिपाठका यज्ञार्थं कृतदीक्षकाः सूपकारादयो भिक्षादिस्वकार्यार्थं गृहिस्त्रीभिः सह संभाषणमनिवारिताः कुर्युः । एवं चैषां संग्रहणाभावः ॥ ३६० ॥

**न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।**
**निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥**

न संभाषामिति । स्वामिना निषिद्धः स्त्रीभिः संभाषणं न कुर्यात् । प्रतिषिद्धः संभाषणमाचरन् राज्ञः षोडशमाषात्मकसुवर्णदानयोग्यो भवति ॥ ३६१ ॥

**नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।**
**सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥३६२॥**

नैष इति । परस्त्रियं योऽभिवदेदित्यादिसंभाषणनिषेधविधिर्नटगायनादिदारेषु नास्ति तथा भार्या पुत्रः स्वकातनुरित्युक्तत्वाद्भार्यैवात्माऽनयोपजीवन्ति धनलाभाय तस्य लाभं क्षमन्ते ये तेषु नटादिव्यतिरिक्तेष्वपि ये दारास्तेष्वप्येवं निषेधविधिर्नास्ति । यस्माच्चारणा आत्मोपजीविनश्च परपुरुषानानीय तैः स्वभार्यां संश्लेषयन्ते स्वयमागतांश्च परपुरुषान्प्रच्छन्ना भूत्वा स्वज्ञानं विभावयन्तो व्यवहारयन्ति ॥ ३६२ ॥

**किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् ।**
**प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३॥**

किञ्चिदिति । निर्जनदेशे चारणान्नोपजीविभिः स्त्रीभिः संभाषणं कुर्वन् स्वल्पदण्डलेशं राज्ञा दाप्यः । तासामपि परदारत्वात्तथा दासीभिरवद्धाभिर्बौद्धाभिर्ब्रह्मचारिणीभिः संभाषां कुर्वन् किञ्चिद्दण्डमात्रं दाप्यः स्यात् ॥ ३६३ ॥

**योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।**
**सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥**

योऽकामामिति । यस्तुल्यजातिरनिच्छन्तीं कन्यां गच्छति स तत्क्षणादेव ब्राह्मणेतरो लिङ्गच्छेदनादिकं वधमर्हति । इच्छन्तीं पुनर्गच्छन्वधार्हो मनुष्यो न भवति ॥ ३६४ ॥

**कन्यां भजंतीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् ।**
**जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥**

कन्यामिति । कन्यां संभोगार्थमुत्कृष्टजातिपुरुषं सेवमानां स्वल्पमपि दण्डं न दापयेत् । हीनजातिं पुनः सेवमानां यत्नात्स्थापयेत् । यथा वा निवृत्तकामा स्यात् ॥ ३६५ ॥

**उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।**
**शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ३६६**

उत्तमामिति । हीनजातिरुत्कृष्टामिच्छन्तीं जात्यपेक्षयाऽङ्गच्छेदनमारणात्मकं वधमर्हति समानजातीयां पुनरिच्छन्तीं गच्छन् यदि पिता मन्यते तदा पितुः शुल्कानुरूपमर्थं वा दद्यान्न च दण्ड्यः । सा च कन्या तेनैव वोढव्या ॥ ३६६ ॥

**अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्यादर्पेण मानवः ।**
**तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम्३६७**

अभिषह्येति । यो मनुष्यः प्रसह्य बलात्कारेण समानजातीयां गमनवर्जमहंकारेणाङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेणैव नाशयेत्तस्य शीघ्रमेवाङ्गुलिद्वयच्छेदः कर्तव्यः । षट्पणशतानि चायं दण्ड्यः स्यात् ॥ ३६७ ॥

**सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ।**
**द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥३६८॥**

ानजातिरिच्छन्तीं कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेण
ति । किंलतिप्रसक्तिनिवारणाय द्विशतं दण्डं

**कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः ।**
**दद्याच्छिफाश्चैवामुयादश ॥३६९॥**

यैव परामङ्गुलिप्रक्षेपेण नाशयेत्तस्या द्विशतो
-च कन्यापितुर्दद्याच्छिफाप्रहारांश्च दश

**। प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।**
**अङ्गुल्यो.रव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥**

या खिति । या पुनः कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपेण स्त्री नाशयेत्सा तत्क्षणादेव शिरोमुण्डनं अङ्गुल्याः क्षेपादङ्गुल्योरेव छेदनं गर्दभेण च राजमार्गे वहनमर्हति ॥ ३७० ॥

**भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।**
**तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥३७१॥**

भर्तारमिति । या स्त्री प्रबलधनिकपित्रादिबान्धवदर्पेण शौर्यादिगुणदर्पेण च पतिं पुरुषान्तरोपगमनाल्लङ्घयेत् तां राजा बहुजनाकीर्णे देशे श्वभिर्भक्षयेत् ॥ ३७१ ॥

**पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।**
**अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥३७२॥**

पुमांसमिति । अनन्तरोक्तां जारं पापकारिणं पुरुषमयोमयशयने प्रज्वलिते राजा दाहयेत्तत्र शयने वध्यघातिनः काष्ठानि निःक्षिपेयुः । यावत्पापकारी दग्धः स्यात् ॥ ३७२ ॥

**संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।**
**व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥३७३॥**

संवत्सरेति । परस्त्रीगमनेन दुष्टस्य पुंसोऽदण्डितस्य च संवत्सरातिक्रमेणाभिशस्तस्य पूर्वदण्डाद्द्विगुणो दमः कार्यः । तथा व्रात्य-

जायागमने यो दण्डः परिकल्पितः चाण्डाल्या सह निर्देशाच्चाण्डालीगमनरूपः। तथा चाण्डालीगमने यो दण्डः सहस्रं वन्त्यजस्त्रियमिति। संवत्सरे त्वतीते यदि तामेव व्रात्यजायां तामेव चाण्डालीं पुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः। एतत्सर्वस्यैवोदाहरणद्वयं व्रात्यजायागमनेऽपि चाण्डालीगमनदण्डप्रदर्शनार्थम्। सर्वस्यैव तु पूर्वाभिशस्तदण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तामेव गच्छतः पूर्वाद्द्विगुणो दण्डो बोद्धव्यः॥ ३७३॥

**शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।**
**अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥ ३७४॥**

शूद्र इति। भर्त्रादिभी रक्षितामरक्षितां वा द्विजातिस्त्रियं यदि शूद्रो गच्छेत्तदाऽरक्षितां रक्षारहितां गच्छन् लिङ्गसर्वस्वाभ्यां वियोजनीयः। अत्राङ्गविशेषाश्रवणेऽपि आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः। सर्वस्वहरणं गोप्ता चेद्वधोऽधिक इति गोतमवचनाल्लिङ्गच्छेदः। रक्षितायां तु गच्छन् शरीरधनहीनः कर्तव्यः॥ ३७४॥

**वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः।**
**सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ३७५**

वैश्य इति। वैश्यस्य ब्राह्मणीगमने संवत्सरं बन्धादनन्तरं सर्वस्वग्रहणरूपो दण्डः कार्यः। क्षत्रियागमने तु वैश्यस्य क्षत्रियायामिति वक्ष्यति। क्षत्रियो गुप्तात्राह्मणीगमने सहस्रं दण्डनीयः खरमूत्रेण चास्य मुण्डनं कर्तव्यम्॥ ३७५॥

**ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।**
**वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम्॥ ३७६॥**

ब्राह्मणीमिति। अरक्षितां तु ब्राह्मणीं यदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छतस्तदा वैश्यं पञ्चशतयुक्तं कुर्यात्क्षत्रियं पुनः सहस्रदण्डोपेतम्। वैश्ये चायं पञ्चशतदण्डः शूद्राश्रमादिना निर्गुणजातिमात्रोपजीविब्राह्मणीगमनविषयः। तदितरब्राह्मणीगमने वैश्यस्यापि सहस्रं दण्ड एव॥

**उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह।**
**विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्ध्व्यौ वा कटाग्निना॥३७७॥**

उभाविति । तावेवोभावपि क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मण्या रक्षितया सह कृतमैथुनौ शूद्रवत्सर्वेण हीयेते इति दण्ड्यौ । यद्वा कण्ठे आवेष्ट्य दग्धव्यौ । तत्र वैश्यं लोहितदर्भैः क्षत्रियं शरपत्रैर्वावेष्ट्येति वसिष्ठोक्तो विशेषो ग्राह्यः । पूर्वं सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो वैश्यः सर्वस्वमित्युक्तत्वादयं प्राणान्तिकदण्डो गुणवद्ब्राह्मणीविषयो बोद्धव्यः ॥

**सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।**
**शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ३७८**

सहस्रमिति । रक्षितां विप्रां ब्राह्मणो बलेनोपगच्छन्सहस्रं दण्ड्यः स्यात् । इच्छन्त्या पुनः सकृन्मैथुने पञ्च शतानि दण्डनीयो भवेत् ॥

**मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।**
**इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ३७९**

मौण्ड्यमिति । ब्राह्मणस्य मारणवधस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेणोपदिश्यते । क्षत्रियादीनां पुनरुक्तेन घातेन दण्डो भवति ॥

**न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।**
**राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥**

न जात्वित्यादि । ब्राह्मणं सर्वपापकारिणमपि कदाचिन्न हन्यात् । अपि तु सर्वस्वयुक्तमक्षतशरीरं राष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ ३८० ॥

**न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।**
**तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ३८१**

नेति । ब्राह्मणवधान्महान्पृथिव्यामधर्मो नास्ति । तस्माद्राजा सर्वपापकारिणो ब्राह्मणस्य मनसापि वधं न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

**वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।**
**यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥**

वैश्यश्चेदिति । रक्षितां क्षत्रियां यदि वैश्यो गच्छेत्क्षत्रियो वा यदि रक्षितां वैश्यां तदा तयोर्ब्राह्मण्यामगुप्तायां गमने यौ दण्डावुक्तौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणमिति द्वावेव दण्डौ वैश्यक्षत्रिययोर्भवतः । अयं च वैश्यस्य रक्षितक्षत्रियागमने पञ्च

शतरूपो दण्डो लघुत्वाद्गुणवद्वैश्यस्य निर्गुणजातिमात्रोपजीविक्षत्रियायाः शूद्राभ्रान्त्यादिगमनविषयो बोद्धव्यः । क्षत्रियस्य रक्षितवैश्यायां ज्ञानतो युक्तः सहस्रं दण्डः ॥ ३८२ ॥

**सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।**
**शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥३८३॥**

सहस्रमित्यादि । क्षत्रियावैश्ये रक्षिते ब्राह्मणो व्रजन्सहस्रं दण्डं दापनीयः । शूद्रायां रक्षितायां क्षत्रियवैश्ययोर्गमने सहस्रमेव दण्डः स्यात् ॥ ३८३ ॥

**क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।**
**मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा॥३८४॥**

क्षत्रियायामिति । अरक्षितक्षत्रियागमने वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः स्यात् । क्षत्रियश्चारक्षितागमने गर्दभमूत्रेण मुण्डनं पञ्चशतरूपं वा दण्डमाप्नुयात्॥ ३८४ ॥

**अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।**
**शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं खन्त्यजस्त्रियम्३८५**

अगुप्त इति । अरक्षितां क्षत्रियां वैश्यां शूद्रां वा ब्राह्मणो गच्छन्पञ्च शतानि दण्ड्यः स्यात् । अन्ते भवोऽन्त्यजः यस्मादधमो नास्ति चाण्डालादिस्तस्य स्त्रियं गच्छन्सहस्रं दण्ड्यः ॥ ३८५ ॥

**यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।**
**न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ३८६**

यस्येति । यस्य राज्ञो राष्ट्रे चौरः परदारगामी परुषवादी गृहदाहादिसाहसकारी दण्डपारुष्यकर्ता च नास्ति स राजा शक्रपुरं याति॥

**एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।**
**साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥**

एतेषामिति । एतेषां स्तेनादीनां पञ्चानां स्वराष्ट्रे निग्रहः समानजातीयेषु राजसु मध्ये राजा साम्राज्यकृदिह लोके च यशस्करो भवति ॥ ३८७ ॥

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८॥

ऋत्विजमिति । यो याज्यः ऋत्विजं कर्मानुष्ठानसमर्थमतिपातकादिदोषरहितमृत्विग्वा याज्यमदुष्टं त्यजति तयोः शतं शतं दण्डः कार्य इति दण्डप्रसंगादिदमुक्तम् ॥ ३८८ ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ३८९

न मातेति । मातृपितृभार्यापुत्राः त्यागमपोषणशुश्रूषणाद्यकरणात्मकं नार्हन्ति । तस्मादेतान्पातकादिरहितान्परित्यजन्नेकैकपरित्यागे राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः ॥ ३८९ ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः॥३९०॥

आश्रमेष्विति। द्विजातीनां गार्हस्थ्याश्रमविषये कार्येऽयं शास्त्रार्थो नायं शास्त्रार्थ इति परस्परं जातविवादानां राजा स्वीयहितं चिकीर्षुरयं शास्त्रार्थ इति सदृशान्विशेषेण न ब्रूयात् ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

यथार्हमिति । यो यादृशीं पूजामर्हति तं तथा पूजयित्वा अन्यैर्ब्राह्मणैः सह प्रथमं प्रीत्या अपगतकोपं कृत्वा तत एषां यः स्वधर्मस्तं बोधयेत् ॥ ३९१ ॥

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

प्रातिवेश्येति । निरन्तरगृहवासी प्रातिवेश्यः तदन्तरगृहवास्यनुवेश्यः यस्मिन्नुत्सवे विंशतिरन्ये ब्राह्मणा भोज्यन्ते तत्र प्रातिवेश्यानुवेश्यौ प्रातिवेश्यब्राह्मणातिक्रमकारी चेति विष्णुवचनाद्ब्राह्मणौ भोजनार्हावभोजयन् ब्राह्मण उत्तरत्र हैरण्यादिग्रहणादिह रौप्यमाषं दण्डमर्हति ॥ ३९२ ॥

**श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।**
**तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥**

श्रोत्रिय इति । विद्याचारवान् तथाविधमेव गुणवन्तं विभवकार्येषु विवाहादिषु प्रकृतत्वात्प्रातिवेश्यानुवेश्यावेव भोजयन् तदन्नं भोजिताद्विगुणमन्नं दाप्यो हिरण्यमाषकं च राज्ञः ॥ ३९३ ॥

**अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।**
**श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥**

अन्ध इति । अन्धो बधिरः पङ्गुः संपूर्णसप्ततिवर्षः । सप्तत्येति प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति तृतीया । श्रोत्रियेषु धनधान्यशुश्रूषादिनोपकारकाः केनचिदपि क्षीणकोशेनापि राज्ञा त्वनुग्राह्याः करं न दापनीयाः ॥ ३९४ ॥

**श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।**
**महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥**

श्रोत्रियमिति । विद्याचारवन्तं ब्राह्मणं रोगिणं पुत्रवियोगादिदुःखितं बालवृद्धदरिद्रमहाकुलप्रसूतोदारचरितान् राजा दानमानहितकरणैः संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

**शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।**
**न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥३९६॥**

शाल्मलीति । शाल्मल्यादिवृक्षसंबन्धिफलके अपरुषे रजकः शनैः शनैर्वासांसि प्रक्षालयेत् । न परकीयैर्वस्त्रैरन्यवस्त्राणि नयेन्न चान्यवासांस्यन्यपरिधानार्थं दद्यात् । यद्येवं कुर्यात्तदाऽसौ दण्ड्यः स्यात् ॥ ३९६ ॥

**तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।**
**अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ३९७**

तन्तुवाय इति । तन्तुवायो वस्त्रनिर्माणार्थं दश पलानि सूत्रं गृहीत्वा पिष्टभक्ष्याद्यप्रवेशादेकादशपलं वस्त्रं दद्याद्यदि ततो न्यूनं दद्यात्तदा द्वादश पणान् राज्ञा दाप्यः स्वामिनश्च तुष्टिः कर्तव्यैव ॥

**शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।**
**कुर्युरर्घं यथापल्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥**

शुल्केति । स्थलजलपथव्यवहारतो राजग्राह्यो भागः शुल्कम् । तस्य अवस्थानेषु ये कुशलास्तथा सर्वपण्यानां सारासारज्ञास्ते पण्येषु यमर्घं मूल्यमनुरूपं कुर्युस्ततो लाभधनाद्विंशतिभागं राजा गृह्णीयात् ॥

**राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।**
**तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥**

राज्ञ इति । राज्ञः संबन्धितया यानि विक्रेयद्रव्याणि प्रख्यातानि राजोपयोगीनि हस्त्यश्वादी च तद्देशोद्भवानि च प्रतिषिद्धानि च । यथा दुर्भिक्षे धान्यं देशान्तरं न नेयमिति तानि लोभाद्देशान्तरं नयतो वणिजः सर्वहरणं राजा कुर्यात् ॥ ३९९ ॥

**शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।**
**मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्४००**

शुल्कस्थानमिति । शुल्कमोक्षायोत्पथेन गच्छति । अकाले रात्र्यादौ वा क्रयविक्रयं करोति । शुल्कखण्डनार्थं विक्रेयद्रव्यस्याल्पां संख्यां वक्ति । राजदेयमपलपितमष्टगुणं दण्डरूपतया दाप्यः ४०० ।

**आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।**
**विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥**

आगममिति । कियतो दूरादागतमिति देशान्तरीयद्रव्यस्यागमनं कियद्दूरं नीयत इति स्वदेशोद्भवस्य निर्गमं कियत्कालस्थितं कियन्मूल्यं लभत इति स्थितं तथा कियती वृद्धिरित्यत्र कर्मकाराणां भक्ताच्छादनादिना कियानपक्षय इत्येवं विचार्य तथा वणिजां क्रेतॄणां यथा पीडा न भवति तथा सर्वपण्यानां क्रयविक्रयौ कारयेत् ॥

**पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।**
**कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥**

पञ्चरात्र इति । आगमनिर्गमोपाययोगादेः पण्यानामनियतत्वात् ।

अस्थिरार्घादीनां पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे गते स्थिरप्रायार्घाणां पक्षे पक्षे गते वणिजामर्घविदां प्रत्यक्षं नृपतिरामपुरुषैर्व्यवस्थां कुर्यात् ॥ ४०२ ॥

**तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।**
**षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥**

तुलेति । तुलामानं सुवर्णादीनां परिच्छेदार्थं यत्क्रियते तत्सर्वं स्वनिरूपितं यथा स्यात् । षट्सु षट्सु मासेषु गतेषु पुनस्तत्सर्वं सभ्यपुरुषैर्नृपतिः परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

**पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।**
**पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥४०४॥**

पणमिति । भाण्डपूर्णानि यानानीति वक्ष्यति । तेन रिक्तशकटादि यानं तरविषये पणं दाप्यम् । एवं पुरुषभारोऽर्धपणं तरपण्यं दाप्यः । पशुश्च गवादिः पणचतुर्थभागं भाररहितो मनुष्यः पणाष्टभागं दापनीयः ॥ ४०४ ॥

**भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।**
**रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ४०५**

भाण्डेति । पण्यद्रव्यपूर्णानि शकटादीनि द्रव्यगतोत्कर्षापेक्षया द्रव्यरहितानि गोणीकम्बलादिषु यत्किञ्चित्तार्यं दाप्यम् । अपरिच्छदा दरिद्रा उक्तपदार्थदानापेक्षया यत्किञ्चिद्दापनीयाः ॥ ४०५ ॥

**दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।**
**नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥**

दीर्घेति । पूर्वं पारावारे तरणार्थमुक्तम् । इदानीं नदीमार्गे दूराध्वनि गन्तव्ये प्रबलवेगस्थिरोदकनद्यादिदेशग्रीष्मवर्षादिकालापेक्षया तरमूल्यं कल्पनीयम् । एतच्च नदीतीरे वोढव्यम् । समुद्रे तु वाताधीनपोतगमनत्वात्स्वायत्तलाभावे तरपण्यविशेषज्ञापकं नदीवद्दियोजनादिकं नास्ति ततस्तत्रोचितमेव तरपण्यं ग्राह्यम् ॥ ४०६ ॥

**गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।**
**ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥४०७॥**

गर्भिणीति । संजातगर्भा स्त्री मासद्वयादूर्ध्वं तथा प्रव्रजितो भिक्षुर्मुनिर्वानप्रस्थो ब्राह्मणाश्च लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणस्तरमूल्यं तरे न दाप्याः ॥ ४०७ ॥

**यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः ।**
**तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥**

यन्नावीति । नौकारूढानां यत्किञ्चिन्नाविकापराधेन नष्टं द्रव्यं तन्नाविकैरेव मिलित्वा यथाभागं दातव्यम् ॥ ४०८ ॥

**एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।**
**दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥**

एष इति । नाविकापराधाद्यदुदके नष्टं तन्नाविकैरेव दातव्यम् । पूर्वोक्तमनूदितं दैविके नास्ति निग्रह इति विधातुं नौयायिनामेष व्यवहारस्य निर्णय उक्तः । दैवोपजातवातादिना नौभङ्गेन धनादिनाशे नाविकानां न दण्डः ॥ ४०९ ॥

**वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।**
**पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥**

वाणिज्यमिति । वाणिज्यं कुसीदकृषिपशुरक्षणानि वैश्यं कारयेत् शूद्रं च राजा द्विजातीनां दास्यं कारयेत् । अकुर्वाणौ वैश्यशूद्रौ राज्ञो दण्ड्यावित्येवमर्थोऽयमिहोपदेशः ॥ ४१० ॥

**क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।**
**बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ४११**

क्षत्रियमिति । ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यौ भृत्यभावेन पीडितौ करुणया स्वानि कर्माणि रक्षणकृष्यादीनि कारयन् ग्रासाच्छादनादिना पोषयेत् । एवं बलवान् ब्राह्मणस्तावुपगतावबिभ्रन् राज्ञा दण्डनीय इति प्रकरणसामर्थ्याद्गम्यते ॥ ४११ ॥

**दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।**
**अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्४१२**

दास्यं त्विति । प्रभवतो भावः प्राभवत्यं ब्राह्मणः कृतोपनयना-

न्द्विजातीननिच्छतः प्रभुत्वेन लोभाद्दास्यकर्म पादधावनादि कारयन् षट् शतानि दण्ड्यः ॥ ४१२ ॥

**शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।**
**दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ४१३**

शूद्रं त्विति । शूद्रं पुनर्भक्तादिभृतममृतं वा दास्यं कारयेत् । यस्मादसौ ब्राह्मणस्य दास्यायैव प्रजापतिना सृष्टः ॥ ४१३ ॥

**न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।**
**निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥**

न स्वामिनेति । यस्मादसौ ध्वजाहृतत्वादिना दासत्वं गतः स तेन त्यक्तः स्वदास्याभावेऽपि शूद्रो ब्राह्मणस्य दास्यान्न विमुच्यते । तस्माद्दास्यं शूद्रस्य सहजं कः शूद्रत्वजातिमिव दास्यमपनयति । अदृष्टार्थमप्यवश्यं शूद्रेण ब्राह्मणादिद्विजशुश्रूषा कर्तव्येत्येवपरमेतत् अन्यथा वक्ष्यमाणदास्यकरणपरिगणनमनर्थकं स्यात् ॥ ४१४ ॥

**ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।**
**पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥**

ध्वजेति । संग्रामसकाशाज्जितो भक्तलाभाद्युपगतो भक्तदासस्तथा दासीपुत्रो मूल्येन क्रीतोऽन्येन दत्तः पित्रादिक्रमागतः दण्डादिधनशुद्ध्यर्थं स्वीकृतदास्यभाव इत्येतानि सप्त ध्वजाहृतत्वादीनि दासत्वकारणानि ॥ ४१५ ॥

**भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।**
**यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥**

भार्येति । पुत्रभार्यादासास्त्रयोऽमी निर्धना एव मन्वादिभिः स्मृताः । यस्माद्यद्धनं तेऽर्जयन्ति यस्य ते भार्यादयस्तस्य तद्धनं भवति । एतच्च भार्यादीनां पारतन्त्र्यप्रदर्शनार्थपरम् । अध्यग्न्यादेः षड्विधस्य स्त्रीधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् । धनसाध्यादृष्टार्थकर्मोपदेशार्थं च भार्यादीनां पत्न्यधिकरणे पत्न्यर्थेऽपि यागाधिकारस्योक्तत्वात् । स्त्रीपुंसयोर्मध्ये एकधने चानुमतिद्वारेण स्त्रिया अपि कर्तृत्वात् ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत् ।
नहि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः४१७

विस्रब्धमिति । निर्विचिकित्समेव प्रकृतादासशूद्राद्धनग्रहणं कुर्याद्ब्राह्मणः । यतस्तस्य किञ्चिदपि स्वं नास्ति । यस्माद्भर्तृग्राह्यधनोऽसौ । एवं चापदि बलादपि दासाद्ब्राह्मणो धनं गृह्णन्न राज्ञा दण्डनीय इत्येवमर्थमेतदुच्यते ॥ ४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥

वैश्येति । वैश्यं कृष्यादीनि शूद्रं च द्विजातिशुश्रूषादीनि कर्माणि यत्नतो राजा कारयेत् । यस्मात्तौ स्वकर्मभ्यश्च्युतावशास्त्रीयोपार्जितधनग्रहणमदादिना जगदाकुलीकुर्याताम् ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥

अहनीति । प्रत्यहं तदधिकृतद्वारेण प्रारब्धदृष्टादृष्टार्थकर्मणां निष्पत्तिं नृपतिर्निरूपयेत्तथा हस्त्यश्वादीनि किमद्य प्रविष्टं किं निःसृतमिति सुवर्णरत्नोत्पत्तिस्थानानि भाण्डागारं चावेक्ष्य तद्व्यवहारदर्शनासक्तोऽपि राजा धर्मान्न परित्यजेदिति दर्शयितुमुक्तस्यापि पुनर्वचनम् ॥ ४१९ ॥

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ४२०

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेणैतान्सर्वानृणादानादीन् व्यवहारान् तत्त्वतो निर्णयेनान्तं नयन् पापं सर्वमपहाय स्वर्गादिप्राप्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं लभते ॥ ४२० ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यामष्टमोऽध्यायः ॥८॥

## अथ नवमोऽध्यायः ।

**पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः ।**
**संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥**

पुरुषस्येति । पुरुषस्य पत्न्याश्च धर्माय हि तेऽन्योन्याऽव्यभिचारिलक्षणे वर्त्मनि वर्तमानयोः संयुक्तवियुक्तयोश्च धर्मान् पारंपर्यागतत्वेन नित्यान्वक्ष्यामि । दम्पत्योः परस्परधर्मव्यतिक्रमे सत्यन्यतरज्ञाने दण्डेनापि स्वधर्मव्यवस्थानं राज्ञा कर्तव्यमिति व्यवहारमध्येऽस्योपदेशः १

**अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।**
**विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥२॥**

अस्वतन्त्रा इति । स्त्रीयैर्भर्त्रादिभिः सदा स्त्रियः स्वाधीनाः कार्या अनिषिद्धेष्वपि रूपरसादिविषयेषु प्रसक्ता अपि आत्मवशाः कार्याः २

**पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।**
**रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥**

पितेति । पिता विवाहात्पूर्वं स्त्रियं रक्षेत्पश्चाद्भर्ता तदभावे पुत्राः । तस्मान्न स्त्री कस्यांचिदप्यवस्थायां स्वातन्त्र्यं भजेत् । भर्ता रक्षति यौवन इत्यादि प्रायिकम् । अभर्तृपुत्रायाः सन्निहितायाः पित्रादिभिरपि रक्षणात् ॥ ३ ॥

**कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।**
**मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥**

काल इति । प्रदानकाले पिता तामददन् गर्ह्यो भवति । प्रदानं प्रागृतोरिति गोतमवचनाद्ऋतोः प्राक् प्रदानकालः । पतिश्च ऋतुकाले पत्नीमगच्छन् गर्हणीयो भवति । पत्यौ मृते मातरमरक्षन् पुत्रो निन्द्यः स्यात् ॥ ४ ॥

**सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।**
**द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥**

सूक्ष्मेभ्य इति । स्वल्पेभ्योऽपि दुःसंगेभ्यो दौःशील्यसंपादकेभ्यो

विशेषेण स्त्रियो रक्षणीयाः किंपुनर्महद्भ्यः । यस्मादुपेक्षितरक्षणाद्भ्यो पितृभर्तृगणयोः संतापं दापयेयुः ॥ ५ ॥

**इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।**
**यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥**

इमामिति । सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां भार्यारक्षणलक्षणं धर्मं वक्ष्यमाणश्लोकरीत्या सर्वधर्मेभ्य उत्कृष्टं जानन्तोऽन्धपंग्वादयोऽपि भार्यां रक्षितुं यतेरन् ॥ ६ ॥

**स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।**
**स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥**

स्वामिति । यस्माद्भार्यां रक्षतो रक्षणमसङ्कीर्णविशुद्धापत्योत्पादनेन स्वसंततिं तथा शिष्टसमाचारं पितृपितामहाद्यन्वयमात्मानं विशुद्धसंताननिमित्तौर्ध्वदेहिकलाभेन स्वधर्मं च विशुद्धभार्यास्याधानादावप्यधिकाराद्रक्षति । तस्मात्स्त्रियो रक्षितुं यतेतेति पूर्वस्य विशेषः ॥७॥

**पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।**
**जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ ८ ॥**

पतिरिति । पतिः शुक्ररूपेण भार्यां संप्रविश्य गर्भमापाद्य तस्यां भार्यायां पुत्ररूपेण जायते । तथा च श्रुतिः । आत्मा वै पुत्रनामासीति । जायायास्तदेव जायात्वं यतोऽस्यां पतिः पुनर्जायते । तथा च बह्वृचब्राह्मणम् । पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । ततश्चासौ रक्षणीयेत्येतदर्थं नामनिर्वचनम्॥८॥

**यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।**
**तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥**

यादृशमिति । यस्माद्यादृशं पुरुषं शास्त्रेण विहितं प्रतिषिद्धं वा तादृशशास्त्रोक्तपुरुषसेवनेनोत्कृष्टं निषिद्धपुरुषसेवनेन च निकृष्टं पुत्रं जनयति । तस्मादपत्यविशुद्ध्यर्थं पत्नीं यत्नतो रक्षेत् ॥ ९ ॥

कथं रक्षणीयेत्यत आह—

**न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।**
**एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥**

नेति । कश्चिद्बलात्संरोधादिनापि स्त्रियो रक्षितुं न शक्तस्तत्रापि व्यभिचारदर्शनात् । किंत्वेतैर्वक्ष्यमाणै रक्षणोपायप्रयोगैस्ता रक्षयितुं समर्थाः ॥ १० ॥

तानुपायानाह—

**अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।**
**शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥**

अर्थस्येति । धनस्य संग्रहणे विनियोगे च द्रव्यशरीरशुद्धौ भर्तुश्च शुश्रूषादिकेऽन्नसाधने पारिणाह्यस्य गृहोपकरणस्य शय्यासनकुण्ड-कटाहादेरवेक्षणे एनां नियोजयेत् ॥ ११ ॥

**अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।**
**आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥**

अरक्षिता इति । आप्ताश्च ते आज्ञाकारिणश्च तैः पुरुषैर्गृहे रुद्धा अप्यरक्षिता भवन्ति । या दुःशीलतया नात्मानं रक्षन्ति । यास्तु धर्म-ज्ञतया आत्मानमात्मना रक्षन्ति ता एव सुरक्षिता भवन्ति । अतो धर्माधर्मफलस्वर्गनरकप्राप्त्याद्युपदेशेनासां संयमः कार्य इति मुख्यर-क्षणोपायकथनपरमिदम् ॥ १२ ॥

**पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।**
**स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥**

पानमिति । मद्यपानं असत्पुरुषसंसर्गः भर्त्रा सह विरहः इत-स्ततश्च भ्रमणं अकालस्वापः परगृहनिवास इत्येतानि षट् स्त्रिया व्यभिचाराख्यदोषजनकानि । तस्मादेतेभ्यो एता रक्षणीयाः ॥ १३ ॥

**नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।**
**सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥**

नैता इति । नैताः कमनीयरूपं विचारयन्ति न चासां यौवना-दिके वयसि आदरो भवति किंतु सुरूपं कुरूपं वा पुमानित्येतावतैव तमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥

**पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।**
**रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥**

पौंश्चल्यादिति । पुंसो दर्शने संभोगाद्यभिलाषशीलत्वाच्चित्तस्थैर्याभावात्स्वभावतः स्नेहरहितत्वाच्च एता यत्नेनापि लोके रक्षिताः सत्यो व्यभिचाराश्रयणेन भर्तृषु विक्रियां गच्छन्ति ॥ १५ ॥

**एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।**
**परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणंप्रति ॥ १६ ॥**

एवमिति । एवं श्लोकद्वयोक्तमासां स्वभावं हिरण्यगर्भसृष्टिकालजनितं ज्ञात्वा रक्षणार्थं प्रकृष्टं यत्नं पुरुषः कुर्यात् ॥ १६ ॥

**शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।**
**द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥**

शय्येति । शयनोपवेशनालङ्करणशीलत्वं कामक्रोधानार्जवपरहिंसाकुत्सिताचारत्वानि सर्गादौ मनुः स्त्रीभ्यः कल्पितवान् । तस्माद्यत्नतो रक्षणीयाः ॥ १७ ॥

**नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।**
**निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः १८**

नास्तीति । जातकर्मादिक्रिया स्त्रीणां मन्त्रैर्नास्ति इत्येषा शास्त्रमर्यादा व्यवस्थिता । ततश्च मन्त्रवत्संस्कारगणाभावान्न निष्पापान्तःकरणाः । इन्द्रियं प्रमाणं धर्मप्रमाणश्रुतिस्मृतिरहितत्वान्न धर्मज्ञाः । अमन्त्राः पापापनोदनमन्त्रजपरहितत्वाज्जातेऽपि पापे तन्निर्णेजनाक्षमाः । अनृतवदशुभाः स्त्रिय इति शास्त्रमर्यादा । तस्माद्यत्नतो रक्षणीया इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

**तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।**
**स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥**

तथा चेति । व्यभिचारशीलत्वं स्त्रीणां स्वभाव इत्युक्तं तत्र श्रुतिं प्रमाणतयोपन्यस्यति । तथा बह्व्यः श्रुतयो बहूनि श्रुतिवाक्यानि न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वेत्येवमादीनि निगमेषु स्वालक्षण्यं व्यभिचारशीलत्वं तत्परिज्ञानार्थं पठितानि । तासां श्रुतीनां मध्ये या निष्कृतिरूपा व्यभिचारप्रायश्चित्तभूतास्ताः श्रुतीः शृणुत । एकस्याः श्रुतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्छ्रुतिं शृणुतेत्यर्थः । सुपां सुपो भवन्तीति द्वितीयैकवचने बहुवचनम् ॥ १९ ॥

**यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।**
**तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥**

यदिति । कश्चित्पुत्रो मातुर्मानसव्यभिचारमवगम्य ब्रूते । मनोवाक्कायकर्मभिः पतिव्यतिरिक्तं पुरुषं या न कामयते सा पतिव्रता ततोऽन्या अपतिव्रता । मम माता अपतिव्रता सती परगृहान् गच्छन्ती यत्प्रलुलुभे परपुरुषं प्रति संजातलोभा अभूत्तत्पुरुषसंकल्पदुष्टं मातृरजोरूपं रेतो मम पिता शोधयत्वित्यस्य स्त्रिया व्यभिचारशीलत्वस्यैतदितिकरणान्तं मन्त्रपादत्रयं ज्ञापकम् । अयं च मन्त्रश्चातुर्मास्यादिषु विनियुक्तः ॥ २० ॥

संप्रति मानसव्यभिचारप्रायश्चित्तरूपतामस्य मन्त्रस्याह—

**ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।**
**तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥**

ध्यायतीति । भर्तुरप्रियं यत्किञ्चित्पुरुषान्तरगमनं स्त्री मनसा चिन्तयति तस्य मानसस्य व्यभिचारस्य एष प्रकृतो मन्त्रः सम्यक् शोधनो मन्वादिभिरुच्यते । मातेति श्रवणात्पुत्रस्यैवायं प्रायश्चित्तरूपो मन्त्रो न मातुः ॥ २१ ॥

**यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।**
**तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥**

यादृग्गुणेनेति । यथारूपेण भर्त्रा साधुनाऽसाधुना वा स्त्री विवाहविधिना संयुज्यते सा भर्तृसदृशगुणा भवति । यथा समुद्रेण संयुज्यमाना नदी स्वादूदकापि क्षारजला जायते । भर्तुरात्मसंमानाख्यस्त्रीरक्षणोपायान्तरोपदेशार्थमिदम् ॥ २२ ॥

अत्रोत्कर्षदृष्टान्तमाह—

**अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।**
**शार्ङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥**

अक्षमालेति । अक्षमालाख्या निकृष्टयोनिजा वसिष्ठेन परिणीता तथा चटका मंदपालाख्येन ऋषिणा संगता पूज्यतां गता ॥ २३ ॥

**एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।**
**उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥**

एता इति । यद्यपि द्वे प्रकृते तथापि प्रदर्शनार्थत्वमनयोर्मत्वा एता इति बहुवचनं कृतम् । एताश्चान्याश्च सत्यवत्यादयो निकृष्ट-प्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टैरस्मिँल्लोके उत्कृष्टतां प्राप्ताः ॥ २४ ॥

**एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।**
**प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥**

एषेति । एष लोकाचारो जायापतिविषयः सदा शुभ उक्तः । इदानीमिह लोके परलोके च उत्तरकालशुभसुखहेतून् किं क्षेत्रिणो-ऽपत्यमुत बीजिन इत्यादीन्प्रजाधर्मान् शृणुत ॥ २५ ॥

**प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।**
**स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥२६॥**

प्रजनार्थमिति । यद्यप्यासां रक्षणार्थं दोषा उक्तास्तथापि यद्य-प्रतीकारात्तेषामेताः स्त्रियो महोपकारा गर्भोत्पादनार्थं बहुकल्याण-भाजनभूता वस्त्रालंकारादिदानेन संमानार्हाः स्वगृहे शोभाकारिण्यः स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु तुल्यरूपा नानयोर्विशेषो विद्यते । यथा निः-श्रीकं गृहं न राजत्येवं निःस्त्रीकमिति । अपि च ॥ २६ ॥

**उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।**
**प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥**

उत्पादनमिति । अपत्यस्य जननं जातस्य परिपालनं प्रतिदिनं चातिथिमित्रभोजनादेर्लोकव्यवहारस्य प्रत्यक्षं भार्यैव निदानम् २७

**अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।**
**दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥**

अपत्यमिति । अपत्योत्पादनमुक्तमप्येनदभ्यार्हितत्वज्ञापनार्थं पुनर-भिधानम् । धर्मकार्याण्यग्निहोत्रादीनि परिचर्या उत्कृष्टा रतिः पितृ-णामात्मनश्चापत्यजननादिना स्वर्ग इत्येतत्सर्वं भार्याधीनम् ॥ २८ ॥

**पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।**
**सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते२९**

पतिमिति । या स्त्री मनोवाग्देहसंयता सतीति विशेषणोपादानसामर्थ्यान्मनोवाग्देहैरेव न व्यभिचरति सा भर्त्रा सहार्जितान्स्वर्गादिलोकानाप्नोति इह लोके विशिष्टैः साध्वीत्युच्यते ॥ २९ ॥

**व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।**
**सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥**

व्यभिचारादिति । पुरुषान्तरसंपर्कात्स्त्री लोके निन्द्यतां जन्मान्तरे च सृगालजातिं प्राप्नोति पापरोगादिभिश्च पीड्यते । पञ्चमाध्याये स्त्रीधर्मे उक्तमप्येतच्छ्लोकद्वयं तदपत्यर्थत्वेन महाप्रयोजनतया पुनः पठितम् ॥

**पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।**
**विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥**

पुत्रमिति । पुत्रमधिकृत्य शिष्टैर्मन्वादिभिः पूर्वमुत्पन्नैश्च महर्षिभिरभिहितमिमं वक्ष्यमाणं सर्वजनहितं विचारं शृणुत ॥ ३१ ॥

**भर्तुः पुत्रं विजानंति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।**
**आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥**

भर्तुरिति । भर्तुः पुत्रो भवतीति मुनयो मन्यन्ते । भर्तरि द्विःप्रकारा श्रुतिर्वर्तते । केचिदुत्पादकमवोढारमपि भर्तारं तेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः । अन्ये तु वोढारं भर्तारमनुत्पादकमप्यन्यजनितेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः ॥ ३२ ॥

**क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।**
**क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥**

क्षेत्रभूतेति । व्रीह्याद्युत्पत्तिस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता । पुरुषश्च व्रीह्यादिबीजतुल्यः स्मृतः । यद्यपि रेतो बीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते । क्षेत्रबीजसमायोगात्सर्वप्राणिनामुत्पत्तिः । एवं चोभयोः कारणत्वस्याविशिष्टत्वाद्युक्ता विप्रतिपत्तिः । किं यत्संबन्धि क्षेत्रं तस्यापत्यमुत यदीयं बीजं तस्येति ॥

**विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।**
**उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥**

विशिष्टमिति । क्वचिद्बीजं प्रधानं जायते यदर्थमुपायामिति न्यायेनोत्पन्नो बीजिनो बुध इव सोमस्य । तथा व्यासकृष्यश्रृङ्गादयो बीजिनामेव सुताः । क्वचित्क्षेत्रस्य प्राधान्यं यथायं तत्पजः प्रमीतस्येति वक्ष्यति । अत एव विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षेत्रियाः क्षेत्रिणः एव पुत्रा बभूवुः । यत्र पुनर्बीजयोन्योः साम्यं तत्र वोढेव जनयिता तदपत्यं भवति तत्र बीजप्राधान्यापेक्षं तावदाहुः ॥ ३४ ॥

**बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।**
**सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥**

बीजस्येति । बीजक्षेत्रयोर्बीजं प्रधानमभिधीयते । यस्मात्सर्वेषां भूतारब्धानां उत्पत्ति र्बीजगतवर्णस्वरूपादिचिह्नैरुपलक्षिता दृश्यते ३५

**यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।**
**तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६॥**

यादृशमिति । यज्जातीयं बीजं व्रीह्यादि ग्रीष्मादिकाले वर्षादिना संस्कृते क्षेत्रे उप्यते तज्जातीयमेव तद्बीजमात्मीयैर्वर्णादिभिरुपलक्षितं तस्मिन् क्षेत्रे जायते ॥ ३६ ॥

एवमन्वयप्रकारेण बीजप्राधान्यं प्रदर्श्य व्यतिरेकमुखेन दर्शयितुमाह-

**इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।**
**न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७॥**

इयमिति । हिरवधारणे । इयमेव भूमिर्भूतारब्धानां तरुगुल्मलतादीनां नित्या योनिः कारणं क्षेत्रात्मकं सर्वलोकैरुच्यते । न च भूम्याख्ययोनिधर्मान् कांश्चिदपि मृत्स्वरूपत्वादीन् बीजं स्वविषयेषु करकाण्डाद्यवस्थासु भजते । भजत्यर्थत्वात्पुष्यतेः सकर्मता । तस्माद्योनिगुणानुवर्तनाभावान्न क्षेत्रप्राधान्यम् । अपि च ॥ ३७ ॥

**भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।**
**नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥**

भूमाविति । भूमावेकस्मिन्नपि केदारे कर्षकैर्वपनकालोत्तानि व्रीहिमुद्गादीनि नानारूपाण्येव बीजस्वभावाज्जायंते न तु भूमेरेकत्वादेकरूपाणि भवन्ति । तथाहि ॥ ३८ ॥

**व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।**
**यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥**

व्रीहय इति । व्रीहयः षष्टिकाः शालयः कलमाद्याः तथा मुद्गादयो बीजस्वभावानतिक्रमेण नानारूपाणि जायन्ते । एवं च सति ॥

**अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।**
**उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥**

अन्यदिति । व्रीहिरुप्तो मुद्गादिर्जायते इत्येतन्न संभवति । यस्माद्यदेव बीजमुप्यते तत्तदेव जायते । एवं बीजगुणानुवर्तनात्क्षेत्रधर्मानुवृत्तेश्च व्रीह्यादौ मनुष्येष्वपि बीजप्राधान्यम् ॥ ४० ॥

संप्रति क्षेत्रप्राधान्यमाह—

**तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।**
**आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥**

तदिति । तद्बीजं सहजप्रज्ञावता पित्रादिवच्छिष्टेन ज्ञानं वेदः एवं विज्ञानमपि तदङ्गादिशास्त्राणि तद्वेदिना आयुरिच्छता न कदाचित्परजायायां वपनीयम् ॥ ४१ ॥

**अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।**
**यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥**

अत्रेति । अतीतकालज्ञा अस्मिन्नर्थे वायुप्रोक्ता गाथाश्छन्दोविशेषयुक्तानि वाक्यानि कथयन्ति । यथा परपुरुषेण परपत्न्यां बीजं न वप्तव्यमिति ॥ ४२ ॥

**नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।**
**तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥**

नश्यतीति । यथान्येन विद्धं मृगं कृष्णसारं तस्मिन्नेव छिद्रे पश्चा-

दन्यस्य विद्ध्यत आविद्धः क्षिप्तः शरो निष्फलो भवति । पूर्वहन्त्रैव हतत्वात्तस्यैव तन्मूललाभात् । एवं परपत्न्यामुप्तं बीजं शीघ्रमेव निष्फलं भवति । गर्भग्रहणानन्तरं क्षेत्रिणः सद्यः फललाभात् ४३

**पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।**
**स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥४४॥**

पृथोरिति । इमामपि पृथ्वीं पृथुना पूर्वं परिगृहीतत्वादनेकराजसंबन्धेऽपि पृथोर्भार्यामित्यतीतज्ञा जानन्ति । तस्मात् स्थाणुं छिनत्तीति स्थाणुच्छेदः । कर्मण्यण् । येन स्थाणुमुत्पाट्य क्षेत्रं कृतं तस्यैव तत्क्षेत्रं वदन्ति । तथा शरादि शल्यं येन पूर्वं मृगे क्षिप्तं तस्यैव तं मृगमाहुः । एवं च पूर्वपरिग्रहीतुः स्वामित्वाद्वोढुरेवापत्यं भवति न जनयितुः ॥ ४४ ॥

**एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।**
**विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ४५**

एतावानिति । नैकः पुरुषो भवति अपि तु भार्यास्वदेहमपनीयापत्यानीत्येतत्परिणाम एव पुरुषः । तथा च वाजसनेयब्राह्मणम् । अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति । तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृतेति । एवं च तस्यामुत्पादितं भर्तुरेवापत्यं भवतीति । यतश्च दंपत्योरैक्यमतः ॥ ४५ ॥

**न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।**
**एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥**

नेति । निष्क्रयो विक्रयः विसर्गस्त्यागः न ताभ्यां स्त्री भर्तुर्भार्यात्वादपैत्येवं पूर्वं प्रजापतिना स्मृतं नित्यं धर्मं मन्यामहे । एवं च क्रयादिनापि परस्त्रियमात्मसात्कृत्वा तदुत्पादितापत्यं क्षेत्रिण एव भवति न बीजिनः ॥ ४६ ॥

**सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।**
**सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७॥**

सकृदित्यादि । पित्रादिधनविभागो भ्रातृणां धर्मतः कृतः सकृदेव भवति न पुनरन्यथा क्रियत इति । तथा कन्या पित्रादिना सकृदेकस्मै दत्ता न पुनरन्यस्मै दीयते । एवं च अन्येन पूर्वमन्यस्मै दत्तायां पश्चात्पित्रादिभिः प्राप्तायामपि जनितमपत्यं न बीजिनो भवतीत्येतदर्थमस्योपन्यासः । तथा कन्यातोऽन्यस्मिन्नपि गवादिद्रव्ये सकृदेव ददानीत्याह न पुनस्तदन्यस्मै दीयत इति त्रीण्येतानि साधूनां सकृद्भवन्ति । यद्यपि कन्यादानस्य सकृत्करणं प्रकृतोपयुक्तं तथापि प्रसङ्गादंशदानयोरपि सकृत्त्वाभिधानम् । सकृदाह ददानीत्यनेनैव कन्यादानस्यापि सकृत्करणसिद्धौ प्रकृतोपयोगित्वादेव पृथगभिधानम् ॥

**यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च।**
**नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥**

यथेति । यथा गवादिषु परकीयेष्वात्मवृषभादिकं नियुज्य वत्सोत्पादको न तद्भागी तथा परकीयभार्यासपि नोत्पादकः प्रजाभागी भवति ॥ ४८ ॥

**येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।**
**ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ४९**

ये इति । क्षेत्रस्वामिनो ये न भवन्ति अथ बीजस्वामिनः संतः परक्षेत्रे बीजं वपन्ति ते तत्र क्षेत्रजातस्य धान्यादेः फलं क्वचिदपि देशे न लभन्त इति प्रकृतस्य दृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

**यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।**
**गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥**

यदन्येति । यदन्यदीयगवीषु वृषभो वत्सशतानपि जनयेत्सर्वे ते वत्साः स्त्रीगवीस्वामिनो भवन्त्येव न वृषभस्वामिनः । वृषभस्य यच्छुक्रसेचनं तद्वृषभस्वामिनो निष्फलमेव भवति । यथा गोऽश्वोष्ट्रेत्यनेनोत्पादकस्य प्रजाभागित्वं न भवतीत्येतत्परत्वेन दृष्टान्त उक्तः । अयं तु क्षेत्रस्वामिनः प्रजाभागित्वं भवतीत्येतत्परत्वेन । अतो न पुनरुक्तिः॥

**तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।**
**कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥५१॥**

तथैवेति । तथा गवादिगर्भेषु तथैवापत्यरहिताः संतः परकीय-भार्यायां ये बीजं वपन्ति ते क्षेत्रस्वामिनामेवापत्यलक्षणमर्थं कुर्वन्ति बीजसेक्तारोऽपत्याख्यं फलं न लभते ॥ ५१ ॥

**फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।**
**प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥५२॥**

फलमिति । यदस्यामुत्पत्स्यतेऽपत्यं तदावयोरुभयोरेवैवं यत्र नियमो न कृतस्तत्र निःसंदिग्धमेव क्षेत्रिणोऽपत्यम् । उक्तरीत्या बीजात्क्षेत्रं बलवत् ॥ ५२ ॥

**क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।**
**तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥५३॥**

क्रियेति । यदत्रापत्यं भविष्यति तदावयोरेवेति नियम्यैतत्क्षेत्रं स्वामिना बीजवपनार्थं यद्बीजिनो दीयते तस्यापत्यस्य लोके बीजिक्षेत्रिणौ द्वावपि भागिनौ दृष्टौ ॥ ५३ ॥

**ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।**
**क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥५४॥**

ओघेति । यद्बीजं जलवेगवाताभ्यां अन्यदीयक्षेत्रादानीतं यस्य क्षेत्रे जायते तत्क्षेत्रस्वामिन एव तद्बीजं भवति न तु येन बीजमुप्तं स तत्फलं लभते । एवं च स्वभार्याभ्रमेणापरभार्यागमने ममायं पुत्रो भवितेत्यवगमेऽपि क्षेत्रिण एवापत्यमित्यनेन दर्शितम् ॥ ५४ ॥

**एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।**
**विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥५५॥**

एष इति । एषैव व्यवस्था गवाश्वादीनां संततिं प्रति ज्ञातव्या । यत्क्षेत्रस्वाम्येव गवश्वादेः संततिस्वामी न तु वृषभादिस्वामी । नियमे तु कृते सत्येतयोरेव संततिस्वाम्यम् ॥ ५५ ॥

**एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।**
**अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥**

एतदिति । एतद्बीजयोन्योः प्राधान्याप्राधान्यं युष्माकमुक्तम् । अ-

**ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।**
**नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥**

तत इति । येनकालात्प्रभृति यो मृतभर्तृकादिस्त्रियं शास्त्रार्थाज्ञानादपत्यनिमित्तं देवरादौ नियोजयति तं साधवो नियतं गर्हयन्ते । अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः । तदाह बृहस्पतिः । उक्ता नियोगा मुनिना निषिद्धाः स्वयमेव तु । युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः ॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः । द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥ अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः । न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैः ॥ अतो यद्गोविन्दराजेन युगविशेषव्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदैव संतानाभावे नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया कल्पितं तन्मुनिव्याख्याविरोधान्नाद्रियामहे । प्रायशो मनुवाक्येषु मुनिव्याख्यानमेव हि । नापराध्योऽस्मि विदुषां क्काहं सर्वविदः कुधीः ॥ ६८ ॥

नियोगप्रकरणत्वात्कन्यागतं विशेषमाह—

**यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।**
**तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥**

यस्या इति । यस्याः कन्यायाः वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियेत तामनेन वक्ष्यमाणेनानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत् ॥ ६९ ॥

**यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।**
**मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥**

यथाविधीति । स देवरो विवाहविधिना एनां स्वीकृत्य शुक्लवस्त्रां कायवाङ्मनःशौचशालिनीमागर्भग्रहणाद्रहसि ऋतावृतावेकैकवारं गच्छेत् । एवं कन्यायाः नियोगप्रकारत्वाद्विवाहस्याग्रहाच्च गमनोपदेशाच्चास्मै वाग्दत्ता तस्यैव तदपत्यं भवति ॥ ७० ॥

**न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।**
**दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥**

न दत्वेति । कस्मैचिद्वाचा कन्यां दत्वा तस्मिन्मृते दानगुणदोषज्ञस्तामन्यस्मै न दद्यात् । यस्मादेकस्मै दत्वान्यस्मै ददन्पुरुषानृतं

सहस्रमित्युक्तदोषं प्राप्नोति । सप्तपदीकरणस्याजातत्वाद्भार्यात्वानिष्पत्तेः पुनर्दानाशंकायामिदं वचनम् ॥ ७१ ॥

**विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।**
**व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥७२॥**

विधिवदिति । अद्भिरेव द्विजाग्र्याणामित्येवमादिविधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां वैधव्यलक्षणोपेतां रोगिणीं क्षतयोनित्वाद्यभिशापवतीमधिकाङ्गादिगोपनच्छद्मोपपादितां सप्तपदीकरणात्प्राक् ज्ञातां त्यजेत्ततश्च तत्त्यागे दोषाभाव इत्येतदर्थं न तु त्यागार्थम् ॥ ७२ ॥

**यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।**
**तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥**

यस्त्विति । यः पुनर्दोषवतीं कन्यां दोषाननभिधाय ददाति तस्य कन्यादातुर्दुरात्मनो दानं तत्प्रत्यर्पणेन व्यर्थं कुर्यात् । एतदपि त्यागे दोषाभावकथनार्थम् ॥ ७३ ॥

**विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ।**
**अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥**

विधायेति । कार्ये सति मनुष्यः पत्न्या ग्रासाच्छादनादि प्रकल्प्य देशान्तरं गच्छेत् । यस्माद्ग्रासाद्यभावपीडिता स्त्री शीलवत्यपि पुरुषान्तरसंपर्कं भजेत् ॥ ७४ ॥

**विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।**
**प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥**

विधायेति । भक्ताच्छादनादि दत्वा पत्यौ देशान्तरं गते देहप्रसाधनपरगृहगमनरहिता जीवेत् । अदत्वा पुनर्गते सूत्रनिर्माणादिभिरनिन्दितशिल्पेन जीवेत् ॥ ७५ ॥

**प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।**
**विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥**

प्रोषित इति । गुर्वाज्ञासंपादनादिधर्मकार्यनिमित्तं प्रोषितः पतिरष्टौ वर्षाणि पत्न्या प्रतीक्षणीयः ऊर्ध्वं पतिसन्निधिं गच्छेत् । तदाह

वसिष्ठः । प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेदिति । विद्यार्थं प्रोषितः षड् वर्षाणि प्रतीक्ष्यः । निजविद्याविभाजनेन यशोऽर्थमपि प्रोषितः पतिः पञ्चैव । भार्यान्तरोपभोगार्थं गतस्त्रीणि वर्षाणि ॥ ७६ ॥

**संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।**
**ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥**

संवत्सरमिति । पतिर्विषयसंजातद्वेषां स्त्रियं वर्षं यावत्प्रतीक्षेत्तत ऊर्ध्वमपि द्विषन्तीं स्वदत्तमलंकारादि धनं हृत्वा नोपगच्छेत् । ग्रासाच्छादनमात्रं तु देयमेव ॥ ७७ ॥

**अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।**
**सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥**

अतीति । या स्त्री द्यूतादिप्रमादवन्तं मद्यजनकपानादिना मत्तं व्याधितं वा शुश्रूषाद्यकरणेनावजानाति सा विगतालंकारशय्यादिपरिच्छदा त्रीन्मासान्नोपगन्तव्या ॥ ७८ ॥

**उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।**
**न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ७९**

उन्मत्तमिति । वातादिक्षोभादप्रकृतिस्थं पतितमेकादशाध्याये वक्ष्यमाणं नपुंसकमबीजं बाध्यरेतस्त्वादिना बीजरहितं कुष्ठाद्युपेतं च पतिमपरिचरन्त्यास्त्यागो न करणीयो न च धनग्रहणं करणीयम् ७९

**मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।**
**व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥**

मद्यपेति । निषिद्धमद्यपानरता असाध्वाचारा भर्तुः प्रतिकूलाचरणशीला कुष्ठादिव्याधियुक्ता भृत्यादिताडनशीला सततमतिव्ययकारिणी या भार्या भवेत्साधिवेत्तव्या तस्यां सत्यामन्यो विवाहः कार्यः ॥ ८० ॥

**वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।**
**एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥**

वन्ध्येति । प्रथमर्तुमारभ्याविद्यमानप्रसूता अष्टमे वर्षेऽधिवेदनीया

मृतापत्या दशमे वर्षे स्त्रीजनन्येकादशेऽप्रियवादिनी सद्य एव यद्यपुत्रा भवति । पुत्रवत्यां तु तस्यां धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीतान्यतरापाये तु कुर्वीतेत्यापस्तस्त्वनिषेधादधिवेदनं न कार्यम् ॥८१॥

**या रोगिणी स्याच्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ।**
**सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ८२**

येति । या पुनर्व्याधिता सती पत्युरनुकूला भवति शीलवती च स्यात्तामनुज्ञाप्यान्यो विवाहः कार्यः कदाचिच्चासौ नावमाननीया ८२

**अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्दुषिता गृहात् ।**
**सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ८३**

अधिविन्नेति । या पुनः कृतवेदना स्त्री कुपिता निर्गच्छति सा तदहरेव रज्ज्वादिना बद्ध्वा स्थापनीया । आक्रोपनिवृत्तेः पित्रादि कुलसन्निधौ वा त्याज्या ॥ ८३ ॥

**प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।**
**प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्८४**

प्रतिषिद्धापीति । या पुनः क्षत्रियादिका स्त्री भर्त्रादिनिवारिता विवाहाद्युत्सवेष्वपि निषिद्धमद्यं पिबेन्नृत्यादिस्थानजनसमूहौ वा गच्छेत्सा सुवर्णकृष्णलानि षट् व्यवहारप्रकरणाद्राज्ञा दण्डनीया ८४

**यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।**
**तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च॥८५॥**

यदीति । यदि द्विजातयः स्वजातीया विजातीयाश्च उद्वहेयुस्तदा तासां द्विजातिक्रमेण वाक्संमानदायविभागोत्कर्षार्थं ज्येष्ठत्वं पूजा च वस्त्रालंकारादिदानेन गृहं च प्रधानं स्यात् ॥ ८५ ॥

**भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।**
**सा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥८६॥**

भर्तुरिति । भर्तुर्देहपरिचर्यामन्नदानादिरूपां धर्मकार्यं च भिक्षादानातिथिपरिवेषणहोमीयद्रव्योपकल्पनादि प्रात्यहिकं सर्वेषां द्विजातीनां सजातिभार्यैव कुर्यान्न तु कदाचिद्विजातीयेति ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

यस्त्विति । यः पुनः स्वजातीयया सन्निहितया देहशुश्रूषादिकं कर्तव्यं विजातीयया मौख्र्यात्कारयेत्स यथा ब्राह्मण्याः शूद्राजातो ब्राह्मणचाण्डालस्तथैव पूर्वैर्ऋषिभिर्दृष्ट इति पूर्वानुवादः ॥ ८७ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥८८॥

उत्कृष्टायेति । कुलाचारादिभिरुत्कृष्टाय सुरूपाय समानजातीयाय वरायाप्राप्तकालामपि विवाहयेदष्टवर्षामेव । धर्मो न हीयत इति दक्षस्मरणात् । तस्मादपि कालात्प्रागपि कन्यां ब्राह्मविवाहविधिना दद्यात् ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

काममिति । संजातार्तवापि कन्या वरं मरणपर्यन्तं पितृगृहे तिष्ठेन्न पुनरेनां विद्यागुणरहिताय कदाचित्पित्रादिर्दद्यात् ॥ ८९ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

त्रीणीति । पित्रादिर्गुणवत्तराय दीयमाना कन्या संजातार्तवा सती त्रीणि वर्षाणि प्रतीक्षेत । वर्षत्रयात्पुनरूर्ध्वमधिकगुणवरालाभे समानजातिगुणं वरं स्वयं वृणीत ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥९१॥

अदीयमानेति । पित्रादिभिरदीयमाना कुमारी यथोक्तकाले यदि भर्तारं स्वयं वृणुते तदा सा न किञ्चित्पापं प्राप्नोति न च तत्पतिः पापं प्राप्नोति ॥ ९१ ॥

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्॥९२॥

अलमिति । स्वयं वृतपतिका कन्या वरस्वीकरणात्पूर्वं पितृमातृभ्रातृभिर्दत्तमलंकारं तेभ्यः समर्पयेत् । यदा नार्पयेत्तदा चौरी स्यात् ॥

**पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।**
**स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥**

पित्रे नेति । ऋतुयुक्तां कन्यां वरः परिणयन् पित्रे शुल्कं न दद्यात् । यस्मात्स पिता ऋतुकार्यापत्योत्पत्तिनिरोधात्कन्यायाः स्वामित्वाद्धीयते ॥

**त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।**
**त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥**

त्रिंशद्वर्ष इति । त्रिंशद्वर्षः पुमान् द्वादशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामुद्वहेत् । चतुर्विंशतिवर्षो वाऽष्टवर्षां गार्हस्थ्यधर्मेऽवसादं गच्छति त्वरावान् । एतच्च योग्यकालप्रदर्शनपरं न तु नियमार्थं प्रायेणैतावता कालेन गृहीतवेदो भवति त्रिभागवयस्का च कन्या वोढुर्यूनो योग्येति गृहीतवेदश्चाप्रकुर्वाणको गृहस्थाश्रमस्त्विति न विलंबेतेति सत्वर इत्यस्यार्थः ॥ ९४ ॥

**देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।**
**तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥**

देवेति । भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा इत्यादिमन्त्रलिङ्गात् या देवैर्दत्ता भार्या तां पतिर्लभते न तु स्वेच्छया तां सतीं देवानां प्रियं कुर्वन् ग्रासाच्छादनादिना सदा द्वेषाद्युत्पन्नामपि पोषयेत् ॥ ९५ ॥

**प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ।**
**तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ९६**

प्रजनार्थमिति । यस्माद्गर्भग्रहणार्थं स्त्रियः सृष्टा गर्भाधानार्थं च मनुष्यास्तस्माद्गर्भोत्पादनमेवानयोरग्न्याधानादिरपि धर्मः पत्न्या सह साधारणः । क्षौमे वसानावग्नीनादधीयातामित्यादिवेदेऽभिहितः । तस्माद्भार्यां बिभृयादिति पूर्वोक्तस्य शेषः ॥ ९६ ॥

**कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।**
**देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥**

कन्यायामिति । कन्यायां दत्तशुल्कायां सत्यामसंजातविवाहायां यदि शुल्कदो वरो म्रियते तदा देवराय पित्रादिभिर्वाऽसौ कन्या दातव्या यदि सा स्वीकरोति । यस्या म्रियत इति प्रागुक्तं नियोगरूपमिदं तु शुल्कग्रहणविषयम् ॥ ९७ ॥

**आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।**
**शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥**

आददीतेति । शास्त्रानभिज्ञः शूद्रोऽपि पुत्रीं ददन् शुल्कं न गृह्णीयात्किं पुनः शास्त्रविद्द्विजातिः । यस्माच्छुल्कं गृह्णन्गुप्तं दुहितृविक्रयं कुरुते । न कन्यायाः पितेत्यनेन निषिद्धमपि शुल्कग्रहणं कन्यायामपि गृहीतशुल्कायां शास्त्रीयनियमदर्शनाच्छुल्कग्रहणे शास्त्रीयत्वशङ्कायां पुनस्तन्निषिध्यते ॥ ९८ ॥

**एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।**
**यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥**

एतदिति । एतत्पुनः पूर्वे शिष्टा न कदाचित्कृतवन्तो नाप्यपरे वर्तमानकालाः कुर्वन्ति यदन्यस्य कन्यामङ्गीकृत्य पुनरन्यस्मै दीयतइति । एतच्च गृहीतशुल्ककन्यामदत्वा कस्यचित्कन्यायामिति तु गृहीतशुल्कविषयम् ॥ ९९ ॥

**नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।**
**शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥**

नेति । पूर्वकल्पेष्वप्येतद्वृत्तमिति कदाचिद्वयं न श्रुतवन्तो यच्छुल्काभिधानेन मूल्येन कश्चित्साधुर्गूढं दुहितृविक्रयमकार्षीदिति शुल्कनिषेधार्थवादः ॥ १०० ॥

**अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः ।**
**एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥**

अन्योन्यस्येति । भार्यापत्योर्मरणान्तं यावद्धर्मार्थकामेषु परस्परव्यभिचारः स्यादित्येव संक्षेपतः स्त्रीपुंसयोः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञातव्यः । तथा च सति ॥ १०१ ॥

**तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।**
**यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥**

तथेति । स्त्रीपुंसौ कृतविवाहौ तथा सदा यत्नं कुर्यातां यथा धर्मार्थकामविषये वियुक्तौ परस्परं न व्यभिचरेताम् ॥ १०२ ॥

**एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।**
**आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥१०३॥**

एष इति । एष भार्यापत्योरन्योन्यानुरागयुक्तो धर्मो युष्माकमुक्तः संतानाभावे चापत्यप्राप्तिरुक्ता । इदानीं दीयत इति दायः पित्रादिधनं तस्य विभागव्यवस्थां शृणुत ॥ १०३ ॥

भ्रातरो मिलित्वा पितृमरणादूर्ध्वं विभागहेतुमाह—

**ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।**
**भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥**

ऊर्ध्वमिति । यस्मात्ते पुत्रा जीवतोः पित्रोस्तदीयधने स्वामिनो न भवंति मातुरपि प्रकृतत्वात्पैतृकमित्यनेन मातृकस्यापि ग्रहणम् । अयं च पितृमरणानन्तरं विभागो जीवतः पितुरिच्छाभावे द्रष्टव्यः । पितुरिच्छया जीवत्यपि तस्मिन्विभागः । तदाह याज्ञवल्क्यः । विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतानिति । यदा पुनर्ज्येष्ठो धार्मिको भवति तदा ॥ १०४ ॥

**ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।**
**शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥**

ज्येष्ठ इति । ज्येष्ठ एव पितृसंबन्धि धनं गृह्णीयात्कनिष्ठाः पुनर्ज्येष्ठं भक्ताच्छादनाद्यर्थं पितरमिवोपजीवेयुः । एवं सर्वेषां सहैवावस्थानम् ॥ १०५ ॥

**ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।**
**पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥**

ज्येष्ठेनेति । उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवान् भवति । ततश्च नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रुतेः । तथा प्रज-

या पितृभ्य इति श्रुतेः । पुत्रेण जातमात्रेण पितृणामनृणश्च स इति । अतो ज्येष्ठ एव धनमर्हति पूर्वस्य अनुजास्तेन सान्ना वर्तेरन् १०६

**यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।**
**स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥**

यस्मिन्निति । यस्मिन् जाते ऋणं शोधयति येन जातेनामृतत्वं प्राप्नोति । तथा च श्रुतिः । ऋणमस्मिन्समुत्पन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति । पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखमिति । स एव पितुर्धर्मेण हेतुना जातः पुत्रो भवति । तेनैकेनैव ऋणापनयनाद्युपकारस्य कृतत्वात् । इतरांस्तु कामजान्मुनयो जानंति । ततश्च सर्वं धनं गृह्णीयादित्यस्यैवायमपि विशेषः ॥ १०७ ॥

**पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः ।**
**पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥**

पितेवेति । ज्येष्ठो भ्राता विभागाभावेऽनुजान् भ्रातॄन्भक्ताच्छादनादिभिः पितेव बिभृयात् । अनुजाश्च भ्रातरः पुत्रा इव ज्येष्ठे भ्रातरि धर्माय वर्तेरन् ॥ १०८ ॥

**ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।**
**ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९**

ज्येष्ठ इति । अकृतविभागो ज्येष्ठो यदि धार्मिको भवति तदानुजानामपि तदनुयायित्वेन धार्मिकत्वाज्ज्येष्ठः कुलं वृद्धिं नयति । यद्यधार्मिको भवति तदाऽनुजानामपि तदनुयायित्वाज्ज्येष्ठः कुलं नाशयति । तथा गुणवान् ज्येष्ठो लोके पूज्यतमः साधुभिश्चागर्हितो भवति ॥

**यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।**
**अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बंधुवत् ॥११०**

यो ज्येष्ठ इति । यो ज्येष्ठोऽनुजेषु भ्रातृषु पितृवद्वर्तेत स पितेव मातेवागर्हणीयो भवति । यः पुनस्तथा न वर्तेत स मातुलादिबन्धुवदर्चनीयः ॥ ११० ॥

**एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।**
**पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥१११॥**

एवमिति । एवमविभक्ता भ्रातरः सह संवसेयुः । यदिवा धर्मकामनया कृतविभागाः पृथग्वसेयुः । यस्मात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्धते तस्माद्विभागक्रिया धर्म्यार्था । तथा च बृहस्पतिः । एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् । एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे ॥ १११ ॥

**ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।**
**ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥**

ज्येष्ठस्येति । उद्धियत इत्युद्धारः ज्येष्ठस्याविभक्तसाधारणधनादुद्धृत्य विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तद्दातव्यम् । मध्यमस्य चत्वारिंशत्तमो भागो देयः । कनिष्ठस्य पुनरशीतितमो भागो दातव्यः । अवशिष्टं धनं समं कृत्वा विभजनीयम् ॥ ११२ ॥

**ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।**
**येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥**

ज्येष्ठश्चेति । ज्येष्ठकनिष्ठौ पूर्वश्लोके यथोक्तमुद्धारं गृह्णीयाताम् । ज्येष्ठकनिष्ठव्यतिरिक्ता ये मध्यमास्तेषामेवावान्तरज्येष्ठकनिष्ठतामनपेक्ष्य मध्यमस्योक्तचत्वारिंशद्भागः प्रत्येकं दातव्यः । मध्यमानामवान्तरज्येष्ठकनिष्ठदेयभागे वैषम्यवारणार्थमिदम् ॥ ११३ ॥

**सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।**
**यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥**

सर्वेषामिति । सर्वेषां धनप्रकाराणां मध्याद्यच्छ्रेष्ठं धनं ज्येष्ठः तद्धनं गृह्णीयात् । सर्वद्रव्याच्च यद्वरमित्युक्तमनूदितसमुच्चयबोधनाय । यच्चैकमपि प्रकृष्टं द्रव्यं विद्यते तदपि ज्येष्ठ एव गृह्णीयात्तथा दशतः पशूनामिति गोतमस्मरणाद्दशभ्यो गवादिपशुभ्य एकैकं श्रेष्ठं ज्येष्ठो लभते । इदं च यदि ज्येष्ठो गुणवानितरे निर्गुणास्तद्विषयं सर्वेषां समगुणत्वे तु ॥ ११४ ॥

**उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नाना स्वकर्मसु ।**
**यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥११५॥**

उद्धार इति । दशतः प्राप्नुयाद्धरमिति योऽयमुद्धार उक्तः सोऽयमध्ययनादिकर्मसमृद्धानां भ्रातृणां ज्येष्ठस्य नास्ति तत्रापि यत्किञ्चिदस्य देयमिति द्रव्यं पूजावृद्धिकरं ज्येष्ठाय देयम् । एवं च समगुणेषूद्धारप्रतिषेधदर्शनात्पूर्वत्र गुणोत्कर्षाविशेषापेक्षयोद्धारवैषम्यं बोद्धव्यम् ॥ ११५ ॥

**एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।**
**उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥**

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण समुद्धृतविंशतितमभागादिके धने समान्भागान् भ्रातृणां कल्पयेत् । विंशतितमभागादौ पुनरनुद्धृते इयं वक्ष्यमाणभागकल्पना भवेत् ॥ ११६ ॥

**एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।**
**अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः॥ ११७॥**

एकाधिकमिति । एकाधिकमंशं द्वावंशाविति यावत् । ज्येष्ठपुत्रो गृह्णीयात् । अधिकमर्धं यत्रांशे सार्धमंशं ज्येष्ठादनन्तरजातो गृह्णीयात् । कनिष्ठाः पुनरेकैकमंशं गृह्णीयुरिति व्यवस्थितो धर्मः । इदं तु ज्येष्ठतदनुजयोर्विद्यादिगुणवत्त्वापेक्षया कनिष्ठानां च निर्गुणत्वे बोद्धव्यम् । ज्येष्ठतदनुजयोरधिकदानदर्शनात् ॥ ११७ ॥

**स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।**
**स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥११८॥**

स्वेभ्य इति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो भ्रातरः स्वजात्यपेक्षया स्वेभ्यश्चतुरोंऽशान् हरेयुः । विप्र इत्यादिना वक्ष्यमाणेभ्यो भागेभ्य आत्मीयात्मीयाद्भागाच्चतुर्थभागं पृथक् कन्याभ्योऽनूढाभ्यो भगिनीभ्यो या यस्य सोदर्या भगिनी स तस्या एव संस्कारार्थमिति एवं दद्युः । तथा च याज्ञवल्क्यः । असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः । भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम् ॥ यदि भगिनीसंस्कारार्थं चतुर्भागं दातुं नेच्छंति तदा पतिता भवेयुः । एते-

नैकजातीयवैमात्रेयभगिनीसद्भावेपि सोदर्यभगिनीभ्यश्चतुर्थभागदानमवगन्तव्यम् ॥ ११८ ॥

**अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।**
**अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥**

अजेति । एकशफा अश्वादयः छागमेषाद्येकशफसहितं विभागकाले समं कृत्वा विभक्तुमशक्यं तन्न विभजेत्किंतु ज्येष्ठस्यैव तत्स्यान्न तु तत्तुल्यद्रव्यान्तरदानेन समीकृत्य विक्रीय वा तन्मूल्यं विभजेत् । अजाविकमिति पशुद्वन्द्वाद्विभाषैकवद्भावः ॥ ११९ ॥

**यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।**
**समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः १२०**

यवीयानिति । कनिष्ठो यदि ज्येष्ठभ्रातृभार्यायां नियोगेन पुत्रं जनयेत्तदा तेन पितृपितृव्येन सह तस्य क्षेत्रजस्य समो विभागः स्यान्न तु पितृवत्सोद्धारो भवतीति विभागव्यवस्था नियता । अनियोगोत्पन्नस्यानंशित्वं वक्ष्यति । यद्यपि समेत्य भ्रातरः सममित्युक्तं तथाप्यस्मादेव लिङ्गात्पौत्रस्यापि मृतपितृकस्य पितृव्यविभागोऽस्तीति गम्यते ॥ १२० ॥

ज्येष्ठभ्रातुः क्षेत्रजः पुत्रोऽपि पितेव सोद्धारविभागी युक्त इमां शंकां निराकृत्य पूर्वोक्तमेव द्रढयति—

**उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।**
**पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥**

उपसर्जनमिति । अप्रधानं क्षेत्रजः पुत्रः प्रधानस्य क्षेत्रिणः पितृधर्मेण सोद्धारविभागग्रहणरूपेण संबध्यते । क्षेत्र्यपि पिता तद्द्वारेणापत्योत्पादने प्रधानम् । तस्मात्पूर्वोक्तेनैव धर्मेण विभागव्यवस्थारूपेण पितृव्येन सह तं क्षेत्रजं विभजेदिति पूर्वस्यैव शेषः ॥

**पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।**
**कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् १२२**

पुत्र इति । यदि प्रथमोढायां कनीयान्पुत्रो जातः पश्चादूढायां च ज्येष्ठस्तदा तत्र कथं विभागो भवेदिति संशयो यदि स्यात्किं मातु-

रुद्धाहक्रमेण पुत्रस्य ज्येष्ठत्वमुत स्वजन्मक्रमेणेति तदाह ॥१२२॥

**एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।**
**ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥**

एकमिति । पूर्वस्यां जातः पूर्वजः डयापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति ह्रस्वत्वम् । स कनिष्ठोऽप्येकं वृषभमुद्धारं गृह्णीयात्ततः श्रेष्ठवृषभादन्ये ये संत्यग्र्याः श्रेष्ठवृषभास्ते तस्माज्ज्यैष्ठिनेयान्मातृत ऊनानां कनिष्ठेयानां प्रत्येकमेकैकशो भवन्तीति मात्रुद्धाहक्रमेण ज्यैष्ठ्यम् ॥

**ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशा ।**
**ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४॥**

ज्येष्ठ इति । प्रथमोढायां पुनर्यो जातो जन्मना च भ्रातृभ्यो ज्येष्ठः स वृषभः षोडशो यासां गवां ता गृह्णीयात्पञ्चदश गा एकं वृषभमित्यर्थः । ततोऽनन्तरं येऽन्ये वह्नीभ्यो जातास्ते स्वमातृभागत ऊढज्येष्ठापेक्षया शेषा भागादि विभजेरन्निति निश्चयः ॥ १२४ ॥

**सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।**
**न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते १२५**

सदृशेति । समानजातीयस्त्रीषु जातानां पुत्राणां जातिगतविशेषाभावे सति न मातृक्रमेण ज्यैष्ठ्यमृषिभिरुच्यते । जन्मज्येष्ठानां तु पूर्वोक्त एव विंशतिभागादिरुद्धारो बोद्धव्यः । एवं च मातृज्यैष्ठ्यस्य विहितप्रसिद्धत्वात्षोडशीग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः स च गुणवन्निर्गुणतया भ्रातॄणां गुरुलघुत्वावगमाव्यवस्थितः । अत एव । जन्मविद्यागुणज्येष्ठो त्र्यंशं दायादवाप्नुयादिति बृहस्पत्यादिभिर्जन्मज्येष्ठस्य विद्याद्युत्कर्षेणोद्धारोत्कर्ष उक्तः । निर्गुणस्यैकवृषभमिति मन्दगुणस्य वृषभषोडशा इति मातृज्यैष्ठ्याश्रयणेनोद्धारो बोद्धव्यः । मातृज्यैष्ठ्यविधिं त्वनुवादं मेधातिथिरवदत् । गोविन्दराजस्त्वन्यतमं जगौ । न केवलं विभागे जन्मज्यैष्ठ्यं किंतु ॥ १२५ ॥

**जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं स्वब्राह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।**
**यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६॥**

जन्मेति । स्वब्राह्मण्याख्यो मन्त्रो ज्योतिष्टोम इतीन्द्रस्याह्वानार्थं

प्रयुज्यते । तत्र प्रथमपुत्रेण पितरमुपविश्याह्वानं क्रियते । अमुकपिता यजत इत्येवमृषिभिः स्मृतम् । तथा यमयोर्गर्भे एककालं निषिक्तयोरपि जन्मक्रमेणैव ज्येष्ठता स्मृता । गर्भेष्विति बहुवचनं स्त्रीबहुत्वापेक्षया ॥ १२६ ॥

**अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।**
**यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥१२७॥**

अपुत्र इति । अविद्यमानपुत्रो यदस्यामपत्यं जायते तन्मम श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिककरं स्यादिति कन्यादानकाले जामात्रा सह संप्रतिपत्तिरूपेण विधानेन दुहितरं पुत्रिकां कुर्यात् ॥ १२७ ॥

अत्र परप्रतिपत्तिरूपमनुवादमाह—

**अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।**
**विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥**

अनेनेति । दक्षः प्रजापतिः पुत्रोत्पादनविषयज्ञः स्ववंशवृद्ध्यर्थमनेनोक्तविधानेन कृत्स्ना दुहितरः पूर्वं पुत्रिकाः स्वयं कृतवान् । कात्स्न्र्ये अथशब्दः ॥ १२८ ॥

**ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।**
**सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् १२९**

ददाविति । स दक्षो भाविपुत्रिकापुत्रलाभेन प्रीतात्मा अलंकारादिना सत्कृत्य दश पुत्रिका धर्माय त्रयोदश कश्यपाय सप्तविंशतिं चन्द्राय द्विजानामोषधीनां च राज्ञे दत्तवान् । सत्कारवचनमन्येषामपि पुत्रिकाकरणे लिङ्गम् । दशेत्यादि च बह्वीनामपि पुत्रिकाकरणज्ञापकम् ॥ १२९ ॥

**यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।**
**तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् १३०**

यथैवेति । आत्मस्थानीयः पुत्र आत्मा वै पुत्रनामासीति मन्त्रलिङ्गात्तत्समा च दुहिता तस्या अप्यङ्गेभ्य उत्पादनात् । अतस्तस्यां पुत्रिकायां पितुरात्मस्वरूपायां विद्यमानायामपुत्रस्य मृतस्य पितुर्धनं पुत्रिकाव्यतिरिक्तः कथमन्यो हरेत् ॥ १३० ॥

**मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।**
**दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥**

मातुरिति । मातुर्यद्धनं तत्तस्यां मृतायां कुमारीभाग एव स्यान्न पुत्राणां तत्र भागः । कुमारी चानूढाभिप्रेता । तथा गोतमः । स्त्रीधनं दुहितॄणामदत्तानामप्रतिष्ठितानां च अपुत्रस्य च मातामहस्य दौहित्र एव प्रकृतत्वात्पौत्रिकेयः समग्रं धनं गृह्णीयात् ॥ १३१ ॥

**दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।**
**स एव दद्याद्धौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥१३२॥**

दौहित्र इति । दौहित्रः प्रकृतत्वात्पौत्रिकेय एव तस्य मातामहधनग्रहणमनन्तरोक्तम् । जनकधनग्रहणं च पिण्डदानार्थोऽयमारम्भः । पितृशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धत्वात् । अन्यस्य पौत्रिकेयः पुत्रान्तररहितस्य जनकस्य समग्रं धनं गृह्णीयात्स एव पितृमातामहाभ्यां द्वौ पिण्डौ दद्यात् । पिण्डदानं श्राद्धोपलक्षणार्थं पौत्रिकेयत्वेन जनकधनग्रहणपिण्डदानव्यामोहनिरासार्थं वचनम् ॥ १३२ ॥

**पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।**
**तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥**

पौत्रेति । पौत्रपौत्रिकेययोर्लोके धर्मकृत्ये न कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यस्मात्तयोर्मातापितरौ तस्य देहादुत्पन्नाविति पूर्वस्यैवानुवादः १३३

**पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।**
**समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥**

पुत्रिकायामिति । कृतायां पुत्रिकायां यदि तत्कर्तुः पुत्रोऽनन्तरं जायते तदा तयोर्विभागकाले समो विभागो भवेत् । नोद्धारः पुत्रिकायै देयः। यस्माज्ज्येष्ठाया अपि तस्या उद्धारविषये ज्येष्ठता नादरणीया

**अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ।**
**धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥**

अपुत्रायामिति । अपुत्रायां पुत्रिकायां कथंचन मृतायां तदीयधनं तद्भर्तैवाविचारयन् गृह्णीयात् । पुत्रिकायाः पुत्रसमत्वेनानपत्यस्य पत्नीरहितस्य मृतपुत्रस्य पितुर्धनग्रहणप्रसक्तौ तन्निवारणार्थमिदं वचनम् ।

**अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।**
**पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥**

अकृतेति । अकृता वा कृता वेति पुत्रिकाया एव द्वैविध्यं तत्र । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरमित्यभिधाय कन्यादानकाले वरानुमत्या या क्रियते सा कृताभिसंधिमात्रकृता वाग्व्यवहारेण न कृता । तथा गोतमः । अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकामेकेषामिति । अत एव पुत्रिकाधर्मशंकयेति प्रागविवाह्यत्वमुक्तम् । पुत्रिकेव कृता अकृता पुत्रं समानजातीयाद्बोढुरुत्पादयेत्तेन दौहित्रेण पौत्रकार्यकरणात्पौत्रिकेयवान्मातामहः । पौत्री तथा चासौ तस्मै पिण्डं दद्यात् । गोविन्दराजस्त्वकृता वेत्यपुत्रिकैव दुहिता तत्पुत्रोऽपि मातामहधने पौत्रिकेय इव मातामह्यादिसत्त्वेऽप्यधिकारीत्याह तन्न । पुत्रिकायाः पुत्रतुल्यत्वादपुत्रिकयोरतुल्यत्वेन तत्पुत्रयोस्तुल्यत्वायोग्यत्वादिति ॥

**पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।**
**अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥**

पुत्रेणेति । पुत्रेण जातेन स्वर्गादिलोकान्प्राप्नोतीति पौत्रेण तेष्वेव चिरकालमवतिष्ठते । तदनन्तरं पुत्रस्य पौत्रेणादित्यलोकं प्राप्नोति । अस्य च दायभागप्रकरणेऽभिधानं पितुर्धने पत्न्यादिसद्भावेऽपि पुत्रस्य तदभावे पौत्रस्येत्येवं पुत्रसंतानाधिकारबोधनार्थम् ॥ १३७ ॥

**पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।**
**तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ १३८ ॥**

पुन्नाम्न इति । यस्मात्पुन्नामधेयनरकात्सुतः पितरं त्रायते तस्मात्त्राणादात्मनैव ब्रह्मणा पुत्र इति प्रोक्तः । तस्मान्महोपकारकत्वात्पुत्रस्य युक्तं तदीयपुंसंतानस्य दायभागित्वमिति पूर्वदाढ्यर्थमिदम् ॥

**पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।**
**दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥**

पौत्रेति । दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः पुत्रदौहित्रयोर्लोके कश्चिद्विशेषो न संभाव्यते । यस्मादौहित्रोऽपि मातामहं परलोके पौत्रवन्निस्तारयति । एतच्च पौत्रिकेयस्य पौत्रेण साम्यप्रतिपादनार्थं पुत्रिकाकरणानन्तरजातपुत्रेण सह धने तुल्यभागबोधनार्थम् ॥ १३९ ॥

**मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।**
**द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुःपितुः ॥१४०॥**

मातुरित्यादि । पौत्रिकेयः प्रथमं मात्रे पिण्डं द्वितीयं मातुः पित्रे तृतीयं मातुः पितामहाय दद्यात् । पित्रादीनां तु पित्रे मातामहाय चेत्युक्तत्वात्पितृक्रमेणैव पिण्डदानम् ॥ १४० ॥

**उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्रिमः ।**
**स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥**

उपपन्न इति । पुत्रा रिक्थहराः पितुरेवेति द्वादश पुत्राणामेव रिक्थहरत्वं वक्ष्यति । दशापरे तु क्रमश इत्यौरसक्षेत्रजाभावे दत्तस्य पितृ रिक्थहरत्वं प्राप्तमेव । अतः सत्यप्यौरसपुत्रे दत्तकस्य सर्वगुणोपपन्नस्य पितृरिक्थभागप्राप्त्यर्थमिदं वचनम् । यस्य दत्तकः पुत्रोऽध्ययनादिसर्वगुणोपपन्नो भवति सोऽन्यगोत्रादागतोऽपि सत्यप्यौरसे पितृरिक्थभागं गृह्णीयात् । अत एव औरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुरित्यौरसस्य सर्वोत्कर्षाभिधानात्तेन नास्य समभागित्वं किंतु क्षेत्रजोक्तषष्ठभागित्वमेवास्य न्याय्यम् । गोविन्दराजस्तु औरसक्षेत्रजाभावे सर्वगुणोपपन्नस्यैव दत्तकस्य पितृरिक्थभागित्वार्थमिदं वचनमित्यवोचत्तन्न । कृत्रिमादीनां निर्गुणानां पितृरिक्थभागित्वं दत्तकस्य तु तत्पूर्वपठितस्यापि सर्वगुणोपपन्नस्यैवेत्यन्याय्यत्वात् ॥

**गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित् ।**
**गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा १४२**

गोत्रेति । गोत्रधने जनकसंबन्धिनी दत्तको न कदाचित्प्राप्नुयात् । पिण्डश्च गोत्ररिक्थानुगामी यस्य गोत्ररिक्थे भजते तस्यैव स पिण्डो दीयते । तस्मात्पुत्रं ददतो जनकस्य स्वधापिण्डश्राद्धादि तत्पुत्रकर्तृकं निवर्तते ॥ १४२ ॥

**अनियुक्तौ सुतश्चैव पुत्रिण्यासश्च देवरात् ।**
**उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥१४३॥**

अनियुक्तेति । यो गुर्वादिनियोगं विना जातो यश्च सपुत्राया

नियोगेनापि देवरादेः कामादुत्पादितस्तावुभौ क्रमेण जारोत्पन्नकामाभिलाषजौ धनभागं नार्हतः ॥ १४३ ॥

**नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः ।**
**नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥**

नियुक्तायामिति । नियुक्तायामपि स्त्रियां घृताभ्यक्तत्वादिनियोगेतिकर्तव्यतां विना पुत्रो जातः स क्षेत्रिकस्य पितुर्धनं लब्धुं नार्हति । यस्मादसौ पतितेनोत्पादितः । नियुक्तौ यौ विधिं हित्वेत्यनेन पतितस्योक्तत्वात् ॥ १४४ ॥

**हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।**
**क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥**

हरेदिति । तत्र नियुक्तायां यो जातः क्षेत्रजः पुत्र औरस इव धनं हरेत् । यस्मात्तत्तस्य कारणभूतं बीजं तत्क्षेत्रस्वामिन एव तत्कार्यकरणत्वात् । अपत्यमपि च धर्मतस्तदीयं तद्यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदीत्यनेन क्षेत्रजस्य पितामहधने पितृव्येन सह समभागस्य प्रोक्तत्वात् । गुणवतः क्षेत्रजस्य औरसवत्स्वोद्धारभागप्राप्त्यर्थमिदमौरसतुल्यत्वाभिधानम् ॥ १४५ ॥

**धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।**
**सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥**

धनमिति । यो मृतस्य भ्रातुः स्थावरजङ्गमं धनं पत्न्या रक्षणाक्षमया समर्पितं रक्षेत्तां च पुष्णीयात्स नियोगधर्मेण तस्यामुत्पादितस्य भ्रातुरपत्यस्य दद्यात् । एतच्च धनं यो बिभृयाद्भ्रातुरित्यभिधानाद्विभक्तभ्रातृविषयम् । यवीयान् ज्येष्ठभार्यायामिति समभागाभिधानात् ॥ १४६ ॥

**या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात् ।**
**तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥**

येति । या स्त्री गुर्वादिभिरनुज्ञाता देवराद्वाऽन्यतो वा सपिण्डात्पुत्रमुत्पादयेत्स यदि कामजो भवति तदा तमरिक्थभाजं मन्वादयो वदन्ति । अकामज एव रिक्थभागी स च व्याहृतो नारदेन । मु-

खान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् । कुले तदवशेषे च संतानार्थं न कामत इति ॥ १४७ ॥

**एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।**
**बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥**

एतदिति । समानजातीयासु भार्यासु एकेन भर्त्रा जातानामेव विभागविधिर्बोद्धव्यः । इदानीं नानाजातीयासु स्त्रीषु बह्वीष्वुत्पन्नानां पुत्राणां विभागं शृणुत ॥ १४८ ॥

**ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ।**
**तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः १४९**

ब्राह्मणस्येति । ब्राह्मणस्य यदि क्रमेण ब्राह्मण्याद्याश्चतस्रो भार्या भवेयुस्तदा तासां त्रिष्वुत्पन्नेष्वयं वक्ष्यमाणो विभागविधिर्मन्वादिभिरुक्तः ॥ १४९ ॥

**कीनाशो गोवृषो यानमलंकारश्च वेश्म च ।**
**विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥**

कीनाश इति । कीनाशः कर्षकः गवां सक्तो वृषो यानमश्वादि अलंकारोऽङ्गुलीयकादि वेश्म गृहं च प्रधानतो यावन्तश्चांशास्तेष्वेकः प्रधानभूतोंऽश इत्येतद्ब्राह्मणीपुत्रस्योद्धारार्थं देयम् । अवशिष्टं वक्ष्यमाणरीत्या विभजनीयम् ॥ १५० ॥

**त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।**
**वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥**

त्र्यंशमित्यादि । त्रीनंशान् ब्राह्मणो धनाद्गृह्णीयात् द्वौ क्षत्रियापुत्रः सार्धं वैश्यापुत्रः अंशं शूद्रासुतः । एवं च यत्र ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रौ द्वावेव विद्येते तत्र पञ्चधा कृते धने त्रयो भागा ब्राह्मणस्य द्वौ क्षत्रियापुत्रस्य । अनयैव दिशा ब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ च कल्पना कार्या ॥

**सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।**
**धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥**

सर्वमिति । यद्वा सर्वं रिक्थप्रकारमनुद्धृतोद्धारं दशधा कृत्वा विभागधर्मज्ञो धर्मादनपेतं विभागमनेन वक्ष्यमाणविधिना कुर्वीत ॥

**चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।**
**वैश्यापुत्रो हरेद्ध्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥**

चतुर इति। चतुरो भागान् ब्राह्मणो गृह्णीयात्। त्रीन् क्षत्रियापुत्रो द्वौ वैश्यापुत्रः एकं शूद्राजः। अत्रापि ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रसद्भावे सप्तधा धने कृते चत्वारो भागा ब्राह्मणस्य त्रयः क्षत्रियापुत्रस्य। एवं ब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ द्वित्वहुपुत्रेषु च कल्पना कार्या ॥ १५३ ॥

**यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।**
**नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥**

यद्यपीति। यदि ब्राह्मणो द्विजातिस्त्रीषु सर्वासु विद्यमानपुत्रः स्यादविद्यमानपुत्रो वा तथापि शूद्रापुत्रायानन्तराधिकारी यस्तस्मिन्नष्टे स दशमभागादधिकं धर्मतो न दद्यात्। अयं च शूद्रापुत्रविषये निषेधस्तस्मादविद्यमानसजातिपुत्रस्य क्षत्रियावैश्यापुत्रौ सर्वरिक्थहरौ स्याताम् ॥ १५४ ॥

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।**
**यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥**

ब्राह्मणेति। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूद्रापुत्रो धनभाक् न भवति किंतु यदेव धनमस्मै पिता दद्यात्तदेव तस्य भवेत्। एवं च पूर्वोक्तविभागनिषेधाद्विकल्पः स च गुणवदगुणापेक्षः। अथवा अनूढशूद्रापुत्रविषयोऽयं दशमभागनिषेधः ॥ १५५ ॥

**समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।**
**उद्धारं ज्यायसे दत्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥**

समवर्णास्विति। द्विजातीनां समानजातिभार्यासु ये पुत्रा जातास्ते सर्वे ज्येष्ठायोद्धारं दत्वावशिष्टं समभागं कृत्वा ज्येष्ठेन सहान्ये विभजेरन् ॥ १५६ ॥

**शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।**
**तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् १५७**

शूद्रस्येति। शूद्रस्य पुनः समानजातीयैव भार्योपदिश्यते नोत्कृ-

ष्टा अवकृष्टा वा । तस्यां च ये जातास्ते यदि पुत्रशतमपि तदा समभागा एव भवेयुः । तेनोद्धारः कस्यचिन्न देयः ॥ १५७ ॥

**पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः ।**
**तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥**

पुत्रानिति । यान् द्वादश पुत्रान् हैरण्यगर्भो मनुराह तेषां मध्यादाद्याः षड् बान्धवाः गोत्रदायादाश्च तस्माद्बान्धवत्वेन सपिण्डसमानोदकानां पिण्डोदकदानादि कुर्वन्त्यनन्तराभावे च गोत्रदायं गृह्णन्ति । पितृरिक्थभाक्तस्य पुत्ररिक्थहराः पितुरिति द्वादशविधपुत्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात् । उत्तरे षट् न गोत्रधनहरा भवन्ति । बान्धवास्तु भवन्ति । ततश्च बन्धुकार्यमुदकक्रियादि कुर्वन्ति । मेधातिथिस्तु षडदायादबान्धवा इत्याद्युत्तरषट्कस्यादायत्वमबान्धवत्वं चाह तन्न । बौधायनेन बन्धुत्वस्याभिहितत्वात् । तदाह । कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा । स्वयं दत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते ॥ १५८ ॥

**औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।**
**गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥**

औरस इति । औरसादयो वक्ष्यमाणाः षड्रिक्थभाजो बान्धवाश्च भवन्ति ॥ १५९ ॥

**कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।**
**स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥**

कानीनश्चेति । कानीनादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः षट् गोत्ररिक्थहरा न भवन्ति बान्धवाश्च भवन्तीति व्याख्यातम् ॥ १६० ॥

औरसेन सह क्षेत्रजादीनां पाठात्तुल्यत्वाशंकायां तन्निरासार्थमाह

**यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरन् जलम् ।**
**तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥**

यादृशमिति । तृणादिनिर्मितकुत्सितोडुपादिभिरुदकं तरन् यथाविधं फलं प्राप्नोति तथाविधमेव कुपुत्रैः क्षेत्रजादिभिः पारलौकिकं दुःखं दुरुत्तरं प्राप्नोति । अनेन क्षेत्रजादीनां मुख्यौरसपुत्रवत्संपूर्णकार्यकरणक्षमत्वं न भवतीति दर्शितम् ॥ १६१ ॥

**यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।**
**यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥**

यदीति । अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः । उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मत इति याज्ञवल्क्योक्तविषये यदा क्षेत्रिकस्य पितुः क्षेत्रजानन्तरमौरसः पुत्रो भवति तदा तावौरसक्षेत्रजावेकरिक्थिनावेकस्य पितुर्यद्यपि रिक्थार्हौ भवतस्तथापि यद्यस्य जनकसंबन्धि तदेव स गृह्णीयान्न क्षेत्रजः क्षेत्रिकपितुः । यत्तु वक्ष्यति । षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन् दायमिति तत्पुत्रबहुलस्य । यत्तु याज्ञवल्क्यः । उभयसंबन्धि रिक्थहरत्वमुक्तं तत्क्षेत्रिकपितुरौरसपुत्राभावे बोद्धव्यम् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु औरसमनियुक्तापुत्रं च विषयीकृत्येमं श्लोकं व्याचक्षाते तन्न । अनियुक्तापुत्रस्याक्षेत्रजत्वादनियुक्तासुतश्चेत्यनेन तस्य रिक्थग्रहणनिषेधाद्यद्येकरिक्थिनाविति यनन्वयाच्च ॥ १६२ ॥

**एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।**
**शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥**

एक इति । व्याध्यादिना प्रथमौरसपुत्राभावे क्षेत्रजादिषु कृतेषु पश्चादौषधादिना विगतव्याधेरौरस उत्पन्ने सतीदमुच्यते । औरस एवैकः पुत्रः पितृधनस्वामी शेषाणां क्षेत्रजव्यतिरिक्तानां तस्य षष्ठांशादेर्वक्ष्यमाणत्वात्पापसंबन्धपरिहारार्थं ग्रासाच्छादनं दद्यात् ॥ १६३ ॥

**षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।**
**औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥**

षष्ठमिति । औरसः पुत्रः पितृसंबन्धि दायं विभजन् क्षेत्रजस्य षष्ठमंशं पञ्चमं वा दद्यात् । निर्गुणसगुणापेक्षश्चायं विकल्पः १६४

**औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।**
**दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥**

औरसेति । औरसक्षेत्रजौ पुत्रावुक्तप्रकारेण पितृधनहरौ स्याताम् । अन्ये पुनर्दश दत्तकादयः पुत्रा गोत्रभाजो भवन्ति । पूर्वाभावे परः पर इत्येवं क्रमेण धनांशहराश्च ॥ १६५ ॥

सा चेदिति । सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत्तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति । यद्वा कौमारं पतिमुत्सृज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

**मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।**
**आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥**

मातेति । यो मृतमातापितृकस्त्यागोचितकारणं विना द्वेषादिना ताभ्यां त्यक्तो वा आत्मानं यस्मै ददाति स स्वयंदत्ताख्यस्तस्य पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः ॥ १७७ ॥

**यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।**
**स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥**

यमिति । विन्नास्वेष विधिः स्मृत इति याज्ञवल्क्यदर्शनात्परिणीतायामेव शूद्रायां ब्राह्मणः कामार्थं पुत्रं जनयेत्स जीवन्नेव शवतुल्य इति पारशवः स्मृतः । यद्यप्ययं पित्रुपकारार्थं श्राद्धादि करोत्येव तथाप्यसंपूर्णोपकारकत्वाच्छवव्यपदेशः ॥ १७८ ॥

**दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।**
**सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥**

दास्यामिति । ध्वजाहृताद्युक्तलक्षणायां दास्यां दाससंबन्धिन्यां वा दास्यां शूद्रस्य यः पुत्रो जायते स पित्रा परिणीतापुत्रैः समांशभागो भवान् भवत्वित्यनुज्ञातस्तुल्यभागं लभत इति शास्त्रव्यवस्था नियता ॥ १७९ ॥

**क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।**
**पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥१८०॥**

क्षेत्रजादीनिति । एतान्क्षेत्रजादीन् एकादश पुत्रान् पुत्रोत्पादनविधिलोपः पुत्रकर्तव्यश्राद्धादिलोपश्च माभूदित्येवमर्थं पुत्रप्रतिच्छन्दकान्मुनय आहुः ॥ १८० ॥

**य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।**
**यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥१८१॥**

य इति । य एते क्षेत्रजादयोऽन्यबीजोत्पन्नाः पुत्रा औरसपुत्रप्रसङ्गेनोक्तास्ते यद्बीजोत्पन्नास्तस्यैव पुत्रा भवन्ति न क्षेत्रिकादेरिति सत्यौरसे पुत्रे पुत्रिकायां च सत्यां न ते कर्तव्या इत्येवंपरमिदम् । अन्यबीजजा इत्येकादशपुत्रोपलक्षणार्थं स्वबीजजातावपि पौनर्भवशौद्रौ न कर्तव्यौ । अत एव बृद्धबृहस्पतिः । आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधिः स्मृतः । तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना ॥

**भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत् ।**
**सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥१८२॥**

भ्रातॄणामिति । भ्रातॄणामेकमातापितृकाणां मध्ये यद्येकः पुत्रवान् स्यादन्ये च पुत्ररहितास्तदा तेनैकपुत्रेण सर्वान् भ्रातॄन् सपुत्रान्मनुराह। ततश्च तस्मिन्सत्यन्ये पुत्रप्रतिनिधयो न कर्तव्याः । स एव पिण्डदोंऽशहरश्च भवतीत्यनेनोक्तम् । एतच्च । पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा । तत्सुता इति याज्ञवल्क्यवचनाद्भ्रातृपर्यन्ताभावे बोद्धव्यम् ॥

**सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।**
**सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥**

सर्वासामिति । एकपतिकानां सर्वासां स्त्रीणां मध्ये यद्येका पुत्रवती स्यात्तदा तेन पुत्रेण सर्वास्ताः पुत्रयुक्ता मनुराह ॥ १८३ ॥

**श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ।**
**बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥१८४॥**

श्रेयस इति । औरसादीनां सर्वेषां पुत्राणां प्रकृतत्वादौरसादीनुपक्रम्य तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्स एव दायहरः । स चान्यान्बिभृयादिति विष्णुवचनादौरसादीनां पुत्राणां पूर्वपूर्वाभावे परः परो रिक्थमर्हति । पूर्वसद्भावे परसंवर्धनं स एव कुर्यात् । एवंच सिद्धे शूद्रापुत्रस्य द्वादशपुत्रमध्ये पाठः क्षेत्रजादिसद्भावे धनानर्हत्वज्ञापनार्थत्वेन साधकः । अन्यथा तु क्षत्रियावैश्यापुत्रवदौरसत्वात्क्षेत्रजादिसद्भावेऽपि धनं लभेत्पूर्वस्य परसंवर्धनमात्रं चापवादेतरविषये द्रष्टव्यम् । क्षेत्रजगुणवदत्तकपुत्रयोः पञ्चमं षष्ठं वा भागमौरसो दद्यादिति विहितत्वात् । यदि तु समानरूपाः पौनर्भवादयो बहवः पुत्रास्तदा सर्व एव विभज्य रिक्थं गृह्णीयुः ॥ १८४ ॥

**न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।**
**पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥**

नेति । न सोदरभ्रातरो न पितरः किंतु औरसाभावे क्षेत्रजादयो गौणपुत्राः पितृऋक्थहरा भवन्तीत्यनेनोच्यते । औरसस्य तु एक एवौरसः पुत्र इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । अविद्यमानमुख्यपुत्रस्य पत्नीदुहितृरहितस्य च पिता धनं गृह्णीयात्तेषामभावे भ्रातरो धनं गृह्णीयुः। एतच्चानन्तरं प्रपञ्चयिष्यामः ॥ १८५ ॥

इदानीं क्षेत्रजानामप्यपुत्रपितामहादिधनेऽप्यधिकारं दर्शयितुमाह—

**त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।**
**चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥**

त्रयाणामिति । त्रयाणां पित्रादीनामुदकदानं कार्यं त्रिभ्य एव च तेभ्यः पिण्डो देयः । चतुर्थश्च पिण्डोदकयोर्दाता । पञ्चमस्यात्र संबन्धो नास्ति । तस्माद्युक्तोऽपुत्रपितामहादिधने गौणपौत्राणामधिकारः । औरसपुत्रपौत्रयोश्च पुत्रेण लोकान् जयतीत्यनेनैवात्र पितामहादिधनभागित्वमुक्तम् ॥ १८६ ॥

**अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।**
**अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥**

अनन्तर इति । अस्य सामान्यवचनस्योक्तौरसादिपिण्डमात्रविषयत्वे वैयर्थ्यात्तत्रश्चानुक्तपत्न्यादिदायप्राप्त्यर्थमिदम् । सपिण्डमध्यात्सन्निकृष्टतरो यः सपिण्डः पुमान् स्त्री वा तस्य मृतधनं भवति । तत्रैक एवौरसः पुत्र इत्युक्तत्वात्स एव मृतधने स्वाधिकारी । क्षेत्रजगुणवदत्तकयोस्तु यथोक्तं पञ्चमं षष्ठं वा भागं दद्यात् । क्षेत्रजादिपुत्राणां संवर्धनमात्रं कुर्यात् । औरसाभावे पुत्रिकातत्पुत्रश्च दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनमित्युक्तत्वादौरसपुत्ररहित एव तत्रापुत्रो विवक्षितः । तदभावे क्षेत्रजादय एकादश पुत्राः क्रमेण पितृधनाधिकारिणः । परिणीतशूद्रापुत्रस्तु दशमभागमात्राधिकारी नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्रायेत्याद्युक्तत्वात् । दशमभागावशिष्टं धनं सन्निकृष्टसपिण्डो गृह्णीयात् । त्रयोदशविधपुत्राभावे पत्नी सर्वभर्तृधनभागिनी । यदाह याज्ञवल्क्यः । पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्त-

था । तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः । स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः । बृहस्पतिरप्याह । आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः । शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा ॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति । जीवत्यर्धशरीरे तु कथमन्यः स्वमाप्नुयात् ॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः । अपुत्रस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥ पूर्वप्रणीताग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् । विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः ॥ जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यमथाम्बरम् । आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम् ॥ पितृव्यगुरुदौहित्रान् भर्तृस्वस्रीयमातुलान् । पूजयेत्कन्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथींस्त्रियः ॥ तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः । हिंस्युर्धनानि तान् राजा चौरदण्डेन शासयेत् ॥ वृद्धमनुः । अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता । पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमर्थं लभेत च ॥ यदुक्तम् । स्त्रीणां तु जीवनं दद्यादिति संवर्धनमात्रवचनं तत्त्वशीलाधार्मिकसविकारयौवनस्थपत्नीविषयम् । अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धमुक्तं तदसंबद्धम् । पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादिसंमतम् । मेधातिथिर्निराकुर्वन् न प्रीणाति सतां मनः । पत्न्यभावेऽप्यपुत्रिका दुहिता तदभावे पिता माता च तयोरभावे सोदर्यभ्राता तदभावे तत्सुतः । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनमिति वक्ष्यमाणत्वात् । पितृमाता तदभावेऽन्योऽपि सन्निकृष्टसपिण्डो मृतधनं गृह्णीयात् । तद्यथा पितामहसंतानेऽविद्यमाने प्रपितामहसंतान एव तदप्युक्तम् । अत ऊर्ध्वं सपिण्डसन्तानाभावे समानोदक आचार्यः शिष्यश्च क्रमेण धनं गृह्णीयात् १८७

**सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।**
**त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते १८८**

सर्वेषामिति । एषामभाव इति वक्तव्ये सर्वेषामभाव इति यदुक्तं तत्सब्रह्मचार्यादेरपि धनहारित्वार्थम् । सर्वेषामभावे ब्राह्मणा वेदत्रयाध्यायिनो बाह्यान्तरशौचयुक्ता जितेन्द्रिया धनहारिणो भवन्ति त एव च पिण्डदाः तथा सति धनिनो मृतस्य श्राद्धादिधर्महानिर्न भवति॥

**अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।**
**इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥**

अहार्यमिति । ब्राह्मणसंबन्धि धनं न राज्ञा कदाचिद्ग्राह्यमिति शास्त्रमर्यादा । किंतूक्तलक्षणाभावे ब्राह्मणमात्रेभ्योऽपि देयम् । क्षत्रियादिधनं पुनः पूर्वोक्तरिक्थहराभावे राजा गृह्णीयात् ॥ १८९ ॥

**संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।**
**तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत्॥१९०॥**

संस्थितस्येति । अनपत्यस्य मृतस्य भार्यां समानगोत्रात्पुंसो गुरुनियुक्ता सती नियोगधर्मेण पुत्रमुत्पादयेत् । तस्मिन्मृतविषये यद्धनजातं भवेत्तत्तस्मिन्पुत्रे समर्पयेत् । देवराद्वा सपिण्डाद्वेत्युक्तत्वात् । सगोत्रान्नियोगप्राप्त्यर्थं तज्जन्यरिक्थभागित्वार्थमिदम् ॥ १९० ॥

**द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।**
**तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥१९१॥**

द्वाविति । यद्येकरिक्थिनौ स्यातामित्यौरसक्षेत्रजयोरुक्तमिदं त्वौरसपौनर्भवविषयम् । यदोत्पन्नौरसभर्तुर्मृतत्वाद्बालापत्यतया स्वामिधनं स्वीकृत्य पौनर्भवभर्तुः सकाशात्पुत्रान्तरं जनयेत्तस्यापि च पौनर्भवस्य भर्तुर्मृतत्वाद्रिक्थहराभावाद्धनं गृहीतवती पश्चात्तौ द्वाभ्यां जातौ यदि विवदेयातां स्त्रीहस्तगतधनतया तयोर्यस्य यज्जनकस्य धनं स तदेव गृह्णीयान्न त्वन्यपितृजोऽन्यजनकस्य ॥ १९१ ॥

**जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।**
**भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥**

जनन्यामिति । मातरि मृतायां सोदर्यभ्रातरो भगिन्यश्च सोदर्या अनूढा मातृधनं समं कृत्वा गृह्णीयुः । ऊढास्तु धनानुरूपं संमानं लभन्ते । तदाह बृहस्पतिः । स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी । अपुत्रा चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ ततश्चानूढानां पितृधन इवोढानां मातृधनं भ्रात्रा स्वाच्चतुर्थभागो देयः ॥ १९२ ॥

**यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।**
**मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥**

या इति । तासां दुहितॄणां या अनूढा दुहितरस्ताभ्योऽपि मातामहीधनाद्यथा तासां पूजा भवति तथा प्रीत्या किञ्चिद्दातव्यम् १९३

**अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।**
**भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥**

अध्यग्नीति । अध्यग्नीत्यव्ययं विभक्तिसमीपेत्यादिना सूत्रेण समीपार्थेऽव्ययीभावः । विवाहकाले अग्निसन्निधौ यत्पित्रादिदत्तं तदध्यग्नि स्त्रीधनम् । तदाह कात्यायनः । विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ । तदध्यग्नि कृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ यत्तु पितृगृहाद्भर्तृगृहं नीयमानया लब्धं तदध्यावाहनिकम् । तथा च कात्यायनः । यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना तु पैतृकात् । अध्यावाहनिकं नाम तत्स्त्रीधनमुदाहृतम् ॥ यत्तु प्रीतिहेतुकर्मणि भर्त्रादिदत्तं तथा भ्रात्रा पित्रा च समयान्तरे यदत्तं एवं षट्प्रकारकं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

**अन्वाधेयं च यदत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।**
**पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् १९५**

अन्वाधेयमिति । अन्वाधेयं व्याख्यातं कात्यायनेन । विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुले स्त्रिया । अन्वाधेयं तदुक्तं तु सर्वबन्धुकुले तथा ॥ विवाहादूर्ध्वं भर्तृकुले पितृकुले वा यत्स्त्रिया लब्धं भर्त्रा च प्रीतेन दत्तं यदध्यग्न्यादि पूर्वश्लोके उक्तं तद्भर्तरि जीवति मृतायाः स्त्रियाः सर्वधनं तदपत्यानां भवति ॥ १९५ ॥

**ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।**
**अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥**

ब्राह्मेति । ब्राह्मादिषु पञ्चसु विवाहेषूक्तलक्षणेषु यत्स्त्रियः षड्विधं धनं तदनपत्यायां मृतायां भर्तुरेव मन्वादिभिरिष्यते ॥ १९६ ॥

**यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।**
**अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७॥**

यदिति । यत्पुनः स्त्रिया आसुरराक्षसपैशाचेषूक्तलक्षणेषु यत् स्त्रियाः षड्विधं धनमपि तदनपत्यायां मृतायां मातापित्रोरिष्यते १९७

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥१९८॥

स्त्रियामिति । ब्राह्मणस्य नानाजातीयासु स्त्रीषु क्षत्रियादिस्त्रिया-मनपत्यपतिकायां मृतायां तस्याः पितृदत्तं धनं सजातिविजातिसा-पत्न्यकन्यापुत्रसद्भावेऽपि ब्राह्मणी सापत्न्येयी कन्या गृह्णीयात्तदभावे तदपत्यस्य तद्धनं भवेत् ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥

नेति । भ्रात्रादिबहुसाधारणात्कुटुम्बधनाद्भार्यादिभिः स्त्रीभी र-त्नालंकाराद्यर्थं धनसंचयं न कर्तव्यं नापि च भर्तुराज्ञां विना भर्तुर्धनादपि कार्यं ततश्च नेदं स्त्रीधनम् ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

पत्यावित्यादि । भर्तरि जीवति तत्संमताभिर्योऽलंकारः स्त्रीभिर्धृतः तस्मिन्मृते विभागकाले तं पुत्रादयो न भजेरन् । भजमानाः पापिनो भवन्ति ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥२०१॥

अनंशाविति । नपुंसकपतितजात्यन्धश्रोत्रविकलोन्मत्तजडमूका-श्च ये च कुणिपङ्ग्वादयो विकलेन्द्रियास्ते पित्रादिधनहरा न भव-न्ति । किंतु ग्रासाच्छादनभागिनः ॥ २०१ ॥

तदेवाह—

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्ददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

सर्वेषामिति । सर्वेषामेषां क्लीबादीनां शास्त्रज्ञेन ऋक्थहारिणा यावज्जीवं स्वशक्त्या ग्रासाच्छादनं देयम् । अददत्पापी स्यात् २०२

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

यदीति । कथंचनेत्यभिधानात्क्लीवादयो विवाहानर्हा इति सूचितम् । यदि कथंचिदेषां विवाहेच्छा भवेत्तदा क्लीवस्य क्षेत्रज उत्पन्नेऽन्येषामुत्पन्नापत्यानामपत्यं धनभाग्भवति ॥ २०३ ॥

**यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।**
**भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥२०४॥**

यत्किञ्चिदिति । पितरि मृते सति भ्रातृभिः सहाविभक्तो ज्येष्ठः किञ्चित्स्वेन पौरुषेण धनं लभते । ततो धनाद्विद्याभ्यासवतां कनिष्ठभ्रातॄणां भागो भवति नेतरेषाम् ॥ २०४ ॥

**अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।**
**समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥२०५॥**

अविद्यानामिति । सर्वेषां भ्रातॄणां कृषिवाणिज्यादिचेष्टया यदि धनं स्यात्तदा पित्र्यवर्जिते तस्मिन्धने स्वार्जिते समो विभागः स्यान्न तूद्धारः अपित्र्य इति निश्चयः ॥ २०५ ॥

**विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।**
**मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥**

विद्याधनमिति । विद्यामैत्रीविवाहार्जितं माधुपर्किकं मधुपर्कदानकाले पूज्यतया यल्लब्धं तस्यैव तत्स्यात् । यत्किञ्चित्पितरीत्युक्त्वांऽयमपवादः । विद्याधनं च व्याहृतं कात्यायनेन । परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदान्यतः । तया प्राप्तं च विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥ उपन्यस्ते च यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् । विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभागे न विभज्यते ॥ शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् । अज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राज्यधनाच्च यत् ॥ विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते । अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां माधुपर्किकमार्त्विज्यधनं व्याख्यातं तदयुक्तम् । विद्याधनत्वात् ॥ २०६ ॥

**भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।**
**स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिदुपजीवनम् २०७**

भ्रातॄणामिति । राजानुगमनादिकर्मणा यो धनमर्जितुं शक्तो भ्रातॄणां साधारणं धनं नेच्छति स स्वीयादंशात्किञ्चिदुपजीवनं दत्वा भ्रातृभिः पृथक्कार्यः । तेन तत्पुत्रास्तत्र धने कालान्तरे न विवदन्ते ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

अनुपघ्नन्निति । पितृधनानुपघातेन यत्कृष्यादिक्लेशादर्जयेत्तत्स्वचेष्टाप्राप्तमनिच्छन् भ्रातृभ्यो दातुं नार्हति ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥

पैतृकमिति । यत्पुनः पितृसंबन्धि धनं तेनासामर्थ्येनोपेक्षितत्वादनवाप्तं पुत्रः शक्त्या प्राप्नुयात्तत्स्वयमर्जितमनिच्छन्पुत्रैः सह न विभजेत् ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते॥२१०॥

विभक्ता इति । पूर्वं सोद्धारं निरुद्धारं वा विभक्ता भ्रातरः पश्चादेकीकृत्य धनं सह जीवन्तो यदि पुनर्विभागं कुर्वन्ति तदा तत्र समो विभागः । ज्येष्ठस्योद्धारो न देयः ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते॥२११॥

येषामिति । येषां भ्रातॄणां मध्ये कश्चिद्विभागकाले प्रव्रज्यादिना स्वांशाद्धीयेन्मृतो वा भवेत्तस्य भागो न लुप्येत् । किंतु ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः॥२१२॥

सोदर्या इत्यादि । सोदर्या भ्रातरः समागम्य सहिताः भगिन्यश्च सोदर्यास्तमंशं समं कृत्वा विभजेरन्सोदर्याणां सापत्न्यानामपि मध्यात्सर्वे वमिश्रीकृतधनत्वेनैकयोगक्षेमास्ते विभजेयुः समं सर्वे सोदर्याः सापत्न्या जीव वा । एतच्च पुत्रपत्नीपितृमात्रभावे द्रष्टव्यम् ॥ २१२ ॥

ज्येष्ठः थिता विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन् यवीयसः ।
उत्पन्नत्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः२१३

यो ज्येष्ठ इति । यो ज्येष्ठो भ्राता लोभात्कनीयसो भ्रातॄन्वञ्चयेत्स ज्येष्ठभ्रातृपूजाशून्यः सोद्धारभागरहितश्च राजदण्ड्यश्च स्यात् २१३

**सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।**
**न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम्२१४**

सर्व एवेति । अपतिता अपि ये भ्रातरो द्यूतवेश्यासेवादिविकर्मासक्तास्ते ऋक्थं नार्हन्ति । न च कनिष्ठेभ्योऽननुकल्प्य ज्येष्ठः साधारणधनादात्मार्थमसाधारणधनं कुर्यात् ॥ २१४ ॥

**भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।**
**न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥**

भ्रातृणामिपि । भ्रातृणां पित्रा सहावस्थितानामविभक्तानां यदि सह धनार्जनार्थमुत्थानं भवेत्तदा विभागकाले न कस्यचित्पुत्रस्याधिकं पिता कदाचिद्दद्यात् ॥ २१५ ॥

**ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।**
**संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह॥२१६॥**

ऊर्ध्वमिति । यदा जीवतैव पित्रा पुत्राणामिच्छया विभागः कृतस्तदा विभागादूर्ध्वं जातः पुत्रः पितरि मृते पितृऋक्थमेव गृह्णीयात् । ये कृतविभागाः पित्रा सह पुनर्मिश्रीकृतधनास्तैः सहासौ पितरि मृते विभजेत् ॥ २१६ ॥

**अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।**
**मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ २१७ ॥**

अनपत्यस्येति । अनपत्यस्य पुत्रस्य धनं माता गृह्णीयात्पूर्वं पिता हरेदपुत्रस्य ऋक्थमित्युक्तत्वात् । इह माता हरेदित्यादि याज्ञवल्क्येन पितरावित्येकशेषकरणात् । विष्णुना च । अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामीत्येकशेषस्यैव कृतत्वान्मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम् । मातरि मृतायां पत्नीपितृभ्रातृभ्रातृजाभावे पितुर्माता धनं गृह्णीयात् ॥ २१७ ॥

**ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।**
**पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८॥**

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

प्रच्छन्नमिति । यो मनुष्यः तद्द्यूतं गूढं प्रकटं वा कृत्वा सेवेत्तस्य यथा नृपतेरिच्छा भवति तथाविधो दण्डो भवति ॥ २२८ ॥

इदानीं पराजितानां धनाभावे सतीदमाह—

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः२२९

क्षत्रेति । क्षत्रवैश्यशूद्रजातीयो निर्धनत्वेन दण्डं दातुमसमर्थस्तदुचितकर्मकरणेन दण्डशोधनं कुर्यात् । ब्राह्मणः पुनर्यथालाभं क्रमेण दद्यान्न कर्म कारयितव्यः ॥ २२९ ॥

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्रीति । स्त्रीबालादीनां पुनः शिफावेणुदलप्रहाररज्जुबन्धनादिभिर्दमनं राजा कुर्यात् ॥ २३० ॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः २३१

ये नियुक्तास्त्विति । ये व्यवहारावेक्षणादिषु कार्येषु राज्ञा नियुक्ता उत्कोचधनतेजसाधिकारं लभन्तः स्वाम्यादीनां कार्यं नाशयेयुस्तान् गृहीतसर्वस्वान् राजा कारयेत् ॥ २३१ ॥

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विट्सेविनस्तथा ॥२३२॥

कूटेति । कूटराजाज्ञालेखकानमात्यानां च भेदकान् स्त्रीबालब्राह्मणघातिनः शत्रुसेविनश्च राजा हन्यात् ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्व्रजेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

तीरितमिति । यत्र क्वचिद्ऋणादानादिव्यवहारे यत्कार्यं धर्मतस्ती-

रितम् । पारतीरकर्मसमाप्ताविति चुरादौ पठ्यते । शास्त्रव्यवस्था निर्णीयते । अनुशिष्टं दण्डपर्यन्ततां च नीतं स्यात्तत्कृतमङ्गीकुर्यान्न पुनर्निवर्तयेत् । एतच्चाकारणादतः कारणकृतं निवर्तयेदेव ॥ २३३॥

**अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।**
**तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत्॥२३४॥**

अमात्या इति । राजामात्याः प्राड्विवाको वा व्यवहारेक्षणे नियुक्तो यदसम्यग्व्यवहारनिर्णयं कुर्युस्तत्स्वयं राजा कुर्यात्पणसहस्रं तान्दण्डयेत् । इदं चोत्कोचधनग्रहणेतरविषयं उत्कोचग्रहणे ये नियुक्तास्तित्वत्युक्तत्वात् ॥ २३४ ॥

**ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।**
**एते सर्वे पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः॥२३५॥**

ब्रह्महेति । यो मनुष्यो ब्राह्मणं हतवान् स ब्रह्महा सुरापो द्विजातिः पैष्ट्याः पाता ब्राह्मणश्च । पैष्टीमाध्वीगौडीनां तस्करो ब्राह्मणसुवर्णहारी मनुष्यः कश्चिद्गुरुपत्नीगामीत्येते सर्वे प्रत्येकं महापातकिनो बोद्धव्याः ॥ २३५ ॥

**चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।**
**शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥**

चतुर्णामिति । चतुर्णामप्येषां महापातकिनां प्रायश्चित्तमकुर्वतां शारीरं धनग्रहणेन च धनसंबन्धमपराधानुसारेण धर्मादनपेतं वक्ष्यमाणं दण्डं कुर्यात् ॥ २३६ ॥

**गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।**
**स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७॥**

गुरुतल्प इति । नांक्या राज्ञा ललाटे स्युरिति वक्ष्यमाणत्वाल्ललाटमेवाङ्कनस्थानमवगम्यते । तत्र गुरुपत्नीगमने यावज्जीवस्थायि तप्तलोहेन ललाटे भगाकृतिं गुरुपत्नीगमनचिह्नं कार्यम् । एवं सुरापाने कृते पातुर्दीर्घं सुराध्वजाकारं सुवर्णापहारे सत्यपहर्तुः कुक्कुरपादरूपं कार्यम् । ब्रह्महणि कबन्धः पुमान्कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

असंभोज्या इति । अन्नादिकं नैते भोजयितव्या न चैते याजनीया नाप्येतेऽध्यापनीया नाप्येतैः कन्यादानसंबन्धः कर्तव्यः । एते च निर्धनत्वाद्याजनादिभ्योऽप्ययुक्ताः सर्वश्रौतादिकर्मवर्जिताः पृथिवीं पर्यटेयुः ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

ज्ञातीति । ज्ञातिभिः संबन्धीभिर्मातुलाद्यैरेते कृताङ्कास्त्यजनीया न चैषां दया कार्या नाप्येते नमस्कार्या इतीयं मनोराज्ञा ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् ।
नांक्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४०

प्रायश्चित्तमिति । शास्त्रविहितं प्रायश्चित्तं पुनः कुर्वाणा ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा राज्ञा ललाटे अङ्कनीया न भवेयुः । उत्तमसाहसं पुनर्दण्डनीयाः ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥

आगःस्विति । इतरे कृतवन्तस्त्वित्युत्तरश्लोके श्रूयमाणमकामत इति चात्रापि योजनीयम् । तेनाकामत इति एष्वपराधेषु गुणवतो ब्राह्मणस्य मध्यमसाहसो दण्डः कार्यः । पूर्वोक्तस्तूत्तमसाहसो निर्गुणस्य द्रष्टव्यः । कामतस्तेष्वपराधेषु धनधान्यादिपरिच्छदसहितो ब्राह्मणो देशान्निर्वास्यः ॥ २४१ ॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

इतर इति । ब्राह्मणादन्ये पुनः क्षत्रियादय एतानि पापान्यनिच्छन्तः कृतवन्तः सर्वस्वहरणमर्हन्ति । इदं च सर्वस्वहरणं पूर्वोक्तेनोत्तमसाहसेन वृत्त्यपेक्षया व्यवस्थापनीयम् । इच्छया पुनरेषा-

मेतेष्वपराधेषु प्रवासनं वधोर्हऽति । प्रवासनं परासनं निषूदनं विहिंसनमिति वधपर्यायं प्रवासनशब्दं पठन्त्याभिधानिकाः ॥२४२॥

**नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।**
**आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥**

नाददीतेति । धार्मिको राजा महापातकसंबन्धि धनं न गृह्णीयात् । लोभात्पुनः संगृह्णन्महापातकदोषेण संयुज्यते ॥ २४३ ॥

का तर्हि दत्तधनस्य प्रतिपत्तिरित्येतदर्थमाह—

**अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।**
**श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥**

अप्स्विति । तद्दण्डधनं नद्यादिजले प्रक्षिपेद्वरुणाय दद्याच्छ्रुतसंपन्नब्राह्मणाय वा दद्यात् ॥ २४४ ॥

**ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।**
**ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥**

ईश इति । महापातकिदण्डधनस्य वरुणः स्वामी यस्माद्राज्ञामपि दण्डधारित्वात्प्रभुः । तथा ब्राह्मणः समस्तवेदाध्यायी सर्वस्य जगतः प्रभुः । अतः प्रभुत्वात्तौ दण्डधनमर्हतः ॥ २४५ ॥

**यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।**
**तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥**
**निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।**
**बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७॥**

यत्रेति । निष्पद्यन्त इति । यत्र देशे प्रकृतं महापातकिधनं राजा न गृह्णाति तत्र परिपूर्णेन कालेन मनुष्या उत्पद्यन्ते दीर्घायुषश्च भवन्ति । वैश्यानां च यथैव धान्यादिसस्यान्युप्तानि तथैव पृथक् पृथक् जायन्ते । अकाले न बाला म्रियन्ते । दीर्घजीविन इत्युक्तेऽप्यादरार्थं बालानां पुनर्वचनम् । व्यङ्गं च न किञ्चिद्भूतमुत्पद्यते ॥

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

ब्राह्मणानिति । शरीरपीडाधनग्रहणादिना शूद्रमिच्छातो ब्राह्मणान्बाधमानं छेदादिभिरुद्वेगकरैर्वधोपायैर्नृपो हन्यात् ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

यावानिति । अवध्यस्य वधे यावानधर्मो नृपतेः शास्त्रेण ज्ञातस्तावानेव वध्यस्य त्यागेऽपि । यथाशास्त्रं दण्डं तु कुर्वतो धर्मः स्यात्तस्मात्तं कुर्यात् ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

उदित इति । अष्टादशसु ऋणादानादिषु व्यवहारपदेषु परस्परं विवदमानयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः कार्यनिर्णयोऽयं विस्तरेणोक्तः ॥२५०॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धान्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥२५१॥

एवमिति । अनेनोक्तप्रकारेण धर्मादनपेतं निर्णयं कुर्वन् राजा जनानुरागादेशान् लब्धुमिच्छेल्लब्धांश्च सम्यक् पालयेत् । एवं सम्यग्व्यवहारलब्धप्रदेशप्राप्त्यर्थमुक्तम् ॥ २५१ ॥

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

सम्यगिति । जाङ्गलं सस्यसंपन्नमित्युक्तरीत्या सम्यगाश्रितदेशस्तत्र सप्तमाध्यायोक्तप्रकारेण कृतदुर्गश्चौरसाहसिकादिकण्टकनिराकरणे प्रकृष्टं यत्नं सदा कुर्यात् ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

रक्षणादिति । यस्मात्साध्वाचाराणां रक्षणाच्चोरादीनां च शास-

नात्प्रजापालनयुक्ता राजानः स्वर्गं गच्छन्ति । तस्मात्कण्टकोद्धरणे यत्नं कुर्यात् ॥ २५३ ॥

**अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।**
**तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥**

अशासन्निति । यथा पुनर्नृपतिश्चौरादीननिराकुर्वन् षड्भागाद्युक्तं करं गृह्णाति तस्मै राष्ट्रवासिनो जनाः कुप्यन्ति । कर्मान्तरार्जितापास्य स्वर्गप्राप्तिरनेन दुष्कृतेन प्रतिबध्यते ॥ २५४ ॥

**निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।**
**तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥**

निर्भयमिति । यस्य राज्ञो बाहुवीर्याश्रयेण राष्ट्रं चौरादिभयरहितं भवति तस्य नित्यं तद्वृद्धिं गच्छति । उदकसेकेनेव वृक्षः २५५ ॥

**द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।**
**प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥**

द्विविधानिति । चार एव चोरज्ञाने हेतुत्वाच्चक्षुरिव यस्यासौ राजा चारैरेव प्रकटतया द्विप्रकारान्न्यायेन परधनग्राहिणो जानीयात् ॥

**प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।**
**प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥**

प्रकाशेति । तेषां पुनश्चौरादीनां मध्याद्ये तुलाप्रतिमानलोष्टचयादिना हिरण्यादिपण्यविक्रयिणः परधनमनुचितेन गृह्णन्ति ते प्रकाशवञ्चकाः स्तेनाश्चौराः सद्विच्छेदादिना गुप्ताटव्याश्रयाश्च परधनं गृह्णन्ति ते प्रच्छन्नवञ्चकाः । किंच ॥ २५७ ॥

**उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।**
**मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥**
**असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।**
**शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः २५९**

**एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान्**
**निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥२६०॥**

उत्कोचका इति । असम्यगिति । एवमिति । उत्कोचका ये कार्यिभ्यो धनं गृहीत्वा कार्यमयुक्तं कुर्वन्ति । औपधिका भयदर्शनाद्ये धनमुपजीवन्ति । वञ्चका ये सुवर्णादि द्रव्यं गृहीत्वा परद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति । कितवा द्यूतसमाह्वयदेविनो धनपुत्रलाभादिमङ्गलममत्वमादिश्य ये वर्तन्ते ते मङ्गलदेशवृत्ताः । भद्राः कल्याणाकारप्रच्छन्नपापा ये धनग्राहिणः । ईक्षणिका हस्तरेखाद्यवलोकनेन शुभाशुभफलकथनजीविनः । महामात्रा हस्तिशिक्षाजीविनः । चिकित्सकाः चिकित्साजीविनः । असम्यक्कारिण इति महामात्रचिकित्सकविशेषणम् । शिल्पयुक्ताश्चित्रलेखाद्युपायजीविनः तेऽप्यनुपजीव्यमानशिल्पोपायप्रोत्साहनेन धनं गृह्णन्ति । पण्यस्त्रियश्च परवशीकरणकुशला इत्येवमादीन्प्रकाशान् लोकवञ्चकान् चारैर्जानीयात् । अन्यानपि प्रच्छन्नचारिणः शूद्रादीन् ब्राह्मणादिवेषधारिणो धनग्राहिणो जानीयात् ॥ २५८ ॥ २५९ ॥ २६० ॥

**तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।**
**चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥२६१॥**

तानिति । तानुक्तान्वञ्चकान्सभ्यैः प्रच्छन्नैस्तत्कर्मकारिभिर्वणिजां वणिग्भ्य एवमादिभिः पुरुषैरेतद्व्यतिरिक्तैः सप्तमाध्यायोपदिष्टकापटिकादिभिश्चारैरनेकस्थानस्थैर्ज्ञात्वा प्रोत्साद्य स्ववशान्कुर्यात् ॥२६१॥

**तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।**
**कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः॥२६२॥**

तेषामिति । तेषां प्रकाशाप्रकाशतस्कराणां स्वकर्मणि चौर्यादौ ये पारमार्थिका दोषाः संधिच्छेदादयस्ताँल्लोके प्रख्याप्य तद्गतधनशरीरादिसामर्थ्यापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २६२ ॥

**न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।**
**स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥२६३॥**

न हीति । यस्माच्चौराणां पापाचरणबुद्धीनां विनीतवेषेण पृथिव्यां चरतां दण्डव्यतिरेकेण पापक्रियायां नियमं कर्तुमशक्यमत एषां दण्डं कुर्यात् ॥ २६३ ॥

**सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।**
**चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥२६४॥**
**जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।**
**शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च २६५**
**एवंविधान्नृपो देशान्युल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।**
**तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥**

सभेति । जीर्णेति । एवमिति । सभा ग्रामनगरादौ नियतं जनसमूहस्थानं प्रपा जलदानगृहं अपूपविक्रयवेश्म पण्यस्त्रीगृहं मद्यान्नविक्रयस्थानानि चतुष्पथाः प्रख्यातवृक्षमूलानि जनसमूहस्थानानि जीर्णवाटिका अटव्यः शिल्पगृहाणि शून्यगृहाणि आम्रादिवनानि कृत्रिमोद्यानानि । एवंप्रकारान्सैन्यैः पदातिसमूहैः स्थावरजङ्गमैरेकस्थानस्थितैः प्रचारिभिश्चान्यैश्चारैस्तस्करनिवारणार्थं चारयेत् । प्रायेणैवंविधेऽन्नपानस्त्रीसंभोगस्वप्रहर्त्राद्युच्छेषणार्थं तस्करा अवतिष्ठन्ते ॥

**तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।**
**विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥**

तदिति । तेषां साहाय्यं प्रतिपाद्यमानैस्तच्चरितानुवृत्तिभिः संधिच्छेदादिकर्मानुष्ठानवेदिभिः पूर्वचौरैश्चाररूपैश्चारमायानिपुणैस्तस्करान् जानीयादुत्सादयेच्च ॥ २६७ ॥

**भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।**
**शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥**

भक्ष्येति । ते पूर्वचौराश्चारभूता आगच्छतास्मद्गृहं गच्छामस्तत्र मोदकपायसादीन्यश्नीम इत्येवं भक्ष्यभोज्यव्याजेनास्माकं देशे ब्राह्मणोऽस्ति सोऽभिलषितार्थसिद्धिं जानाति तं पश्याम इत्येवं ब्राह्मणानां दर्शनैः कश्चिदेक एव बहुभिः सह योत्स्यते तं पश्याम इत्येवं

शौर्यकर्मव्याजेन तेषां चौराणां राज्ञो दण्डधारकपुरुषैः समागमं कुर्युर्ग्राहयेयुश्च ॥ २६८ ॥

**ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।**
**तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् २६९**

य इति । ये चौरास्तत्र भक्ष्यभोज्यादौ निग्रहणशंकया नोपसर्पन्ति ये च मूले राजनियुक्तपुराणचौरवधे प्रणिहिताः सावधानभूता न संगतिं भजन्ते तांश्चौरांस्तेभ्य एव ज्ञात्वा तदेकतापन्नमित्रपित्रादिज्ञातिस्वजनसहितान्बलादाक्रम्य राजा हन्यात् ॥ २६९ ॥

**न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।**
**सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥**

न होढेनेति । धार्मिको राजा हृतद्रव्यसन्धिच्छेदोपकरणव्यतिरेकेणानिश्चितचौरभावं न घातयेत्किंतु द्रव्येण चौर्योपकरणेन च निश्चितचौरभावमविचारयन् घातयेत् ॥ २७० ॥

**ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।**
**भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥२७१॥**

ग्रामेष्विति । ग्रामादिष्वपि ये केचिच्चौराणां चौरत्वं ज्ञात्वा भक्तदाः चौर्योपयुक्तभाण्डादि गृहावस्थानं ये ददति तानपि नैरन्तर्याद्यपराधगोचरापेक्षया घातयेत् ॥ २७१ ॥

**राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।**
**अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम् २७२**

राष्ट्रेष्विति । ये राष्ट्रेषु रक्षानियुक्ताः ये च सीमान्तवासिनः क्रूराः सन्तः चौर्योपदेशे मध्यस्था भवन्ति तान् चौरवत्क्षिप्रं दण्डयेत्

**यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।**
**दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥२७३॥**

यश्चापीति । याजनप्रतिग्रहादिना परस्य यागदानादिधर्ममुत्पाद्य यो जीवति स धर्मजीवनो ब्राह्मणः सोऽपि यो धर्ममर्यादायाश्च्युतो भवति तमपि स्वधर्मात्परिभ्रष्टं दण्डेनोपतापयेत् ॥ २७३ ॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः२७४

ग्रामेति । ग्रामलुण्ठने तस्करादिना क्रियमाणे हिताभङ्गे जलसेतुभङ्गे जाते क्षेत्रोपपन्नसस्यनाशने वृत्तिभङ्गे चेति मेधातिथिः । पथि चोरदर्शने तन्निकटवर्तिनो यथाशक्तितो ये रक्षां न कुर्वन्ति ते शय्यागवाश्वादिपरिच्छदसहिता देशान्निर्वासनीयाः ॥ २७४ ॥

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

राज्ञ इति । राज्ञो धनगृहाद्धनापहारिणस्तथा तदाज्ञाव्याघातकारिणः शत्रूणां च राज्ञा सह वैरिवृद्धिकारिणोऽपराधापेक्षया करचरणजिह्वाच्छेदनाद्विभिर्नानाप्रकारदण्डैर्घातयेत् ॥ २७५ ॥

संधिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्२७६

संधिमिति । ये रात्रौ संधिच्छेदं कृत्वा परधनं तस्करा मुष्णन्ति तेषां राजा हस्तद्वयं छित्वा तीक्ष्णे शूल आरोपयेत् ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

अङ्गुलीरिति । पटप्रान्तादिस्थितं सुवर्णादिकं ग्रन्थिमोक्षणेन यश्चोरयति स ग्रन्थिभेदस्तस्य प्रथमे द्रव्यग्रहणे अङ्गुलीश्छेदयेत् । तेचाङ्गुष्ठतर्जन्यौ उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकाविति याज्ञवल्क्यवचनात् । द्वितीये ग्रहणे हस्तपादौ छेदयेत्तृतीये ग्रहणे वधार्हो भवति ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अग्निदानिति । ग्रन्थिभेदादिकारिणो विज्ञायाग्निभक्तशस्त्रावस्थानप्रदान्मुष्यत इति मोषश्चौरधनं तस्यावस्थापकान् चौरवद्राजा निगृह्णीयात् ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्त्वुत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥

तडागेति । यः स्नानदानादिना जलोपकारकं भागं सेतुभेदादिना विनाशयति तमप्सु मज्जनेन प्रकारान्तरेण वा हन्यात् । यद्वा यदि तडागं पुनः संस्कुर्यात्तदोत्तमसाहसं दण्ड्यः ॥ २७९ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

कोष्ठेति । राजसंबन्ध्यादिषु धनागारायुधगृहयोर्देवप्रतिमागृहस्य बहुधनव्ययसाध्यस्य विनाशकान् हस्त्यश्वरथस्यापहर्तॄन् शीघ्रमेव हन्यात् । यत्तु संक्रमध्वजयष्टिप्रतिमाभेदिनः पञ्चशतदण्डं वक्ष्यति । सोऽस्मादेव देवतागारभेदकस्य वधविधानान्मृन्मयपूजितोक्षितदेवता-प्रतिमाविषयोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाप्यपां भिद्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् २८१

यस्त्विति । यः पुनः प्रजार्थं पूर्वं केनचित्कृतस्य तडागस्योदक-मेव गृह्णाति कृत्स्नतडागोदकनाशने वधदण्डः प्रागुक्तस्तथोदकगम-नमार्गं सेतुबन्धादिना यो नाशयति स प्रथमसाहसं दण्ड्यः २८१

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् २८२

समुत्सृजेदिति । अनार्तः सन् यो राजपथेषु पुरीषं कुर्यात्स पणद्वयं दण्डं दद्यात्स चामेध्यं शीघ्रमेवापसारयेत् ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥२८३॥

आपद्गत इति । व्याधितवृद्धगर्भिणीबाला न दण्डनीयाः किंतु ते पुनः किंकृतमिति परिभाषणीयाः । तच्चामेध्यं शोधनीया इति शास्त्र-मर्यादा ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

चिकित्सकानामिति । सर्वेषां कायशल्यादिभिषजां दुश्चिकित्सां कुर्वतां दण्डः कर्तव्यः । तत्र गवाश्वादिविषये दुश्चिकित्सायां प्रथमसाहसदण्डो मानुषविषये पुनर्मध्यमसाहसः ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

संक्रमेति । संक्रमो जलोपरि गमनार्थं काष्ठशिलादिरूपः ध्वजश्चिह्नं राजद्वारादौ यष्टिपुष्करिण्यादौ प्रतिमाश्च क्षुद्रा मृन्मय्यादयस्तासां विनाशकः पञ्चशतपणान्दद्यात्तच्च विनाशितं द्रव्यं पुनर्नवं कुर्यात् ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अदूषितानामिति । अदुष्टद्रव्याणामपद्रव्यप्रक्षेपेण दूषणे मणीनां च माणिक्यादीनामभेद्यानां विद्रावणे वेध्यानामपि मुक्तादीनामनवस्थानवेधने प्रथमसाहसो दण्डः कार्यः । सर्वत्र परकीयद्रव्यनाशे द्रव्यान्तरदानादिना स्वामितुष्टिः कार्या ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
समाप्नुयादमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

समैरिति । समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यदानेन यो विषमं व्यवहरति सममूल्यं द्रव्यं दत्वा यः कस्यचिद्बहुमूल्यं कस्यचिदल्पमूल्यं गृणाति सोऽर्थबन्धविशेषापेक्षया प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥
प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

बन्धनेति । प्राकारेति । बन्धनगृहाणि सर्वजनदृश्ये राजगृहपुरादिसंबन्धिनः प्राकारस्य भेदकं तदीयानामेव परिखाणां पूरयितारं तद्गतानां द्वाराणां भञ्जकं शीघ्रमेव देशान्निर्वासयेत् ॥२८८॥२८९॥

**अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।**
**मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥**

अभिचारेष्विति । अभिचारहोमादिषु शास्त्रीयेषु मारणोपायेषु लौकिकेषु च मूलनिखननपदपांशुग्रहणादिषु कृतेषु अनुत्पन्नमरणफलेषु द्विशतपणग्रहणरूपो दण्डः कर्तव्यः मरणे तु मानुषमारणदण्डः। एवं मातृपितृभार्यादिव्यतिरिक्तैरसत्यैर्वा मोह्य धनग्रहणाद्यर्थं वशीकरणे तथा कृत्यासूच्चाटनापाटवादिहेतुषु क्रियमाणासु नानाप्रकारासु द्विशतपणदण्ड एव कर्तव्यः ॥ २९० ॥

**अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ।**
**मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥**

अबीजेति । अबीजं बीजप्ररोहासमर्थं व्रीह्यादि प्ररोहसमर्थमिति कृत्वा यो विक्रीणीते तथातिशयमेव कतिचिदुत्कृष्टप्रक्षेपेण सर्वमिदं सोत्कर्षमिति कृत्वा यो विक्रीणीते यश्च ग्रामनगरादिसीमां विनाशयति स विकृतनासाकरचरणकर्णादिरूपं वधं प्राप्नुयात् ॥ २९१ ॥

**सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।**
**प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥**

सर्वेति । सर्वकण्टकानां मध्येऽतिशयेन पापतमं सुवर्णकारं तुलाच्छद्मकषपरिवर्तापद्रव्यप्रक्षेपादिना हेमादिचौर्ये प्रवर्तमानमनुबन्धापेक्षयाङ्गविशेषेण सर्वदेहं वा खण्डशश्छेदयेत् ॥ २९२ ॥

**सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।**
**कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् २९३**

सीतेति । कृष्यमाणभूमिद्रव्याणां हलकुद्दालादीनामपहरणे खड्गादीनां च शस्त्राणामौषधस्य च कल्याणघृतादेश्चौर्ये सत्युपयोगकालेतरकालापेक्षया प्रयोजनापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २९३ ॥

**स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।**
**सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥**

स्वामीति । स्वामी राजा अमात्यो मन्त्र्यादिः पुरं राज्ञः कृतदुर्गनिवासनगरं राष्ट्रं देशः कोशो वित्तनिचयः दण्डो हस्त्यश्वरथपादातं मित्रं त्रिविधं सप्तमाध्यायोक्तमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽङ्गानि सप्ताङ्गमिदं राज्यमित्युच्यते ॥ २९४ ॥

ततः किमित्याह—

**सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।**
**पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥**

सप्तानामिति । आसां राज्यप्रकृतीनां सप्तानां क्रमोक्तानामुत्तरस्य विनाशमपेक्ष्य पूर्वस्याः पूर्वस्या विनाशविषये गरीयो व्यसनं जानीयात् । तथाहि । मित्रव्यसनात्सबलव्यसनं गरीयः संपन्नबलस्यैवानुग्रहे सामर्थ्यात् । एवं बलात्कोशो गरीयान् कोशनाशे बलस्यापि नाशात् । कोशाद्राष्ट्रं गरीयः राष्ट्रनाशे कुतः कोशोत्पत्तिः । एवं राष्ट्राद्दुर्गनाशोऽपि दुर्गादेव यवसेन्धनादिसंपन्नाद्राज्यरक्षासिद्धिः । दुर्गादमात्यो गरीयान् प्रधानामात्यनाशे सर्वाङ्गवैकल्यात् । अमात्यादपि आत्मा सर्वस्यात्मार्थत्वात् । तस्मादुत्तरापेक्षया पूर्वं यत्नतो रक्षेत् ॥ २९५ ॥

**सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।**
**अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥**

सप्ताङ्गस्येति । उक्तसप्ताङ्गवतो लोके राष्ट्रस्य त्रिदण्डवदन्योन्यसंबन्धस्य परस्परावलक्षणोपकारणान्न किञ्चिदङ्गमधिकं भवति । यद्यपि पूर्वश्लोके पूर्वपूर्वाङ्गस्याधिक्यमुक्तं तथाप्येषामङ्गानां मध्यादन्यस्याङ्गसंबन्धिनमपकारमन्यदङ्गं कर्तुं न शक्नोति तस्मादुत्तरोत्तराङ्गमप्यपेक्षणीयमित्येवंपरोऽयमाधिक्यनिषेधः । अत्र प्रसिद्धं यतित्रिदण्डमेव दृष्टान्तः । तद्धि चतुरङ्गुलगोवालवेष्टनादन्योन्यसंबन्धं न च तन्मध्ये त्रिदण्डधारणशास्त्रार्थे कश्चिद्दण्डोऽधिको भवति २९६

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥२९७॥

तेष्विति । यस्मात्तेषु तेषु संपाद्येषु कार्येषु तत्तदङ्गस्यातिशयो भवति तत्कार्यमन्येन कर्तुमशक्तेः । एवं च येनाङ्गेन यत्कार्यं संपाद्यते तस्मिन्कार्ये तदेव प्रधानमुच्यते । ततश्चान्योन्यगुणविशेषादि यदुक्तं तदेवानेन स्फुटीकृतम् ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रियया एव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः २९८

चारेणेति । सप्तमाध्यायोक्तकापटिकादिना बलस्योत्साहयोगेन कर्मणां च हस्तिबन्धव्रणिकपथादीनामनुष्ठानेन जातां शत्रोरात्मनश्च शक्तिं राजा सदा जानीयात् ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥

पीडनानीति । पीडनानि मारकादीनि कामक्रोधोद्भवानि दुःखानि च स्वपरचक्रगतानि तेषां च गुरुलघुभावं पर्यालोच्य सन्धिविग्रहादि कार्यमारभेत् ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

आरभेतेति । राजा स्वराज्यवृद्धिपरापचयनिमित्तानि कार्याणि कथञ्चिदिदं संजातमिति छलान्यपि आरभ्यात्मना खिन्नः पुनःपुनस्तान्यारभेतैव यस्मात्कर्माणि सृज्यमानं पुरुषं श्रीर्नितरां सेवते । तथा नाब्राह्मणे नानाश्रये श्रीरस्तीति प्ररोहितापि शोषमेति न च युगानुरूपेण कर्माणि फलंतीति राज्ञोदासितव्यम् । यतः ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥३०१॥

कृतमिति । कृतत्रेताद्वापरकलयो राज्ञ एव चेष्टितविशेषास्तैरेव सत्यादिविशेषप्रवृत्तेः । तस्माद्राजैव कृतादियुगमभिधीयते ॥३०१॥

कीदृक्चेष्टितः कृतादियुगमित्यत आह—

**कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रद्द्वापरं युगम् ।**
**कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥**

कलिरिति । अज्ञानालस्यादिना यदा निरुद्यमो राजा भवति तदा कलिः स्यात् । यदा जानन्नपि नानुतिष्ठति तदा द्वापरम् । यदा कर्मानुष्ठानेऽवस्थितस्तदा त्रेता । यथाशास्त्रं पुनः कर्माण्यनुतिष्ठन्विचरति तदा कृतयुगम् । तस्माद्राज्ञा कर्मानुष्ठानपरेण भाव्यमित्यत्र तात्पर्यं न तु वास्तव्यकृतयुगाद्यपलापे ॥ ३०२ ॥

**इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।**
**चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥**

इन्द्रस्येति । इन्द्रादिवीर्यसंबन्धिनोऽस्यानुरूपं चरितं राजानुतिष्ठेत् ॥

तथा च राजा कण्टकोद्धारेण प्रतापानुरागाभ्यां संयुज्येन्द्रस्य चरितमनुतिष्ठेदित्याह—

**वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।**
**तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥**

वार्षिकानिति । ऋतुसंवत्सरपक्षाश्रयणेनेदमुच्यते । यथा श्रावणादींश्चतुरो मासानिन्द्रः सस्यादिसिद्धये वर्षत्येवमिन्द्रचरितमनुतिष्ठन् राजा स्वदेशायातसाधूनभिलषितार्थैः पूरयेत् ॥ ३०४ ॥

**अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।**
**तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥**

अष्टाविति । यथा सूर्यो मार्गशीर्षाद्यष्ट मासान् रश्मिभिः स्तोकं स्तोकं रसमीषत्तापेनादत्ते तथा राजा शास्त्रीयकरानपीडया सदा राष्ट्राद्गृह्णीयात् । यस्मादेतदस्यार्कव्रतम् ॥ ३०५ ॥

**प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।**
**तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥**

प्रविश्येति । यथा प्राणाख्यो वायुः सर्वजन्तुष्वन्तः प्रविश्य विच-

रत्येवं चारद्वारेण स्वपरमण्डलजालेषु चिकीर्षितार्थज्ञानार्थमन्तः प्रवेष्टव्यम् । यस्मादेतन्मारुतं चरितम् ॥ २०६ ॥

**यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।**
**तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥२०७॥**

यथेति । यद्यपि यमस्य शत्रुमित्रे न स्तस्तथापि तन्निन्दकार्चकयोः शत्रुमित्रयोर्यथा यमः शत्रुमित्रमरणकाले तुल्यवन्नियमयत्येवं राज्ञाऽपराधकाले प्रजाः प्रमापणीयाः । यस्मादेतदस्य याम्यं व्रतम् २०७

**वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।**
**तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ २०८ ॥**

वरुणेनेति । यो वरुणस्य रज्जुभिर्बन्धयितुमिष्टः स यथा तेनाविशङ्कितः पाशैर्बद्ध एव लक्ष्यते । तथा पापकारिणोऽविशङ्कितानेव यावन्न पारयन्ते तावच्छासयेत् । यस्मादेतदस्य वारुणं व्रतम् २०८

**परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।**
**तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥२०९**

परिपूर्णमिति । यथा पूर्णेन्दुदर्शनेन मनुष्या हर्षमुत्पादयन्त्येवममात्यादयो यस्मिन्दृष्टे तुष्टिमुपगच्छन्ति स चन्द्राचारचारी नरेन्द्रः॥

**प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।**
**दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ २१० ॥**

प्रतापयुक्त इत्यादि । पापकारिषु सदा दण्डपातेन प्रचण्डोऽनलसः स्यात्तथा प्रतिकूलामात्यहिंसनशीलो भवेत् । तदस्याग्निसंबन्धि व्रतं स्मृतम् ॥ २१० ॥

**यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।**
**तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् २११**

यथेति । यथा पृथिवी सर्वाण्युच्चावचानि स्थावरजङ्गमान्युत्कृष्टापकृष्टानि समं कृत्वा धारयते तद्वद्विद्वद्धनिकगुणवद्भूतानि तदितराणि च दीनानाथादिसर्वभूतानि रक्षणधनदानादिना सामान्येन धारयतः पृथिवीसंबन्धि व्रतं भवति ॥ २११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥३१२॥

एतैरिति । एतैरुक्तोपायैरन्यैश्चानुक्तैरपि स्वबुद्धिप्रयुक्तो राजाऽनलसः सन् स्वराष्ट्रे चौरा वसंति ये ये च परराष्ट्रे सन्तस्तद्देशमागत्य मुष्णन्ति तानुभयप्रकारान्निगृह्णीयात् । सोऽग्निर्भवति वायुश्चेत्यादिना पूर्वं सिद्धवदुक्तमग्न्यादिरूपत्वमिह तु तद्गुणत्यागेन स्फुटीकृतमित्यपुनरुक्तिः ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥

परामिति । कोशक्षयादिना प्रकृष्टामप्यापदं प्राप्तो राजा ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् । यस्मात्ते रुष्टाः सबलवाहनं सद्य एव शापाभिचाराभ्यां हन्युः । तथाहि ॥ ३१३ ॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥

यैरिति । यैर्ब्राह्मणैरभिशापेन सर्वभक्ष्योऽग्निः कृतः समुद्रश्चापेयजलश्चन्द्रश्च क्षययुक्तः पश्चात्पूरितः तान्कोपयित्वा को न नश्येत् । किंच ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यात्सृजेयुर्ये लोकपालाश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृद्धुयात् ॥३१५॥

लोकानिति । ये स्वर्गादिलोकान्परानन्यांश्च लोकपालान् सृजन्तीति संभाव्यते । देवांश्च मानुषादीन्कुर्वन्ति तान्पीडयन्कः समृद्धिं प्राप्नुयात् । अपि च ॥ ३१५ ॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ३१६

यानित्यादि । यान्ब्राह्मणान्यजनयाजनकर्तृकानाश्रित्याग्नौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन पृथिव्यादिलोका देवाश्च स्थितिं लभन्ते वेद एव च

येषामभ्युदयसाधनतया याजनाध्यापनादिना धनोपायत्वाच्च । तान् जीवितुमिच्छन्को हिंस्यात् ॥ ३१६ ॥

एवं तर्हि विद्वांसं ब्राह्मणं सेवेतेत्यत आह—

**अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।**
**प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥**

अविद्वानिति । यथाहितोऽनाहितो वाग्निर्महती देवता एवं मूर्खो विद्वांश्च प्रकृष्टा देवतेति ॥ ३१७ ॥

**श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।**
**हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥**

श्मशानेष्वित्यादि । एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु । तथापि ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ यथाग्निर्महातेजाः श्मशाने शवं दहन् कार्येऽपि नैव दुष्टो भवति । किंतु पुनरपि यज्ञेषु हूयमानोऽभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

**एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।**
**सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥३१९॥**

एवं यद्यपीति । एवं कुत्सितकर्मस्वपि सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्यास्तथा प्रकृष्टं तद्दैवतम् । स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न यथाश्रुतार्थविरोधः शङ्कनीयः ॥ ३१९ ॥

**क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।**
**ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥**

क्षत्रस्येति । क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वथा पीडानुवृत्तस्य ब्राह्मणा एव शापाभिचारादिना सम्यङ्नियन्तारः । यस्मात्क्षत्रियो ब्राह्मणात्संभूतः ब्राह्मणबाहुप्रसूतत्वात् । तथा च ॥ ३२० ॥

**अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।**
**तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥**

प्रकृष्टत्व इति । जलब्राह्मणपाषाणेभ्योऽग्निक्षत्रियशस्त्राणि जातानि [illegible] संबन्धि तेजः सर्वत्र दहनाभिभवच्छेदनार्थकं कार्यं करोति ।

स्वकारणेषु जलब्राह्मणपाषाणाख्येषु दहनाभिभवच्छेदनरूपं कार्यं न करोति ॥ ३२१ ॥

**नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।**
**ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥**

नेति । ब्राह्मणरहितक्षत्रियो वृद्धिं न याति । शान्तिकपौष्टिकव्यवहारेक्षणादिधर्मविरहात् । एवं क्षत्रियरहितोऽपि ब्राह्मणो न वर्धते । रक्षां विना यागादिकर्मानिष्पत्तेः किंतु ब्राह्मणः क्षत्रियश्च परस्परसंबद्ध एवेह लोके परलोके च धर्मार्थकाममोक्षावाप्त्या वृद्धिमेति । दण्डप्रकरणे चेयं ब्राह्मणस्तुतिर्ब्राह्मणानामेवाधिपानामपि लघुदण्डप्रयोगनियमार्था ॥ ३२२ ॥

यदा तु विशिष्टदर्शनेनाचिकित्सव्याधिना वाऽऽसन्नमृत्युर्भवति तदा—

**दत्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।**
**पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३॥**

दत्वेति । महापातकिव्यतिरिक्तविनियुक्तावशिष्टसर्वदण्डधनं ब्राह्मणेभ्यो दत्वा पुत्रे राज्यं समर्प्यासन्नमृत्युः फलातिशयप्राप्तये संग्रामे प्राणत्यागं कुर्यात् । संग्रामसंभवे त्वनशनादिनापि ॥ ३२३ ॥

**एवं चरन्सदा युक्तो राजा धर्मेषु पार्थिवः ।**
**हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत् ३२४**

एवमिति । एवमध्यायत्रयोक्तराजधर्मेषु व्यवहार्यमाणो राजा सर्वदा यत्नवान् प्रजाहितेषु सर्वान् भृत्यान्विनियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

**एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।**
**इमं कर्मविधिं विद्याक्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५॥**

एष इति । एतद्राज्ञः कर्मानुष्ठानं पारंपर्यागततया नित्यं समग्रमुक्तम् । इदानीं वैश्यशूद्रक्रमेण वक्ष्यमाणमिदं कर्मानुष्ठानं जानीयात् ॥

**वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।**
**वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे॥३२६॥**

वैश्यस्त्विति । वैश्यः कृतोपनयनपर्यन्तसंस्कारो विवाहादिकं कृत्वा जीविकायां वक्ष्यमाणायां कृष्यादि कार्ये पशुपालने च सदा समायुक्तः स्यात् । पशुरक्षणस्य वार्तात्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग्विधानम् । तथा चोत्तरश्लोकाभ्यां प्राधान्यं दर्शयति ॥३२६॥

**प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।**
**ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥**

प्रजापतिरिति । यस्माद्ब्रह्मा पशून्सृष्ट्वा रक्षणार्थं वैश्याय दत्तवानतो वैश्येन रक्षणीया इति पूर्वानुवादः । प्रजाश्च सर्वाः सृष्ट्वा ब्राह्मणाय राज्ञे च दत्तवानिति प्रसङ्गादेतदुक्तम् ॥ ३२७ ॥

**न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।**
**वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथंचन॥३२८॥**

न चेति । पशुरक्षणं न करोमीति वैश्येनेच्छा न कार्या । अतः कृष्यादिवृत्तिसंभवेऽपि वैश्येन पशुरक्षणमवश्यं करणीयम् । वैश्ये च पशुरक्षणं कुर्वत्यन्यः पशुरक्षणं न कारयितव्यः । किंच ॥३२८॥

**मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।**
**गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥३२९॥**

मणीति । मणिमुक्ताविद्रुमलोहवस्त्राणां गन्धानां कर्पूरादीनां रसानां लवणादीनामुत्तममध्यमानां देशकालापेक्षया मूल्योत्कर्षापकर्षं वैश्यो जानीयात् ॥ ३२९ ॥

**बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।**
**मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः॥३३०॥**

बीजानामिति । बीजानां सर्वेषां वपनविधिज्ञः स्यात् । इदं बीजमस्मिन् काले तत्र संहतं चोप्तं प्ररोहतीत्येवं तथेदमूषरमिदं सस्यप्रदमित्यादि क्षेत्रदोषगुणज्ञश्च स्यात् । मानोपायांश्च प्रस्थद्रोणादीन् तुलोपायांश्च सर्वान् तत्त्वतो जानीयात् । यथान्यो न वञ्चयति ॥३३०

**सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।**
**लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥३३१॥**

सारासारमिति । इदमुत्कृष्टमेतदपकृष्टमित्येकजातीनामपि द्रव्याणां विशेषं जानीयात्तथा देशानां प्राक्पश्चिमादीनां क्वचिद्बहुमूल्यं चेत्यादि देशगुणदोषौ बुद्ध्येत् । विक्रेयद्रव्याणां चेयता कालेन इयानपचय उपचयो वेति विद्यात्तथाऽस्मिन् देशे कालेऽनेन च तृणोदकयवादिना पशवो वर्धन्तेऽनेन क्षीयन्त इत्येतदपि जानीयात् ॥

**भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।**
**द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयक्रियमेव च ॥ ३३२ ॥**

भृत्यानामिति । गोपालमहीपालानामितदिमस्य देयमिति देशकालकर्मानुरूपं वेतनं जानीयात् । गौडदाक्षिणात्यादीनां च मनुष्याणां नानाप्रकारा भाषा विक्रयाद्यर्थं विद्यात्तथेदं द्रव्यमेवं स्थाप्यतेऽनेन च संयुक्तं चिरं तिष्ठतीति बुद्ध्येत तथेदं द्रव्यमस्मिन्देशे कालेन चेयता विक्रीयत इत्येतदपि जानीयात् ॥ ३३२ ॥

**धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।**
**दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥**

धर्मेणेति । धर्मेण विक्रयादिनोक्तप्रकारेण धनवृद्धौ प्रकृष्टं यत्नं कुर्यात् । हिरण्यादिदानमपेक्ष्यान्नमेव प्राणिभ्यो विशेषेण दद्यात् ॥

**विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।**
**शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥**

विप्राणामिति । शूद्रस्य पुनर्वेदविदां गृहस्थानां स्वधर्मानुष्ठानेन यशोयुक्तानां या परिचर्या सैव प्रकृष्टस्वर्गादिश्रेयोहेतुर्धर्मः ॥३३४॥

**शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।**
**ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥३३५॥**

शुचिरिति । बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतः स्वजात्यपेक्षयोत्कृष्टद्विजातिपरिचरणशीलोऽपरुषभाषी निरहंकारः प्राधान्येन ब्राह्मणादयस्तदभावे क्षत्रियवैश्यौ त्रयोऽपि स्वजातित उत्कृष्टास्तदाश्रय उत्कृष्टां जातिं प्राप्नोति ॥ ३३५ ॥

**एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।**
**आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥**
**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥**

एष इति । एष वर्णानामनापदि चतुर्णामपि कर्मविधिर्धर्म उक्तः आपद्यपि यस्तेषां धर्मः संकीर्णश्चेदं च क्रमेण शृणुत ॥ ३३६ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां नवमोऽध्यायः ९

---

## अथ दशमोऽध्यायः ।

**अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।**
**प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥**

अधीयीरन्निति । वैश्यशूद्रधर्मानन्तरं संकीर्णानां च संभवमिति तस्मिन्वाच्ये वर्णेभ्य एव संकीर्णानामुत्पत्तेः वर्णानुवादार्थं त्रैवर्णिकस्य प्रधानधर्ममध्ययनं ब्राह्मणस्य चाध्यापनमनुवदति । ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्ठातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान्न क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणः पुनस्त्वेषामित्यनेनैव क्षत्रियवैश्ययोरध्यापननिषेधसिद्धौ नेतराविति पुनर्निषेधवचनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । किंच ॥ १ ॥

**सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि ।**
**प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥**

सर्वेषामिति । सर्वेषां वर्णानां जीवनोपायं यथाशास्त्रं ब्राह्मणो जानीयात्तेभ्यश्चोपदिशेत्स्वयं च यथोक्तवन्नियममनुतिष्ठेत् । अत्रानुवादः ॥२॥

**वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।**
**संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥**

वैशेष्यादिति । जात्युत्कर्षात्प्रकृतिः कारणं हिरण्यगर्भोत्तमाङ्गरूपकारणोत्कर्षान्नियम्यतेऽनेनेति तथा वेदाध्ययनाध्यापनव्याख्यानादियुक्तसातिशयवेदधारणात् । अत एव ब्राह्मणश्चैव धारणादिति

सातिशयवेदधारणेनैव ब्राह्मणोत्कर्ष उक्तः। गोविन्दराजस्तु स्नातकव्रतानां धारणादिति व्याख्यातवान् तन्न। क्षत्रियादिसाधारणादिस्थिरस्योपनयनाख्यस्य क्षत्रियाद्यपेक्षयाधानस्यैव विधाने विरोधाद्वर्णानामध्यापनवृत्त्युपदेशयोर्ब्राह्मण एवेश्वरः॥ ३॥

**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।**
**चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ ४॥**

ब्राह्मण इति। ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजास्तेषामुपनयनविधानात्। शूद्रः पुनश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः। उपनयनाभावात्। पञ्चमः पुनर्वर्णो नास्ति। संकीर्णजातीनां त्वश्वतरवन्मातापितृजातिव्यतिरिक्तजात्यन्तरत्वम्। अयं च वर्णत्वोपदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः॥ ४॥

**सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।**
**आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥ ५॥**

सर्ववर्णेष्विति। ब्राह्मणादिषु वर्णेषु चतुर्ष्वपि समानजातीयासु यथाशास्त्रं परिणीतास्वक्षतयोनिष्वानुलोम्येन ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यां क्षत्रियेण क्षत्रियायामित्यनेनानुक्रमेण ये जातास्ते मातापित्रोर्जात्या युक्तास्तज्जातीया एव ज्ञातव्याः। आनुलोम्यग्रहणं चात्र मन्दोपयुक्तमुत्तरश्लोक उपयोक्ष्यते। गवाश्वादिवदवयवविशेषस्य ब्राह्मणजात्यभिव्यञ्जकाभावादेतद्ब्राह्मणादि लक्षणमुक्तम्। अत्र च पत्नीग्रहणादन्यपत्नीजनितानां न ब्राह्मणादिजातित्वम्। तथा च देवलः। द्वितीयेन तु यः पित्रा सवर्णायां प्रजायते। अवावट इति ख्यातः शूद्रधर्मा स जातितः॥ व्रतहीना न संस्कार्याः स्वतन्त्वास्वपि ये सुताः। उत्पादिताः सवर्णेन व्रात्या इव बहिष्कृताः॥ व्यासः। येतु जाताः समानासु संस्कार्याः स्युरतोऽन्यथा। याज्ञवल्क्योऽपि। सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातय इत्यभिधाय विन्नास्वेष विधिः स्मृत इति ब्रुवाणः प्रत्युत्पादितस्यैव ब्राह्मणादिजातित्वं निश्चिकाय॥ ५॥

**स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।**
**सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥ ६॥**

स्त्रीष्विति। आनुलोम्येनाव्यवहितवर्णजातीयासु भार्यासु द्विजातिभिर्ये उत्पादिताः पुत्राः। यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां क्षत्रियेण वैश्यायां

तान्मातुर्हीनजातीयत्वदोषाद्गर्हितान्पितृसदृशान्न तु पितृसजातीयान्मन्वादय आहुः । पितृसदृशग्रहणान्मातृजातेरुत्कृष्टाः पितृजातितो निकृष्टा ज्ञेयाः । एतेषां च नामानि मूर्धाभिषिक्तमाहिष्यकरणाख्यानि याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तानि वृत्तयश्चैषां लक्षणेनोक्ताः । हस्त्यश्वरथशिक्षा अस्त्रधारणं च मूर्धाभिषिक्तानां नृत्यगीतनक्षत्रजीवनं सस्यरक्षा च माहिष्याणां द्विजातिशुश्रूषा धनधान्याध्यक्षता राजसेवांऽतःपुररक्षा च पारशवोग्रकरणानामिति ॥ ६ ॥

**अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।**
**द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥**

अनन्तरास्विति । एवं पारम्पर्यागततया नित्यो विधिरनन्तरभार्योत्पन्नानामुक्तः एकेन द्वाभ्यां च व्यवहितासूत्पन्नानां यथा ब्राह्मणेन वैश्यायां क्षत्रियेण शूद्रायां ब्राह्मणेन शूद्रायामिमं वक्ष्यमाणं धर्मादनपेतं विधिं जानीयात् ॥ ७ ॥

**ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।**
**निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥**

ब्राह्मणादिति । कन्याग्रहणादत्रोढायामित्यध्याहार्यम् । विन्नास्वेष विधिः स्मृत इति याज्ञवल्क्येन स्फुटीकृतत्वाच्च । ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामूढायामम्बष्ठाख्यो जायते शूद्रकन्यायामूढायां निषाद उत्पद्यते । यतः संज्ञान्तरेण पारशवश्चोच्यते ॥ ८ ॥

**क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।**
**क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥**

क्षत्रियादिति । क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामूढायां क्रूरचेष्टः क्रूरकर्मरतिश्च क्षत्रशूद्रस्वभाव उग्राख्यः पुत्रो जायते ॥ ९ ॥

**विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।**
**वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥**

विप्रस्येति । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादित्रयस्त्रीषु क्षत्रियस्य वैश्यादिवर्णस्त्रियोर्वैश्यस्य च शूद्रायां वर्णत्रयाणामेतेषु षट् पुत्राः सवर्णपुत्रकार्यापेक्षयापसदा अवसन्ना निकृष्टाः स्युः ॥ १० ॥

एवमनुलोमानुक्त्वा प्रतिलोमानाह—

**क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।**
**वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥**

क्षत्रियादिति । अत्र विवाहासंभवात्कन्याग्रहणं स्त्रीमात्रप्रदर्शनार्थम् । ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जात्या सूतनामा संजायते । वैश्याद्यथाक्रमं क्षत्रियाब्राह्मण्योर्मागधवैदेहाख्यौ पुत्रौ भवतः । एषां च वृत्तयो मनुनैवाभिधास्यन्ते ॥ ११ ॥

**शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।**
**वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥**

शूद्रादिति । शूद्राद्वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीषु क्रमेणायोगवः क्षत्ता नृणामधमश्चण्डालश्च वर्णानां संकरो येषु जनयितव्येषु ते वर्णसंकरा जायन्ते ॥ १२ ॥

**एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ।**
**क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥**

एकान्तर इति । एकान्तरेऽपि वर्णे ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठः क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामुग्रः एतावानुलोम्येन यथास्पर्शाद्यर्हौ तद्वदेकान्तरे प्रतिलोमजननेऽपि शूद्रात्क्षत्रियायां क्षत्ता वैश्याद्ब्राह्मण्यां वैदेहः । एतावपि स्पर्शादियोग्यौ विज्ञेयौ । एकान्तरोत्पन्नयोः स्पर्शाद्यनुज्ञानादनन्तरोत्पन्नानां स्पर्शादियोग्यत्वं सिद्धं भवति । अतश्चण्डाल एवैकः प्रतिलोमतः स्पर्शादौ निरस्यते ॥ १३ ॥

**पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।**
**तानन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥**

पुत्रा इति । मातुर्दोषादिति तूपन्यसेत् । अनन्तरग्रहणमनन्तरवच्चैकान्तरव्यन्तरजातिस्त्रीष्वानुलोम्येनोत्पन्नाः पूर्वमुक्ताः पुत्रास्तान् हीनजातिमातृदोषान्मातृदोषव्यपदेश्यानाचक्षते । मातृपितृव्यतिरिक्तसंकीर्णजातित्वेऽप्येषां मातृजातिव्यपदेशकथनं मातृजातिसंस्कारादिधर्मप्राप्त्यर्थम् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः १५

ब्राह्मणादिति । क्षत्रियेण शूद्रायामुत्पन्नोग्रा । उग्रा चासौ कन्या चेत्युग्रकन्या तस्यां ब्राह्मणादावृतनामा जायते । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पन्नाम्बष्ठा तस्यां ब्राह्मणादाभीराख्यो जायते । शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्ना आयोगवी तस्यां ब्राह्मणाद्धिग्वणो जायते ॥ १५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

आयोगवश्चेति । आयोगवः क्षत्ता चण्डालश्च मनुष्याणामधमा इत्येते त्रयो व्युत्क्रमेण वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीषु पुत्रकार्यादपगतास्त्रयः शूद्रा जायन्ते । पुत्रकार्यक्षमत्वप्रतिपादनार्थमुक्तानामप्येषां पुनर्वचनम् । एवमुत्तरश्लोकोक्तानामपि ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

वैश्यादिति । क्षत्रियाब्राह्मण्योर्मागधवैदेहौ क्षत्रियाब्राह्मण्यां सूत इत्येवं प्रातिलोम्येनापरेऽपि त्रयः पुत्रकार्यादपसदा जायन्ते ॥१७॥

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः॥१८॥

जात इति । निषादाच्छूद्रायां जातो जात्या पुक्कसो भवति । निषाद्यां पुनः शूद्राद्यो जातः स कुक्कुटकनामा स्मृतः ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

क्षत्तुरिति । शूद्रेण वैश्यायां जातः क्षत्ता । क्षत्रियेण शूद्रायां जातोग्रा तेन तस्यां जातः श्वपाक इत्युच्यते । वैदेहकेनाम्बष्ठ्यां ब्राह्मणेन वैश्याजातायां वेण इति कथ्यते ॥ १९ ॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् २०

द्विजातय इति । द्विजातयः सवर्णासु स्त्रीषु यान् पुत्रानुत्पादयन्ते ते चेदुपनयनाख्यव्रतहीना भवन्ति तदा तानकृतोपनयनान्व्रात्येत्यनया संज्ञया व्यपदिशेत् अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते इत्युक्तमपि व्रात्यलक्षणं प्रतिलोमजपुत्रवदस्याप्युपकाराक्षमपुत्रत्वप्रदर्शनार्थमस्मिन्संकीर्णप्रकरणेऽनूदितम् ॥ २० ॥

**व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।**
**आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥**

व्रात्यादिति । व्रात्याद्ब्राह्मणात्सवर्णास्वित्यनुवृत्तेर्ब्राह्मण्यां पापस्वभावो भूर्जकण्टको जायते । तथा आवन्त्यवाटधानपुष्पधशैखा जायन्ते । एकस्य चैतानि देशभेदप्रसिद्धानि नामानि ॥ २१ ॥

**झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च ।**
**नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥**

झल्लो मल्लश्चेति । क्षत्रियाद्व्रात्यात्सवर्णायां झल्लमल्लनिच्छिविनटकरणखसद्रविडाख्या जायन्ते । एतान्यप्येकस्यैव नामानि ॥२२॥

**वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।**
**कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥**

वैश्यात्त्विति । वैश्यात्पुनर्व्रात्यात्सवर्णायां सुधन्वाचार्यकारुषविजन्ममैत्रसात्वताख्या जायन्ते । एकस्य चैतान्यपि नामानि ॥२३॥

**व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।**
**स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥**

व्यभिचारेणेति । ब्राह्मणादिवर्णानामन्योन्यस्त्रीगमनेन सगोत्रादिविवाहेनोपनयनरूपस्वकर्मत्यागेन वर्णसंकरो नाम जायते । अतो युक्तमस्मिन्प्रकरणे व्रात्यानामभिधानम् ॥ २४ ॥

**संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।**
**अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥**

संकीर्णेति । ये संकीर्णयोनयः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च परस्परसंबन्धाज्जायन्ते तान्निरशेषेण वक्ष्यामि ॥ २५ ॥

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

सूत इति । एते यदुक्तलक्षणाः सूतादय उत्तरार्धमनूद्यन्ते ॥२६॥

एते षट् सदृशान्वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

एत इति । एते पूर्वोक्ताः षट् प्रतिलोमजाः स्वयोनिषु सुतोत्पत्तिं कुर्वन्ति । यथा शूद्रेण वैश्यायां जात आयोगवः । आयोगव्यामेव मातृजातौ वैश्यायां प्रवरासु क्षत्रियाब्राह्मणीयोनिषु चकारादपकृष्टायामपि शूद्रजातौ सर्वत्र सदृशान् वर्णान् जनयन्ति । सदृशत्वं च न पित्रपेक्षया किंतु मातृजात्यादिषु चातुर्वर्ण्यस्त्रीष्वेव पितृतोऽधिकगर्हितपुत्रोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्तत्सदृशान् पितृतोऽधिकगर्हितान् स्वजातावपि जनयन्तीत्येतावदेवाप्राप्तत्वादनेन विधीयते । किंतु जघन्यवर्णेनोत्तमवर्णस्त्रीषु जनितत्वात्क्रियादुष्टा आयोगवाद्याः प्रतिलोमजाः क्रियादुष्टाभ्यां च मातापितृभ्यां तुल्याभ्यामपि जनिते आयोगवादिपुत्रे ब्रह्महन्त्वनन्तरजनितो ब्रह्महन्तृमातापितृजनितवदधिकदुष्ट एव न्याय्यः । शुद्धब्राह्मणादिजातीयेन शुद्धब्राह्मण्यादिसजातीयायां जनितो न तु क्रियादुष्टोभयजनितोऽपि ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् २८

यथेति । यथा त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियवैश्यशूद्राणां मध्याद्द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रियवैश्ययोर्गमने ब्राह्मणस्यानुलोम्याद्द्विज उत्पद्यते सजातीयायां च द्विजो जायते । एवं बाह्येष्वपि क्षत्रियवैश्याभ्यां वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियाब्राह्मण्योर्जातेषूत्कर्षापक्रमो भवति । शूद्रजातप्रतिलोमापेक्षया द्विजाद्युत्पन्नप्रतिलोमप्राशस्त्यार्थमिदम् । मेधातिथिस्तु द्विजत्वप्रतिपादकमेतदेषां वचनमुपनयनार्थमित्याह तन्न । प्रतिलोमजास्तु धर्महीना इति गौतमेन संस्कारनिषेधात् ॥ २८ ॥

ते चापि बाह्यान् सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

ते चापीति । ते चायोगवादयः षट् परस्परजातीयासु भार्यासु सुबहूनानुलोम्येऽप्यधिकदुष्टान् सक्रियावहिर्भूतान् जनयन्ति । तद्यथा । आयोगवः क्षत्तृजायायामात्मनो हीनतरं जनयति तथा क्षत्तायोगव्यामात्मनो हीनतरमुत्पादयति । एवमन्येष्वपि प्रतिलोमेषु द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

**यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।**
**तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥**

यथैवेति । यथा ब्राह्मण्यां शूद्रोऽपकृष्टं चण्डालाख्यं प्राणिनं प्रसूयते जनयत्येवं बाह्यश्चण्डालादिवर्णचतुष्टये चण्डालादिभ्योऽप्यपकृष्टं पुत्रं प्रसूयते ॥ ३० ॥

एतदेव विस्तारयति—

**प्रतिकूलं वर्तमानबाह्याबाह्यतरान्पुनः ।**
**हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥**

प्रतिकूलमिति । अत्र मेधातिथिगोविन्दराजयोर्व्याख्यानं चातुर्वर्ण्यबाह्याश्चण्डालक्षत्रायोगवाः शूद्रप्रभवास्त्रयश्चातुर्वर्ण्ये गच्छन्त आत्मनो हीनतरान् परस्परापेक्षयापकृष्टोत्कृष्टपञ्चदशप्रभवत्वाद्वर्णान्संपादयन्ति । तद्यथा चण्डालः शूद्रायामात्मनो हीनतरं वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीजातेभ्य उत्कृष्टं जनयत्येवं वैश्यायां ततोऽप्यपसदं क्षत्रियायां ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टं जनयति ततोऽपसदं क्षत्रियायां ब्राह्मणीजातादुत्कृष्टं ततोऽपि हीनं ब्राह्मण्यां जनयति । एवं क्षत्रायोगवावपि चातुर्वर्ण्ये चतुरश्चतुरो जनयतः । इत्येते शूद्रेतरेभ्यश्चण्डालक्षत्रायोगवेभ्यश्चातुर्वर्ण्यद्वादशप्रभेदा उत्पद्यन्ते । आत्मना च चण्डालक्षत्रायोगवास्त्रय इत्येवं शूद्रप्रभवाः पञ्चदश उत्पद्यन्ते । एवं वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाः प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्ति । एवं षष्टिश्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिप्रभेदा भवन्ति । ते तु परस्परगमनेन नानावर्णान् जनयन्तीति । नैतन्मनोहरम् । पूर्वश्लोके षण्णां प्रतिलोमजानां प्रकृतत्वात्तद्विस्तारकथनत्वाच्चास्य । अत्रापि श्लोके प्रतिकूलं वर्तमाना इत्युपादानात्प्रतिलोममात्रविषयोऽयं श्लोको नानुलोमजविषयः । तथा च वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाश्च पञ्चदश संभवन्त्येवं षष्टिरिति न सं-

गच्छतें । न च संभवमात्रेणैवेयं षष्टिरुक्ता । न दुष्टतया शूद्रप्रभवायोगवक्षत्तृचण्डाला एव चातुर्वर्ण्यसंतानोपेताः पञ्चदश गर्हिता इति वाच्यम् । यतो वैश्यक्षत्रियाभ्यामपि प्रतिलोमत उत्पादितानां त्रयाणां हीनत्वात्तैरपि चातुर्वर्ण्ये जनितानां गर्हितस्य तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयत इति मनुनैवानन्तरं स्फुटमुक्तत्वात् । युवाभ्यामपि तथैव व्याख्यातत्वाच्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिरिति सर्वं नैव प्रकृतम् । नहि संकीर्णप्रकरणे शुद्धचातुर्वर्ण्यगणनोचिता । किंच वर्णान् पञ्चदश प्रसूयन्त इति श्रूयमाणद्वादशजनानुक्त्वा ते चात्मना चण्डालक्षत्रायोगवास्त्रय इत्येवं शूद्रप्रभवाः पञ्चदशेति न युक्तम् । अपि-चात्मना सह पञ्चदश संपादयन्तीति न संगच्छते । असंपाद्य द्वादशात्मनः पञ्चदश संपद्यन्त इति च व्याख्यानेऽध्याहार एव दोषः तस्मादेवं व्याख्यायते । प्रतिकूलं वर्तमानाः प्रतिलोमजाः बाह्या द्विजप्रतिलोमजेभ्यो निकृष्टत्वात् । शूद्रप्रभवायोगवक्षत्तृचण्डालास्त्रयः पूर्वश्लोकादनुवर्तमाने चातुर्वर्ण्ये स्वजातावेते षट् सदृशानित्यत्र सजात्युत्पन्नस्य पितृतो गर्हितत्वाभिधानादात्मापेक्षया बाह्यान्तरान् प्रत्येकं पञ्चदश पुत्रान् जनयन्ति । तद्यथा आयोगवश्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु चायोगव्यामात्मनो निकृष्टान् पञ्च पुत्रान् जनयन्ति । एवं क्षत्तृचाण्डालावपि प्रत्येकं पञ्च पुत्रान् जनयत इत्थं बाह्यास्त्रयः पञ्चदश पुत्रान् जनयन्ति । तथानुलोमजेभ्यो हीना वैश्यक्षत्रियप्रभवा मागधवैदेहसुता आत्मापेक्षया हीनान् पूर्ववच्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु सजातौ प्रत्येकं पञ्च पुत्रान् जनयन्तो हीना अपि त्रयः पञ्चदशैव पुत्रान् जनयन्ति । एवं त्रिंशदेते भवन्ति । अथवा बाह्यशब्दो हीनशब्दश्च षण्ढेव प्रतिलोमजानाह । अत्र बाह्याश्चण्डालक्षत्रायोगववैदेहमागधसूताः षड्यथोक्तमुत्कर्षात्प्रातिलोम्येन स्त्रीषु वर्तमाना बाह्येतरान् पञ्चदशैव पुत्रान् जनयन्ति । तद्यथा । चण्डालाः क्षत्रियादिषु पञ्चसु स्त्रीषु क्षत्तायोगव्यादिषु चतसृषु आयोगवो वैदेह्यादितिसृषु वैदेहो मागधीसूत्योः मागधः सूत्यां सूतस्तु प्रतिलोमाभावात्प्रातिलोम्येन पञ्चदशैव पुत्रान् जनयति पुनरिति । निर्देशाद्धीनाः सूतादयश्चण्डालान्ताः षड्यथोत्तरमपकर्षादानुलोम्येनापि प्रतिलोमोक्तरीत्या स्वापेक्षया हीनान् पञ्चदशैव पुत्रान् जनयन्ति । एवं त्रिंशदेते भवन्ति ॥३१॥

**प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।**
**सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥**

प्रसाधनेति । केशचरणादिप्रसाधनाङ्गसंवाहनादि दासकर्मजीवनं पाशवन्धनेन मृगादिवधाख्यवृत्त्यन्तरजीवनं सैरिन्ध्रनामानं मुखबाहूरूपज्जानामिति श्लोके वक्ष्यमाणो दस्युरायोगवस्त्रीजातौ शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्नायां जनयति तच्चास्य मृगादिमारणं देवपित्रौषधार्थं वेदितव्यम् ॥ ३२ ॥

**मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।**
**नृन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥**

मैत्रेयकमिति । वैश्याद्ब्राह्मण्यां जातो वैदेहः प्रकृतायामायोगव्यां मैत्रेयाख्यं मधुरभाषिणं जनयति । यः प्रातर्घण्टामाहत्य राजप्रभृतीन्सततं वृत्त्यर्थं स्तौति ॥ ३३ ॥

**निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।**
**कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥**

निषाद इति । ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषादः प्रागुक्तायामायोगव्यां मार्गवं दासापरनामानं नौव्यवहारजीविनं जनयति । आर्यावर्तदेशवासिनः कैवर्तशब्देन यं कीर्तयन्ति ॥ ३४ ॥

**मृतवस्त्रभृत्सु नारीगर्हितान्नाशनासु च ।**
**भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः॥३५॥**

मृतेति । सैरिन्ध्रमैत्रेयमार्गवा हीनजातीयास्त्रयः मृतवस्त्रपरिधानासु क्रूरासूच्छिष्टादिभक्तान्नाशनायोगवीषु पितृभेदाद्भिन्ना भवन्ति ॥

**कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।**
**वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥**

कारावर इति । वैदेह्यामेव जायत इत्युत्तरत्र श्रवणात् । अत्राप्याशंकायां सैव संबद्ध्यते । निषादाद्वैदेह्यां जातः कारावराख्यश्चर्मच्छेदनकारी जायते । अत एव औशनसे कारावाराणां चर्मच्छेदनाचरणमेव वृत्तित्वेनोक्तम् । वैदेहकसैरिन्ध्रमेदाख्यौ ग्रामबहिर्वा-

सिनौ । अन्तरानिर्देशाद्वैदेहकेन च वैदेह्यां जातस्य गर्हितवैदेहक-स्याप्युचितत्वात् । कारावरनिषादजात्योश्चात्र श्लोके सन्निधानात्कारा-वरनिषादस्त्रियोरेव क्रमेण जायते ॥ ३६ ॥

**चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।**
**आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥**

चण्डालादिति । वैदेह्यां चण्डालात्पाण्डुसोपाकाख्यो वेणुव्यव-हारजीवी जायते । निषादेन च वैदेह्यामेवाहिण्डिकाख्यो जायते । अस्य च बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डिकानामित्यौशनसे वृ-त्तिरित्युक्ता । समानमातापितृकत्वेऽपि कारावराहिण्डिकयोर्वृत्तिभे-दसंश्रवणाद्व्यपदेशभेदः ॥ ३७ ॥

**चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।**
**पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥**

चण्डालेनेति । शूद्रायां निषादेन जातायां पुक्कस्यां चण्डालेन जातः सोपाकाख्यः पापात्मा सर्वदा साधुभिर्निन्दितो मारणोचितापराधस्य मूलभूतस्य व्यसनं राजादेशेन मारणं तेन वृत्तिर्यस्य स जायते॥

**निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।**
**श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥**

निषादस्त्रीति । निषादी चण्डालादन्त्यावसायिसंज्ञं चण्डालादि-भ्योऽपि दुष्टतमं श्मशानवासिनं तद्वृत्तिं च जनयति ॥ ३९ ॥

**संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।**
**प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः४०**

संकर इति । वर्णसंकरविषये एता जातयो यस्येयं जनयित्री अयं जनकः स एवं जातयः पितृमातृकथनपूर्वकं दर्शिताः । तथा गूढाः प्रकटा वा तज्जात्युदितकर्मानुष्ठानेन ज्ञातव्याः ॥ ४० ॥

**सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।**
**शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥४१॥**

सजातीति । द्विजातिसमानजातीयासु जाताः तथानुलोम्येनोत्पन्नाः

ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्ययोः क्षत्रियेण वैश्यायामेवं षट् पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः । तानानन्तरजास्त्विति यदुक्तं तत्तज्जातिव्यपदेशार्थं संस्कारार्थमिति कस्यचिद्भ्रमः स्यादत एषां द्विजातिसंस्कारार्थमिदं वचनम् । ये पुनरन्ये द्विजात्युत्पन्ना अपि सूतादयः प्रतिलोमजास्ते शूद्रधर्माणो नैषामुपनयनमस्ति ॥ ४१ ॥

**तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगेयुगे ।**
**उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥**

तप इति । सजातिजानन्तरजास्तपःप्रभावेण विश्वामित्रवद्बीजप्रभावेण ऋष्यशृङ्गादिवत्कृतत्रेतादौ मनुष्यमध्ये जात्युत्कर्षं गच्छन्ति अपकर्षं च वक्ष्यमाणहेतुना यान्ति ॥ ४२ ॥

**शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।**
**वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥**

शनकैरिति । इमा वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातय उपनयनादिक्रियालोपेन ब्राह्मणानां च याजनाध्यापनप्रायश्चित्ताद्यर्थं दर्शनाभावेन शनैः शनैर्लोके शूद्रतां प्राप्ताः ॥ ४३ ॥

**पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।**
**पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥**

पौण्ड्रेति । पौण्ड्रादिदेशोद्भवाः क्षत्रियाः संतः क्रियालोपादिना शूद्रत्वमापन्नाः ॥ ४४ ॥

**मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।**
**म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥**

मुखेति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां क्रियालोपादिना या जातयो बाह्या जाता म्लेच्छभाषायुक्ता आर्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः ॥ ४५ ॥

**ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ।**
**ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥**

ये इति । ये द्विजानामानुलोम्येनोत्पन्नाः षडेतेऽपसदाः स्मृता इति। तेषामपि पितृतो जघन्यत्वेनापसदशब्देन प्रागभिधानादपध्वंसजास्ते द्विजात्युपकारकैरेव निन्दितैर्वक्ष्यमाणैः कर्मभिर्जीवेयुः ॥ ४६ ॥

**सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् ।**
**वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥४७॥**

सूतानामिति । सूतानामश्वदमनयोजनादि रथसारथ्यं जीवनार्थम् । अम्बष्ठानां कायशल्यादिचिकित्सा वैदेहकानामन्तःपुरं मागधानां स्थलपथवणिज्या ॥ ४७ ॥

**मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।**
**मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥**

मत्स्यघात इति । निषादानामुक्तानां मत्स्यवधः आयोगवस्य काष्ठतक्षणं मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुमारणं चुञ्चुर्मद्गुश्च वैदेहकवन्दिस्त्रियोर्ब्राह्मणेन जातौ बौधायनेनोक्तौ वोढव्यौ । वन्दिस्त्री च क्षत्रियेण शूद्रायां जाता सोत्रैव ग्राह्या ॥ ४८ ॥

**क्षत्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।**
**धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥४९॥**

क्षत्रुग्रेति । क्षत्रादीनां बिलनिवासिगोधादिवधबन्धनं धिग्वणानां तद्विक्रयजीवनं च धिग्वणानामित्यौशनसदर्शनात् । अत एव कारावरेभ्य एषां वृत्तिच्छेदः । वेणानां कांस्यमुरजादिवाद्यभाण्डवादनम्

**चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।**
**वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥**

चैत्येति । ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्रुमः तन्मूले श्मशानपर्वतवनसमीपेषु चामी प्रकाशकाः स्वकर्मभिर्जीवन्तो वसेयुः ॥५० ॥

**चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।**
**अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥**

**वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।**
**कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥**

चण्डालेति । वासांसीति । प्रतिश्रयो निवासः चण्डालश्वपाकानां तु ग्रामाद्बहिर्निवासः स्यात् । पात्ररहिताः कर्तव्या यत्र लोहादिपात्रे तैर्भुक्तं तत्संस्कृत्यापि न व्यवहर्तव्यं धनं चैषां कुक्कुरखरं न वृषभादि वासांसि च शववस्त्राणि भिन्नशरावादिषु च भोजनं लौहवलयादि चालङ्करणं सर्वदा च भ्रमणशीलत्वम् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

**न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।**
**व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥**

न तैरिति । धर्मानुष्ठानसमये चण्डालश्वपाकैः सह दर्शनादिव्यवहारं न कुर्यात् । तेषां च ऋणदानग्रहणादिव्यवहारो विवाहश्च समानजातीयैः सहान्योन्यं स्यात् ॥ ५३ ॥

**अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।**
**रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥**

अन्नमेषामिति । अन्नमेषां परायत्तं कार्यं साक्षादेभ्यो न देयं किंतु प्रेष्यैर्भिन्नपात्रे दातव्यम् । ते च रात्रौ ग्रामनगरयोर्न पर्यटेयुः ॥

**दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।**
**अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥**

दिवेति । दिवा ग्रामादौ क्रयविक्रयार्थं राजाज्ञया चिह्नाङ्किताः संतः पर्यटेयुः । अनाथं च शवं ग्रामान्निर्हरेयुरिति शास्त्रमर्यादा ५५

**वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।**
**वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥**

वध्यांश्चेति । वध्यांश्च शास्त्रानतिक्रमेण शूलारोपणादिना सर्वदा राजाज्ञया हन्युः तद्वस्त्रशय्यालङ्कारांश्च गृह्णीयुः ॥ ५६ ॥

**वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।**
**आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥**

वर्णापेतमिति । वर्णत्वादपेतं मनुष्यं संकरजातं लोकतस्तथात्वेनाविज्ञातं अत एवार्यसदृशं वस्तुतः पुनरनार्यं निन्दितानुरूपाभिश्चेष्टाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्निश्चिनुयात् ॥ ५७ ॥

**अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।**
**पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥**

अनार्यतेति । निष्ठुरत्वपरुषभाषित्वहिंस्रत्वविहिताऽननुष्ठातृत्वानि संकरजातित्वं यस्मिँल्लोके प्रकटीकुर्वन्ति । यस्मात् ॥ ५८ ॥

**पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।**
**न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥५९॥**

पित्र्यं वेति । असौ संकरजातो दुष्टयोनिः पितृसंबन्धि दुष्टस्वभावत्वं सेवते मातृसंबन्धि वोभयसंबन्धि वा न कदाचिदसावात्मकारणं गोपयितुं शक्नोति ॥ ५९ ॥

**कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः ।**
**संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥**

कुल इति । महाकुलप्रसूतस्यापि यस्य योनिसंकरः प्रच्छन्नो भवति स मनुष्यो जनकस्वभावं स्तोकं प्रचुरं वा सेवत एव ॥ ६० ॥

**यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।**
**राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥**

यत्रेति । यस्मिन्राष्ट्रे एते वर्णसंकरा वर्णानां दूषका जायन्ते तद्राष्ट्रं राष्ट्रवासिजनैः सह शीघ्रमेव नाशमेति । तस्माद्राज्ञा वर्णानां संकरो निरसनीयः ॥ ६१ ॥

**ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।**
**स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम्॥६२॥**

ब्राह्मणार्थ इति । गोब्राह्मणस्त्रीबालानामन्यतरस्यापि परित्राणार्थं दुष्टप्रयोजनानपेक्षः प्राणत्यागः प्रतिलोमजानां स्वर्गप्राप्तिकारणम् ६२

**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।**
**एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥**

अहिंसेत्यादि । हिंसात्यागो यथार्थाभिधानमन्यायेन परधनस्याग्रहणं मृज्जलादिना विशुद्धिरिन्द्रियसंयम इत्येवं धर्मं संक्षेपतश्चातुर्वर्ण्यानुष्ठेयं मनुराह । प्रकरणसामर्थ्यात्संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितव्यः

इदानीं सर्ववर्णेषु तुल्यास्वित्युक्तलक्षणव्यतिरेकेणापि ब्राह्मण्यादिदर्शयितुमाह—

**शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते**
**अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥**

शूद्रायामिति । शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवाख्यो वर्णः प्रजायत इति सामर्थ्यात्स्त्रीरूपः स्यात् । सा यदि स्त्री ब्राह्मणेनोढा सती प्रसूयते सा दुहितरमेव जनयति साप्यन्येन ब्राह्मणेनोढा सती दुहितरमेव जनयति साप्येवमेव सप्तमे युगे जन्मनि स पारशवाख्यो वर्णो बीजप्राधान्याद्ब्राह्मण्यं प्राप्नोति । आसप्तमाद्युगादित्यभिधानात्सप्तमे जन्मनि ब्राह्मणः संपद्यत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।**
**क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥**

शूद्र इति । एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रो ब्राह्मणतां याति ब्राह्मणः शूद्रतामेति । ब्राह्मणोऽत्र ब्राह्मणाच्छूद्रायामुत्पन्नः पारशवो ज्ञेयः स यदि पुमान्केवलशूद्रोद्वाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेनापरं पुमांसमेव जनयति सोऽप्येवं तदा स ब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां क्रमेण प्राप्नोति । एवं क्षत्रियाद्वैश्याच्च शूद्रायां जातस्योत्कर्षापकर्षौ जानीयात् । किंतु जातेरपकर्षाज्जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः । सप्तमे पञ्चमेऽपि वा इति याज्ञवल्क्यदर्शनाच्च । क्षत्रियाजातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धव्यौ । वैश्याजातस्य ततोऽप्युत्कर्षात् । याज्ञवल्क्येनापिशब्देन पक्षान्तरस्य संगृहीतत्वाद्वृद्धव्याख्यानुरोधाच्च तृतीयजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ क्षत्रियायां जातस्य तृतीये क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव ॥ ६५ ॥

**अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।**
**ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥**

अनार्यायामिति । एकः शूद्रायां यदृच्छया अनूढायामपि ब्राह्मणादुत्पन्नोऽन्यश्च ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातः द्वयोर्मध्ये कचोत्पन्नस्य श्रेयस्त्वमिति चेत्संशयः स्यात्संशयबीजं च यथा बीजोत्कर्षात् । ब्राह्मणाच्छूद्रायां जातः साधुः शूद्रः एवं क्षेत्रोत्कर्षाद्ब्राह्मण्यामपि शूद्रेण जातः किमिति साधुः शूद्रो न स्यात् ॥ ६६ ॥

तत्र निर्णयमाह—

**जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।**
**जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥६७॥**

जात इति । शूद्रायां स्त्रियां ब्राह्मणाज्जातः स्मृत्युक्तैः पाकयज्ञादिभिर्गुणैरनुष्ठीयमानैर्युक्तः प्रशस्यो भवति । शूद्रेण पुनर्ब्राह्मण्यां जातः प्रतिलोमत उत्पन्नतया शूद्रधर्मेष्वप्यनधिकारादप्रशस्य इति निश्चयः । न्यायप्राप्तोऽप्यर्थो वचनप्रामाण्यादत्र बोध्यते ॥ ६७ ॥

**तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।**
**वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥**

तावुभाविति । पारशवचण्डालौ द्वावप्यनुपनेयाविति व्यवस्थिता शास्त्रमर्यादा । पूर्वः पारशवः शूद्राजातत्वेन जातिवैगुण्यादनुपनेयः प्रातिलोम्येन शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातत्वादित्युत्तरत्वेनानुपनेयः ॥६८॥

**सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा ।**
**तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥**

सुबीजमिति । यथा शोभनबीजं शोभनक्षेत्रे जातं समृद्धं भवत्येवं द्विजातेर्द्विजातिस्त्रियां सवर्णायामानुलोम्येन च क्षत्रियावैश्ययोर्जातः सवर्णसंस्कारं क्षत्रियवैश्यसंस्कारं च सर्वं श्रौतं स्मार्तं चार्हति ॥

न च पारशवचण्डालाविति पूर्वोक्तदार्ढ्यार्थमेतद्दर्शनान्तराण्युक्तस्यैवार्थस्य स्थैर्यार्थमाह—

**बीजमेके प्रशंसंति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।**
**बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥**

बीजमिति । केचित्पण्डिता बीजं स्तुवन्ति हरिण्याद्युत्पन्नऋष्यशृङ्गादेर्ब्रह्ममुनित्वदर्शनात् । अपरे पुनः क्षेत्रं स्तुवन्ति क्षेत्रस्वामिपुत्र-

त्वदर्शनात् । अन्ये पुनर्बीजक्षेत्रे उभे अपि स्तुवन्ति सुबीजस्य सुक्षेत्रे समृद्धिदर्शनात् एतस्मिन्नभेदे वक्ष्यमाणेयं व्यवस्था ज्ञेया ॥७०॥

**अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।**
**अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥**

अक्षेत्र इति । ऊषरप्रदेशे बीजमुप्तं फलमददन्तराल एव विनश्यति । शोभनमपि क्षेत्रं बीजरहितं स्थण्डिलमेव केवलं स्यान्न तु सस्यमुत्पद्यते । तस्मात्प्रत्येकनिन्दया सुबीजं चैव सुक्षेत्र इति प्रागुक्तमुभयप्राधान्यमेवाभिहितम् ॥ ७१ ॥

इदानीं बीजप्राधान्यपक्षे दृष्टान्तमाह—

**यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।**
**पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥**

यस्मादिति । यस्माद्बीजमाहात्म्येन तिर्यक्जातिहरिण्यादिजाता अपि ऋष्यशृङ्गादयो मुनित्वं प्राप्ताः पूजिताश्चाभिवाद्यत्वादिना वेदज्ञानादिना प्रशस्ता वाचा संस्तुताः तस्माद्बीजं प्रस्तूयते । एतच्च बीजप्राधान्यनिगमनं बीजयोन्योर्मध्ये बीजोत्कृष्टा जातिः प्रधानमित्येवंपरतया बोद्धव्यम् ॥ ७२ ॥

**अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।**
**संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥**

अनार्यमिति । शूद्रं द्विजातिकर्मकारिणं द्विजातिं च शूद्रकर्मकारिणं ब्रह्मा विचार्य न समौ नासमावित्यवोचद्यतः शूद्रो द्विजातिकर्मापि न द्विजातिसमः । तस्यानधिकारिणो द्विजातिकर्माचरणेऽपि तत्साम्याभावात् । एवं शूद्रकर्मापि द्विजातिर्न शूद्रसमः निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात् । नाप्यसमौ निषिद्धाचरणेनोभयोः साम्यात् । तस्माद्यद्यस्य विगर्हितं तत्तेन न कर्तव्यमिति संकरपर्यन्तवर्णधर्मोपदेशः ॥ ७३ ॥

इदानीं ब्राह्मणानामापद्धर्मं प्रतिपादयिष्यन्निदमाह—

**ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।**
**ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥**

ब्राह्मणा इति । ये ब्राह्मणा ब्रह्मप्राप्तिकारणब्रह्मध्याननिष्ठाः स्वकर्मानुष्ठाननिरताश्च ते षट् कर्माणि वक्ष्यमाणान्यध्यापनादीनि क्रमेण सम्यगनुतिष्ठेयुः ॥ ७४ ॥

तानि कर्माण्याह—

**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।**
**दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥**

अध्यापनमिति । अध्यापनाध्ययने साङ्गस्य वेदस्य तथा यजनयाजने दानप्रतिग्रहौ चेत्येतानि षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य वेदितव्यानि ॥

**षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।**
**याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥**

षण्णामिति । अस्य ब्राह्मणस्यैषामध्यापनादीनां षण्णां कर्मणां मध्याद्याजनमध्यापनं द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत्प्रशस्तेभ्यो द्विज इति वचननिर्देशाद्द्विजातेः प्रतिग्रह इत्येतानि त्रीणि कर्माणि जीवनार्थानि ज्ञेयानि ॥ ७६ ॥

**त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियंप्रति ।**
**अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥**

त्रयो धर्मा इति । ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहाख्यानि वृत्त्यर्थानि त्रीणि कर्माणि निवर्तन्ते । अध्ययनयागदानानि तु तस्यापि भवन्ति ॥ ७७ ॥

**वैश्यंप्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।**
**न तौप्रति हि तान् धर्मान्मनुराह प्रजापतिः॥७८॥**

वैश्यंप्रतीति । यथा क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहा निवर्तन्ते तथा वैश्यस्यापीति शास्त्रव्यवस्था । यस्मान्मनुः प्रजापतिस्तौ क्षत्रियवैश्यौप्रति तानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि कर्तव्यत्वेन नोक्तवान् । एवं वैश्यस्याप्यध्ययनयागदानानि भवन्ति ॥ ७८ ॥

**शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।**
**आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥**

शस्त्रास्त्रेति । शस्त्रं खड्गादि अस्त्रं बाणादि एतद्धारणं प्रजारक्षणाय क्षत्रियस्य च वृत्त्यर्थम् । वाणिज्यपशुरक्षणकर्माणि वैश्यस्य जीवनार्थानि । धर्मार्थाः पुनरनयोर्दानाध्ययनयागा भवन्ति ॥ ७९ ॥

**वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।**
**वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥**

वेदाभ्यास इति । वेदाभ्यासोऽध्यापनवृत्त्यर्थाभ्यां सहोपदेशात्तद्ब्राह्मणस्य प्रजारक्षणं क्षत्रियस्य वाणिज्यं पाशुपाल्यं वैश्यस्य एतान्येतेषां वृत्त्यर्थकर्मसु श्रेष्ठानि ॥ ८० ॥

अधुना आपद्धर्ममाह—

**अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।**
**जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥**

अजीवन्निति । यथोक्तेनाध्यापनादिस्वकर्मणा ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्ठानकुटुम्बसंवर्धनपूर्वकमजीवन् क्षत्रियकर्मणा ग्रामनगररक्षणादिना जीवेत् । यस्मात्क्षत्रियधर्मोऽस्य सन्निकृष्टा वृत्तिः ॥ ८१ ॥

**उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।**
**कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥**

उभाभ्यामिति । ब्राह्मण उभाभ्यां स्ववृत्तिभ्यामजीवन्केन प्रकारेण वर्तेतेति यदि संशयः स्यात्तदा कृषिपशुरक्षणे आश्रित्य वैश्यस्य वृत्तिमनुतिष्ठेत् । कृषिगोरक्षं वाणिज्यदर्शनार्थम् । तथा च विक्रेयाणि वक्ष्यति स्वयंकृतं चेदं कृष्यादि ब्राह्मणापद्वृत्तिः । अस्वयंकृतस्य ऋतामृताभ्यां जीवेतेत्यादिनाऽपद्येव विहितत्वात् ॥ ८२ ॥

संप्रति कृष्यादेर्बलाबलमाह—

**वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।**
**हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥८३॥**

वैश्येति । ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा वैश्यवृत्त्यापि जीवन्भूमिष्ठजन्तुहिंसाबहुलां बलीवर्दादिपराधीनां कृषिं यत्नतस्त्यजेत् । अतः पशुपालनाद्यभावे कृषिः कार्येति द्रष्टव्यम् । क्षत्रियोऽपि वेत्युपादानात्क्षत्रियस्याप्यात्मीयवृत्त्यभावे वैश्यवृत्तिरस्तीत्यभिगम्यते ॥ ८३ ॥

**कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।**
**भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥**

कृषिमिति । साध्विदं जीवनमिति कृषिं केचिन्मन्यन्ते सा पुनर्जीविका साधुभिर्निन्दिता यस्माद्बलकुद्दालादिलोहप्रान्तं काष्ठं भूमिं भूमिष्ठजन्तूंश्च हन्ति ॥ ८४ ॥

**इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् ।**
**विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥**

इदं त्विति । ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य चात्मीयवृत्तेरसंभवे धर्मप्रति यथोक्तनिष्ठां तत्त्वं त्यजतो वैश्येन यद्विक्रेतव्यं द्रव्यजातं तद्वर्जितं वक्ष्यमाणं वर्जनीयं धनवृद्धिकरं विक्रेयम् ॥ ८५ ॥

तानि वर्जनीयान्याह—

**सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।**
**अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥**

सर्वानिति । सर्वानचोद्यमानानधर्मान् यथा सिद्धार्थतिलपाषाणलवणपशुमनुष्यान् न विक्रीणीत । रसत्वेनैव लवणस्य निषेधसिद्धौ विशेषेण निषेधो दोषगौरवज्ञापनार्थः । तच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थमेवमन्यस्यापि पृथङ्निषेधो व्याख्येयः ॥ ८६ ॥

**सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।**
**अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥**

सर्वमिति । सर्वं तन्तुनिर्मितं वस्त्रं कुसुम्भादिरक्तं वर्जयेत् । शणक्षुमतन्तुमयान्याविकलोमभवानि च यद्यलोहितान्यपि भवेयुस्तथापि न विक्रीणीत । तथा फलमूलगुडूच्यादीनि वर्जयेत् ॥८७॥

**अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।**
**क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥**

अप इति । जललोहविषमांससोमक्षीरदधिघृततैलगुडदर्भान् तथा गन्धवन्ति सर्वाणि कर्पूरादीनि क्षौद्रं माक्षिकं मधु मधूच्छिष्टं सभ्रामरमधूच्छिष्टेति याज्ञवल्क्येन पठितं वर्जयेत् ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा॥८९॥

आरण्यानिति । आरण्यान्सर्वान् हस्त्यादीन्दंष्ट्रिणः सिंहादीन् तथा पक्षिजलजन्तून् मद्यादीनेकशफांश्चाश्वादीन् न विक्रीणीत ८९

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलान् शूद्रान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ९०

काममिति । कर्षकः स्वयमेव कर्षणेन तिलानुत्पाद्य द्रव्यान्तरेण मिश्रानुत्पत्त्यनन्तरमेव न तु लाभार्थं कालान्तरं प्रतीक्ष्य धर्मनिमित्तमिच्छतो विक्रीणीत निषिद्धस्य तिलविक्रयस्य धर्मार्थमयं प्रतिप्रसवः ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

भोजनेति । भोजनाभ्यङ्गदानव्यतिरिक्तं यदन्यन्निषिद्धं विक्रयादि तिलानां कुरुते तेन पितृभिः सह कृमित्वं प्राप्तः कुक्कुरपुरीषे मज्जति ॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

सद्य इति । मांसलाक्षालवणविक्रयैर्ब्राह्मणस्तत्क्षणादेव पततीति दोषगौरवव्याख्यानार्थमेतत् । पञ्चानामेव महापातकिनां पातित्यहेतूनां वक्ष्यमाणत्वात् । क्षीरविक्रयात्त्र्यहेण शूद्रतां प्राप्नोति । एतदपि दोषगौरवात्प्रायश्चित्तगौरवख्यापनार्थम् ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इतरेषामिति । ब्राह्मण उक्तेभ्यो मांसादिभ्योऽन्येषां प्रतिषिद्धानां पण्यानामिच्छातो न तु प्रमादाद्द्रव्यान्तरसंश्लिष्टानां सप्तरात्रविक्रयणेन वैश्यत्वं गच्छति ॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥९४॥

रसा इति । रसा गुडादयो रसैर्घृतादिभिः परिवर्तनीयाः लवणं पुना रसान्तरेण न परिवर्तनीयं सिद्धान्नं चामान्नेन परिवर्तनीयं तिला धान्येन धान्यप्रस्थेनेत्येवं तत्समाः परिवर्तनीयाः ॥ ९४ ॥

**जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।**
**न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥**

जीवेदिति । क्षत्रियः आपदं प्राप्त एतेनेत्यभिधाय सर्वेणेत्यभिधानाद्ब्राह्मणगोचरतया निषिद्धेनापि रसादिविक्रयणेन वैश्यवज्जीवेन्न पुनः कदाचिद्ब्राह्मणजीविकामाश्रयेत् । न केवलं क्षत्रियः क्षत्रियवदन्योऽपि ॥ ९५ ॥

**यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।**
**तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥**

यो लोभादिति । यो निकृष्टजातिः सन् लोभादुत्कृष्टजातिविहितकर्मभिर्जीवेत्तं राजा गृहीतसर्वस्वं कृत्वा तदानीमेव देशान्निःसारयेत् ॥ ९६ ॥

**वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।**
**परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥**

वरमिति । विगुणमपि स्वकर्म कर्तुं न्याय्यं न परकीयं संपूर्णमपि । यस्माज्जात्यन्तरविहितकर्मणा जीवन् तत्क्षणादेव स्वजातितः पततीति दोषो वर्जनार्थः ॥ ९७ ॥

**वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।**
**अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥**

वैश्य इति । वैश्यः स्ववृत्त्या जीवितुमशक्नुवन् शूद्रवृत्त्यापि द्विजातिशुश्रूषयोच्छिष्टभोजनादीन्यकुर्वन् वर्तेत निस्तीर्णापत्क्रमशः शूद्रवृत्तितो निवर्तेत ॥ ९८ ॥

**अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।**
**पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥**

अशक्नुवन्निति । शूद्रः द्विजातिशुश्रूषां कर्तुमक्षमः क्षुदवसन्नपुत्रकलत्रः सूपकारादिकर्मभिर्जीवेत् ॥ ९९ ॥

**यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।**
**तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च १००**

यैरिति । पूर्वोक्तकारुकर्मविशेषाभिधानार्थमिदम् । यैः कर्मभिः कृतैर्द्विजातयः परिचर्यन्ते तानि च कर्माणि तक्षणादीनि शिल्पानि च चित्रलिखितादीनि नानाप्रकाराणि कुर्यात् ॥ १०० ॥

**वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।**
**अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥**

वैश्येति । ब्राह्मणो वृत्त्यभावपीडितोऽवसादं गच्छन् क्षत्रियवैश्यवृत्तिमनुतिष्ठेत् । स्वधर्मो विगुण इत्युक्तत्वात्स्ववृत्तावेव वर्तमान इमां वक्ष्यमाणां वृत्तिमनुतिष्ठेत् । अतश्च विगुणप्रतिग्रहादिस्ववृत्त्यसंभवे परवृत्त्याश्रयणं ज्ञेयम् ॥ १०१ ॥

**सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।**
**पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥**

सर्वत इति । ब्राह्मण आपदं प्राप्तः सर्वेभ्योऽपि निन्दिततमेभ्यः क्रमेण प्रतिग्रहं कुर्यात् । अत्रार्थान्तरन्यासो नामालंकारः । यस्मात्पवित्रं गङ्गारथ्योदकादिना दुष्यतीत्येतच्छास्त्रस्थित्या नोपपद्यते । यस्मात् ॥ १०२ ॥

**नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।**
**दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३**

नाध्यापनादिति । ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरधर्मो न भवति । यस्मात्स्वभावतः पवित्रत्वेनाग्न्युदकतुल्यास्ते १०३

**जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।**
**आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥**

जीवितेति । यः प्राणात्ययं प्राप्तः प्रतिलोमजादन्नमश्नाति सोऽन्तरिक्षमिव कर्दमेन पापेन न संबध्यते । अत्र परकृतिरूपोऽर्थवादः ॥

**अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।**
**न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥**

अजीगर्त इति । ऋषिरजीगर्ताख्यो बुभुक्षितः सन् पुत्रं शुनःशेपनामानं स्वयं विक्रीतं यज्ञे गोशतलाभाय विशसिता भूत्वा हन्तुं प्रचक्रमे । न च क्षुत्प्रतीकारार्थं तथा कुर्वन् पापेन लिप्तः । एतच्च बह्वृचब्राह्मणे शुनःशेपाख्यानेषु व्यक्तमुक्तम् ॥ १०५ ॥

**श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।**
**प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥**

श्वमांसमिति । वामदेवाख्यऋषिर्धर्माधर्मज्ञः क्षुधार्तः प्राणत्राणार्थं श्वमांसं खादितुमिच्छन् दोषेण न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

**भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।**
**बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः १०७**

भरद्वाज इति । भरद्वाजाख्यो मुनिः महातपस्वी पुत्रसहितो निर्जने वनेऽरण्य उषित्वा क्षुत्पीडितो वृधुनाम्नस्तक्ष्णो बह्वीर्गाः प्रतिगृहीतवान् ॥ १०७ ॥

**क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।**
**चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥**

क्षुधार्त इति । ऋषिर्विश्वामित्रो धर्माधर्मज्ञः क्षुत्पीडितश्चण्डालहस्ताद्गृहीत्वा कुक्कुरजघनमांसं भक्षितुमध्यवसितवान् ॥ १०८ ॥

**प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।**
**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥**

प्रतिग्रहादिति । गर्हितानामप्यध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणां मध्याद्ब्राह्मणस्यासत्प्रतिग्रहो निकृष्टः परलोके नरकहेतुः । ततश्चापदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसंभवे त्वसत्प्रतिग्रह इत्येवंपरमेतत् ॥ १०९ ॥

अत्र हेतुमाह—

**याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।**
**प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥**

याजनेति । याजनाध्यापने आपद्यनापदि च उपनयनसंस्कृतात्म-

नां द्विजातीनामेव क्रियेते । प्रतिग्रहं पुनर्निकृष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते तस्मादसौ ताभ्यां गर्हितः ॥ ११० ॥

**जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।**
**प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥**

जप इति । एनोग्रहणादसत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैर्यदुपपन्नं तत्प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैर्नश्यति । असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिगृहीतद्रव्यत्यागेन मासं गोष्ठे पयः पीत्वेत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसाऽपगच्छति ॥ १११ ॥

**शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।**
**प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते॥११२॥**

शिलोञ्छमिति । ब्राह्मणः स्ववृत्त्याऽजीवन् यतस्ततोऽपि शिलोञ्छं गृह्णीयान्न तु तत्संभवेऽसत्प्रतिग्रहं कुर्यात् । यस्मात्प्रतिग्रहाच्छिलः प्रशस्तः । मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलस्ततोऽप्युञ्छः श्रेष्ठः । एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः ॥ ११२ ॥

**सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।**
**याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥११३॥**

सीदद्भिरिति । स्नातकैर्ब्राह्मणैर्धनाभावाद्धर्मार्थं कुटुम्बावसादं गच्छद्भिः सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं धान्यवस्त्रादि कुप्यधनं यागाद्युपयुक्तं हिरण्याद्यपि आपत्प्रकरणात्क्षत्रियोऽप्युच्छास्त्रवर्ती याचितव्यः स्यात् । यश्च दातुं नेच्छति कृपणत्वेनावधारितः स त्याज्यो न याचनीय इत्यर्थः । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु त्यागमर्हतीति तस्य त्यागेन वस्तव्यमिति व्याचक्षाते ॥ ११३ ॥

**अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च ।**
**हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥**

अकृतं चेति । अकृतमनुप्तसस्यं क्षेत्रं तत्कृतादुप्तसस्यात्प्रतिग्रहे दोषरहितं तथा गोच्छागमेषहिरण्यधान्यसिद्धार्थानां मध्यात्पूर्वं पूर्वमदुष्टम् । ततश्चैषां पूर्वपूर्वासंभवे परः परो ज्ञेयः ॥ ११४ ॥

**सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।**
**प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥**

सप्तेति । दायाद्याः सप्त धनागमाः यथाधनाधिकारं धर्मादनपेतास्तत्र दायोऽन्वयागतधनं लाभो निध्यादेः मैत्र्यादिलब्धस्य च क्रयः प्रसिद्धः एते त्रयश्चतुर्णामपि वर्णानां धर्म्याः । जयधनं विजयत्वेन क्षत्रियस्य धर्मः प्रयोगो वृद्ध्यादिधनस्य कर्मयोगश्च कृषिवाणिज्ये एतौ प्रयोगौ वैश्यधर्म्यौ सत्प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्य धर्म्यः । एवं चैतेषां धर्मत्ववचनादेतदभावेऽन्येष्वनापद्विहितेषु वृत्तिकर्मसु प्रवर्तितव्यम् । तदभावे चापद्विहितेषु प्रकृतेष्वित्येतदर्थमेतदिहोच्यते ॥ ११५ ॥

**विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।**
**धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥**

विद्येति । आपत्प्रकरणाज्जीवनहेतव इति निर्देशादेषां मध्ये यया वृत्त्या यस्यानापदि । न जीवनं तया तस्यापद्यभ्यनुज्ञायते यथा ब्राह्मणस्य भृतिसेवाद्येवं शिल्पादावपि ज्ञेयम् । विद्या वेदविद्याव्यतिरिक्ता वैद्यतर्कविषापनयनादिविद्या सर्वेषामापदि जीवनार्थं न दुष्यति। शिल्पं गन्धयुक्त्यादिकरणं भृतिः प्रैष्यभावेन वेतनग्रहणं सेवा पराज्ञासंपादनं गोरक्ष्यं पशुपाल्यं विपणिर्वैणिज्या कृषिः स्वयं कृता धृतिः संतोषः तस्मिन्सत्यल्पकेनापि जीव्यते भैक्ष्यं भिक्षासमूहः कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः स्वयं कृतोऽपीत्येभिर्दशभिरापदि जीवनीयम्

**ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।**
**कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ११७**

ब्राह्मण इति । ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्ध्यादि धनमापद्यपि न प्रयुञ्जीत किंतु निकृष्टकर्मणा धर्मार्थमनुकल्पितया वृत्त्या प्रयुञ्जीत ११७

इदानीं राज्ञामापद्धर्ममाह—

**चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।**
**प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते॥११८॥**

चतुर्थमिति । राज्ञो धान्यादीनामष्टम इत्याद्युक्तं स आपदि धान्यादेश्चतुर्थमपि भागं करार्थं गृह्णन् परया शक्त्या प्रजारक्षणेऽधिक-

करग्रहणपापेन न संबध्यते । कस्मात्पुनरापद्यपि राज्ञोऽपि रक्षणमुच्यते । यस्मात् ॥ ११८ ॥

**स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ।**
**शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥११९॥**

स्वधर्म इति । राज्ञः शत्रुविजयः स्वधर्मो विजयफलं युद्धमित्यर्थः । प्रजारक्षणप्रयुक्तः । यदि कुतश्चिद्भयं स्यात्तदा न युद्धपराङ्मुखो भवेत् । एवं च शस्त्रेण वैश्यान् दस्युभ्यो रक्षित्वा तेभ्यो धर्मादनपेतमाप्तपुरुषैर्बलिमाहारयेत् ॥ ११९ ॥

कोऽसौ बलिस्तमाह—

**धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।**
**कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥१२०॥**

धान्य इति । धान्ये विंश उपचये वैश्यानामष्टमं भागं शुल्कमाहारयेत् । धान्यानां द्वादशोऽपि भाग उक्तः । आपद्ययमष्टम उच्यते । अत्यन्तापदि प्रागुक्तश्चतुर्थो वेदितव्यस्तत्रापि विंशं ग्राह्यम् । तथा हि । वल्यादीनां कार्षापणस्थानानां विंशतितमं भागं शुल्कं गृह्णीयात्तत्रापि । पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोरित्यापदि पञ्चाशद्भाग उक्तः । आपद्ययं विंश उच्यते । तथा शूद्राः कारवः सूपकारादयः शिल्पिनः तक्षादयः कर्मणैवोपकुर्वन्ति न तु तेभ्य आपद्यपि करो ग्राह्यः ॥ १२० ॥

**शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि ।**
**धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् १२१**

शूद्रस्त्विति । शूद्रो ब्राह्मणशुश्रूषयाऽजीवन् यदि वृत्तिमाकाङ्क्षेत्तदा क्षत्रियं परिचर्य तदभावे धनिनं वैश्यं परिचर्य जीवितुमिच्छेत् । द्विजातिशुश्रूषणासामर्थ्ये तु प्रागुक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥ १२१ ॥

**स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।**
**जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥**

स्वर्गार्थमिति । स्वर्गप्राप्त्यर्थं स्ववृत्तिलिप्सार्थं वा ब्राह्मणानेव शूद्रः

परिचरेत् । तस्माज्जातो ब्राह्मणाश्रितोऽयमिति शब्दो यस्य । शाक-पार्थिवादित्वात्समासः । सास्य शूद्रस्य कृतकृत्यता तव्यपदेशतया असौ कृतकृत्यो भवति । यत एवमतः ॥ १२२ ॥

**विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।**
**यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३॥**

विप्रेति । ब्राह्मणपरिचर्यैव शूद्रस्य कर्मान्तरेभ्यः प्रकृष्टं कर्म शास्त्रेऽभिधीयते । यस्मादेतद्व्यतिरिक्तं यदसौ कर्म कुरुते तदस्य निष्फलं भवतीति पूर्वस्तुत्यर्थं न त्वन्यनिवृत्तये । पाकयज्ञादीनामपि तस्य विहितत्वात् ॥ १२३ ॥

**प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।**
**शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् १२४**

प्रकल्प्येति । तस्य परिचारकशूद्रस्य परिचर्यासामर्थ्यं कर्मोत्साहं पुत्रदारादिभर्तव्यपरिमाणं चावेक्ष्य तैर्ब्राह्मणैः स्वगृहादनुरूपा जीविका कल्पनीया ॥ १२४ ॥

**उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।**
**पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः १२५**

उच्छिष्टमिति । तस्मै प्रकृताश्रितशूद्राय भुक्तावशिष्टान्नं ब्राह्मणैर्देयम् । एवं च न शूद्राय गतिं दद्यान्नोच्छिष्टमित्यनाश्रितशूद्रविषयमवतिष्ठते । तस्माज्जीर्णवस्त्रासारधान्यजीर्णवस्त्रपरिच्छदोऽस्मै देयः ॥ १२५ ॥

**न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।**
**नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् १२६**

न शूद्र इति । लशुनादिभक्षणेन शूद्रे न किञ्चित्पातकं भवति । न तु ब्रह्मवधादावपि । अहिंसा सत्यमित्यादेश्चातुर्वर्ण्यसाधारणत्वेन विहितत्वात् । न चाप्युपनयनादिसंस्कारमर्हति नास्याग्निहोत्रादिधर्मेऽधिकारोऽस्ति । अविहितत्वात् । न च शूद्रविहितत्वात्पाकयज्ञादिधर्मादस्य निषेधः । एवं चास्य सर्वस्य सिद्धार्थत्वादयं श्लोक उत्तरार्थवादः ॥ १२६ ॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥१२७॥

धर्मेप्सव इति । ये पुनः शूद्राः स्वधर्मवेदिनो धर्मप्राप्तिकामास्त्रैवर्णिकानामाचारमनिषिद्धमाश्रितास्ते नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्च यज्ञान्न हापयेदिति याज्ञवल्क्यवचनान्नमस्कारमन्त्रेण तन्त्रान्तररहितं पञ्चयज्ञादि धर्मान्कुर्वाणा न प्रत्यवयन्ति ख्यातिं च लोके लभन्ते ॥

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

यथेति । परगुणानिन्दकः शूद्रो यथायथा द्विजात्याचारमनिषिद्धमनुतिष्ठति तथा तथा जनैरनिन्दित इह लोके उत्कृष्टः स्मृतः स्वर्गादिलोकं च प्राप्नोति ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥१२९॥

शक्तेनापीति । धनार्जनसमर्थेनापि शूद्रेण पोष्यवर्गसंवर्धनपञ्चयज्ञाद्युचितादधिकबहुधनसंचयो न कर्तव्यः । यस्माच्छूद्रो धनं प्राप्य शास्त्रानभिज्ञत्वेन धनमदाच्छुश्रूषायाश्चाकरणाद्ब्राह्मणानेव पीडयतीत्युक्तस्यानुवादः ॥ १२९ ॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥१३०॥

एत इति । अमी चतुर्णां वर्णानामापद्यनुष्ठेया धर्मा उक्ताः । यान्सम्यगाचरन्तो विहितानुष्ठानान्निषिद्धानाचरणाच्च निष्पापतया ब्रह्मज्ञानलाभेन परमां गतिं मोक्षलक्षणां लभन्ते ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुवर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एष इति । अयं चतुर्णां वर्णानामाचारः समग्रतः कथितः । अत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तानुष्ठानं शुभमभिधास्यामि ॥ १३१ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां दशमोऽध्यायः १०

---

## अथ एकादशोऽध्यायः ।

**सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।**
**गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥**
**नवैतान् स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।**
**निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥**

सान्तानिकमिति । नवैतानिति । नन्वतःपरं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभमिति प्रायश्चित्तस्य वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वात्सान्तानिकादिभ्यो देयमित्यादेः कः प्रस्तावः । उच्यते । दानेनाकार्यकरिण इति प्रागुक्तत्वाद्दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन्नित्यादेश्च वक्ष्यमाणत्वात्प्रकृष्टप्रायश्चित्तार्थकदानपात्रोपन्यासः प्रकृतोपयुक्त एव । वर्णाश्रमधर्मादिव्यतिरिक्तप्रायश्चित्तादिनैमित्तिकधर्मकथनार्थत्वाच्चाध्यायस्यान्यस्यापि नैमित्तिकधर्मस्यात्रोपन्यासो युक्तः । सन्तानप्रयोजनत्वाद्विवाहस्य सान्तानिको विवाहार्थी यक्ष्यमाणोऽवश्यकर्तव्यज्योतिष्टोमादियागंचिकीर्षुरध्वगः पान्थः सर्ववेदसः कृतसर्वस्वदक्षिणविश्वजिद्यागः विद्यागुरोर्ग्रासाच्छादनाद्यर्थः एवं पितृमात्रर्थावपि स्वाध्यायार्थी स्वाध्यायाध्ययनकालीनाच्छादनाद्यर्थी ब्रह्मचारी उपतापी रोगी एतान्नव ब्राह्मणान्धर्मभिक्षाशीलान् स्नातकान् जानीयात् । एतेभ्यो निर्धनेभ्यो गोहिरण्यादि दीयत इति दानं विद्याविशेषानुरूपेण दद्यात् ॥ १ ॥ २ ॥

**एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।**
**इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥**

एतेभ्य इति । एतेभ्यो नव ब्राह्मणश्रेष्ठेभ्योऽन्तर्वेदि सदक्षिणमन्नं दातव्यम् । एतद्व्यतिरिक्तेभ्यः पुनः सिद्धान्नं बहिर्वेदि देयत्वेनोपदिश्यते । धनदाने त्वनियमः ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

सर्वेति । राजा पुनः सर्वरत्नानि मणिमुक्तादीनि यागोपयोग्यानि च दक्षिणार्थं धनं विद्यानुरूपेण वेदविदो ब्राह्मणान् स्वीकारयेत् ४

कृतदारोऽपरान्दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

कृतेति । यः सभार्यः सन्तत्यर्थादिनिमित्तमन्तरेणापरान् दारान् भिक्षित्वा करोति तस्य रतिमात्रं फलं धनदातुः पुनस्तदुत्पन्नान्यपत्यानि भवन्तीति निन्दातिशयः । नैवंविधेन धनं याचित्वाऽन्यो विवाहः कर्तव्यः । नाप्येवंविधाय नियमतो धनं देयमिति ॥ ५ ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

धनानीति । धनानि गोभूहिरण्यादीनि शक्त्यनतिक्रमेण ब्राह्मणेषु वेदज्ञेषु विविक्तेषु पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु प्रतिपादयेत्तद्वशाच्च स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

यस्येति । यस्यावश्यपोष्यभरणार्थं वर्षत्रयपर्याप्तं तदधिकं वा भक्तादि स्यात्स काम्यसोमयागं कर्तुमर्हति । नित्यस्य पुनर्यथाकथंचिदवश्यकर्तव्यत्वान्नायं निषेधः । अत एव समान्ते सौमिकैर्मखैरिति नित्यविषयत्वमुक्तवान् ॥ ७ ॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अत इति । त्रैवार्षिकधनादल्पधने सति यः सोमयागं करोति तस्य प्रथमसोमयागो नित्योऽपि न संपन्नो भवति । सुतरां द्वितीययागः काम्यः ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि
मध्वापातो विषास्वादः सधर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

शक्त इति । यो बहुधनत्वादानशक्तः सन्नवश्यभरणीये पितृमात्रादिज्ञातिजने दौर्गत्यादुःखोपेते सति यशोऽर्थमन्येभ्यो ददाति स तस्य दानविशेषो धर्मप्रतिरूपको न तु धर्म एव । मध्वापातो मधुरोपक्रमः प्रथमं यशस्करत्वाद्विषास्वादश्चान्ते नरकफलत्वात्तस्मादेतन्न कार्यम् ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

भृत्यानामिति । पुत्रदाराद्यवश्यभर्तव्यपीडनेन यत्पारलौकिकधर्मबुद्ध्या दानादि करोति तस्य दातुर्जीवतो मृतस्य च तद्दानं दुःखफलं भवतीति पूर्वं कीर्त्यादिदृष्टार्थदानप्रतिषेधः । अयं त्वदृष्टार्थदानप्रतिषेधः ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

यज्ञश्चेदिति । यो वैश्य इति । क्षत्रियादेर्यजमानस्य विशेषतो ब्राह्मणस्य यदि यज्ञ इतराङ्गसंपत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेनासंपूर्णः स्यात्तदा यो वैश्यो बहुपश्वादिधनः पाकयज्ञादिरहितोऽसोमयाजी तस्य गृहात्तदङ्गोचितं द्रव्यं बलेन चौर्येण वाहरेत् । एतच्च धर्मप्रधाने सति राजनि कार्यम् । स हि शास्त्रार्थमनुतिष्ठन्तं न निगृह्णाति ॥ ११ ॥ १२ ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

आहरेदिति । यज्ञस्य द्विधाङ्गवैकल्ये सति तानि त्रीणि चाङ्गानि द्वे वाङ्गे वैश्यादलाभे सति निर्विशङ्कं शूद्रस्य गृहाद्बलेन चौर्येण वाहरेत् । यस्माच्छूद्रस्य क्वचिदपि यज्ञसंबन्धो नास्ति । न यज्ञार्थं धनं

शूद्राद्विप्रो भिक्षेतेति वक्ष्यमाणप्रतिषेधः शूद्राद्याचनस्य न तु बलग्रहणादेः ॥ १३ ॥

**योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।**
**तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥**

य इति । योऽनाहिताग्निर्गोशतपरिमाणधन आहिताग्निर्वाऽसोमयाजी गोसहस्रपरिमितधनः द्वयोरपि गृहाभ्यां प्रकृतमङ्गद्वयं त्रयं वा शीघ्रं ब्राह्मणेन द्वाभ्यामाहरणीयं ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामपि ब्राह्मण आहरेत् । क्षत्रियस्य तु अदस्युक्रियावद्ब्राह्मणस्वहरणं निषेधयिष्यति॥

**आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।**
**तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥**

आदाननित्यादिति । प्रतिग्रहादिना आदानं धनग्रहणं नित्यं यस्यासावादाननित्यो ब्राह्मणस्तस्मादिष्टापूर्तदानरहिताद्यज्ञाङ्गद्वयत्रयार्थायां याचनायां कृतायामददतो बलेन चौर्येण वाहरेत् । तथा कृतेऽपहर्तुः ख्यातिः प्रकाशते धर्मश्च वृद्धिमेति ॥ १५ ॥

**तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।**
**अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥**

तथैवेति । सायंप्रातर्भोजनोपदेशाच्चिरात्रोपवासे वृत्ते चतुर्थेऽहनि प्रातः सप्तमे भक्ते दानादिधर्मरहितादेकदिनपर्याप्तमर्थं चौर्यादिना हर्तव्यम् ॥ १६ ॥

**खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।**
**आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥१७॥**

खलादिति । धान्यादिमर्दनस्थानात्क्षेत्राद्वा गृहाद्वा यतो वान्यस्मात्प्रदेशाद्धान्यं हीनकर्मसंबन्धि लभ्यते ततो हर्तव्यं यदि वासौ धनस्वामी पृच्छति किन्निमित्तं कृतमिति पृच्छते निमित्तं चौर्यादेर्वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

**ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।**
**दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥**

ब्राह्मणस्वमिति । उक्तेष्वपि निमित्तेषु क्षत्रियेण ब्राह्मणस्य धनं ततोऽपकृष्टत्वान्न हर्तव्यं समानन्यायतया तु वैश्यशूद्राभ्यामुत्कृष्टजातितो न हर्तव्यम् । प्रतिषिद्धकृद्विहिताननुष्ठायिनोः पुनर्ब्राह्मणक्षत्रिययोरत्यन्तापदि क्षत्रियो हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

**योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।**
**स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥**

योऽसाधुभ्य इति । यो हीनकर्मादिभ्य उत्कृष्टेभ्योऽभिहितेष्वपि निमित्तेषूक्तानुरूपं यज्ञाङ्गादि साधनं कृत्वा साधुभ्य उत्कृष्टेभ्य ऋत्विगादिभ्यो धनं ददाति स यस्यापहरति तद्दुरितं नाशयति यस्मै तद्ददाति तद्दौर्गत्याभिघातादित्येवं द्वावप्यात्मानमुडुपं कृत्वा दुःखान्मोचयति ॥ १९ ॥

**यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।**
**अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥**

यद्धनमिति । यज्ञशीलानां यद्धनं तद्यागादौ विनियोगाद्देवस्वं विद्वांसो मन्यन्ते । यागादिशून्यानां तु यद्द्रव्यं तद्धर्मविनियोगाभावादासुरस्वमुच्यते । अतस्तदप्यपहृत्य त्यागसंपादनात्तद्देवस्वं कर्तव्यम् ॥

**न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।**
**क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥**

न तस्मिन्निति । तस्मिन्नुक्तनिमित्ते चौर्यबलात्कारं कुर्वाणे धर्मप्रधानो राजा दण्डं न कुर्यात् । यस्माद्राज्ञो मूढत्वाद्ब्राह्मणः क्षुधावसादं प्राप्नोति । ततश्च ॥ २१ ॥

**तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।**
**श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥**

तस्येति । तस्य ब्राह्मणस्यावश्यभरणीयपुत्रादिवर्गं ज्ञात्वा श्रुताचारोचिततदनुरूपां वृत्तिं कल्पयेत् ॥ २२ ॥

**कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।**
**राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥**

कल्पयित्वेति । अस्य ब्राह्मणस्य जीविकां विधाय शत्रुचौरादेः सर्वतो रक्षयेत् । यस्माद्ब्राह्मणाद्रक्षितात्तस्य धर्मषड्भागं प्राप्नोति ॥२३॥

**न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।**
**यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते॥२४॥**

न यज्ञार्थमिति । यज्ञसिद्धये धनं ब्राह्मणः कदाचिन्न शूद्राद्याचेत् यस्माच्छूद्राद्याचित्वा यज्ञं कुर्वाणो मृतश्चण्डालो भवति । अतो याचननिषेधाच्छूद्रादयाचितोपस्थितं यज्ञार्थमप्यविरुद्धम् ॥ २४ ॥

**यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।**
**स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः२५**

यज्ञार्थमिति । यज्ञसिद्ध्यर्थं धनं याचित्वा यो यज्ञे सर्वं न विनियुङ्क्ते स शतं वर्षाणि भासत्वं काकत्वं वा प्राप्नोति ॥ २५ ॥

**देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।**
**सपापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥**

देवस्वमिति । प्रतिमादिदेवतार्थमुत्सृष्टं धनं देवस्वं ब्राह्मणस्वं च यो लोभादपहरति स पापस्वभावो जन्मान्तरे गृध्रोच्छिष्टेन जीवति॥

**इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।**
**कृसानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७॥**

इष्टिमिति । समाप्ते वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरब्दपर्ययं चैत्रशुक्लादिवर्षप्रवृत्तिस्तत्र संस्थे वैश्वानरीमिष्टिं विहितसोमयागासम्भवे तदकरणदोषनिर्हरणार्थं सर्वदा शूद्रादित उक्तधनग्रहणरूपामिष्टिं कुर्यात्॥

**आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।**
**स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥**

आपदिति । आपद्विहितेन विधिना योऽनापदि धर्मानुष्ठानं द्विजः कुरुते तस्य तत्परलोके निष्फलं भवतीति मन्वादिभिर्विचारितम् २८

**विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।**
**आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥**

[illegible] विश्वेदेवाग्न्यैर्देवैः साध्यैश्चतथामहर्षिभिर्ब्राह्मणैर्मरुद्भिश्च मुख्यस्य विधेः सोमादेर्वैश्वानर्यादिः प्रतिनिधिरनुष्ठितोऽसौ मुख्यासंभवे कार्यो न तु मुख्यसंभवे ॥ २९ ॥

**प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।**
**न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥**

प्रभुरिति । यो मुख्यानुष्ठानसमर्थः सन्नापद्धितेन प्रतिनिधिनानुष्ठानं करोति तस्य दुर्बुद्धेः पारलौकिकमभ्युदयरूपं प्रत्यवायपरिहारार्थं फलं च न भवति । आपत्कल्पेन यो धर्ममित्यनेनोक्तमप्येतच्छास्त्रादरार्थं पुनरुच्यते ॥ ३० ॥

**न ब्राह्मणोऽवेदयत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।**
**स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥३१॥**

नेति । धर्मज्ञो ब्राह्मणः किञ्चिदप्यपकृतं न राज्ञः कथयेत् । अपि तु स्वशक्त्यैव वक्ष्यमाणाभिचारादिनापकारिणो मनुष्यान्निगृह्णीयात् । ततश्च स्वकीयधर्मविरोधादपकृष्टापराधकरणे सत्यभिचारादि न दोषायेत्येवंपरमेतत् । न त्वभिचारो विधीयते राजनिवेदनं वा निषिध्यते॥

**स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।**
**तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥ ३२॥**

स्ववीर्यादिति । यस्मात्स्वसामर्थ्याद्राजसामर्थ्याच्च पराधीनराजसामर्थ्यापेक्षया स्वसामर्थ्यमेव स्वाधीनत्वाद्बलीयः । तस्मात्स्वेन वीर्येणैव शत्रून् ब्राह्मणो निगृह्णीयात् ॥३२ ॥

तत्किं स्ववीर्यमित्याह—

**श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।**
**वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्वि[illegible] ॥३३॥**

[illegible]चारोच[illegible]ति । अथर्ववेदस्य अङ्गिरसीर्दुष्[illegible] ७-
[illegible]यित्वाऽनुतिष्ठेदित्यर्थः । यस्[illegible] का।
श्रुतीरि[illegible]र्मशस्त्रकार्यकरणाच्छ[illegible] ॥
र्यात्तदर्थमभिचारम[illegible]
[illegible]ह्मणस्य वागेव श[illegible]

**क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।**
**धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥**

क्षत्रिय इति । क्षत्रियः स्वपौरुषेण शत्रुतः परिभवलक्षणामात्मन आपदं निस्तरेत् । वैश्यशूद्रौ पुनः प्रतिकर्त्रे धनदानेन । ब्राह्मणस्त्वभिचारात्मकैर्जपहोमैः ॥ ३४ ॥

**विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।**
**तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥**

विधातेति । विहितकर्मणामनुष्ठाता पुत्रशिष्यादीनां शास्ता प्रायश्चित्तादिधर्माणां वक्ता सर्वभूतमैत्रीप्रधानो ब्राह्मण उच्यते । तस्मै निगृह्यतामयमित्येवमनिष्टं न ब्रूयान्नाप्याक्रोशं वाचं वाग्दण्डधिग्दण्डरूपां तस्योच्चारयेत् ॥ ३५ ॥

**न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।**
**होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥३६॥**

न वा इति । कन्या अनूढापि तरुणी तथा अल्पाध्यायिमूर्खव्याध्यादिपीडितानुपनीताः श्रौतान्सायंप्रातर्होमान्न कुर्युः । हावयेदिति प्रसक्तावयं कन्यादीनां प्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

**नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् ।**
**तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥**

नरक इति । एते कन्यादयो होमं कुर्वाणा नरकं गच्छन्ति । यस्य तदग्निहोत्रं प्रतिनिधिरूपेण कुर्वन्ति सोऽपि नरकं गच्छति । तस्माच्छ्रौतकर्मप्रवीणः समस्तवेदाध्यायी होता कार्यः ॥ ३७ ॥

**प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमन्याधेयस्य दक्षिणाम् ।**
**अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥**

प्राजापत्यमिति । आधाने प्राजापत्यमश्वं प्रजापतिदेवताकं धनसंपत्तौ सत्यां ब्राह्मणो दक्षिणामदत्त्वा कृतेऽप्याधाने अनाहिताग्निर्भवत्याधानफलं न लभते । तस्मादाधानेऽश्वं दक्षिणां दद्यात् ॥ ३८ ॥

**पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।**
**न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते ह कथंचन ॥ ३९ ॥**

पुण्यानीति । श्रद्धावान्वशी जितेन्द्रियो यज्ञव्यतिरिक्तानि तीर्थयात्रादीनि कर्माणि पुण्यानि कुर्वीत न तु शास्त्रोक्तदक्षिणातोऽल्पदक्षिणैर्यजेत । यज्ञोपकारार्थत्वाद्दक्षिणायाः स्वल्पेनाप्युद्वेगादिदोषनिषेधार्थमिदं वचनम् ॥ ३९ ॥

**इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।**
**हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥**

इन्द्रियाणीति । चक्षुरादीनीन्द्रियाणि जीवतः ख्यातिरूपं यशः स्वर्गायुषी मृतस्य ख्यातिरूपां कीर्तिमपत्यानि पशूंश्चाल्पदक्षिणो यज्ञो नाशयति । तस्मादल्पदक्षिणादानेन यागं न कुर्यात् ॥ ४० ॥

**अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।**
**चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥**

अग्निहोत्रीति । अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छातोऽग्निषु सायंप्रातर्होमानकृत्वा मासं चान्द्रायणं चरेत् । यस्माद्वीरः पुत्रस्तस्य हत्या हननं तत्तुल्यमेतत् । तथा च श्रुतिः । वीरहा वा एष देवानां भवति योऽग्निमुद्वासयते । अन्ये तु मासमपविध्येति समर्थयन्ति ॥ ४१ ॥

**ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।**
**ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥**

ये शूद्रादिति । ये शूद्रादधिगम्यार्थं प्राप्य सामान्याभिधानेन याचनेन वार्थं स्वीकृत्य वृषलाभ्युपसेविनामिति वक्ष्यमाणलिङ्गादाधानपूर्वकमग्निहोत्रमनुतिष्ठंति ते शूद्राणामेव याजका न तु तेषां तत्फलं भवत्यतस्ते वेदवादिषु निन्दिताः ॥ ४२ ॥

**तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।**
**पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥**

तेषामिति । तेषां शूद्रधनाहिताग्निपरिचारिणां मूर्खाणां मूर्ध्नि पादं दत्वा शूद्रस्तेन दानेन सततं परलोके दुःखेभ्यो निस्तरति न तु यजमानानां फलं भवति ॥ ४३ ॥

**अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।**
**प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥**

अकुर्वन्निति । नित्यं यद्विहितं संध्योपासनादि नैमित्तिकं च शवस्पर्शादौ स्नानादि तदकुर्वन् तथा प्रतिषिद्धं हिंसाद्यनुतिष्ठन्नविहितनिषिद्धेष्वत्यन्तासक्तिं कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चित्तमर्हति । नन्विन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामत इति । निषेधान्निन्दितपदेनैव प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेष्वपि संगृहीतोऽतः पृथङ्न वक्तव्यम् । उच्यते । अस्य स्नातकव्रतेषु पाठात्तत्र व्रतानीमानि धारयेदित्युपक्रमान्नायं प्रतिषेधः किंतु व्रतविधिः । तर्ह्यकुर्वन्विहितं कर्मेत्यनेनैव प्राप्तत्वात्पृथङ्न वक्तव्यमिति चेन्न । स्नातकेतरविषयत्वेनास्य सविषयत्वात् ॥ ४४ ॥

**अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।**
**कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥**

अकामत इति । अबुद्धिकृते पापे प्रायश्चित्तं भवतीत्याहुः पंडिताः । एके पुनराचार्याः कामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं भवतीत्याहुः । एतच्च पृथक्श्रुत्यभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थं श्रुतिनिदर्शनादिति । इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीला वागेत्यावदत्स प्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपहव्यं प्रायच्छदिति । अस्यार्थः । इन्द्रो यतीन् बुद्धिपूर्वकं श्वभ्यो दत्तवान् स प्रायश्चित्तार्थं प्रजापतिसमीपमगमत् तस्मै प्रजापतिरुपहव्याख्यं कर्म प्रायश्चित्तं दत्तवान् । अतः कामकारकृतेऽप्यस्ति प्रायश्चित्तम् ॥ ४५ ॥

**अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ।**
**कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥**

अकामत इति । अनिच्छातः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति नश्यति वेदाभ्यासेनेति कामकृतविषयप्रायश्चित्तापेक्षया लघुप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थम् । प्रायश्चित्तान्तरेणापि विधानाद्रागद्वेषादिव्यामूढतया पुनरनिच्छातः कृतं नानाप्रकारैः प्रायश्चित्तैर्विद्याधनतपोभिः शुद्ध्यतीति गुरुप्रायश्चित्तपरम् । अतः पूर्वोक्तस्यैवायमध्याहारः । यद्यप्यधिकारनिरूपणं प्रकृतप्रायश्चित्तं त्वनन्तरं वक्ष्यति तथाप्यज्ञानाल्लघुप्रायश्चित्ताधिकारी ज्ञानाद्गुरुप्रायश्चित्तेऽधिक्रियत इत्यधिकारिनिरूपणमेवेदम् ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥

प्रायश्चित्तीयतामिति । दैवात्प्रमादादन्यशरीरकृतेन पूर्वजन्मार्जितदुष्कृतेन क्षयरोगादिभिः सूचितेन प्रायश्चित्तीयतां प्राप्याकृते प्रायश्चित्ते साधुभिः सह याजनादिना संसर्गं गच्छेत् ॥ ४७ ॥

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

इहेति । इह जन्मनि निषिद्धाचरणैः केचित्पूर्वजन्मकृतैर्दुष्टस्वभावा मनुष्याः कौनख्यादिकं रूपविपर्ययं प्राप्नुवन्ति ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥
अन्नहर्तामयाविित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

सुवर्णेति । पिशुन इति । अन्नहर्तेति । एवमिति । ब्राह्मणसुवर्णचौरः कुत्सितनखत्वं प्राप्नोति । निषिद्धसुरापः श्यावदन्ततां ब्रह्महा क्षयरोगित्वं गुरुभार्यागामी विकोपमेहनत्वं पिशुनो विद्यमानदोषाभिधायी दुर्गन्धिनासत्वमविद्यमानदोषाभिधायको दुर्गन्धिमुखत्वं धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वं धान्यादेरपद्रव्येण मिश्रणकर्तातिरिक्ताङ्गत्वमन्नचौरो मन्दानलत्वमननुज्ञाताध्यायी मूकत्वं वस्त्रचौरः श्वेतकुष्ठत्वमश्वचौरः खञ्जत्वम् । एवंबुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकला विकृतरूपाः साधुविगर्हिताश्च प्राग्जन्मार्जितोपभुक्तदुष्कृतशेषेणोत्पद्यन्ते । दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा । हिंसारुचिः सदा रोगी वाताङ्गः पारदारिकः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

**चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।**
**निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३॥**

चरितव्यमिति । यस्मादनिष्कृतमनाशितमेनो यैस्तेऽनिष्कृतैनसोऽकृतप्रायश्चित्ताः परलोकोपभुक्तदुष्कृतशेषेण निन्द्यैर्लक्षणैः कुनखित्वादिभिर्जायन्ते । तस्माद्विशुद्धये पापनिर्हरणार्थं प्रायश्चित्तं सदा कर्तव्यम् । एवं भिन्ने जुहोतीतिवन्न नैमित्तिकमात्रं प्रायश्चित्तं किंत्वनिष्कृतैनस इत्युपादानात्तथा विशुद्धये चरितव्यमित्युपदेशात्पापक्षयार्थिन एवाधिकारः । तथा हि । प्रायश्चित्तं हि चरितव्यमिति विधावधिकारापेक्षायां फलमात्रे निर्देशादिति रात्रिसत्रन्यायेन श्रूयमाणमेव विशुद्धय इति फलमधिकारिविशेषणं युक्तम् । इममेवार्थं स्फुटयति याज्ञवल्क्यः । विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् । अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । पतनमृच्छति पापं प्राप्नोतीत्यर्थः । विशुद्धये पापविनाशाय । बहून्वर्षगणान् घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् । संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमानित्यादिना महापातक्यादीनां नरकादिप्राप्तिं वक्ष्यति । न तन्नैमित्तिकमात्रत्वं प्रायश्चित्तानां संगच्छते । तस्माद्ब्रह्मवधादिजनितपापक्षयार्थिन एव प्रायश्चित्तविधावधिकार इति ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

**ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।**
**महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥**

ब्रह्महत्येति । ब्राह्मणप्राणवियोगफलको व्यापारो ब्रह्महत्या न च साक्षादन्यस्वामिनि युज्यते तथा गोहिरण्यग्रहणादिनिमित्तकार्यकस्यापि तदुद्देशेन ब्राह्मणमरणे ब्रह्महत्या । नन्वेवमिषुकारस्यापीषूत्पादनद्वारेण तथा वध्यस्यापि हन्तृगतमन्यूत्पादनद्वारा ब्रह्महत्या स्यात् । उच्यते । शास्त्रतो यस्य ब्राह्मणहन्तृत्वं प्रतीयते स एव ब्रह्महन्ता अतएव शातातपः । गोभूहिरण्यग्रहणे स्त्रीसंबन्धकृतेऽपि वा । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ एवं चान्यान्यपि शास्त्रीयाण्येव ब्रह्मवधनिमित्तानि ज्ञेयानि । तथा रागाद्वेषात्प्रमादाद्वा स्वतः परत एव वा । ब्राह्मणं घातयेद्यस्तु तमाहुर्ब्रह्मघातकमिति प्रयोजकस्यापि हन्तृत्वं शास्त्रीयम् । तथा निषिद्धसुरापानं ब्राह्मण-

सुवर्णहरणं गुरुभार्यागमनमेतैश्च सह संसर्गः संवत्सरेण पततीत्येतानि महापातकान्याहुः । महापातकसंज्ञा चेयं वक्ष्यमाणस्योपपातकादिसंज्ञालाघवार्थम् ॥ ५४ ॥

**अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।**
**गुरोश्चालीकनिर्बंधः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥**

अनृतमिति । जात्युत्कर्षनिमित्तमुत्कर्षभाषणं यथा ब्राह्मणोऽहमिति अब्राह्मणो ब्रवीति राजनि वा स्तेनादीनां परेषां मरणफलकं दोषाभिधानं गुरोश्चानृताभिशंसनम् । तथा च गोतमः । गुरोरनृताभिशंसनमिति । महापातकसमानीत्येतानि ब्रह्महत्यासमानीति ५५

**ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।**
**गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६॥**

ब्रह्मोज्झतेति । ब्राह्मणोऽधीतवेदस्यानभ्यासेन विस्मरणमसच्छास्त्राश्रयणेन वेदकुत्सनं साक्ष्ये मृषाभिधानं मित्रस्याब्राह्मणस्य वधः निषिद्धस्य लशुनादेर्भक्षणमनाद्यस्य पुरीषादेरदनम् । मेधातिथिस्तु न भोक्ष्यत इति संकल्प्य यद्भुज्यते तदनाद्यमित्याचष्टे । एतानि सुरापानसमानि ॥

**निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।**
**भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥**

निक्षेपस्ये इति । ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तनिक्षेपस्य हरणं तथा मनुष्यतुरगरूप्यभूमिहीरकमणीनां हरणं सुवर्णस्तेयतुल्यम् ॥ ५७ ॥

**रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ।**
**सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥**

रेतःसेक इति । सोदर्यभगिनीचण्डालीसखिपुत्रभार्यासु यो रेतःसेकस्तं गुरुभार्यागमनसमानमाहुः । एतेषां भेदेन समीकरणं यद्येन समीकरणं तस्य तेन प्रायश्चित्तार्थम् । यत्कौटसाक्ष्यसुहृद्वधयोः सुरापानसमीकरणं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं वक्ष्यति तद्विकल्पार्थम् । यत्पुनर्गुरोरलीकनिर्बन्धस्य ब्रह्महत्यासमीकृतस्य पुनरुपरिष्टाद्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशः समीकृतानां न्यूनप्रायश्चित्तं भवतीति ज्ञापनार्थम् ।

तथा च लोके राजसमः सचिव इत्युक्ते सचिवस्य न्यूनतैव गम्यते। अत्रौपदेशिकप्रायश्चित्तेऽतिदिश्यतां प्रायश्चित्तं तन्यूनं प्रायश्चित्तं समीकृतानां च ॥ ५८ ॥

इदानीमुपपातकान्याह—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥५९॥
परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च॥६३॥
इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ६४
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥६५॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

गोवध इत्यादि । परिवित्तितानुजेऽनूढ इति । कन्याया दूषणमिति । व्रात्यतेति । सर्वाकरेष्विति । इन्धनार्थमिति । अनाहिताग्निेति । धान्येति । गोहननं जातिकर्मदुष्टानां याजनं परपत्नीगमनं आत्मविक्रयः मातृपितृगुरूणां च शुश्रूषाद्यकरणं सर्वदा ब्रह्मयज्ञत्यागो न वेदविस्मरणं ब्रह्मोज्झतेत्यनेनोक्तत्वात् । अग्नेश्च

स्मार्तस्य त्यागः श्रौतानामग्निहोत्र्यपविध्याग्नीनित्युक्तत्वात्सुतस्य च संस्कारभरणाद्यकरणं कनीयसा आदौ विवाहे कृते ज्येष्ठस्य परिवित्तित्वं भवति दाराग्निहोत्रसंयोग इत्यादिना प्रागुक्तं कनिष्ठस्य परिवेत्तृत्वं तयोश्च कन्याया दानं तयोरेव विवाहहोमादियागेष्वार्त्विज्यं कन्याया मैथुनवर्जमङ्गुलिप्रक्षेपादिना दूषणं रेतःसेकपर्यन्तमैथुनेषु तु रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु चेत्युक्तत्वात्प्रतिषिद्धं वृद्धिजीवनं ब्रह्मचारिणो मैथुनं तडागोद्यानभार्यापत्यानां विक्रयः यथाकालमनुपनयनं व्रात्यता । तथा चोक्तम् । अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृता इति । बान्धवानां पितृव्यादीनामननुवृत्तिः प्रतिनियतवेतनग्रहणपूर्वकमध्यापनं प्रतिनियतवेतनप्रदानपूर्वकमध्ययनं चाविक्रय्यादीनां तिलादीनां विक्रयः सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञयाधिकारः महतां प्रवाहप्रतिबन्धहेतूनां सेतुबन्धादीनां प्रवर्तनं औषधीनां जातिमात्रादीनां हिंसनम् । एतच्च ज्ञानपूर्वकाभ्यासक्रियायां प्रायश्चित्तगौरवात् । यत्तूत्कृष्टजानामौषधीनामित्यादिना वक्ष्यति तत्सकृद्धिंसायां प्रायश्चित्तलाघवाद्भार्यादिस्त्रीणां वेश्यात्वं कृत्वा तदुपजीवनं श्येनादियज्ञेनानपराद्धस्य मारणं मन्त्रौषधिना वशीकरणं पाकादिदृष्टप्रयोजनार्थमात्रमेव वृक्षच्छेदनमनातुरस्य देवपित्राद्युद्देशमन्तरेण पाकाद्यनुष्ठानं निन्दितान्नस्य लशुनादेः सकृदनिच्छया भक्षणम् । इच्छापूर्वकाभ्यासभक्षणे पुनर्गर्हितानाद्ययोर्जग्धिरित्युक्तत्वात् । सत्यधिकारेऽध्यनाधानं सुवर्णादन्यस्य सारद्रव्यस्यापहरणं ऋणानां च ऋणैस्त्रिभिर्ऋणवान्नरो जायते तदनपकरणं श्रुतिस्मृतिविरुद्धशास्त्रशिक्षणं नृत्यगीतवादित्रोपसेवनं धान्यताम्रलोहादेः पशूनां च चौर्यं द्विजातीनां पीतमद्यया स्त्रिया गमनं स्त्रीशूद्रवैश्यक्षत्रियहननमदृष्टार्थकर्माभावबुद्धिः । एतत्प्रत्येकमुपपातकं बान्धवत्याग इत्यनेनैव मात्रादीनां त्यागप्राप्तौ पृथग्वचनं निन्दार्थम्। पितृव्यादिबान्धवत्यागेनावश्यमेव प्रायश्चित्तं भवति किंतु मात्रादित्यागप्रायश्चित्तान्यूनमपि भवति ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥६२॥६३॥ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

**ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।**
**जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥**

ब्राह्मणस्येति । ब्राह्मणस्य दण्डहस्तादिना पीडाक्रिया यदतिशयदुर्गन्धितयाऽघ्रेयं लशुनपुरीषादि तस्य मद्यस्य चाघ्राणं कुटिलत्वं वक्रता पुंसि च मुखादौ मैथुनमित्येतत्प्रत्येकं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥

**खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।**
**संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥**

खरेति । गर्दभतुरगोष्ट्रमृगहस्तिच्छागमेषमत्स्यसर्पमहिषाणां प्रत्येकं वधः संकरीकरणं ज्ञेयम् ॥ ६८ ॥

**निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।**
**अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥**

निन्दितेभ्य इति । अप्रतिग्राह्यधनेभ्यः प्रतिग्रहो वाणिज्यं शूद्रस्य परिचर्या अनृताभिधानमित्येतत्प्रत्येकमपात्रीकरणं ज्ञेयम् ॥६९॥

**कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।**
**फलेधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥**

कृमीति । कृमयः क्षुद्रजन्तवस्तेभ्य ईषत्स्थूलाः कीटास्तेषां वधः पक्षिणां च मद्यानुगतं यद्भोज्यमपि शाकाद्येकत्र पिटकादौ कृत्वा मद्येन सहानीतं तस्य भोजनम् । मेधातिथिस्तु मद्यानुगतं मद्यसंस्पृष्टमाह तन्न । तत्र प्रायश्चित्तगौरवात्फलकाष्ठपुष्पाणां च चौर्यमल्पेऽपचयेऽप्यत्यन्तवैक्लव्यम् । एतत्सर्वं प्रत्येकं मलिनीकरणम् ॥७०॥

**एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।**
**यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥**

एतानीति । एतानि ब्रह्महत्यादीनि पापानि भेदेन यथोक्तानि यैर्यैर्व्रतैः प्रायश्चित्तरूपैर्नाश्यन्ते तानि शृणुत ॥ ७१ ॥

**ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।**
**भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥७२॥**

ब्रह्महेति । यो ब्राह्मणं हतवान्स वने कुटीं कृत्वा हतस्य शिरःकपालं तदभावेऽन्यस्यापि चिन्हं कृत्वारण्ये भैक्षभुगात्मनः पापनिर्हरणाय द्वादश वर्षाणि वसेद्व्रतं कुर्यात् । अत्रापि कृतवपनो निव-

सेदिति वक्ष्यति । अनन्तरोक्ता अपि विशेषा ग्राह्याः । तथा च यमः। सप्तागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकल्पितानि च । संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥ भ्रूणघ्ने देहि मे भिक्षामेनो विख्याप्य संचरेत्। एककालं चरेद्भैक्ष्यं तदलब्ध्वोदकं पिबेत् ॥ अयं च द्वादशवार्षिकविधिर्ब्राह्मणस्याज्ञानकृतब्राह्मणवधे । इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजमिति । वक्ष्यमाणत्वात् । क्षत्रियवैश्यशूद्राणां तु क्रमेणैतद्द्वादशवार्षिकं द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं च द्रष्टव्यम् । यथोक्तं भविष्यपुराणे । द्विगुणाः क्षत्रियाणां तु वैश्यानां त्रिगुणाः स्मृताः । चतुर्गुणास्तु शूद्राणां पर्षदुक्ता महात्मनाम् ॥ पर्षदुच्यव्रतं प्रोक्तं शुद्धये पापकर्मणाम् । यावद्भिर्ब्राह्मणैर्ब्राह्मणानां सभा ततो द्विगुणैः क्षत्रियाणां द्रष्टव्यव्यवहारदर्शनाद्यर्था सभा भवेत्त्रिगुणैर्वैश्यैर्वैश्यानां चतुर्भिः शूद्रैः शूद्राणामिति संभवाच्च । क्षत्रियादीनां त्रयाणां व्रतमपि द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणमित्यर्थः । एतानि च मनूक्तब्रह्मवधप्रायश्चित्तवचनानि गुणवत्कृतनिर्गुणब्राह्मणहननविषयत्वेन भविष्यपुराणे व्याख्यातानि । हन्ता चेद्द्रुणवान्वीर अकामान्निर्गुणो हतः । कर्तव्यानि मनूक्तानि कृत्वा वै आश्वमेधिकम् ॥ ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् । गच्छेदवभृथं वापि अकामान्निर्गुणे हते ॥ जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद्बुद्धिकृतं तथा । अनुबन्धादि विज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेदिति विश्वामित्रवचनात्प्रायश्चित्ताधिक्यमूहनीयम् । कामकृते तु ब्राह्मणवधे द्विगुणं ब्रह्मवधप्रायश्चित्तं चतुर्विंशतिवर्षम् । तदाहाङ्गिराः । अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः । स्यात्त्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके ॥ ७२ ॥

**लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ।**
**प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥७३॥**

लक्ष्यमिति । धनुःशराद्यायुधधारिणां ब्रह्मवधपापक्षयार्थमयं लक्षीभूत इत्येवं जानतां स्वेच्छया बाणलक्ष्यभूतो वावतिष्ठेत् । यावन्मृतो मृतकल्पो वा विशुद्ध्येत् । तदाह याज्ञवल्क्यः । संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् । मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ अग्नौ प्रदीप्ते वाऽधोमुखस्त्रीन्वारान् शरीरं प्रक्षिपेत् । तथा प्रास्येत यथा म्रियेतेत्यापस्तम्बवचनादेवं प्रक्षिपेत् । एतत्प्राय-

श्चित्तद्वयमनन्तरे वक्ष्यमाणं च यजेत वाश्वमेधेनेत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य ब्राह्मणवधविषयम् । मनुश्लोकमेव लिखित्वा यथा व्याख्यानं भविष्यपुराणे । लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ यजेत वाश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः । प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम् ॥ क्षत्रियो निर्गुणो धीरं ब्राह्मणं वेदपारगम् । निहत्य कामतो वीरलक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत् ॥ चतुर्वेदविदं धीरं ब्राह्मणं चाग्निहोत्रिणम् । निहत्य कामादात्मानं क्षिपेदग्नाववाक्शिराः ॥ निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान्गुरु । यष्ट्वा वा अश्वमेधेन क्षत्रियो यो महीपतिः ॥ ७३ ॥

**यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।**
**अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥७४॥**

यजेतेति । यजेत वाश्वमेधेनेत्यन्तरं व्याख्यातम् । स्वर्जिता यागविशेषेण गोसवेन वा अभिजिता विश्वजिता वा त्रिवृताग्निष्टुता वा याजयेत् । एतानि चाज्ञानतो ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैवर्णिकस्य विकल्पितानि । तदुक्तं भविष्यपुराणे । स्वर्जितादेश्च यद्वीरकर्मणां पृतनापते । अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके ॥ ७४ ॥

**जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।**
**ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥**

जपन्निति । वेदानां मध्यादेकं वेदं जपन् स्वल्पाहारः संयतेन्द्रियो ब्रह्महत्यापापनिर्हरणाय योजनानां शतं गच्छेत् । एतदप्यज्ञानकृते जातिमात्रब्राह्मणवधे त्रैवर्णिकस्य प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणे अयमेव श्लोकः पठितो व्याख्यातश्च । जातिमात्रं यदा विप्रं हन्यादमतिपूर्वकम् । वेदविच्चाग्निहोत्री च तदा तस्य भवेदिदम् ७५

**सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।**
**धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥७६॥**

सर्वस्वमिति । सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाय दद्यात् । यावद्धनं जीवनाय समर्थम् । गृहं वा गृहोपयोगिधनधान्यादियुतं अतः स-

र्वस्वं वा गृहं वा सपरिच्छदं दद्यात् । जीवनायालमिति वचनाज्जीवनपर्याप्तं सर्वस्वं गृहं वा दद्यान्न ततोऽल्पम् । एतच्च जातिमात्रब्राह्मणवधे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणम् । जातिमात्रं यदा हन्याद्ब्राह्मणं ब्राह्मणो गुह । वेदाभ्यासविहीनो वै धनवानग्निवर्जितः ॥ प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिदं पापविशुद्धये । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

**हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ।**
**जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥**

हविष्येति । नीवारादिहविष्यान्नभोजी विख्यातप्रसरणादारभ्य पश्चिमादवस्रोतः प्रतिसरस्वतीं यायात् । एतच्च जातिमात्रब्राह्मणवधे ज्ञानपूर्वके । तथा भविष्यपुराणे । जातिमात्रे हते विप्रे देवेन्द्र मतिपूर्वकम् । हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद्धृतः ॥ तदैतत्कल्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तं निबोध मे । हविष्यभुक्चरेद्वापि प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् । अथवा परिमिताहारस्त्रीन्वारान् वेदसंहिताम् ॥ संहिताग्रहणात्पदक्रमव्युदासः । अत्रापि भविष्यपुराणीयो विशेषः । जातिमात्रं तु यो हन्याद्विप्रं क्षमतिपूर्वकम् । ब्राह्मणोऽत्यन्तगुणवांस्तेनेदं परिकल्पयेत् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् । ऋचो यजूंषि सामानि त्रैविद्याख्यं सुरोत्तम ॥ ७७ ॥

इदानीं समाप्ते द्वादशवर्षे इत्युपदेशाद्द्वादशवार्षिकस्य विशेषमाह—

**कृतवापनो निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।**
**आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥**

कृतेति । लूनकेशनखश्मश्रुर्गोब्राह्मणहिते रतः । गोब्राह्मणोपकारान्कुर्वन् ग्रामसमीपे गोष्ठपुण्यदेशवृक्षमूलान्यतमे निवसेत् । वने कुटीं कृत्वेत्यस्य विकल्पार्थमिदम् ॥ ७८ ॥

**ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् ।**
**मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥**

ब्राह्मणार्थ इति । प्रक्रान्ते द्वादशवार्षिकेऽतराम्युदकहिंसकाद्याक्रान्तब्राह्मणस्य गोर्वा परित्राणार्थं प्राणान्परित्यजन्ब्रह्महत्याया मु-

च्यते । गोब्राह्मणानां ततः परित्राणायामृतोऽपि मुच्यते ॥ ७९ ॥

**त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।**
**विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥**

त्रिवारमिति । स्तेनादिभिर्ब्राह्मणसर्वस्वेऽपह्रियमाणे तदानयनार्थं निर्व्याजं यथाशक्ति प्रयत्नं कुर्वंस्तत्र त्रिवारान् युद्धे प्रवर्तमानो नानीतेऽपि सर्वस्वे ब्रह्महत्यापापात्प्रमुच्यते । अथवा प्रथमवार एव विप्रसर्वस्वमपहृतं जित्वाऽर्पयति तथापि मुच्यते । यद्वा धनापहारकः स्तेनः स्वेनैव ब्राह्मणसंवर्धनमरणे प्रवर्तते तथा दायाद्यपहृतधनदानेन तं जीवयति तदापि तन्निमित्ते तस्य प्राणालाभे ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते । एतदितरप्रकारान्तरेण तु रक्षणे गोप्ता गोब्राह्मणस्य चेत्यपुनरुक्तिः ॥

**एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।**
**समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥**

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण सर्वदा नियमोपहितः स्त्रीसंयोगादिशून्यः संयतमनाः समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यापापं नाशयति । एवं ब्राह्मणार्थ इत्यादि सर्वप्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य बोद्धव्यम् ॥ ८१ ॥

**शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।**
**स्वमेनोऽवभृथस्नातो ह्यमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥**

शिष्ट्वेति । अश्वमेधे ब्राह्मणानामृत्विजां क्षत्रियस्य यजमानस्य समागमेषु ब्रह्महत्यापापं शिष्ट्वा निवेद्यावभृथस्नातो ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते । द्वादशवार्षिकस्योपसंस्कृतत्वात् । अतन्त्रमेवेदं प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणे । यदा तु गुणवान्विप्रो हत्वा विप्रं तु निर्गुणम् । अकामतस्तदा गच्छेत्स्नानं चैवाश्वमेधिकम् । गोविन्दराजस्तु अश्वमेधविवर्जितसकलप्रायश्चित्तशेषतोऽस्य प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यान्तराऽवभृथस्नाने तेनैव शुद्धिरित्याह तदयुक्तम् । भविष्यपुराणवचनविरोधात् ॥ ८२ ॥

**धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।**
**तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥**

धर्मस्येति । यस्माद्ब्राह्मणो धर्मस्य कारणं ब्राह्मणेन धर्मोपदेशे कृते धर्मानुष्ठानाद्राजा तस्याग्रं प्रान्तं मन्वादिभिरुच्यते । ताभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां समूलाग्रधर्मतरुनिष्पत्तेः । तस्मात्तेषां समागमेऽश्वमेधे पापं निवेद्यावभृथस्नातः शुद्ध्यतीत्यस्यैव विशेषः ॥ ८३ ॥

**ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ।**
**प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४॥**

ब्राह्मण इति । ब्राह्मण उत्पत्तिमात्रेणैव किं पुनः श्रुतादिभिर्देवानामपि पूज्यः सुतरां मनुष्याणां लोकस्य च प्रत्यक्षवत् प्रमाणम् । तदुपदेशस्य प्रामाण्यात् । यस्मात्तत्र वेद एव कारणं वेदमूलकत्वादुपदेशस्य । यत एवमतः ॥ ८४ ॥

**तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसुनिष्कृतिम् ।**
**सा तेषां पावनाय स्यात्सविज्ञा विदुषां हि वाक् ८५**

तेषामिति । तेषां विदुषां ब्राह्मणानां मध्ये वेदज्ञास्त्रयोऽपि किमुताधिकाः यत्पापनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं ब्रूयुस्तत्पापिनां विशुद्धये भवति यस्माद्विदुषां वाक्पावयित्री ततश्च प्रकाशप्रायश्चित्तार्थं विदुषामपि परिषदवश्यं कार्या । रहस्यप्रायश्चित्ते पुनरेतन्नास्ति रहस्यत्वविरोधात्

**अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।**
**ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥**

अत इति । अस्मात्प्रायश्चित्तगणादन्यतमं प्रायश्चित्तं ब्राह्मणादिः संयतमना आश्रित्य प्रशस्तार्थतया ब्रह्महत्याकृतं पापमपनुदति । एतच्च ब्रह्मवधादिप्रायश्चित्तविधानं सकृत्पापकरणविषयं पापावृत्तौ त्वावर्तनीयम् । एनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनीति गोतमस्मरणात् । पूर्णे चानस्यनस्थान्तशूद्रहत्याव्रतं चरेदिति बहुमारणे प्रायश्चित्तबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं स्मृतम् । तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तमिति गोतमस्मरणात् । गृहदाहादिना युगपदने कब्राह्मणहनने तु भविष्यपुराणीयो विशेषः । ब्राह्मणो ब्राह्मणं वीरब्राह्मणौ वा बहून्गुह । निहत्य युगपद्वीर एकं प्राणान्तिकं चरेत् ॥ कामतस्तु यदा हन्याद्ब्राह्मणान् सुरसत्तम । तदात्मानं दहेदग्नौ वि-

धिना येन तच्छृणु ॥ एतच्चाज्ञानविषयं सर्वमेवैतत् । तथा । अकामतो यदा हन्याद्ब्राह्मणान् ब्राह्मणो गुह । चरेद्व्रते तथा घोरे यावत्प्राणपरिक्षयम् ॥ एतच्चाज्ञानवधे प्रकृतत्वाद्युगपन्मारणविषयम् । क्रममारणे तु विधेः प्राथमिकादस्मादित्यावृत्तिविधायकं वेदवचनात् ॥

**हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।**
**राजन्यवैश्यौ चेज्जानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥**

हत्वेति । प्रकृतत्वाद्ब्राह्मणगर्भविषयं स्त्रीपुन्नपुंसकत्वेनाविज्ञातं क्षत्रियं वैश्यं च यागप्रवृत्तं हत्वा आत्रेयीं च ब्राह्मणीं तथात्रेयीं च ब्राह्मणीमिति यमस्मरणात् । हत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कुर्यात् । आत्रेयी च रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते । रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमिति वसिष्ठस्मरणात् । एवं चानात्रेयी ब्राह्मणीवधे त्रैवार्षिकमुपपातकं यथोक्तं स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध इति । यत्तूत्तरश्लोके कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधमिति तदाहिताग्निब्राह्मणस्य ब्राह्मणीभार्याविषयम् । तथा चाङ्गिराः आहिताग्नेर्ब्राह्मणस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥ ८७ ॥

**उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्ध्य गुरुं तथा ।**
**अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥**

उक्त्वेति । हिरण्यभूम्यादियुक्तसाक्ष्येऽनृतमुक्त्वा गुरोश्च मिथ्याभिशापमुत्पाद्य निक्षेपं च ब्राह्मणसुवर्णादन्यद्रजतादि द्रव्यं क्षत्रियादेः सुवर्णमपि चापहृत्य स्त्रीवधं च यथाव्याख्यातं कृत्वा मित्रं चाब्राह्मणं हत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ ८८ ॥

**इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।**
**कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥**

इयमिति । एतत्तु प्रायश्चित्तं विशेषोपदेशमन्तरेणाकामतो ब्राह्मणवधेऽभिहितम् । कामतस्तु ब्राह्मणवधे नेयं निष्कृतिर्नैतत्प्रायश्चित्तं किंत्वतो द्विगुणादिकमरणात्मकमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थं न तु प्रायश्चित्ताभावार्थम् । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैरिति पूर्वोक्तविरोधात् ॥ ८९ ॥

**सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।**
**तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥**

सुरामिति । सुराशब्दः पैष्टीमात्रे मुख्यो न तु गौडीमाध्वीषु त्रितयानुगतैकरूपाभावात्प्रत्येकं च शक्तिकल्पने शक्तित्रयकल्पनागौरवप्रसंगात् गौड्यादिमदिरासु गुणवृत्त्यापि सुराशब्दप्रयोगोपपत्तेः अत एव भविष्यपुराणे । सुरा च पैष्टी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे । पैष्ट्याः पापेन चैतासां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ यमेनोक्तम् । महाबाहो समाः सर्वा मदिरा मदयोगतः । एतासामिति निर्धारणे षष्ठी । एतासां गौडीमाध्वीपैष्टीनां प्रकृतानां मध्ये पैष्टीपाने मनूक्तं प्रायश्चित्तं सुरां पीत्वा द्विजो मोहादिति निबोधतेत्यर्थः । मुख्यां सुरां पैष्टीं रागादिव्यामूढतया द्विजो ब्राह्मणादिश्च पीत्वाऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्तया सुरया शरीरे निर्दग्धे सति द्विजस्तस्मात्पापान्मुच्यते । एतच्च गुरुत्वात्कामकारकृतसुरापानविषयम् । तथा च बृहस्पतिः । सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत् । मुखे तया स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९० ॥

**गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।**
**पयो घृतं वामरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥**

गोमूत्रमिति । गोमूत्रजलगोक्षीरगव्यघृतगोमयरसानामन्यतममग्निस्पर्शं कृत्वा यावन्मरणं पिबेत् ॥ ९१ ॥

**कणान्वा भक्षयेद्बिल्वं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।**
**सुरापानापनुत्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥**

कणान्वेति । अथवा विकृतवासा जटावान् सुराभाजनचिन्हः सूक्ष्मतण्डुलावयवानाकृष्टतैलं तिलं वा रात्रावेकवारं संवत्सरपर्यन्तं सुरापानपापनाशनार्थं भक्षयेत् । इदमबुद्धिपूर्वकमुख्यसुरापाने द्रष्टव्यं न तु गुणान्तरवैकल्पिकं लघुत्वात् ॥ ९२ ॥

**सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।**
**तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥**

सुरेति । यस्मात्तण्डुलपिष्टसाध्यत्वात्सुराऽन्नमलं मलशब्देन च

पापमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः पैष्टीं सुरां न पिबेयुः । इत्यनेन प्रतिषेधे सत्येतदतिक्रमे सुरां पीत्वेति प्रायश्चित्तमन्नमलानुवादाच्च पैष्टीनिषेध एव स्फुटस्त्रैवर्णिकस्य मनुनैवोक्तः ॥ ९३ ॥

**गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।**
**यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥**

गौडीति । या गुडेन कृता सा गौडी । एवं पिष्टेन कृता पैष्टी । मधुकवृक्षो मधुस्तत्पुष्पैः कृता सा माध्वी । एवं त्रिप्रकारा सुरा जायते । मुख्यसुरासाम्यनिवोधनमितरसुरापेक्षया ब्राह्मणस्य गौडीमाध्वीपाने प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । यथा वैका पैष्टी मुख्या सुरा पूर्ववाक्यनिषिद्धत्वात्त्रैवर्णिकस्यापेक्षया तथा पूर्वा गौडी माध्वी च द्विजोत्तमैर्न पातव्या ॥ ९४ ॥

**यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।**
**तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥**

यक्षेति । मद्यमत्र निषिद्धं पैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तं नवविधं बोद्धव्यम् । तान्याह पुलस्त्यः । पानसद्राक्षमाध्वीकं खार्जूरं तालमैक्षवम् । माध्वीकं टाङ्कमार्द्वीकमैरेयं नारिकेरजम् ॥ सामान्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव च । द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥ मांसं च प्रतिषिद्धम् । सुरा च त्रिप्रकारा प्रोक्ता । असूयत इत्यासवो मद्यानामवस्थाविशेषः । मद्यः कृतसंसाधनोऽसंजातमद्यस्वभावः । यमधिकृत्येदं पुलस्त्योक्तप्रायश्चित्तम् । द्राक्षेक्षुटङ्कखर्जूरपनसादेश्च यो रसः । सद्योजातं तु पीत्वा तु त्र्यहाच्छुद्धो द्विजोत्तमः । एवं मद्यादि चतुष्टयं यक्षरक्षःसंबन्ध्यन्नं ततस्तद्ब्राह्मणेन देवानां हविर्भक्षयता नाशितव्यम् । निषिद्धायाः सुरायाः इहोपादानं यक्षरक्षःपिशाचान्नतया निन्दार्थम् । अत्र केचिद्देवानामश्नता हविरिति पुल्लिङ्गनिर्देशाद्ब्राह्मणस्य पुंस एव मद्यप्रतिषेधो न स्त्रिया इत्याहुस्तदसत् । पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् । इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते । इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिविरोधात् ९५

**अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।**
**अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥**

अमेध्य इति । ब्राह्मणो मद्यपानमदमूढबुद्धिः सन्नशुचौ वा पतेद्वेदवाक्यं वोच्चारयेद्ब्राह्महत्याद्यकार्यं वा कुर्यादतस्तेन मद्यपानं न कार्यमिति पूर्वस्यैवानुवादः ॥ ९६ ॥

**यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।**
**तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥९७॥**

यस्येति । यस्य ब्राह्मणस्य कायगतं ब्रह्म जीवात्मा एकवारमपि मद्येनाप्लाव्यते तथा चैकवारमपि यो ब्राह्मणो मद्यं पिबति ब्राह्मण्यं व्यपैति शूद्रतां समाप्नोति । तस्मान्मद्यं सर्वथैव न पातव्यम् ॥९७॥

**एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।**
**अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥**

एषेति । इदं सुरापानजनितपापस्य नानाप्रकारं प्रायश्चित्तमभिहितम् । अतः परं ब्राह्मणसुवर्णहरणपापस्य निष्कृतिं वक्ष्यामि ॥९८॥

**सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।**
**स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ९९**

सुवर्णेति । अपहृत्य सुवर्णं तु ब्राह्मणस्य यतः स्वयमिति शातातपस्मरणाद्ब्राह्मणसुवर्णचौरो ब्राह्मणो राजानं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णापहारं स्वीयं कर्म कथयन्मम निग्रहं करोत्विति ब्रूयात् । ब्राह्मणग्रहणं मनुष्यमात्रप्रदर्शनार्थम् । प्रायश्चित्तीयते नर इति प्रकृतत्वात्क्षत्रियादीनां च प्रायश्चितामिधानात् ॥ ९९ ॥

**गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।**
**वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥**

गृहीत्वेति । स्कंधेनादाय मुसलमित्यादेरुक्तत्वात्तेनार्पितं मुसलादिकं गृहीत्वा स्तेयकारिणं मनुष्यमेकवारं राजा स्वयं हन्यात् । स च स्तेनो वधेन मुसलाभिघातेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिरिति याज्ञवल्क्यस्मरणान्मृतो वा मृतकल्पो वा जीवन्तस्मात्पापान्मुच्यते ब्राह्मणः पुनस्तपसैव वेत्येवकारदर्शनात् । तथा च । न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितमिति तपसैव शुद्ध्यति । अत एव मन्वर्थव्याख्यानपरे भविष्यपुराणे यदेतद्वचनं वीर ब्राह्मणस्तपसैव वा । तत्रैव

कारणाद्विद्वन् ब्राह्मणस्य सुराधिप ॥ तपसैवेत्यनेनेह प्रतिषेधो व-धस्य तु । वाशब्दश्च क्षत्रियादीनामपि तपोविकल्पार्थः । ब्राह्मणस्य तु तप एवेति नियमो न तु ब्राह्मणस्यैव तपः । अत एव भविष्य-पुराणे । इतरेषामपि विभो तपो न प्रतिषिध्यत इति ॥ १०० ॥

तदेव तप आह—

**तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।**
**चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥१०१॥**

तपसेति । तपसा स्वर्णस्तेयोत्पन्नं पापं द्विजो निर्हर्तुमिच्छन्नर-ण्यग्रहणात्प्राथम्याच्च ब्रह्महणि यद्व्रतमुक्तं तत्कुर्यात् । एतच्च द्वादश-वार्षिकं क्लेशगौरवात्क्षत्रियादीनां मरणेन विकल्पितत्वाच्च ब्राह्मणसंब-न्धिनः सुवर्णापहरणे पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडशेति सुवर्णपरिमाणं द्रष्टव्यं न ततो न्यूनस्य । परिमाणापेक्षया मनूक्त-परिमाणस्य ग्रहीतुं न्याय्यत्वात् यत्त्वधिकपरिमाणं भविष्यपुराणे श्रूयते तत्तथानुबन्धविशिष्टापहारे तथाविधप्रायश्चित्तविषयमेव । तथा भविष्यपुराणे । क्षत्रियाद्यास्त्रयो वर्णा निर्गुणा ह्यघतत्पराः । गुणाढ्यस्य तु विप्रस्य पञ्च निष्कान्हरन्ति चेत् ॥ निष्कानेकादश तथा दग्ध्वात्मानं तु पावके । शुद्ध्येयुर्मरणाद्वीर चरेद्ब्रह्मात्मशुद्धये ॥

**एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।**
**गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥**

एतैरिति । ब्राह्मणसुवर्णस्तेयजनितपापमेभिर्व्रतैर्द्विजो निर्हरेद्व्रतत-पसोर्द्वयोरुक्तत्वात् । एतैरिति बहुवचनं संबन्धापेक्षया मनूक्तमपि प्रायश्चित्तं कल्पनीयमिति ज्ञापनार्थम् । गुरुस्त्रीगमननिमित्तं पुनः पापमेभिर्वक्ष्यमाणैः प्रायश्चित्तैर्निर्हरेत् ॥ १०२ ॥

**गुरुतल्पाभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।**
**सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥**

गुर्विति । निषेकादीनि कर्माणीत्युक्तत्वाद्गुरुः पिता तल्पं भार्या गुरुतल्पं गुरुभार्या तद्गामी गुरुभार्यागमनपापं विख्याप्य लोहमये तप्तशयने स्वप्यात् । लोहमयीं स्त्रीप्रतिकृतिं कृत्वा ज्वलन्तीमालिङ्ग्य मृत्युनात्मा विशुद्धो भवति ॥ १०३ ॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

स्वयं वेति । आत्मनैव वा लिङ्गवृषणौ छित्त्वा अञ्जलौ कृत्वा यावच्छरीरपातमवक्रगतिः सन् दक्षिणपश्चिमां दिशं गच्छेत् । एवं चोक्तप्रायश्चित्तद्वयं गुरुत्वात्सवर्णगुरुभार्याविषयं ज्ञानतो रेतोविसर्गपर्यन्तमैथुनविषयम् ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्की चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

खट्वाङ्गीति । खट्वाङ्गभृद्ब्रह्मवधलाञ्छनः केशनखलोमश्मश्रुधारी संयतमना निर्जने वने वर्षमेकं प्राजापत्यव्रतं चरेत् । एवं च वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तं च लघुत्वात्स्वभार्यादिभ्रमेणाज्ञानविषयं बोद्धव्यम् ॥

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

चान्द्रायणमित्यादि । यद्वा गुरुभार्यापापनिर्हरणाय संयतेन्द्रियः फलमूलादिना हविष्येण नीवारादिकृतयवाग्वा वा त्रीन् मासान् चान्द्रायणान्याचरेत् । एतच्च पूर्वोक्तादपि लघुत्वादसाध्वीमसवर्णां वा गुरुभार्यां गच्छतो द्रष्टव्यम् ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

एतैरित्यादि । एभिरुक्तव्रतैर्ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणः पापं निर्हरेयुः । गोवधाद्युपपातककारिणः पुनर्वक्ष्यमाणप्रकारेणानेकरूपव्रतैः पापानि निर्हरेयुः ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत्॥११०॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः॥१११॥
आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥११३॥
आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

उपपातकेति । अनेन विधिना यस्त्विति यावत्कुलकम् । उपपातकयुक्तो गोघाती शिथिलयवागूरूपेण प्रथममासं यवान्पिबेत् । सशिखं मुण्डितशिरा लूनश्मश्रुस्तेन हतगोचर्मणाच्छादितदेहो मासत्रयं [illegible] कृत्रिमलवणवर्जितं हविष्यमन्नमेकाहं भुक्त्वा द्वितीयेऽह्नि सायं द्वितीयतृतीयमासावश्नीयात् । मासद्वयमेव दिवा प्रातस्ता गा अनुगच्छेत्तासां च गवां खुरप्रहारादूर्ध्वमुत्थितं रजस्तिष्ठन्नास्वादयेत्कण्डूयनादिना ताः परिचर्य प्रणम्य च रात्रौ भित्त्यादिकमनुवेष्ट्योपविष्ट आसीत । तथा शुचिर्विगतक्रोध उत्थितासु गोषु पश्चादुत्तिष्ठेद्वने च परिभ्रमन्तीषु पश्चात्ततः परिभ्रमेत् । उपविष्टासु गोषूपविशेत् । व्याधितां चौरव्याघ्रादिभयहेतुभिराक्रान्तां पतितां कर्दमलग्नां वा यथाशक्ति मोचयेत् । तथा उष्ण आदित्ये तपति मेघे च वर्षति शीते चोपस्थिते मारुते चात्यर्थं वाति गोर्यथाशक्ति रक्षामकृत्वात्मनस्त्राणं न कुर्यात्तथात्मनोऽन्येषां वा गेहे क्षेत्रे खलेषु सस्यादिभक्षणं कुर्वन्तीं वत्सं च

क्षीरं पिवन्तं न कथयेत् । अनेनोक्तविधानेन यो गोघ्नो गाः परिचरति स गोवधजनितपापं त्रिभिर्मासैरपनुदति ॥ १०८ ॥ ११५ ॥

**वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।**
**अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥**

वृषभैकादशा इति । वृषभ एकादशो यासां ताः सम्यगनुष्ठितप्रायश्चित्तो दद्यात् । अविद्यमाने तावति धने सर्वस्वं वेदज्ञेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ ११६ ॥

**एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।**
**अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ११७**

एतदेवेति । अपरे तूपपातकिनो वक्ष्यमाणावकीर्णिवर्जिताः पापनिर्हरणार्थमेतदेव गोवधप्रायश्चित्तं चान्द्रायणं वा लघुत्वात्कुर्युः । चान्द्रायणं तु लघुन्युपपातके जातिशक्तिगुणाद्यपेक्ष्यं वा योजनीयम् ११७

**अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।**
**पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥**

अवकीर्णी खिति । अवकीर्णी वक्ष्यमाणः काणेन गर्दभेन रात्रौ चतुष्पथे पाकयज्ञेन तन्त्रेण निर्ऋत्याख्यां देवतां यजेत् ॥ ११८ ॥

**हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समत्यृचा ।**
**वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥**

हुत्वेवि । ततो निर्ऋत्यै गर्दभवपादिहोमान्यथावच्चतुष्पथे कृत्वा तदन्ते समासिञ्चन्तु मारुत इत्येतया ऋचा मारुतेन्द्रबृहस्पत्यग्नीनां घृतेनाहुतीर्जुहुयात् ॥ ११९ ॥

अप्रसिद्धत्वादवकीर्णवतो लक्षणमाह—

**कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।**
**अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥**

कामत इति । इच्छातो द्विजः अवकीर्णी भवेद्व्रत्वा ब्रह्मचारी च

योषितमिति वचनात्स्त्रीयोनौ शुक्रोत्सर्गं ब्रह्मचर्यस्यातिक्रममवकीर्णरूपं सर्वज्ञा वेदविदः प्राहुः ॥ १२० ॥

**मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।**
**चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः १२१**

मारुतमिति । व्रतचारिणो वेदाध्ययननियमानुष्ठानजं तेजः तदवकीर्णिनः सतो मरुदिन्द्रबृहस्पतिपावकांश्चतुरः संक्रामत्यतस्तेभ्य आहुतीर्जुहुयात् । इत्याज्याहुतेरयमनुवादः ॥ १२१ ॥

**एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वासित्वा गर्दभाजिनम् ।**
**सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥**

एतस्मिन्निति । एतस्मिन्नवकीर्णाख्ये पाप उत्पन्ने पूर्वोक्तं गर्दभयागादि कृत्वा गर्दभचर्म परिधायेति हारीतस्मरणात्स गर्दभसंबन्धिचर्मप्रावृतोऽवकीर्ण्यहमिति स्वकर्मख्यापनं कुर्वन्सप्त गृहाणि भैक्षं चरेत् ॥ १२२ ॥

**तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।**
**उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥**

तेभ्य इति । तेभ्यः सप्तगृहेभ्यो लब्धेन भैक्षेणैककालमाहारं कुर्वन्सायंप्रातर्मध्यन्दिनेषु च स्नानमाचरन्संवत्सरेणैव विशुद्ध्यति ॥

**जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।**
**चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४॥**

जातीति । ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वेत्यादि जातिभ्रंशकर्मोक्तं तन्मध्यादन्यतमं कर्मविशेषमिच्छातः कृत्वा वक्ष्यमाणं सान्तपनं सप्ताहसाध्यं कुर्यात् । अनिच्छातः पुनः कृत्वा प्राजापत्यं वक्ष्यमाणं चरेत्

**संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।**
**मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥**

संकरेति । खराश्वोष्ट्रेत्यादिना संकरीकरणान्युक्तानि निन्दितेभ्यो धनादानमित्यादिना चापात्रीकरणान्युक्तानि तेषां मध्यादन्यतममिच्छातः कृत्वा चान्द्रायणं मासं शुद्धये कुर्यात् । कृमिकीटवयोहत्ये-

त्यादिना मलिनीकरणान्युक्तानि तन्मध्यादेकमिच्छातः कृत्वा त्रिरात्रं यवागूं क्वथितामश्नीयात् ॥ १२५ ॥

**तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।**
**वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥१२६॥**

तुरीय इति । ब्रह्महत्यातुरीयो भागः त्रैवार्षिकरूपः । द्वादशवार्षिकस्य चतुर्थो भागः । एतच्च प्रायश्चित्तं स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध इत्युपपातकत्वेनोपदिष्टं त्रैवार्षिकत्वापेक्षया गुरुत्वाद्वृत्तस्थक्षत्रियस्य कामतो वधे द्रष्टव्यम् । वैश्ये साध्वाचारे कामतो हतेऽष्टमो भागः सार्धवार्षिकं व्रतम् । शूद्रे वृत्तस्थे हते कामतो द्रष्टव्यं नवमासिकम्

**अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।**
**वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥**

अकामत इति । अबुद्धिपूर्वकं पुनः क्षत्रियं निहत्य वृषभेनाधिकं सहस्रं यासां गवां ता आत्मशुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ १२७ ॥

**त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।**
**वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥**

त्र्यब्दमिति । यद्वा संयतो जटावान् ग्रामाद्विप्रकृष्टवृक्षमूले कृतनिवासो ब्रह्महणि यदुक्तं ब्रह्महा द्वादश समा इत्यादि तद्वर्षत्रयं कुर्यात् । ननु तुरीयो ब्रह्महत्याया इत्यनेन पुनरुक्तिर्वाच्या । जटी दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतन इति वचनाद्व्यतिरिक्तशवशिरोध्वजधारणादि सकलधर्मनिवृत्त्यर्थत्वादस्य ग्रन्थस्य । अकामाधिकाराच्चेदमकामतः । अत एवाङ्गलाघवाद्युचितम् ॥ १२८ ॥

**एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।**
**प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥**

एतदिति । एतदेव द्वादशवार्षिकव्रतमकामतः साध्वाचारं वैश्यं निहत्य वर्षमेकं ब्राह्मणादिः कुर्यादेकाधिकं वा गोशतं दद्यात् १२९

**एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।**
**वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः १३०**

एतदिति । एतदप्यकामत इदमेव व्रतं शूद्रहा षण्मासं चरेत् । वृषभ एकादशो यासां गवां ताः शुक्लवर्णा ब्राह्मणाय दद्यात् १३०

**मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।**
**श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥**

मार्जारेति । विडालनकुलचाषभेककुक्कुरगोधापेचककाकानामेकैकं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं स्त्रीशूद्रवध इत्युपपातकप्रायश्चित्तं गोवधव्रतं चान्द्रायणं चरेत् । न तु शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडश इत्यादि प्रायश्चित्तं पापस्य लघुत्वात् । चान्द्रायणमप्येतत्कामतोऽभ्यासादिविषये द्रष्टव्यम् ॥ १३१ ॥

**पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।**
**उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥**

पय इति । अबुद्धिपूर्वकं मार्जारादीनां वधे त्रिरात्रं क्षीरं पिबेत् अथ मन्दानलत्वादिना न समर्थस्त्रिरात्रं प्रतियोजनमध्वनो व्रजेदत्राशक्तस्त्रिरात्रं नद्यां स्नायात्तत्राप्यक्षमस्त्रिरात्रमापोहिष्ठेत्यादिसूक्तं जपेत् । यथोत्तरं लघुत्वात्पूर्वपूर्वासंभवे उत्तरोत्तरपरिग्रहो न तु वैकल्पिकः

**अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।**
**पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥**

अभ्रिमिति । सर्पं हत्वा ब्राह्मणाय तीक्ष्णाग्रं लोहदण्डं दद्यात् । नपुंसकं हत्वा पलालभारं सीसकं च माषकं ब्राह्मणाय दद्यात् १३३

**घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।**
**शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् १३४**

घृतेति । सूकरे हते घृतपूर्णं घटं ब्राह्मणाय दद्यात्तित्तिरिसंज्ञिनि पक्षिणि हते चतुराढकपरिमाणं तिलं दद्यात् । शुके हते द्विवर्षं वत्सं क्रौञ्चाख्यं पक्षिणं हत्वा त्रिवर्षं वत्सं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १३४ ॥

**हत्वा हंसं बलाकां च वकं बर्हिणमेव च ।**
**वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् १३५**

हत्वेति । हंसबलाकामयूरवानरश्येनभासाख्यपक्षिणामन्यतमं हत्वा ब्राह्मणाय गां दद्यात् ॥ १३५ ॥

**वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।**
**अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥**

वास इति । अश्वं हत्वा वस्त्रं दद्यात् हस्तिनं हत्वा पञ्च नीलान्वृषभान् दद्यात्प्रत्येकं छागमेषौ हत्वा वृषभं दद्यात् गर्दभं हत्वैकवर्षं वत्सं दद्यात् ॥ १३६ ॥

**क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।**
**अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१३७॥**

क्रव्यादानिति । आममांसभक्षिणो मृगान् व्याघ्रादीन्हत्वा बहुक्षीरां धेनुं दद्यात् । आममांसभक्षकान् हरिणादीन् हत्वा प्रौढवत्सिकां दद्यात् । उष्ट्रं हत्वा सुवर्णकृष्णलं रक्तिकां दद्यात् ॥ १३७ ॥

**जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।**
**चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥१३८॥**

जीनेति । ब्राह्मणादिवर्णस्त्रियो लोभादुत्कृष्टापकृष्टपुरुषव्यभिचारिणीर्हत्वा ब्राह्मणादिक्रमेण चर्मपुटधनुश्छागमेषान् शुद्ध्यर्थं दद्यात् ॥

**दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।**
**एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥**

दानेनेति । अभ्रिप्रभृतीनामभावाद्दानेन सर्वपापनिर्हरणं कर्तुमसमर्थो ब्राह्मणादिः प्रत्येकं वधे कृच्छ्रं प्राथम्यात्प्राजापत्यं द्विजः पापनिर्हरणार्थं चरेत् । सर्पादयश्चाभ्रिं काष्णायसीं दद्यादित्येवमारभ्यैतत्पर्यन्ता गृह्यन्ते ॥ १३९ ॥

**अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।**
**पूर्णे चानस्थनस्थां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥**

अस्थिमतामिति । अनस्थिसाहचर्यादस्थिमतां प्राणिनां कृकलासादीनां सहस्रस्य वधे शूद्रवधप्रायश्चित्तमौपदेशिकं कुर्यात् अस्थिरहितानां च शकटपरिमितानां वधे तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् १४०

**किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।**
**अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति १४१**

किञ्चिदिति । अस्थिमतां क्षुद्रजन्तूनां कृकलासादीनां प्रत्येकं वधे किञ्चिदेव दद्यात् । अस्थिमतां वधे पणो देयः स्ववर्णस्येति स्मरणात्किञ्चिदेवेति पणो बोद्धव्यः । अनस्थिमतां तु यूकामत्कुणादीनां प्रत्येकं वधे प्राणायामेन शुद्धो भवति । प्राणायामश्च । सव्याहृतिकां सप्रणवां सावित्रीं शिरसा सह । त्रिःपठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यत इति वसिष्ठप्रोक्तलक्षणो ग्राह्यः ॥ १४१ ॥

**फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।**
**गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् १४२**

फलदानामिति । फलदानामाम्रादीनां वृक्षाणां गुल्मानां कुब्जकादीनां वल्लीनां गुडूच्यादीनां लतानां वृक्षशाखासक्तानां पुष्पितानां च वीरुधां कूष्माण्डादीनां प्रत्येकं छेदने पापप्रमोचनार्थं सावित्र्यादि ऋक्शतं जपनीयम् । इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनमित्यादेरुपपातकमध्ये पठितस्य गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् । इदं फलवद्वृक्षादिच्छेदने लघुप्रायश्चित्तं सकृदबुद्धिपूर्वकविषयं वेदितव्यम् १४२

**अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः ।**
**फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥**

अन्नाद्यजानामिति । अन्नादिषु जातानां गुडादिरसजातानां चोदुम्बरादिफलसंभवानां मधूकादिपुष्पोद्भवानां च सर्वप्राणिनां वधे घृतप्राशनं पापशोधनम् ॥ १४३ ॥

**कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।**
**वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥**

कृष्टजानामिति । कर्षणपूर्वकजातानामोषधीनां षष्टिकादीनां वने च स्वयमुत्पन्नानां निःप्रयोजनच्छेदने क्षीराहारः । एष्वेकमहो गोरनुगमनं कुर्यात् ॥ १४४ ॥

**एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।**
**ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥**

एतैरिति । एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्हिंसाजनितपापं ज्ञानाज्ञानकृतं निर्हरणीयम् । इदानीमभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं शृणुत॥१४५॥

**अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।**
**मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः॥१४६॥**

अज्ञानादिति । महापातकप्रकरणव्यवधानेनास्यान्नानान्नेदं मुख्यपैष्टीसुराविषयं वचनं किंतु तदितरविषयम् । तत्र यथा चैका तथा सर्वा गौडीमाध्व्योर्मुख्यसुरासाम्यबोधनमितरमद्यापेक्षया ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थमित्युक्तम् । गौडीं माध्वीं च पीत्वा गोतमोक्तं तप्तकृच्छ्रं कृत्वा पुनः संस्कारेणैव शुद्ध्यति । तथा च गोतमः । अमत्या मद्यपाने पयोघृतमुदकं वायुं प्रत्यहं तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारः । इत्थमेव व्याख्यातं भविष्यपुराणे । अकामतः कृते पाने गौडीमाध्व्योर्नराधिप । तप्तकृच्छ्रविधानं स्याद्गोतमेन यथोदितम् ॥ बुद्धिपूर्वकं तु पैष्टीतरमद्यपाने प्राणान्तिकमनिर्देश्यमिति शास्त्रमर्यादा । तथा गौडीमाध्व्योर्ज्ञानात्पाने मरणनिषेधादितरमद्यापेक्षया गुरुत्वाच्च मानवमेव कणान्वा भक्षयेदब्दमिति प्रायश्चित्तमुक्तम् । अत एव गौडीमाध्व्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे । यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत् । कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापापापनुत्यर्थं वालवासा जटी ध्वजीति । पैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तपुलस्त्योक्तपानसादिनवविधमद्यस्य प्रत्येकं पाने लघुत्वात्संस्कारमात्रमेव केवलमन्यद्वा लघुत्वात्प्रायश्चित्तं ब्राह्मणस्य युक्तम् । बुद्धिपूर्वं पानसादिमद्यपाने तु । मतिपूर्वं सुरापाने कृते वै ज्ञानतो गुह । कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ भवतः पुनः संस्कार एव हीति भविष्यपुराणीयमन्यद्विविधं मुन्यन्तरोक्तम् ॥ १४६ ॥

**अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।**
**पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥**

अप इति । पैष्टीसुराभाण्डे तदितरमद्यभाण्डेऽवस्थिता अपः सुरारसगन्धवर्जिताः पीत्वा शङ्खपुष्पाख्यौषधिप्रक्षेपेण पक्वं क्षीरं न तूदकं शङ्खपुष्पीविपक्वेन क्षीरेण वर्तयेदिति बौधायनस्मरणात्पञ्चरात्रं पिबेत् । सुरामद्ययोः सर्वत्रैव गुरुलघुप्रायश्चित्ताभिधानादिहापि ज्ञा-

नाज्ञानादिप्रकारभेदेन विषयसमीकरणं समाधेयम् । वाचनिकमेव प्रायश्चित्तं साध्यमिति मेधातिथिराह ॥ १४७ ॥

**स्पृष्ट्वा दत्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।**
**शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्र्यहम् १४८**

स्पृष्ट्वेति । सुरां स्पृष्ट्वा दत्वा च स्वस्तिवाचनपूर्वकं च प्रतिगृह्य शूद्रोच्छिष्टाश्च अपः पीत्वा प्रतिगृह्याभ्युपादानाद्ब्राह्मणो दर्भक्वथितमुदकं त्र्यहं पिबेत् ॥ १४८ ॥

**ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।**
**प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति १४९**

ब्राह्मणस्त्वित्यादि । ब्राह्मणः पुनः कृतसोमयागः सुरापस्य मुखसंबन्धिनं गन्धं घ्रात्वा जलमध्ये प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्धो भवति ॥ १४९ ॥

**अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।**
**पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥१५०॥**

अज्ञानादिति । विड्वराहादीनां वक्ष्यमाणत्वादबुद्धिपूर्वकं मनुष्यसंबन्धि मूत्रं पुरीषं वा प्राश्य मद्यसुरासंस्पृष्टं च भक्तादिरसं वा प्राश्य द्विजातयस्त्रयो वर्णाः पुनरुपनयनमर्हन्ति ॥ १५० ॥

**वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्या व्रतानि च ।**
**निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि॥१५१॥**

वपनमिति । शिरोमुण्डनं मेखलाधारणं दण्डधारणं भैक्षाणि व्रतानि च मधुमांसस्त्रीवर्जनयुतानि प्रायश्चित्तानि पुनरुपनयने द्विजातीनां न भवन्ति ॥ १५१ ॥

**अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।**
**जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत्॥१५२॥**

अभोज्यानामिति । अभोज्यान्नानां नाश्रोत्रियकृते यज्ञ इत्याद्युक्तानामन्नं भुक्त्वा जलमिश्रितसक्तुरूपेण यवागूरूपेण वा यवान्पानयोग्यान्कृत्वा सप्तरात्रं पिबेत् । अमुष्मिन्नेव विषये मत्या भुक्त्वा

चरेत्कृच्छ्रमिति चतुर्थाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तेन सह वैकल्पिकम् । विकल्पश्च कर्तृशक्त्यपेक्ष्यः । तथा द्विजातिस्त्रीणामुच्छिष्टं शूद्रोच्छिष्टं वा भुक्त्वैतदेव कुर्यात्तथा क्रव्यादसूकरोष्ट्राणामित्यादिना यद्विशेषप्रायश्चित्तं तन्निषिद्धमांसं भुक्त्वेदमेव कुर्यात् ॥ १५२ ॥

**शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यपि द्विजः ।**
**तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥**

शुक्तानीति । यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालयोगेनोदकपरिमाणादिनाऽम्लभावं व्रजन्ति तानि शुक्तानि कषायान् विभीतकादीन् कथितान्यप्रतिषिद्धान्यपि पीत्वा यावन्न जीर्णानि भवन्ति तावदशुचिः पुरुषो भवति ॥ १५३ ॥

**विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।**
**प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१५४॥**

विड्वराहेति । ग्राम्यसूकरखरोष्ट्रशृगालवानरकाकानां मूत्रं पुरीषं वा द्विजातिर्भुक्त्वाचान्द्रायणं कुर्यात् । शोधनं यत्तु छत्राकं विड्वराहं चेत्यनेन विड्वराहग्रामकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तदभ्यासविषये व्याख्यातम् । इदं त्वनभ्यासविषये तप्तकृच्छ्रमित्यविरोधः ॥ १५४ ॥

**शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।**
**अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥**

शुष्काणीति । वाय्वादिना शोषितानि मांसानि भुक्त्वा भूम्यादिप्रभवानि छत्राकानि भुक्त्वा भूमिजं वा वृक्षजं वा छत्राकं भक्षयन्ति ये ब्रह्मन्मांस्तान्विजानीयादिति यमेन वृक्षस्यापि निषेधात् । हरिणमांसं वाऽभक्ष्यमांसमिति भक्ष्याभक्ष्यतया यन्न ज्ञातं तथा हिंसास्थानं सूना ततो यदानीतं तद्भुक्त्वा चान्द्रायणमेव कुर्यात् १५५

**क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।**
**नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥**

क्रव्यादेति । आममांसभक्षिणां ग्राम्यसूकरोष्ट्रग्राम्यकुक्कुटानां तथा मानुषकाकगर्दभानां प्रत्येकं बुद्धिपूर्वकं मांसभक्षणे वक्ष्यमाणं तप्तकृच्छ्रं प्रायश्चित्तम् ॥ १५६ ॥

**मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः।**
**स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥**

मासिकान्नमिति। यो ब्रह्मचारी ब्राह्मणो मासिकश्राद्धसंबन्ध्यन्नमश्नाति। एतच्च सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टश्राद्धार्थोपलक्षणं स त्रिरात्रमुपवसेत्। त्रिरात्रमध्य एकस्मिन्नहनि जलमावसेत् ॥१५७॥

**ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन।**
**स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥१५८॥**

ब्रह्मचारीति। यो ब्रह्मचारी माक्षिकं मांसं वा अनिच्छातः आपदि वा अद्यात् स प्राजापत्यं कृत्वा प्रारब्धब्रह्मचर्यव्रतशेषं समापयेत्

**विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च।**
**केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥**

विडालेति। विडालकाकमूषिककुक्कुरनकुलानामुच्छिष्टं केशकीटरूपसंसर्गदुष्टं वा कृतमृत्क्षेपविशुद्धिकं ज्ञात्वा भुक्त्वा ब्रह्मसुवर्चलां क्वथितमुदकं पिबेत् ॥ १५९ ॥

**अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।**
**अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः १६०**

अभोज्यमिति। आत्मनः शुद्धिकामेन प्रतिषिद्धमन्नं नादनीयम्। प्रमादात्तु भुक्तं वमितव्यम्। तदसंभवे प्राश्चित्तैः क्षिप्रं शोधनीयम्। वमनपक्षे तु लघुप्रायश्चित्तं भवत्येव। ज्ञानतः पुनः पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६० ॥

**एषोऽनाद्यदनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः।**
**स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१॥**

एष इति। अभक्ष्यभक्षणे यानि प्रायश्चित्तानि तेषामेतन्नानाप्रकारविधानमुक्तम्। स्तेयपापकारिणां विधानमधुना श्रूयताम् ॥ १६१॥

**धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः।**
**स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२॥**

धान्येति । ब्राह्मणो ब्राह्मणगृहाद्धान्यभक्ताद्यन्नरूपाणि धनचौर्यो-णीच्छातः न त्वात्मीयभ्रान्त्या नीत्वा संवत्सरं प्राजापत्यव्रताचरणेन शुद्ध्यति । एतच्च देशकालद्रव्यपरिमाणस्वामिगुणाद्यपेक्षया महत्त्वादि-वोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि ॥ १६२ ॥

**मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।**
**कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् १६३**

मनुष्याणामिति । पुरुषस्त्रीक्षेत्रगृहाणामन्यतमहरणे कूपजलस्य वापीजलस्य वा समस्तस्य वा हरणे चान्द्रायणं प्रायश्चित्तं मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १६३ ॥

**द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः ।**
**चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥**

द्रव्याणामिति । द्रव्याणामल्पार्घाणामल्पप्रयोजनानां चानुक्तप्रा-यश्चित्तविशेषाणां त्रपुसीसकादीनां परगृहाच्चौर्यं कृत्वा तदपहृतं द्र-व्यं स्वामिने दत्वा सान्तपनं कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं चात्मशुद्धये कुर्यात् । स्वामिनेऽपहृतं द्रव्यं निर्यात्येति सर्वस्तेयप्रायश्चित्तशेषः६४

**भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।**
**पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम्॥ १६५ ॥**

भक्ष्येति । भक्ष्यस्य मोदकादेः भोज्यस्य पायसादेः यानस्य शकटादेः शय्याया आसनस्य च पुष्पमूलफलानां च प्रत्येकमपहरणे पञ्चगव्य-पानं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

**तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।**
**चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् १६६**

तृणेति । तृणकाष्ठवृक्षाणां शुष्कान्नस्य च तण्डुलादेर्वस्त्रचर्ममां-सानां मध्ये एकस्याप्यपहरणे त्रिरात्रमुपवासं चरेत् ॥ १६६ ॥

**मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।**
**अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता १६७**

मणीति । मणिमुक्ताविद्रुमताम्ररूप्यलोहकांस्योपलानां च प्रत्येक-

मपहरणे द्वादशाहं तण्डुलकणभक्षणं कुर्यात् । सर्वत्र चात्र सकृदभ्यासदेशकालद्रव्यस्वामिगुणादौ शक्त्यपेक्षयोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यापहारिविषयसमीकरणं समाधेयम् ॥ १६७ ॥

**कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।**
**पक्षिगन्धौषधीनां च रज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥**

कार्पासेति । कार्पासकृमिकोशोर्णानां वस्त्राणां द्विशफैकशफस्य गोरश्वादेः पक्षिणां शुकादीनां गन्धानां च चन्दनप्रभृतीनां रज्वाश्च प्रत्येकं हरणे त्र्यहं क्षीराहारः स्यात् । अत्रापि पूर्ववद्विषयसमीकरणपरिहारः स्वामिनश्चोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यसमर्पणादपि वचनादेकरूपप्रायश्चित्ताविरोधः ॥ १६८ ॥

**एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।**
**अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥**

एतैरिति । एतैरुक्तैः स्तेयजनितपापं द्विजातिरपानुदेत् । अगम्यागमननिमित्तं पुनरेभिर्वक्ष्यमाणैर्व्रतैर्निर्हरेत् ॥ १६९ ॥

**गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।**
**सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च १७०**

गुरुतल्पव्रतमिति । स्वयोनिषु सोदर्यभगिनीषु तथा मित्रभार्यासु पुत्रपत्नीषु कुमारीषु चाण्डालीषु प्रत्येकं रेतः सिक्त्वा गुरुदारगमनप्रायश्चित्तं कुर्यात् । अत्रापि ज्ञानाभ्यासाद्यनुबन्धापेक्षया मरणान्तिकम् । अत एव रेतः सिक्त्वा कुमारीषु चाण्डालीष्वन्त्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयत इति यमेन मरणान्तिकमुपदिष्टमज्ञानात्तद्व्रतम् ॥ १७० ॥

**पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।**
**मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् १७१**

पैतृष्वसेयीमिति । पितृष्वसुर्मातृष्वसुश्च दुहितरं भगिनीं मातुश्च सोदर्यभ्रातुर्दुहितरं सोदर्यभगिनीमिव निषिद्धगमनां गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात् ॥१७१॥

**एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।**
**ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥**

एता इति । तिस्र एताः पैतृष्वसेय्याद्या भार्यार्थे प्राज्ञो नोद्वहेत् । ज्ञातित्वेन बान्धवत्वेन ता नोपेतव्याः । यस्मादेता उपयन् उपागच्छन्नरकं याति । असपिण्डा च या मातुरित्यनेन निषेधसिद्धौ दाक्षिणात्याचारदर्शननिषेधदाढ्यर्थं पुनर्वचनम् ॥ १७२ ॥

**अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।**
**रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् १७३**

अमानुषीष्विति । अमानुषीषु वडवाद्यासु न गवि । तथा गोष्ववकीर्णी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेदिति शङ्खलिखितादिभिर्गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् । तथा रजस्वलायां योनितश्चान्यत्र स्त्रियां जले रेतःसेकं कृत्वा पुरुषः सान्तपनं कृच्छ्रं कुर्यात् ॥ १७३ ॥

**मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।**
**गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥**

मैथुनमिति । यत्र देशे क्वापि पुरुषे मैथुनं सेवित्वा स्त्रियां गोयाने शकटादौ जले दिवाकाले मैथुनं च सेवित्वा सवस्त्रश्च स्नायात्

**चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।**
**पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति १७५**

चण्डालेति । चण्डालस्यान्त्यजानां च म्लेच्छशरीरादीनामज्ञानतो ब्राह्मणः स्त्रियो गत्वा तेषां चान्नं भुक्त्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य पतति । पतितस्य प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतच्च गुरुत्वाच्चाभ्यासतो भोजनप्रतिग्रहविषयम् । ज्ञानात्तु तेषां गमनं कृत्वा समानतां गच्छति । एतच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७५ ॥

**विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।**
**यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७६ ॥**

विप्रदुष्टामिति । विशेषेण प्रदुष्टामिच्छया व्यभिचारिणीमित्यर्थः भर्ता निरुन्ध्यात्तां कार्येभ्यो निवर्त्य नियतबद्धामिवैकगृहे धारयेत्

यच्च पुरुषस्य सजातीयपरदारगमने प्रायश्चित्तं तदेवैनां कारयेत् । ततश्च स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यमिति यद्वसिष्ठादिभिरुक्तं तदनिच्छया व्यभिचारे च कर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

**सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।**
**कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् १७७**

सा चेदिति । सा स्त्री सजातीयगमने सकृदुष्टा कृतप्रायश्चित्ता यदि पुनः सजातीयेनाभ्यर्थिता सती तद्गमनं कुर्यात्तदाऽस्याः प्रायश्चित्तं प्राजापत्यं कृच्छ्रचान्द्रायणं च मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १७७ ॥

**यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः ।**
**तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥**

यदिति । वृषल्यत्र चण्डाली प्रायश्चित्तगौरवात् । चण्डालीगमने यदेकरात्रेण ब्राह्मणः पापमर्जयति तद्भैक्षाशी नित्यं सावित्र्यादिकं जपन् त्रिभिर्वर्षैरपनुदति । तथा चापस्तम्बः । यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणः सेवमानः । चतुर्थकाल उदक आत्मजापी त्रिभिर्वर्षैस्तद्व्यपोहति पापम् ॥ मेधातिथिस्तु इत्थमेव व्याख्यातवान् गोविन्दराजस्त्वक्रमपरिणीतशूद्रागमनप्रायश्चित्तमिदमाह ॥ १७८ ॥

**एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।**
**पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः॥१७९॥**

एषेति । इयं हिंसाऽभक्ष्यभक्षणस्तेयागम्यागमनकारिणां चतुर्णामपि पापकृतां विशुद्धिरुक्ता । इदानीं साक्षात्पापकृद्भिः सह संसर्गिणामिमा वक्ष्यमाणाः संशुद्धीः शृणुत ॥ १७९ ॥

**संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।**
**याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् १८०**

संवत्सरेणेति । पतितेन सह संसर्गमाचरन् एकयानगमनैकासनोपवेशनैकपङ्क्तिभोजनरूपान्संसर्गानाचरन्संवत्सरेण पतति । न तु याजनाध्यापनाद्यौनात्संवत्सरेण पतति किन्तु सद्य एवेत्यर्थः । अध्यापनमत्रोपनयनपूर्वकं सावित्रीश्रावणम् । याजनादीनां च सद्यः पातित्यमाह देवलः । याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सह भोजनम् ।

कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः ॥ विष्णुः । आसंवत्सरात्पतति पतितेन सहाचरन् । सहयानासनाभ्यासं यौनात्तु सद्य एव हि ॥ बौधायनः । संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनात्सद्यो न शयनासनादिति । गोविन्दराजस्तु याजनादीनां त्रयाणां संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वं सहासनादीनां लघुत्वान्न संवत्सरेण किंतु तस्मादूर्ध्वमपीति व्याचष्टे । अस्मदीयमनुव्याख्या मुनिव्याख्यानुसारिणी । नैनां गोविन्दराजस्य कल्पनामनुरुन्ध्महे १८०

**यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।**
**स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥**

यो येनेति । पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः सकलपापिनामविशेषपाठात् । एषां पतितानां मध्ये यो येन पापकारिणा सह पूर्वोक्तं संसर्गं करोति स तस्यैव व्रतरूपं प्रायश्चित्तं कुर्यान्न तु मरणान्तिकमित्यभिहितं तदपि व्रतं संसर्गिणा क्रियमाणं ब्रह्महा द्वादश समा इत्यादिकं पादहीनं कर्तव्यम् । तथा च व्यासः । यो येन संसृजेद्धर्षं सोऽपि तत्समतामियात् । पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥ १८१ ॥

**पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।**
**निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ॥१८२॥**

पतितस्येति । महापातकिनो जीवत एव प्रेतस्योदकक्रिया वक्ष्यमाणरीत्या सपिण्डैः समानोदकैश्च ग्रामाद्बहिः कृत्वा ज्ञातिऋत्विक्गुरुसन्निधाने रिक्तायां नवम्यां तिथौ दिनान्ते कर्तव्यम् ॥ १८२ ॥

**दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।**
**अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥**

दासीति । सपिण्डसमानोदकप्रयुक्ता दासी उदकपूर्णं घटं प्रेतवदिति दक्षिणाभिमुखी भूय पादेन क्षिपेत् यथा स निरुदको भवति। तदनु ते सपिण्डाः समानोदकैः सहाहोरात्रमशौचमाचरेयुः १८३

**निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ।**
**दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी१८४**

निवर्तेरन्निति । तस्मात्पतितात्सपिण्डादीनां संभाषणमेकासनोपवेशनं च तस्मै ऋक्थप्रदानं सांवत्सरिकादौ निमन्त्रणादिरूपो लोकव्यवहार एतानि निवर्तेरन् ॥ १८४ ॥

**ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।**
**ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः १८५**

ज्येष्ठतेति । ज्येष्ठस्य यत्प्रत्युत्थानादिकं कार्यं तत्तस्य न कार्यं ज्येष्ठलभ्यं च तस्य विंशत्युद्धारादिकं धनं न देयं यद्यपि ऋक्थप्रदानप्रतिषेधादेवाप्युद्धारप्रतिषेधः सिद्धस्तथापि यवीयसस्तत्प्राप्त्यर्थमनूद्यते तस्यैव ज्येष्ठस्य संबन्धि धनं सोद्धारांशं तदनुजो गुणाधिको लभते॥

**प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।**
**तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये १८६**

प्रायश्चित्त इति । कृते पुनः पतितेन प्रायश्चित्ते सपिण्डसमानोदकास्तेनैव कृतप्रायश्चित्तेन सह पवित्रे जलाधारे स्नात्वा जलपूर्णं नवं घटं प्रक्षिपेयुः । इह नवघटग्रहणाद्दासीघटः कृतोपयोगिघटः प्रतीयते ॥ १८६ ॥

**स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।**
**सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥**

स त्विति । स कृतप्रायश्चित्तः तं पूर्वोक्तघटं जलमध्ये क्षिप्त्वा ततः स्वकीयभवनं प्रविश्य यथापूर्वं सर्वाणि ज्ञातिकर्माणि कुर्यात् ॥

**एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।**
**वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥**

एतदिति । स्त्रीष्वपि पतितास्वेवमेव पतितस्योदकं कार्यमित्यादिविधिं भर्त्रादिसपिण्डसमानोदकवर्गः कुर्यात् । ग्रासाच्छादनानि पुनराभ्यो देयानि गृहसमीपे चासां वासार्थं कुटीर्दद्युः ॥ १८८ ॥

**एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् ।**
**कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥**

एनस्विभिरिति । पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहा-

दिकमर्थं किञ्चिन्नानुतिष्ठेत् । कृतप्रायश्चित्तान्नैव कदाचिदपि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत्किंतु पूर्ववद्व्यवहरेत् ॥ १८९ ॥

अस्यापवादमाह—

**बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।**
**शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥**

बालघ्नानिति । बालं यो हतवान् कृतोपकारमपकाराचरणेन यो विनाशितवान् प्राणरक्षार्थमागतं यो हतवान् स्त्रियं च यो व्यापादितवानेतान्यथावत्कृतप्रायश्चित्तानपि संसर्गितया न परिवसेत्॥१९०॥

**येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।**
**तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् १९१**

येषामिति । येषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां आनुकल्पिककाल उपनयनं यथाशास्त्रं न कृतवान् तान्प्राजापत्यत्रयं कारयित्वा यथाशास्त्रमुपनयेत् । यत्तु याज्ञवल्क्यादिभिर्व्रात्यस्तोमादिप्रायश्चित्तमुक्तं तेन सहास्य गुरुलाघवमनुसंधाय जातिशक्त्याद्यपेक्षो विकल्पो मन्तव्यः ॥

**प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।**
**ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥**

प्रायश्चित्तमिति । ये प्रतिषिद्धशूद्रसेविनो द्विजास्ते चोपनीता अप्यनधीतवेदाः प्रायश्चित्तं कर्तुमिच्छन्ति तेषामप्येतत्प्राजापत्यादित्रयमुपदिशेत् ॥ १९२ ॥

**यद्गर्हितेनार्चयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।**
**तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१९३॥**

यदिति । गर्हितेन कर्मणा निषिद्धदुःप्रतिग्रहादिना ब्राह्मणा यद्धनमर्जयन्ति तस्य धनस्य त्यागेन जपतपोभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां शुद्ध्यन्ति । धनत्यागेन च प्रायश्चित्तविधानाद्बहुमूल्ये च करितुरगादावल्पमूल्ये च लौहादौ परिगृहीते तुल्यप्रायश्चित्ताभिधानमुपपन्नम्। एवमविक्रय्यविक्रयादावपि ॥ १९३॥

**जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।**
**मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् १९४**

जपित्वेति । त्रीणि सावित्रीसहस्राणि जपित्वा गोष्ठे वा मासं क्षीराहारोऽसत्प्रतिग्रहजनितात्पापान्मुक्तो भवति । शूद्रप्रतिग्रहादावप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । द्रव्यदोषेण च दातृदोषेणापि प्रतिग्रहस्य गर्हिततत्वाविशेषादिति ॥ १९४ ॥

**उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।**
**प्रणतंप्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् १९५**

उपवासेति । केवलक्षीराहारेण इतरभोजनव्यावृत्त्या कृशदेहं गोष्ठात्प्रत्यागतं प्रणतं नम्रीभूतं किमस्माभिः सह साम्यमिच्छसि पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्यसीत्येवं धर्मं ब्राह्मणाः परिपृच्छेयुः १९५

**सत्यमुक्ता तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।**
**गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९६॥**

सत्यमिति । सत्यमेतत्पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्यामीत्येवं ब्राह्मणेपूक्त्वा ग्रासं गवां दद्यात् । तस्मिन्यवसं भक्ष्यमाणे देशे गोभिः पवित्रीकृतत्वात्तीर्थीभूते ब्राह्मणास्तस्य संव्यहारे स्वीकारं कुर्युः १९६

**व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।**
**अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥१९७॥**

व्रात्यानामिति । व्रात्यानामत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येत इत्युक्तानामादियाजनं कृत्वा पितृगुर्वादिव्यतिरिक्तानां च निषिद्धौर्ध्वदेहिकदाहश्राद्धादि कृत्वाभिचारं च श्येनादिकम् । अभिचारोऽनभिचारणीयस्य अहीनं यागविशेषः । अहीनयजनमशुचिकरमिति श्रुतेः । त्रिरात्रादि तस्य यजनं कृत्वा त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति ॥ १९७ ॥

**शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।**
**संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥**

शरणागतमिति । शरणागतं परित्राणार्थमुपगतं शक्तः सन्नुपेक्षते द्विजातिरनध्याप्यं च वेदमध्याप्य तज्जनितं पापं संवत्सरं यवाहारोऽपनुदति ॥ १९८ ॥

**श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।**
**नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥**

श्वसृगालेति । कुक्कुरसृगालगर्दभनराश्ववराहाद्यैर्ग्राम्यैश्चाममांसादैर्मार्जारादिभिर्दष्टः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

**षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।**
**होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्यानां विशोधनम् २००**

षष्ठान्नेति । अपाङ्क्या ये पतिताः स्तेनक्लीवा इत्यादिनोक्तास्तेषां विशेषतोऽनुपदिष्टप्रायश्चित्तानां मासं त्र्यहमभुक्त्वा तृतीयेऽह्नि सायं भोजनं वेदसंहिताजपो देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसीत्यादिनोद्वात्राऽष्टभिर्मन्त्रैर्होमः प्रत्येकं कार्यः । एतत्समुदिष्टं पापशोधनम् ॥२००॥

**उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।**
**स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥**

उष्ट्रयानमिति । उष्ट्रैर्युक्तं यानं शकटाद्येवं खरयानमपि तत्कामत आरुह्य अन्यवधान उष्ट्रखराभ्यां याने प्राणायामबहुत्वं नग्नश्च कामतः स्नानं कृत्वा प्राणायामेन शुद्धो भवति ॥ २०१ ॥

**विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च ।**
**सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥२०२॥**

विनेति । असन्निहितजलो जलमध्ये वा मूत्रं पुरीषं वा कृत्वा सवासा बहिर्ग्रामान्नद्यादौ स्नात्वा गां च स्पृष्ट्वा विशुद्धो भवति २०२

**वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।**
**स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥**

वेदेति । वेदविहितानां कर्मणामग्निहोत्रादीनामनुपदिष्टप्रायश्चित्तविशेषाणां च परिलोपे स्नातकव्रतानां चतुर्थाध्यायोक्तानामतिक्रमे सत्येकाहोपवासं प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ २०३ ॥

**हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा खङ्कारं च गरीयसः ।**
**स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥**

हुङ्कारमिति । हुं तूष्णीं स्थीयतामित्याक्षेपं ब्राह्मणस्य कृत्वा खङ्कारं च विद्याद्यधिकस्योक्त्वाभिवादनकालादारभ्याहःशेषं यावत्स्नात्वा भोजननिवृत्तः पादोपग्रहणेनापगतकोपं कुर्यात् ॥ २०४ ॥

**ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा ।**
**विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥**

ताडयित्वेति । प्राकृतं ब्राह्मणं तृणेनापि ताडयित्वा कण्ठे वाबध्य वाससा वाक्कलहेन जित्वा प्रणिपातेन प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

**अवगूर्य लब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।**
**जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥**

अवगूर्येति । ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डमुद्यम्य वर्षशतं नरकं प्राप्नोति । दण्डादिना पुनः प्रहृत्य वर्षसहस्रं नरकं प्राप्नोति॥२०६॥

**शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।**
**तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥२०७॥**

शोणितमिति । प्रहृतस्य ब्राह्मणस्य रुधिरं यावत्संख्याकान् रजःकणान्भूमौ पिण्डीकरोति तावत्संख्याकानि वर्षसहस्राणि तच्छोणितोत्पादको नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

**अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।**
**कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥**

अवेति । ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डाद्युद्यमने कृच्छ्रं कुर्यात् । दण्डादिप्रहारे दत्ते अतिकृच्छ्रं वक्ष्यमाणं चरेत् । रुधिरमुत्पाद्य कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत ॥ २०८ ॥

**अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।**
**शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् २०९**

अनुक्तेति । अनुक्तप्रायश्चित्तानां यथा प्रतिलोमवधादिकृतानां निर्हरणार्थं कर्तुः शरीरधनानि सामर्थ्यमवेक्ष्य पापं च ज्ञात्वा ज्ञानाज्ञानसकृदावृत्त्यनुबन्धादिरूपेण प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

**यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।**
**तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् २१०**

यैरिति । यैर्हेतुभिर्मनुष्यः पापान्यपनुदति तान् पापनाशहेतून्देवर्षिपितृभिरनुष्ठितान् युष्माकं वक्ष्यामि ॥ २१० ॥

**त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।**
**त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः २११**

त्र्यहमिति । प्राजापत्याख्यं कृच्छ्रमाचरन् द्विजातिराद्यं दिनत्रयं प्रातर्भुञ्जीत । प्रातःशब्दोऽयं भोजनानामौचित्यप्राप्तदिवाकालपरः । अत एव वसिष्ठः । त्र्यहं दिवा भुङ्क्ते नक्तमत्ति च त्र्यहं त्र्यहं अयाचितव्रतं त्र्यहं न भुंक्त इति च कृच्छ्रः । आपस्तम्बोऽप्याह । त्र्यहं नक्ताशी दिवाशी च ततस्त्र्यहं त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किञ्चनेति कृच्छ्रद्वादशरात्रस्य विधिः । अपरं च दिनत्रयं सायंसंध्यामतीतायां भुञ्जीत । अन्यदिनत्रयमयाचितं तावदन्नं भुञ्जीत शेषं च दिनत्रयं न किञ्चिदश्नीयात् । अत्र ग्राससंख्यापरिमाणापेक्षायां पराशरः । सायं द्वात्रिंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिस्तथा । अयाचिते चतुर्विंशत्परं चानशनं स्मृतम् । कुक्कुटाण्डप्रमाणं च यावांश्च प्रविशेन्मुखम् । एतं ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं ग्रासशोधनम् ॥ हविष्यं चान्नमश्नीयाद्यथा रात्रौ तथा दिवा । त्रींस्त्रीण्यहानि शास्त्रीयान् ग्रासान्संख्याकृतान्यथा ॥ अयाचितं तथैवाद्यादुपवासस्त्र्यहं भवेत् ॥ २११ ॥

**गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।**
**एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥२१२॥**

गोमूत्रमिति । गोमूत्राद्येकीकृत्य एकैकस्मिन्नहनि भक्षयेन्नान्यत्किञ्चिदद्यात् । अपरदिने चोपवास इत्येतत्सान्तपनं कृच्छ्रं स्मृतम् । यदा तु गोमूत्रादिषट् प्रत्येकं षट् दिनान्युपभुज्य सप्तमे दिने चोपवासस्तदा महासान्तपनं भवति । तथा च याज्ञवल्क्यः । कुशोदकं च गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृद्धृतम् । जग्ध्वापरेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ पृथक् सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासिकः । सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२

**एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।**
**त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ २१३॥**

एकैकमिति । अतिकृच्छ्रं द्विजातिरनुतिष्ठन् प्रातः सायमयाचितादिरूपेण त्र्यहाणि त्रीणि त्रीणि पूर्ववत् अन्यच्च त्र्यहं न किञ्चिदश्नीयात् ॥ २१३ ॥

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥२१४॥

तप्तेति । तप्तकृच्छ्रं चरन् द्विजातिः त्र्यहमुष्णोदकं त्र्यहमुष्णक्षीरं त्र्यहमुष्णघृतं त्र्यहमुष्णवायुं एकवारं स्नानं कुर्वन्संयमवान् पिबेत् । अत्र पराशरोक्तो विशेषः । षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् । पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराकोनाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥२१५॥

यतात्मन इति । विगतानवधानस्य संयतेन्द्रियस्य द्वादशाहमभोजनमेव पराकाख्यः कृच्छ्रः सकृदावृत्तितारतम्येन गुरुलघुसमफलपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

एकैकमिति । सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नानं कुर्वाणः पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासानश्नित्वा ततः कृष्णप्रतिपक्क्रमेणैकैकं ग्रासं ह्रासयेत्तथा चतुर्दश्यामेको ग्रासः संपद्यते । ततोऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपत्प्रभृतिभिरेकैकं वृद्धिं नयेत् । एवं पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्ते । एतत्पिपीलिकमध्याख्यं चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

एतमिति । एतमेव पिण्डह्रासवृद्धित्रिषवणस्नानात्मकं यवमध्याख्यं चान्द्रायणं शुक्लपक्षमादितः कृत्वा संयतेन्द्रियश्चान्द्रायणमनुतिष्ठन्नाचरेत् । ततश्च शुक्लप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं वर्धयेत् । तथा पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्ते । ततः कृष्णप्रतिपदमारभ्य एकैकं पिण्डं ह्रासयेत् । यथामावास्यायामुपवासो भवति ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् २१८

अष्टाविति । यतिचान्द्रायणमनुसृत्य शुक्लपक्षादावेकैकग्रासाद्वारभ्य मासमेकं संयतेन्द्रियः प्रत्यहमष्टावष्टौ ग्रासान्मध्यन्दिने भुञ्जीत । मध्यन्दिन इति गृहस्थब्रह्मचारिणोः सायं भोजननिवृत्त्यर्थम् ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् २१९

चतुर इति । प्रातश्चतुरः ग्रासान्भुञ्जीत । अस्तमिते च सूर्ये चतुरो ग्रासान् भुञ्जीत । एतच्छिशुचान्द्रायणं मुनिभिः स्मृतम् २१९

यथाकथञ्चित्पिण्डानां त्रिंशोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्येति सलोकताम् २२०

यथेति । नवानामादर्शनिष्पन्नानां पञ्चानां हे शते चत्वारिंशदधिके कदाचित्कोनत्रिंशत्कदाचिदनुपवासे इयतेमाणनियमेन यथाकथञ्चित्पिण्डान् मासेन संयतवाग् भुञ्जानश्चन्द्रसलोकतां याति । एवं पक्षक्षपार्धमभ्युक्षार्धं चेत्यनुक्तम् । अत एव याज्ञवल्क्यः । धर्मार्धं शशिनो देवश्चन्द्रमस्येति सलोकताम् । कृच्छ्रकुम्भमेकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ अतः प्राजापत्यादिकृच्छ्रमप्यभ्युदयफलमिति याज्ञवल्क्येनोक्तम् ॥ २२० ॥

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

एतदिति । एतच्चान्द्रायणाख्यं व्रतं रुद्रादित्यवसुमरुतश्च महर्षिभिः सह सर्वपापनाशाय गुरुलघुपापापेक्षया सकृदावृत्तिरूपेण कृतवन्तः ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

महाव्याहृतिभिरिति । महाव्याहृतिभिर्भूर्भुवःस्वरेताभिः । आज्यं हविरनादेशे जुहोतिषु विधीयत इति परिशिष्टवचनादाज्येन प्रत्यहं होमं कुर्यात् । अहिंसासत्याक्रोधार्जवानि चानुलिष्टेयत्यप्येतानि पुरुषार्थतया विहितानि तथापि व्रताङ्गतयायमुपदेशः ॥ २२२ ॥

**त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।**
**स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥**

त्रिरिति । अहनि रात्रावादिमध्यावसानेषु स्नानार्थं सचेलो नद्यादिजलं प्रविशेत् । एतच्च पिपीलिकामध्ययवमध्यचान्द्रायणेतरचान्द्रायणविषयम् । तयोरुपस्पर्शं त्रिषवणमित्युक्तत्वात्स्त्रीशूद्रपतितैश्च सह यावद्व्रतं कदाचित्संभाषणं न कुर्यात् ॥ २२३ ॥

**स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।**
**ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥**

स्थानेति । अहनि रात्रौ च उत्थित आसीनः स्यान्न तु शयीत । असामर्थ्ये तु स्थण्डिले शयीत न खट्वादौ । ब्रह्मचारी स्त्रीसंयोगरहितव्रतः व्रती मौञ्जीदण्डादियुक्तः पालाशं धारयेद्दण्डं शुचिर्मौञ्जीं च मेखलामिति यमवचनस्मरणात् । गुरुदेवब्राह्मणानां च पूजको भवेत्

**सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।**
**सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥**

सावित्रीमिति । सावित्रीं च सदा जपेत्पवित्राणि चाघमर्षणादीनि यथाशक्ति जपेत् । एतच्च यथा चान्द्रायणे तथा प्राजापत्यादिकृच्छ्रेष्वपि यत्नवान् प्रायश्चित्तार्थमनुतिष्ठेत् ॥ २२५ ॥

**एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैरविष्कृतैनसः ।**
**अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥**

एतैरिति । लोकविदितपापा द्विजातय एभिरुक्तप्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणपरिषदा शोधनीयाः । अप्रकाशितपापांस्तु मानवान्मन्त्रैर्होमैश्च परिषदेव शोधयेत् । यद्यपि परिषदि निवेदने रहस्यत्वस्य नाशस्तथाप्यमुकपापे कृते केनापि लोकाविदिते किं प्रायश्चित्तं स्यादिति सामान्यप्रश्ने न विरोधः ॥ २२६ ॥

**ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।**
**पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥**

ख्यापनेनेति । पापकारी नरो लोकेषु निजपापकथनेन धिङ्माम-

तिपापकारिणमिति पश्चात्तापेन शुद्ध्यति। तपसा चोग्ररूपेण सावित्री-जपादिना च पापान्मुच्यते । तपस्यासक्तो दानेन च पापान्मुक्तो भवति । ख्यापनं चेदं प्रकाशप्रायश्चित्ताङ्गभूतं न रहस्यप्रायश्चित्ताङ्गं रहस्यत्वहानिप्रसंगात् । अनुतापश्च प्रकाशरहस्याङ्गमेव ॥ २२७ ॥

**यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते ।**
**तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥**

यथेति । यथा यथा स्वयं पापं कृत्वा नरो भाषते लोके ख्यापयति तथा तथा तेन पापेन सर्प इव जीर्णत्वचा मुच्यत इति ख्यापनविधे-रनुवादः ॥ २२८ ॥

**यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।**
**तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥**

यथेति । तस्य पापकारिणो मनो यथा यथा दुष्कृतं कर्म निन्दति तथा तथा शरीरं जीवात्मा तेनाधर्मेण मुक्तो भवति अयमनुतापा-नुवाद इति ॥ २२९ ॥

**कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।**
**नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥**

कृत्वेति । पापं कृत्वा पश्चात्संतप्य तस्मात्पापान्मुच्यत इत्युक्त-मपि नैवं कुर्यां पुनरित्येवमनूदितम् । यदा तु पश्चात्तापो नैवं पुनः करिष्यामीत्येवं रूपं निवृत्तिरूपसंकल्पफलकः स्यात्तदा सुतरां तस्मा-त्पापात्पूतो भवतीति । एतच्च निवृत्तिसंकल्पस्य प्रकाशाप्रकाशप्रा-यश्चित्ताङ्गविधानार्थम् ॥ २३० ॥

**एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।**
**मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥**

एवमिति । एवं शुभाशुभानां कर्मणां परलोक इष्टानिष्टफलं म-नसा विचार्य मनोवाक्कायैः शुभमेव सर्वं कर्म कुर्यात् इष्टफलत्वात् । नाशुभं नरकादि दुःखहेतुत्वात् ॥ २३१ ॥

**अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।**
**तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् २३२**

अज्ञानादिति । प्रमादादिच्छातो वा निषिद्धं कर्म कृत्वा तस्मात्पापान्मुक्तिमिच्छन्पुनस्तन्न कुर्यात् । एतच्च पुनः करणे प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । अत एव देवलः । विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं भवेदिति ॥ २३२ ॥

**यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।**
**तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥**

यस्मिन्निति । अस्य पापकारिणो यस्मिन् प्रायश्चित्ताख्येऽनुष्ठिते न चित्तस्य संतोषः स्यात्तस्मिन् तदेव प्रायश्चित्तं तावदावर्तयेत् यावन्मनसः संतोषः प्रसादः स्यात् ॥ २३३ ॥

**तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।**
**तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥२३४॥**

तप इति । यदेतत्सर्वं देवानां मनुष्याणां सुखं तस्य तपः कारणं तपसैव च तस्य स्थितिः तपोऽन्तं च बुधैः प्रतिनियतदेवादिसुखस्य तपसा जननादादिष्टं वेदार्थैरुक्तम् । उक्तप्राजापत्यादिप्रायश्चित्तात्मकं तपःप्रसंगेन चेदं वक्ष्यमाणं च सर्वतपोमाहात्म्यकथनम् ॥ २३४ ॥

**ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।**
**वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् २३५**

ब्राह्मणस्येति । ब्राह्मणस्य ब्रह्मचर्यात्मकवेदान्तावबोधनं तपो राजन्यस्य रक्षणं तपः वैश्यस्य कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यादिकं तपः शूद्रस्य ब्राह्मणपरिचर्या तप इति वर्णविशेषेणोत्कर्षबोधनार्थम् ॥२३५॥

**ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।**
**तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥**

ऋषय इति । ऋषयो वाङ्मनःकायनियमोपेताः फलमूलवायुभक्षाः तपसैव जङ्गमस्थावरसहितं पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गात्मकं लोकत्रयमेकदेशस्थाः संतो निष्पापान्तःकरणाः प्रकर्षेण पश्यन्ति ॥२३६॥

**औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।**
**तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३७॥**

औषधानीति । औषधानि व्याध्युपशमनहेतुकानि । अगदो गदाभावो नैरुज्यमिति यावत् । विद्या ब्रह्मधर्मचर्यात्मकवेदान्तज्ञानं वेदसंबन्धिनी च नानारूपा स्वर्गादावबस्थितिरित्येतानि तपसैव प्राप्यन्ते यस्मात्तप एषां प्राप्तिनिमित्तम् ॥ २३७ ॥

**यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।**
**सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३८॥**

यदिति । यद्दुःखेन तीर्यते ग्रहदोषसूचितापदादि यद्दुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना तेनैव शरीरेण बलब्राह्मण्यादि यद्दुःखेन गम्यते मेरुपृष्ठादियद्दुःखेन क्रियते गोः प्रचुरदानादि तत्सर्वं तपसा साधितुं शक्यते । यस्मादतिदुष्करकार्यकरणं सर्वं तपसा साध्यते तपो वर्धनशक्ति ॥ २३८ ॥

**महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।**
**तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥**

महेति । ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणोऽन्ये उपपातकाद्यकार्यकारिणस्तपसैव उक्तरूपेणानुष्ठितेन तस्मात्पापान्मुच्यन्ते । उक्तस्यापि पुनर्वचनं प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थम् ॥ २३९ ॥

**कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।**
**स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्२४०**

कीटा इति । कीटसर्पशलभपशुपक्षिणः स्थावराणि च वृक्षगुल्मादीनि भूतानि तपोमाहात्म्येन स्वर्गं यान्ति इतिहासादौ कपोतोपाख्यानादिषु पक्षिणोऽप्यग्निप्रवेशादिकं तपस्तपन्तीति श्रूयते । कीटानां यज्जातिसहं दुःखं तत्समं तपस्तेन च क्षीणकल्मषा अविकारिकजन्मान्तरकृतेन सुकृतेन दिवं यान्ति ॥ २४० ॥

**यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।**
**तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥**

यत्किञ्चिदिति । यत्किञ्चित्पापं मनोवाग्देहैर्मानवाः कुर्वन्ति तत्सर्वं पापं निर्दहन्ति तपसैव तपोधना इति तप एव धनमिव रक्षणीयं येषां ते तपोधनाः ॥ २४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

तपसैवेति । प्रायश्चित्ततपसा क्षीणपापस्य ब्राह्मणस्य यागे हवींषि देवाः प्रतिगृह्णन्ति अभिलषितार्थांश्च प्रयच्छन्ति ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

प्रजापतिरिति । हिरण्यगर्भः सकललोकोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रभुः तपःकरणपूर्वकमेवेमं ग्रन्थमकरोत् । तथैव ऋषयो वसिष्ठादयस्तपसैव मन्त्रवन्तः संपन्नाः ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

इत्येतदिति । सर्वस्यास्य जन्तोर्यदुर्लभं जन्म तपसः प्रकाशादित्येवं देवाः प्रपश्यन्तः तपोमूलमिदं सर्वमित्यादि तपोमाहात्म्यं प्रवदन्ति ॥ २४४ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥२४५॥

वेदाभ्यास इति । यथाशक्ति प्रत्यहं वेदाध्ययनं पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमपराधसहिष्णुत्वमित्येतानि महापातकजनितान्यपि पापानि शीघ्रं नाशयन्ति किमुतान्यानि ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२४६॥

यथेति । यथाग्निः काष्ठान्यासन्नानि क्षणेनैव तेजसा निःशेषं करोति तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं वेदार्थज्ञो ब्राह्मणो नाशयति । इत्येतत्परमार्थज्ञानस्यैतत्पापक्षयोत्कर्षज्ञापनार्थमेतत् ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसा मुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

इत्येतदिति । इत्येतद्ब्रह्महत्यादीनां पापानां प्रकाशानां प्रायश्चित्तं

यथाविध्यभिहितं अत ऊर्ध्वमप्रकाशानां पापानां प्रायश्चित्तं शृणुत ।
अयं श्लोको गोविन्दराजेनालिखितः मेधातिथिना तु लिखित एव ॥

**सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।**
**अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥**

सव्याहृतीति । सव्याहृतिसप्रणवाः सावित्रीशिरोयुक्ताः पूरककुम्भकरेचकादिविधिना प्रत्यहं षोडश प्राणायामाः कृताः मासाद्भ्रूणहत्यामपि निष्पापं कुर्वन्ति । अपिशब्दादातिदेशिकब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताधिकृतमपि । एतच्च प्रायश्चित्तं द्विजातीनामेव न स्त्रीशूद्रादेर्मन्त्रानधिकारत् ॥ २४८ ॥

**कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।**
**माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥२४९॥**

कौत्समिति । कौत्सेन ऋषिणा अपनः शोशुचदघमित्येतत्सूक्तं वसिष्ठेन ऋषिणा दृष्टं च प्रतिस्तोमेति रुषमनुशिष्य इत्येवं ऋचं माहित्रं महित्रीणामवोस्त्वित्येतत्सूक्तं शुद्धवत्य एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धमित्येतास्तिस्र ऋचः प्रकृतं मासमहरहः षोडशकृत्वोऽपि जपित्वा सुरापोऽपि विशुद्ध्यति । अपिशब्दादातिदेशिकसुरापानप्रायश्चित्ताधिकृतोऽपि ॥ २४९ ॥

**सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिवसंकल्पमेव च ।**
**अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥**

सकृदिति । ब्राह्मणः सुवर्णमपहृत्य अस्य वामस्य पलितस्य एतत्सूक्तं प्रकृतत्वान्मासमेकं प्रत्यहमेकवारं जपित्वा शिवसंकल्पं च यज्जाग्रतो दूरमित्येतद्वाजसनेयके यत्पठितं तज्जपित्वा सुवर्णमपहृत्य क्षिप्रमेव निष्पापो भवति ॥ २५० ॥

**हविष्यन्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।**
**जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥**

हविष्यन्तीयमिति । हविष्याङ्गमजरं स्वर्विदामेकोनविंशतिऋचः नतमंहो न दुरितमित्यष्टौ इति वा इति मे मनः शिवसंकल्प इति च सूक्तं सहस्रशीर्षा पुरुष इत्येतच्च षोडशर्चं सूक्तं मासमेकं प्रत्य-

हमभ्यस्येति श्रवणात्प्रकृतत्वात् षोडशाभ्यासाज्जपित्वा गुरुदारगस्तस्मात्पापान्मुच्यते ॥ २५१ ॥

**एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।**
**अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥ २५२ ॥**

एनसामिति । स्थूलानां पापानां महापातकानां सूक्ष्माणां चोपपातकादीनां निर्हरणं कर्तुमिच्छन् अव ते हेळो वरुण नमोभिरित्येतामृचं यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने इत्येतां च ऋचमिति वा इति मे मन इत्येतत्सूक्तं संवत्सरमेकवारं प्रत्यहं जपेत् ॥ २५२ ॥

**प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वाचान्नं विगर्हितम् ।**
**जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥**

प्रतिगृह्येति । स्वरूपतो महापातकिधनत्वादिना वाप्रतिग्राह्यं प्रतिगृह्य चान्नं स्वभावकालप्रतिग्रहसंसर्गदुष्टं भुक्त्वा तरत्समन्दी धावतीत्येता ऋचश्चतस्रो जपित्वा त्र्यहं तस्मात्पापान्मनुष्यः पूतो भवति । स्नानमर्यम्णामिति ऋक् त्र्यृचं वा ॥ २५३ ॥

**सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति ।**
**स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च त्र्यृचम् २५४**

सोमेति । सोमा रुद्रा धारयेश्यामस्वयमिति चतस्रः । अर्यमा वरुणं मित्रं चेति ऋग्द्वयं नद्यां च स्नानं कृत्वा मासमेकं प्रत्येकमभ्यस्य बहुपापो विशुद्ध्यति । बहुष्वपि पापेषु तन्त्वेणैकं प्रायश्चित्तं कार्यमिति ज्ञापकमिदम् ॥ २५४ ॥

**अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।**
**अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक्॥२५५॥**

अब्दार्धमिति । एनस्वीत्यविशेषात्सर्वेष्वेव पापेषु इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं त्रय इत्येताः सप्त ऋचः षण्मासं जपेत् । अप्रशस्तं मूत्रपुरीषोत्सर्गादिकं जले कृत्वा मासं भैक्षभोजी भवेत् ॥ २५५ ॥

**मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।**
**सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम्॥२५६॥**

मन्त्रैरिति । देवकृतस्येत्यादिभिः शाकलहोमैः संवत्सरं घृतहोमं कृत्वा नम इन्द्रश्च इत्येतां वा ऋचं संवत्सरं जपित्वा महापाकमपि पापं द्विजातिरपहन्ति ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः ।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति॥२५७॥

महापातकेति । ब्रह्महत्यादिमहापातकयुक्तो भिक्षालब्धाहारो वर्षमेकं संयतेन्द्रियो गवामनुगमनं कुर्वन् यः पावमानीर्विद्यादिऋचोऽन्वहमभ्यासेन जपित्वा तस्मात्पापाद्विशुद्धो भवति ॥ २५७ ॥

अरण्ये वात्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः॥२५८॥

अरण्य इति । त्रिभिः पराकैः पूतो मन्त्रब्राह्मणात्मिकां वेदसंहितां अरण्ये वात्रत्रयमभ्यस्य वा प्रयतो बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः सर्वैर्महापातकैर्मुच्यते ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः ।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

त्र्यहमिति । त्रिरात्रमुपवसन्संयतः प्रत्यहं प्रातर्मध्याह्नसायंकालेषु स्नानं कुर्वन् त्रिषवणस्नानकाल एव जले निमज्य ऋतं च सत्यं चेति सूक्तमघमर्षणं त्रिरावृत्तं जपित्वा सर्वैः पापैर्मुच्यते । तत्र गुरुलघुपापापेक्षया पुरुषशक्त्याद्यपेक्षया चावर्तनीयम् ॥ २५९ ॥

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

यथेति । यथाऽश्वमेधयागः सर्वयागश्रेष्ठः सर्वपापक्षयहेतुस्तथाऽघमर्षणसूक्तमपि सर्वपापक्षयहेतुरित्यघमर्षणसूक्तोत्कर्षः ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥

हत्वेति । भूरादिलोकत्रयमपि हत्वा महापातक्यादीनामप्यन्नमश्नन् ऋग्वेदं धारयन्विप्रादिर्न किञ्चित्पापं प्राप्नोति ॥ २६१ ॥

ऋग्वेदं रहस्यप्रायश्चित्तार्थमुक्तं रहस्यपापे कृते ऋक्संहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकामभ्यसेत्तदाह—

**ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।**
**साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२॥**

ऋगिति । ऋक्संहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकां न तु मन्त्रात्मिकां अनन्तरं वेदे त्रिवृतीति प्रत्यवमर्शात् । यजुषां वा मन्त्रब्राह्मणानां संहितां साम्नां वा ब्राह्मणोपनिषत्संहितां वारत्रयमभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुक्तो भवति ॥ २६२ ॥

**यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।**
**तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥**

यथेति । ऋगाद्यात्मना त्रिरावर्तत इति त्रिवृद्यथा महाह्रदं प्रविश्य लोष्टं विशीर्यते तथा सर्वं दुश्चरितं त्रिवृति वेदे विनश्यति २६३

त्रिवृत्त्वमेवाह—

**ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।**
**एष ज्ञेयस्त्रिवृद्भेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥**

ऋच इति । ऋच ऋङ्मन्त्राः यजूंषि यजुर्मन्त्राः सामानि बृहद्रथन्तरादीनि नानाप्रकाराणि अन्यान्येषां त्रयाणां पृथक् पृथक् मन्त्रब्राह्मणानि एष त्रिवृद्भेदो ज्ञातव्यो य एनं वेद स वेदविद्भवति २६४

**आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।**
**स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्भेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥२६५॥**

**इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥**

आद्यमिति । सर्ववेदानामाद्यं यद्ब्रह्म वेदसारं अकारोकारमकारात्मकत्वेन त्र्यक्षरं यत्र त्रयो वेदाः स्थिताः सोऽन्यस्त्रिवृद्भेदः प्रणवाख्यो गुह्यो गोपनीयः वेदमन्त्रश्रेष्ठत्वात् परमार्थाभिधायकत्वात्परमार्थकत्वेन धारणजपाभ्यां मोक्षहेतुत्वाच्च । यस्तं स्वरूपतोऽर्थतश्च जानाति स वेदवित् ॥ २६५ ॥ प्रायश्चित्ते बहुमुनिमतालोचनाद्य-

न्मयोक्तं सव्याख्यानं खलु मुनिगिरां तद्भजध्वं गुणज्ञाः ॥ नैतन्मेधातिथिरभिदधे नापि गोविन्दराजो व्याख्यातारो न जगुरपरेऽप्यन्यतो दुर्लभं वः ॥ १ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तावेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

---

## अथ द्वादशोऽध्यायः ।

**चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।**
**कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥**

चातुर्वर्ण्यस्येति । हे पापरहित ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य सान्तरप्रभवस्यायं धर्मस्त्वयोक्तः । इदानीं कर्मणां शुभाशुभफलप्राप्तिं परां जन्मान्तरप्रभवां परमार्थरूपामस्माकं ब्रूहीति महर्षयो भृगुमवोचन् १

**स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।**
**अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥**

स तानिति । स धर्मप्रधानो मनोरपत्यात्मा भृगुरस्य सर्वस्य कर्मसंबन्धस्य फलनिश्चयं शृणुतेति तान्महर्षीनब्रवीत् ॥ २ ॥

**शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।**
**कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥**

शुभेति । मनोवाग्देहहेतुकं कर्म विहितनिषिद्धरूपं सुखदुःखफलकं तज्जन्या एव मनुष्यतिर्यगादिभावेनोत्कृष्टमध्यमाधमापेक्षया मनुष्याणां गतयो जन्मान्तरप्राप्तयो भवन्ति । कर्मशब्दश्चात्र न कायचेष्टायामेव किन्तु ममेदं स्वमिति संकल्परूपयोगादिध्यानरचनादावपि क्रियामात्रे वर्तते ॥ ३ ॥

**तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।**
**दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥**

तस्येति । तस्य देहिसंबन्धिनः कर्मण उत्कृष्टमध्यमाधमतया त्रिप्रकारस्यापि मनोवाक्कायाश्रितस्य वक्ष्यमाणदशलक्षणोपेतस्य मन

एव प्रवर्तकं जानीयात् । मनसा हि संकल्पितमुच्यते क्रियते च । तथा तैत्तिरीयोपनिषदि तस्माद्यत्पुरुषो मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोतीति ॥ ४ ॥

तानि दश लक्षणानि कर्माणि दर्शयितुमाह—

**परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।**
**वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥**

परद्रव्येष्विति । कथं परधनमन्यायेन गृह्णामीत्येवं चिन्तनम् । मनसा ब्रह्मवधादि निषिद्धाकाङ्क्षा । नास्ति परलोकः देह एवात्मेत्यतद्ग्रहश्चेत्येवं त्रिप्रकारमशुभफलं मानसं कर्म । एतत्त्रयविपरीतबुद्धिश्च त्रिविधं शुभफलं मानसं कर्म । शुभाशुभफलं कर्मेत्युभयस्यैव प्रक्रान्तत्वात् ॥ ५ ॥

**पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ।**
**असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥**

पारुष्यमिति । अप्रियाभिधानमसत्यभाषणं परोक्षे परदूषणकथनं सत्यस्यापि राजदेशपौरवार्तादेर्निःप्रयोजनं वर्णनम् । इत्येवं चतुःप्रकारमशुभफलं वाचिकं कर्म भवेत् । एतद्विपरीतं प्रियसत्यपरगुणाभिधानं श्रुतिपुराणादौ च राजादिचरितकथनं शुभफलम् ॥ ६ ॥

**अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।**
**परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥**

अदत्तानामिति । अन्यायेन परस्वग्रहणमशास्त्रीयहिंसा परदारगमनमित्येवं त्रिःप्रकारमशुभफलं शारीरं कर्म । एतद्विपरीतं त्रयं शुभफलम् ॥ ७ ॥

**मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।**
**वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥८॥**

मानसमिति । मनसा यत्सुकृतं दुष्कृतं वा कर्म कृतं तत्फलं सुखदुःखरूपमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा मनसैवायमुपभुङ्क्ते एवं वाचा कृतं शुभाशुभं वाग्द्वारेण मधुरगद्गदभाषित्वादिना शारीरं शुभाशुभं शरीरद्वारेण स्रक्चन्दनादिप्रियोपभोगव्याधितत्वादिनानुभव-

ति । तस्मात्प्रयत्नेन शारीरमानसवाचिकानि धर्मरहितानि च वर्जयेन्न कुर्याच्च ॥ ८ ॥

**शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।**
**वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥**

शरीरेति । यद्यपि पापिष्ठानां शारीरवाचिकमानसिकान्येव त्रीणि पापानि संभवन्ति तथापि स यदि प्रायशोऽधर्ममेव सेवते । धर्ममल्पमिति बाहुल्याभिप्रायेणेति व्याख्यातम् । बाहुल्येन शरीरकर्मजपापैर्युक्तः स्थावरत्वं मानुषः प्राप्नोति । बाहुल्येन वाक्कृतैः पक्षित्वं मृगत्वं वा । बाहुल्येन मनसा कृतैश्चाण्डालादित्वं प्राप्नोति ॥ ९ ॥

**वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।**
**यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१०॥**

वाग्दण्ड इति । दमनं दण्डः वाङ्मनःकायानां दण्डा निषिद्धाभिधानासत्संकल्पप्रतिषिद्धव्यापारत्यागेन बुद्धाववस्थिताः स त्रिदण्डीत्युच्यते । न तु दण्डत्रयमात्रेणेत्याभ्यन्तरदण्डत्रयप्रशंसा १०

**त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।**
**कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥११॥**

त्रिदण्डमिति । एवं निषिद्धरागादीनां सर्वभूतगोचरतया दमनं कृत्वैतद्दमनात्मकमेव कामक्रोधौ तु नियम्य ततो मोक्षावाप्तिलक्षणां सिद्धिं मनुष्यो लभते ॥ ११ ॥

कोऽसौ सिद्धिमाप्नोतीत्यत आह—

**योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।**
**यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥**

य इति । अस्य लोकसिद्धस्यात्मोपकारकत्वादात्मनः शरीराख्यस्य यः कर्मसु प्रवर्तयिता तं क्षेत्रज्ञं पण्डिता वदन्ति । यः पुनरेष व्यापारान् करोति शरीराख्यः स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद्भूतात्मैवेति पण्डितैरुच्यते ॥ १२ ॥

**जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।**
**येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥**

जीवसंज्ञ इति । जीवशब्दोऽयं महत्परः येनेति करणविभक्तिनिर्देशात् । उत्तरश्लोके च । तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव चेति तच्छब्देन प्रत्यवमर्शाच्छरीरक्षेत्रज्ञातिरिक्तोऽन्तःशरीरमात्माख्यत्वादात्मा जीवाख्यः सर्वक्षेत्रज्ञानां सहज आत्मा । तत्प्राप्तेस्तस्य विनियोगात् । येनाहङ्कारेन्द्रियरूपतया परिणतेन कारणभूतेन क्षेत्रज्ञः प्रतिजन्म सुखं दुःखं चानुभवति ॥ १३ ॥

**तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।**
**उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥**

ताविति । तौ द्वौ महत्क्षेत्रज्ञौ पृथिव्यादिपञ्चभूतसंपृक्तौ वक्ष्यमाणं सर्वलोकवेदस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धतया तमिति निर्दिष्टं परमात्मानमुत्कृष्टापकृष्टसत्वेषु व्ययस्थितमाश्रित्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

**असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।**
**उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥**

असंख्या इति । अस्य परमात्मनः शरीरादसंख्यमूर्तयो जीवाः क्षेत्रज्ञशब्देनान्तरमुक्ता लिङ्गशरीरावच्छिन्ना वेदान्त उक्तप्रकारेणाग्नेरिव स्फुलिङ्गा निःसरन्ति या मूर्तय उत्कृष्टापकृष्टभूताग्निदेवरूपतया परिणतानि सर्वदा कर्मसु प्रेरयन्ति ॥ १५ ॥

**पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।**
**शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥**

पञ्चभ्य इति । पञ्चभ्य एव पृथिव्यादिभूतेभ्यो दुष्कृतकारिणां मनुष्याणां पीडानुभवप्रयोजकं जरायुजादिदेहव्यतिरिक्तं दुःखसहिष्णु शरीरं परलोके जायते ॥ १६ ॥

**तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।**
**तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥**

तेनेति । तेन निर्गतेन शरीरेण ता यमकारिता यातना दुष्कृतिनो जीवाः सूक्ष्मानुभूतस्थूलशरीरनाशे तेष्वेवारम्भकभूतभागेषु यथास्वं प्रलीयन्ते तत्संयोगिनो भूत्वा अवतिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसंगजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

सोऽनुभूयेति । शरीरी भूतसूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो निषिद्धशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यविषयोपभोगजनितयमलोकदुःखाद्यनुभूयानन्तरं भोगादपहतपाप्मभावेन महत्परमात्मानौ महावीर्यौ द्वावाश्रयति ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

ताविति । तौ महत्परमात्मानौ अनलसौ तस्य जीवस्य धर्मं भुक्तशेषं च पापं सह विचारयतः । याभ्यां धर्माधर्माभ्यां युक्तो जीवः परलोकेहलोकयोः सुखदुःखे प्राप्नोति ॥ १९ ॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

यदीति । स यदि जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन धर्ममनुतिष्ठति अल्पं चाधर्मं तदा तैरेव पृथिव्यादिभूतैः स्थूलशरीररूपतया परिणतैर्युक्तः स्वर्गसुखमनुभवति ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः २१

यदीति । यदि पुनः स जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन पापमनुतिष्ठति अल्पं च पुण्यं तदा तैरेव भूतैर्मानुषदेहरूपतया परिणतैस्त्यक्तो मृतः सन्ननन्तरं पञ्चभ्य एव मात्राभ्य इत्युक्तरीत्या यातनानुभवोचितसंपातकठिनदेहो यामीः पीडा अनुभवति ॥ २१ ॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यामीरिति । स जीवो यमकारितास्ताः पीडास्तेन कठिनदेहेनानुभूय ततो भोगेनापहतपाप्मा तान्पञ्च जरायुजादिशरीरारम्भकान्पृथिव्यादिभूतभागानधितिष्ठति । मानुषं शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

**एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।**
**धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥**

एता इति । अस्य जीवस्य एता धर्माधर्महेतुकाः स्वर्गनरकाद्युपभोगोचितप्रियाप्रियदेहप्राप्तीरन्तःकरणे ज्ञात्वा धर्मानुष्ठाने मनः सदा संगतं कुर्यात् ॥ २३ ॥

**सत्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।**
**यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः २४**

सत्वमिति । सत्वरजस्तमांसि त्रीणि वक्ष्यमाणगुणलक्षणानि आत्मोपकारकत्वादात्मनो महतो गुणान् जानीयाद्यैर्व्याप्तो महानिमान् स्थावरजङ्गमरूपान्पदार्थान्निःशेषेण व्याप्य स्थितः ॥ २४ ॥

**यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।**
**स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥**

य इति । यद्यपि सर्वमेवेदं त्रिगुणं तथापि यत्र देहे येषां गुणानां मध्ये यो गुणो यदा साकल्येनाधिको भवति तदा तद्गुणलक्षणबहुलं तं देहिनं करोति ॥ २५ ॥

संप्रति सत्वादीनां लक्षणमाह—

**सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।**
**एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥**

सत्वमिति । यथार्थावभासो ज्ञानं तत्सत्वस्य लक्षणं तद्विपरीतमज्ञानं तत्तमोलक्षणं विषादाभिलाषं मानसकार्यं रजोलक्षणं स्वरूपं तु सत्वरजस्तमसां प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकं तथा च भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशवृत्तिनियमार्था अन्योन्याभिभवजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः । एतच्चैषां स्वरूपमनन्तरश्लोकत्रयेण वक्ष्यति । एतेषां सत्वादिगुणानामेतज्ज्ञानादि सर्वप्राणिव्यापकं लक्षणम् ॥ २६ ॥

**तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।**
**प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥**

तत्रेति । तस्मिन्नात्मनि यत्संवेदनं प्रीतियुक्तं प्रत्यस्तमितक्लेशं प्रकाशरूपमन्तर्भवेत्तत्सत्वं जानीयात् ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

यत्त्विति । यत्पुनः संवेदनं दुःखार्थवत्त्वमत एव सत्वशुद्धात्मप्रीतेरजनकं सर्वदा च शरीरिणां विषयस्पृहोत्पादकं तत्त्वनिवारकत्वात्प्रतिपक्षं रजो जानीयात् ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

यत्त्विति । यत्पुनः सदसद्विवेकशून्यमस्फुटविषयाकारस्वभावमतर्कणीयस्वरूपमन्तःकरणबहिःकरणाभ्यां दुर्ज्ञातं तत्तमो जानीयात् । एषां च गुणानां स्वरूपकथनं सत्ववृत्त्यवस्थितौ यद्भवता भवितव्यमित्येतत्प्रयोजनकम् ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

त्रयाणामिति । एतेषां सत्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां यथाक्रममुत्तममध्यमाधमरूपो यः फलोत्पादकस्तं विशेषेण वक्ष्यामि ॥३०॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

वेदाभ्यास इति । वेदाभ्यासः प्राजापत्यानुष्ठानं शास्त्रार्थावबोधमृद्धार्थादिशौचमिन्द्रियसंयमो दानादिधर्मानुष्ठानमात्मध्यानपरता एतत्सत्त्वाख्यगुणस्य कार्यम् ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिता धैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

आरम्भेति । फलार्थं कर्मानुष्ठानशीलतात्पेऽप्यर्थे वैक्लव्यं निषिद्धकर्माचरणमजस्रं शब्दादिविषयोपभोग इत्येतद्रजोभिधानगुणस्य कार्यम् ॥ ३२ ॥

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

लोभ इत्यादि। अधिकाधिकधनस्पृहा निद्रात्मता कार्पण्यं पैशून्यं परलोकाभाववुद्धिराचारपरिलोपो याचनशीलत्वं धर्मादिष्वनवधानमित्येतत्तामसाभिधानस्य गुणस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

**त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।**
**इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥**

त्रयाणामपीति। एषां सत्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां त्रिषु कालेषु भूतभविष्यद्वर्तमानेषु विद्यमानानामिदं वक्ष्यमाणसाक्षेपिकं क्रमेण गुणलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

**यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।**
**तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥**

यदिति। यत्कर्म कृत्वा कुर्वन् करिष्यंश्च लज्जावान्भवति। कालत्रये द्वयोरन्यत्र चेति विवक्षितं तत्सर्वं तमःकार्यत्वात्तमोऽभिधानं गुणलक्षणं शास्त्रविदा बोद्धव्यम् ॥ ३५ ॥

**येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।**
**न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥**

येनेति। इह लोके महतीं श्रियं प्राप्नोतीत्येतदर्थमेव यो यत्कर्म करोति परलोकार्थं च तत्कर्मफलासंपत्तौ दुःखी भवति तद्रजःकार्यत्वाद्रजोगुणलक्षणं विज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

**यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।**
**येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥**

यदिति। यत्कर्म वेदार्थं ज्ञातुमिच्छति यच्च कर्माचरन् कालत्रयेऽपि न लज्जति येन येन कर्मणास्यात्मतुष्टिर्जायते तत्सत्वाख्यस्य गुणस्य लक्षणं ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

**तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।**
**सत्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥**

तमस इति। कामप्रधानता तमसो लक्षणमर्थनिष्ठता रजसो धर्मप्रधानता सत्वस्य। एषां च कामादीनामुत्तरोत्तरस्य श्रेष्ठत्वम्। कामादर्थः श्रेयानर्थमूलत्वात्कामस्य। ताभ्यां च धर्मस्तन्मूलत्वात्तयोः

ब्रह्मेति । चतुर्वदनो विश्वसृजश्च मरीच्यादयः धर्मो विग्रहवान्महान् अव्यक्तं च सांख्यप्रसिद्धं च तत्त्वद्वयं तदधिष्ठातृदेवताद्वयमिह विवक्षितम् । अचेतनगुणत्रयमात्रस्योत्तमसात्विकगतित्वानुपपत्तेः । एतां चतुर्वदनाद्यात्मिकां सत्वनिमित्तामुत्कृष्टां गतिं पण्डिता वदन्ति॥

**एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।**
**त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः॥५१॥**

एष इति । एष मनोवाक्कायरूपत्रयभेदेन त्रिप्रकारस्य कर्मणः सत्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधः पुनः प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगतः समग्रो गतिविशेषः कात्स्न्र्येनोक्तः सार्वभौतिक इत्यभिधानादनुक्ता अप्यत्र गतयो द्रष्टव्याः । उक्ता गतयस्तु प्रदर्शनार्थाः५१

**इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च ।**
**पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥**

इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणां विषयेषु प्रसंगेन निषिद्धाचरणेन च प्रायश्चित्तादिधर्माननुष्ठानेन मूढा मनुष्यापसदाः कुत्सिता गतीः प्राप्नुवन्ति ॥ ५२ ॥

**यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।**
**क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत॥५३॥**

यां यामिति । अयं जीवो येन येन पापेन कर्मणा इह लोके कृतेन यद्यज्जन्म प्राप्नोति तत्सर्वं क्रमेण शृणुत ॥ ५३ ॥

**बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।**
**संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥**

बहूनिति । ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणो बहून्वर्षसहस्रान् भयङ्करान्नरकान्प्राप्य तदुपभोगक्षयादुष्कृतशेषेण वक्ष्यमाणान् जन्मविशेषान्प्राप्नुवन्ति ॥ ५४ ॥

**श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।**
**चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥**

श्वेति । कुक्कुरसूकरगर्दभोष्ट्रगोच्छागमेषमृगपक्षिचण्डालानां पुक्कसानां च निषादेन शूद्रायां जातानां संबन्धिनीं जातिं ब्रह्महा प्राप्नो-

ति । तत्र पापदेशगौरवापेक्षया क्रमेण सर्वयोनिप्राप्तिर्वोद्धव्या । एवमुत्तरत्रापि ॥ ५५ ॥

**कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।**
**हिंस्राणां चैव सत्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥५६॥**

कृमीति । कृमिकीटशलभानां पुरीषभक्षिणां हिंसनशीलानां च व्याघ्रादीनां प्राणिनां जातिं सुरापो ब्राह्मणो गच्छति ॥ ५६ ॥

**लूताहिसरठानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।**
**हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ५७**

लूताहीति । ऊर्णनाभसर्पकृकलासानां जलचराणां च तिरश्चां कुम्भीरादीनां पिशाचादीनां हिंसनशीलानां च योनिं सुवर्णहारी ब्राह्मणः सहस्रवारान्प्राप्नोति ॥ ५७ ॥

**तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।**
**क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥**

तृणेति । तृणानां दूर्वादीनां गुल्मानामप्रकाण्डादीनां लतानां गुडूच्यादीनाममांसभक्षिणां गृध्रादीनां दंष्ट्रिणां सिंहानां क्रूरकर्मशालिनां वधशीलानां च व्याघ्रादीनां जातिं शतवारान्प्राप्नोति गुरुदारगामी ॥ ५८ ॥

**हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।**
**परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥**

हिंस्रा इति । ये प्राणिवधशीलास्त आममांसाशिनो मार्जारादयो भवन्ति । अभक्ष्यभक्षिणो ये ते कृमयो जायन्ते । महापातकव्यतिरिक्ताश्चौरास्ते परस्परं मांसस्यादिनो भवन्ति । ये चाण्डालादिस्त्रीगामिनस्ते प्रेताख्याः प्राणिविशेषा जायन्ते । प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविण इति छन्दःसमानत्वात् । स्मृतीनां सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति विसर्गलोपे च । यद्वा यलोपे च सवर्णदीर्घः ॥ ५९ ॥

**संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।**
**अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥**

संयोगमिति । यावत्कालीनपतितसंयोगेन पतितो भवति तावन्तं

कालं ब्रह्महादिभिश्चतुर्भिः सह संसर्गं कृत्वा परेषां च स्त्रियं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णादन्यदपहृत्य एकैकपापकारेण ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो भवति॥

**मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।**
**विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥**

मणीति । मणीन्माणिक्यादीनि मुक्ताविद्रुमौ च नानाविधानि च रत्नानि वैदूर्यहीरकादीनि लोभेन हृत्वात्मीयभ्रमाद्धिना सुवर्णकारयोनौ जायते । केचित्तु हेमकारपक्षिणमाचक्षते ॥ ६१ ॥

**धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।**
**मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम्॥६२॥**

धान्यमिति । धान्यमपहृत्य मूषिको भवति कांस्यं हृत्वा हंसः जलं हृत्वा प्लवाख्यः पक्षी माक्षिकं हृत्वा दंशः क्षीरं हृत्वा काकः विशेषोपदिष्टगुडलवणादिव्यतिरिक्तमिक्ष्वादि रसं हृत्वा श्वा भवति । घृतं हृत्वा नकुलो भवति ॥ ६२ ॥

**मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।**
**चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥**

मांसमिति । मांसं हृत्वा गृध्रो भवति वपां हृत्वा मद्गुनामा जलचरो भवति तैलं हृत्वा तैलपायिकाख्यः पक्षी लवणं हृत्वा चीराख्य उच्चैःस्वरः कीटः दधि हृत्वा बलाकाख्यः पक्षी जायते ॥ ६३ ॥

**कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।**
**कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम्६४**

कौशेयमिति । कीटकोशनिर्मितं वस्त्रं हृत्वा तित्तिरिर्नामा पक्षी भवति क्षौमकृतं वस्त्रं हृत्वा मण्डूकः कार्पासमयं पटं हृत्वा क्रौञ्चाख्यः प्राणी गुडं हृत्वा वाग्गुदनामा शकुनिर्भवति ॥ ६४ ॥

**छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः ।**
**श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः॥ ६५ ॥**

छुच्छुन्दरिरिति । सुगन्धिद्रव्याणि कस्तूर्यादीनि हृत्वा छुच्छुन्दरिर्भवति वास्तूकादिपत्रशाकं हृत्वा मयूरः सिद्धान्नमोदनसक्त्वादि ना-

नाप्रकारकं हृत्वा श्वाविधाख्यः प्राणी अकृतान्नं तु व्रीहियवादिकं हृत्वा शल्यकसंज्ञो जायते ॥ ६५ ॥

**वको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।**
**रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः॥६६॥**

वक इति । अग्निं हृत्वा वकाख्यः पक्षी जायते गृहोपयोगि शूर्पमुसलादि हृत्वा भित्त्यादिषु मृत्तिकादिगृहकारी सपक्षः कीटो भवति कुसुम्भादिरक्तानि वासांसि हृत्वा चकोराख्यः पक्षी जायते ॥६६॥

**वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।**
**स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ६७**

वृक इति । मृगं हस्तिनं वा हृत्वा वृकाख्यो हिंस्रः पशुर्भवति घोटकं हृत्वा व्याघ्रो भवति फलमूलं हृत्वा मर्कटो भवति स्त्रियं हृत्वा भल्लूको भवति पानार्थमुदकं हृत्वा चातकाख्यः पक्षी यानानि शकटादीनि हृत्वा उष्ट्रो भवति पशूनुक्तेतरान् हृत्वा छागो भवति॥

**यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।**
**अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः॥६८॥**

यद्वेति । यत्किञ्चिदसारमपि परद्रव्यमिच्छातो मानुषो ह्यपहृत्य पुरोडाशादिकं तु हविरहुतं भुक्त्वा निश्चितं तिर्यक्त्वं प्राप्नोति ६८

**स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः ।**
**एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥**

स्त्रियोऽपीति । स्त्रियोऽप्येतेन प्रकारेणेच्छातः परस्वमपहृत्य पापं प्राप्नुवन्ति । तेन पापेनोक्तानां जन्तूनां भार्यात्वं प्रतिपद्यन्ते ॥ ६९॥

एवं निषिद्धाचरणफलान्यभिधायाधुना विहिताकरणफलविपाकमाह—

**स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।**
**पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥**

स्वेभ्य इति । ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा आपदं विना पञ्चयज्ञादिकर्मत्यागिनो वक्ष्यमाणाः कुत्सितां योनीः प्राप्य ततो जन्मान्तरे शत्रुदासत्वं प्राप्नुवन्ति ॥ ७० ॥

**एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।**
**नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥**

एष इति । एष युष्माकं विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सर्वः फलोदय उक्तः । इदानीं ब्राह्मणस्य निःश्रेयसामुपायं हितं कर्मानुष्ठानं इदं शृणुत॥

**वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।**
**अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥**

वेदाभ्यास इति । उपनिषदादेर्वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्चावर्तनं तपः-कृच्छ्रादिज्ञानं ब्रह्मविषयं इन्द्रियजयः अविहितहिंसावर्जनं गुरुशुश्रूषेत्येतत्प्रकृष्टं साधनम् ॥ ८३ ॥

**सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।**
**किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥**

सर्वेषामिति । सर्वेषामप्येतेषां वेदाभ्यासादीनां शुभकर्मणां मध्ये किञ्चित्कर्मातिशयेन मोक्षसाधनं स्यादिति वितर्के ऋषीणां जिज्ञासाविशेषादुत्तरश्लोकेन निर्णयमाह ॥ ८४ ॥

**सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।**
**तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥**

सर्वेषामिति । एषां वेदाभ्यासादीनां सर्वेषामपि मध्ये उपनिषदुक्तपरमार्थज्ञानं प्रकृष्टं स्मृतम् । यस्मात्सर्वविद्यानां प्रधानम् । अत्रैव हेतुमाह । यतो मोक्षस्तस्मात्प्राप्यते ॥ ८५ ॥

**षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।**
**श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥**

षण्णामिति । एषां पुनः षण्णां पूर्वोक्तानां वेदाभ्यासादीनां कर्मणां मध्ये वैदिकं कर्म परमार्थज्ञानमैहिकामुष्मिकश्रेयस्करतरं ज्ञातव्यम् । पूर्वश्लोके मोक्षहेतुत्वमात्मज्ञानस्योक्तमिह तु ऐहिकामुष्मिकश्रेयोऽन्तरहेतुत्वमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम् । तथाहि प्रतीकोपासनानां संशयोदयं नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति । गोविन्दराजस्तु एषां पूर्वश्लोकोक्तानां वेदाभ्यासादीनां षण्णां कर्मणां मध्यात्स्मार्तकर्मापेक्षया वैदिकं कर्म सर्वदेहपरलोके

सातिशयं सातिशयेन कीर्तिस्वर्गनिःश्रेयःसाधनं ज्ञेयमिति व्याख्यातवान् तदयुक्तम्। वेदाभ्यासादीनां षण्णामपि प्रत्येकं श्रुतिविहितत्वात् । तेषु मध्ये स्मार्तापेक्षया किञ्चिदेवं किञ्चिच्च नेति न संभवति। ततश्च कथं निर्धारणे षष्ठी । तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या ॥ ८६ ॥

इदानीमैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनत्वमेवात्मज्ञानस्य स्पष्टयति—

**वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।**
**अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ८७**

वैदिक इति । वैदिके पुनः कर्मयोगे परमात्मोपासनारूपे सर्वाण्येतानि पूर्वश्लोकोक्तान्यैहिकामुष्मिकश्रेयांसि तस्मिन्नुपासनाविधौ क्रमशः संभवन्ति। अथवा सर्वाण्येतानीति वेदाभ्यासादीन्येव परामृश्यन्ते परमात्मज्ञाने वेदाभ्यासादीनि । तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेनेति श्रुतिविहिताङ्गत्वेनान्तर्भवन्ति ॥

**सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।**
**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥**

सुखेति । वैदिकं कर्मात्र ज्योतिष्टोमादिप्रतीकोपासनादि च गृह्यते । स्वर्गादिसुखप्राप्तिकरसंसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्ताख्यं वैदिकं कर्म तथा निःश्रेयसं मोक्षस्तदर्थं कर्म नैःश्रेयसिकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्ताख्यमित्येवं वैदिकं कर्म द्विप्रकारकं वेदितव्यम् ॥८८॥

एतदेव स्पष्टयति—

**इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।**
**निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥**

इहेति । इह काम्यसाधनं वृष्टिहेतुकादि यागादिरत्र स्वर्गादिफलसाधनं ज्योतिष्टोमादि यत्कामतया क्रियते तत्संसारप्रवृत्तमित्युच्यते दृष्टादृष्टफलकामनारहितं पुनर्ब्रह्मज्ञानाभ्यासपूर्वकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्तमित्युच्यते ॥ ८९ ॥

**प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।**
**निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥**

प्रवृत्तमिति । प्रवृत्तकर्माभ्यासेन देवसमानगतित्वं तत्फलं कर्म-

णा प्राप्नोति । एतच्च प्रदर्शनार्थमन्यफलकेन कर्मणा प्रवृत्तेन फलान्तरमपि प्राप्नोति । निवृत्तकर्माभ्यासेन पुनः शरीरारम्भकानि पञ्च भूतान्यतिक्रामति मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।**
**समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१॥**

सर्वेति । सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वहमेवात्मरूपेणास्मि सर्वाणि भूतानि परमाणुपरिमाणसिद्धानि मय्येव परमात्मन्यासत इति सामान्येन यो यावज्जीवं ब्रह्मार्पणन्यायेन ज्योतिष्टोमादि कुर्वन् स्वेन राजते प्रकाशत इति स्वराट् ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यं ब्रह्मत्वं लभते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः । सर्वं खल्विदं ब्रह्म यजनादिभिः शान्त उपासीत । तथा यजुर्वेदमन्त्रः । यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ९१ ॥

**यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।**
**आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ९२**

यथेति । शास्त्रचोदितान्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि परित्यज्य ब्रह्मध्यानेन्द्रियजयप्रणवोपनिषदादिवेदाभ्यासेषु ब्राह्मणो यत्नं कुर्यात् । एतच्चैषां मोक्षोपायान्तरङ्गोपायत्वप्रदर्शनार्थं न त्वग्निहोत्रादिपरित्यागपरत्वमुक्तम् ॥ ९२ ॥

**एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।**
**प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥९३॥**

एतदिति । एतदात्मज्ञानवेदाभ्यासादि द्विजातेर्जन्मफलत्वापादकत्वाज्जन्मनः साफल्यं विशेषेण ब्राह्मणस्य । यस्मादेतत्प्राप्य द्विजातिः कृतकृत्यो भवति न प्रकारान्तरेण ॥ ९३ ॥

इदानीं वेदादेव ब्रह्म ज्ञातव्यमिति प्रदर्शयितुं वेदप्रशंसामाह—

**पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।**
**अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥**

पितृदेवेति । पितृदेवमनुष्याणां हव्यकव्यान्नदानेषु वेद एव चक्षुरिव चक्षुरनश्वरं तत्प्रमाणत्वादसन्निकृष्टफलकव्यदानादौ प्रमाणान्तरानवकाशात् । अशक्यं च वेदशास्त्रं कर्तुमनेनापौरुषेयतोक्ता ।

अप्रमेयं च मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयानवगम्यमानतयाऽप्रमेयमेवं व्यवस्था । ततश्च मीमांसया व्याकरणाद्यङ्गैश्च सर्वब्रह्मात्मकं वेदार्थं जानीयादिति व्यवस्थितम् ॥ ९४ ॥

**या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।**
**सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः**

या वेदबाह्या इति । याः स्मृतयो वेदमूला न भवन्ति दृष्टार्थवाक्यानि चैत्यवन्दनात्स्वर्गो भवतीत्यादीनि । यानि चासत्तर्कमूलानि देवतापूर्वादिनिराकरणात्मकानि वेदविरुद्धानि चार्वाकदर्शनानि सर्वाणि परलोके निष्फलानि यस्मान्नरकफलानि तानि मन्वादिभिः स्मृतानि॥

एतदेव स्पष्टयति—

**उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।**
**तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥**

उत्पद्यन्त इति । यान्यतो वेदादन्यमूलानि च कानिचिच्छास्त्राणि पौरुषेयत्वादुत्पद्यन्ते एवमाशु विनश्यन्ति तानि च इदानींतनत्वान्निष्फलानि असत्यरूपाणि च । स्मृत्यादीनां तु वेदमूलत्वादेव प्रामाण्यम्

**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।**
**भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७॥**

चातुर्वर्ण्यमिति । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्यादिवेदादेव चातुर्वर्ण्यं प्रसिद्ध्यति ब्राह्मणीभूतमातापितृजनितत्वमिति तदुपजीवितया स्वर्गादिलोकोऽपि वेदादेव प्रसिद्धः । एवं ब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलकत्वाद्वेदादेव प्रसिद्ध्यन्ति । किं बहुना । यत्किञ्चिदतीतं वर्तमानं भविष्यं च सर्वमग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगित्यादिन्यायेन वेदादेव प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥

**शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पञ्चमः ।**
**वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥**

शब्द इति । य इह लोके परलोके च शब्दादयो विषयाः प्रसूयन्ते । प्रयुज्यन्ते एतैरिति प्रसूतयः प्रसूतयश्च गुणाश्चेति सत्वरजस्तमोरूपाः तन्निबन्धनवैदिककर्महेतुत्वाद्वेदादेव प्रसिद्ध्यन्ति ॥ ९८ ॥

**बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।**
**तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥**

बिभर्तीति । वेदशास्त्रं नित्यं सर्वभूतानि धारयन्ति । तथा च ह-विरग्नौ हूयते सोऽग्निरादित्यमुपसर्पति वेदः तत्सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति तेनान्नं भवति अथेह भूतानामुत्पत्तिस्थितिश्चेति हविर्जायत इति ब्राह्मणम् । तस्माद्वेदशास्त्रमस्य जन्तोर्वैदिककर्माधिकारिपुरुषस्य प्रकृष्टं पुरुषार्थसाधनं जानन्ति ॥ ९९ ॥

**सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।**
**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥**

सेनापत्यमिति । सेनापत्यं राज्यं दण्डप्रणेतृत्वं सर्वभूम्याधिपत्यादीन्येतत्सर्वमुक्तप्रयोजनं वेदात्मकशास्त्रज्ञ एवार्हति ॥ १०० ॥

**यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।**
**तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥**

यथेति । यथा वृद्धोऽग्निरार्द्रानपि द्रुमान् दहत्येवं ग्रन्थतोऽर्थतश्च वेदज्ञः प्रतिषिद्धाद्याचरणादिकर्मजनितं पापमात्मनो नाशयति । एवं च न केवलं स्वर्गापवर्गादिहेतुः किं तु निवृत्तिहेतुरिति दर्शितः ॥

**वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।**
**इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥**

वेदशास्त्रार्थेति । यस्तत्त्वतो वेदं तदर्थं च कर्म वेदात्मकं जानाति स नित्यनैमित्तिककर्मानुगृहीतब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मचर्याद्याश्रमावस्थितोऽस्मिन्नेव लोके तिष्ठन् ब्रह्मत्वाय कल्पते ॥ १०२ ॥

**अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।**
**धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥**

अज्ञेभ्य इति । उभयोः प्रशस्यत्वे सत्यन्यतरातिशयविवक्षायां श्रेष्ठ इतीष्ठनो विधानादीषदध्ययना अज्ञास्तेभ्यो ग्रन्थाध्येतारः श्रेष्ठाः तेभ्योऽधीतग्रन्थधारणसमर्थाः श्रेष्ठाः । तेन ग्रन्थिनः पठितविस्मृतग्रन्था बोद्धव्याः । अर्थविद्भ्योऽधीतग्रन्थार्थज्ञाः प्रकृष्टास्तेभ्योऽनुष्ठातारः

**तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।**
**तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४ ॥**

तप इति । तपः स्वधर्मवृत्तित्वमिति तावद्दर्शनात् । आश्रमविहितं कर्मात्मज्ञानं च ब्राह्मणस्य मोक्षसाधनं तत्र तपसोऽवान्तरव्यापारमाह । तपसा पापमपहन्ति । ब्रह्मज्ञानेन मोक्षमाप्नोति । तथा च श्रुतिः । विद्यां चाविद्यां च यस्तीर्त्वोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । विद्यातोऽन्यदविद्या कर्म मृत्युदुःखसाधनत्वान्मृत्युः पापं श्रुत्यर्थ एवायं मनुना व्याख्यायोक्तः ॥ १०४ ॥

**प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।**
**त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥**

प्रत्यक्षमिति । धर्मस्य तत्त्वावबोधमिच्छता प्रत्यक्षमनुमानं च धर्मसाधनभूतद्रव्यगुणजातितत्त्वज्ञानाय यथाशास्त्रं च वेदमूलं स्मृत्यादिरूपं नानाप्रकारधर्मस्वरूपविज्ञानाय सुविदितं कर्तव्यं तदेव च प्रमाणत्रयं मनोरभिमतम् । उपमानार्थापत्त्यादेश्चानुमानान्तर्भावः १०५

**आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।**
**यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥**

आर्षमिति । ऋषिदृष्टत्वादार्षं वेदं धर्मोपदेशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्तदविरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति स धर्मं जानाति न तु मीमांसानभिज्ञः धर्मे करणं वेदो मीमांसा चेतिकर्तव्यतास्थानीया । तदुक्तं भट्टवार्तिककृता । धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मता । इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ १०६ ॥

**नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।**
**मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥**

नैःश्रेयसमिति । एतन्निःश्रेयससाधनं कर्म निःशेषेण यथावदुदितम् । अत ऊर्ध्वमस्य मानवशास्त्रस्य रहस्यं गोपनीयमिदं वक्ष्यमाणं शृणुत ॥

**अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।**
**यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥**

अनाम्नातेष्विति । अस्य शास्त्रस्यासमस्तधर्माभिधानमाशङ्क्य बोध-

यति । सामान्यविधिप्राप्तेषु विशेषेणानुपदिष्टेषु कथं कर्तव्यं स्यादिति यदि संशयो भवेत्तदा यं धर्मं वक्ष्यमाणलक्षणाः शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स तत्र निश्चितो धर्मः स्यात् ॥ १०८ ॥

**धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।**
**ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥**

धर्मेणेति । ब्रह्मचर्याद्युक्तधर्मेण यैरङ्गमीमांसाधर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहितो वेदोऽधिगतस्ते ब्राह्मणाः श्रुतेः प्रत्यक्षीकरणे हेतवो ये श्रुतिं पठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति ते शिष्टा विज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

**दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।**
**त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ११०**

दशेति । यदि बहवः सन्तोऽवहिता न भवन्ति तदा दशावरास्त्रयवराश्चेति वक्ष्यमाणलक्षणा यस्याः सा परिषत् तदभावे त्रयोऽवरा यस्याः सा वा सदाचारा यं धर्मं निश्चिनुयात्तं धर्मत्वेन स्वीकुर्यान्न विसंवदेत् ॥ ११० ॥

**त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।**
**त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥**

त्रैविद्य इति । वेदत्रयसंबन्धशाखात्रयाध्येतारः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञो मीमांसात्मकतर्कविन्निरुक्तज्ञो मानवादिधर्मशास्त्रवेदी ब्रह्मचारी गृहस्थवानप्रस्थौ इत्येषा दशावरा परिषत्स्यात् १११

**ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।**
**त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥**

ऋग्वेदविदिति । ऋग्यजुःसामवेदशाखानां येऽध्येतारस्तदर्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहनिरासार्थं त्र्यवरा परिषद्बोद्धव्या। तदभावे ॥

**एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।**
**स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥११३॥**

एकोऽपीति । एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्मं निश्चिनुयात् प्रकृष्टो धर्मः स बोद्धव्यो न वेदानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैरप्युक्तः । वेदविच्छब्दोऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच्च श्रेष्ठोपलक्षणम् । स्मृतिपुराण-

मीमांसान्यायशास्त्रज्ञोऽपि गुरुपरंपरोपदेशविदपि तथा । केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः । युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते । तेन बहुस्मृतिज्ञोऽपि यदि सम्यक् प्रायश्चित्तादिधर्मं जानाति तदा तेनाप्येकेन धर्म उक्तः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञेयः । अत एव यमः । एको द्वौ वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्धर्मपाठकाः । स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥ ११३ ॥

**अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।**
**सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥**

अव्रतानामिति । सावित्र्यादिब्रह्मचारिव्रतरहितानां मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां बहूनामपि मिलितानां परिषत्त्वं नास्ति । धर्मनिर्णयसामर्थ्याभावात् ॥ ११४ ॥

**यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।**
**तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥**

यं वदन्तीति । तमोगुणबहुला मूर्खा धर्मप्रमाणवेदार्थानभिज्ञा अत एव प्रश्नविषयधर्माविदः प्रायश्चित्तादिधर्मं यं पुरुषं प्रत्युपदिशन्ति तदीयं पापं शतगुणं भूत्वा वाचकान्बहून् भजेत ॥ ११५॥

**एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।**
**अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ११६**

एतद्व इति । एतन्निःश्रेयससाधकं प्रकृष्टं धर्मादिकं सर्वं युष्माकमभिहितम् । एतदनुतिष्ठन् ब्राह्मणादिः परमां गतिं स्वर्गापवर्गरूपां प्राप्नोति ॥ ११६ ॥

**एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया ।**
**धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥**

एवमिति । स भगवानैश्वर्यादिसंयुक्तो द्योतनाद्देवो मनुरुक्तप्रकारेणेदं सर्वं धर्मस्य परमार्थं शुश्रूषुशिष्येभ्यः अगोपनीयं लोकहितेच्छया ममेदं सर्वमुक्तवानिति भृगुर्महर्षीनाह ॥ ११७ ॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

एष इति । एष आत्मा सर्वान्प्राणिनः पञ्चभिः पृथिव्यादिभिर्महाभूतैः शरीरारम्भकैः परिगृह्य पूर्वजन्मार्जितकर्मापेक्षयोत्पत्तिस्थितिविनाशौ रथादिचक्रवदसकृदुपावर्तमानैरामोक्षात्संसारिणः करोति ॥

इदानीं मोक्षत्वेनोक्तसर्वधर्मश्रेष्ठतया सर्वत्र परमात्मदर्शनमनुष्टेयत्वेनोपसंहरति—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

एवं यः सर्वभूतेष्विति । एवं सर्वभूतेषु चात्मानमित्यादुक्तप्रकारेण यः सर्वेषु भूतेष्ववस्थितमात्मानमात्मना पश्यपि स ब्रह्मसाक्षात्कारात्परं श्रेष्ठं पदं स्थानं ब्रह्म प्राप्नोति । तत्रात्यन्तं लीयते मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तैषा मनुसंहिता ॥

इत्येतदिति । समाप्त्यर्थ इतिशब्दः । एतत्स्मृतिशास्त्रं भृगुणा प्रकर्षेणोक्तं द्विजातिः पठन् विहितानुष्ठाननिषिद्धवर्जनात्सदाचारवान् भवति । तथाऽपेक्षितां च स्वर्गापवर्गादिरूपां गतिं प्राप्नुयादिति २६

सारासारवचःप्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरी स्तोकं वस्तु निगूढमल्पवचनाद्गोविन्दराजो जगौ । ग्रन्थेऽस्मिन् धरणीधरस्य बहुशः स्खातन्त्र्यमेतावता स्पष्टं मानवमर्थतत्त्वमखिलं वक्तुं कृतोऽयं श्रमः ॥ १ ॥ प्रायो मुनिभिर्विवृतं कथयत्येषा मनुस्मृतेरर्थम् । दशभिर्ग्रन्थसहस्रैः सप्तदशयुता कृता वृत्तिः ॥ २ ॥ सेयं मया मानवधर्मशास्त्रे व्यधायि वृत्तिर्विदुषां हिताय । दुर्बोधजातेर्दुरितक्षयाय भूयात्ततो मे जगतामधीशः ॥ ३ ॥

इति वारेन्द्रनन्दनावासीयदिवाकरात्मजश्रीमत्कुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचिता मन्वर्थमुक्तावली समाप्ता ॥ ७ ॥